

॥ श्रीः ॥

विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला

७

—

॥ श्रीः ॥

धनञ्जयविरचितं

दशरूपकम्

(साजाखौचम्)

'चन्द्रकला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार—

डाक्टर भोलाशङ्करव्यास

एम. ए., पीएच. डी., एल. एल. बी., शास्त्री

अध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

—

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्या भवन,
चौक, बनारस

(पुनर्मुद्रणादिष्ट. सर्वेऽधिकृत प्रकाशकत्वान्)
Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Banaras-1
1955



मुद्रक—
विद्याधिलाम प्रेम,
बनारस



पूज्य पितामह

श्री गोवर्धन जी शास्त्री

तथा

गुरुवर

प्रो० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय

(मू० पू० अध्यक्ष, सस्टल विभाग, सनातनधर्म कालेज, कानपुर)

की

दिवंगत आत्माओं

को

सादर समर्पित

श्रीकृष्णसिद्धिस्तोत्रम्

काशीनाथप्रपदविहिताव्याजभक्तिप्रपूर्णा,

गौरीमातृस्तनभरगलत्पुण्यपीयूषपुष्टः ।

विद्याधाम प्रविततशुभाऽऽनन्दिनीसिद्धियुक्तो,

देवः श्रेयो दिशतु सुचिरं कोऽपि गोवर्धनो मे ॥ १ ॥

नमद्बुन्दीनाथप्रमुखबहुसामन्तनिकरै-

रलं मौलिस्यूतोन्मुखमणिमयूखैस्तरलितः ।

प्रभां का मातन्वन् नखविधुरराजत् पदयुगे,

तदीयः पात्रोज्यं नमति पितरं ब्रह्मधिपणम् ॥ २ ॥

कृतो विद्यारम्भः शुक्रमुखगलत्कृष्णचरिता-

मृतास्वादेनैवाऽल्पवयसि यदङ्गे स्थितवृता ।

गिरा गीर्वाणानामलभिकृपया यस्य विमला,

तमेपोऽहं वन्देऽपरमिव गुरुं तातपितरम् ॥ ३ ॥

श्रीचन्द्रशेखरकृपाततिमेव लब्ध्वा,

नाट्यं चकार सरसं भरतोऽपि हृद्यम् ।

अस्त्यद्भुतं किमिह तत्कृपयैव सैषा,

व्याख्या कृतास्ति मयैकां दशरूपकेऽस्मिन् ॥ ४ ॥

सरःस्वतीपूतसरःसु मञ्जतोरहर्निशं ज्ञानततिं वितन्वतोः ।

दिवि प्ररामं च सुरत्वमश्नतोस्तयोः पदाब्जे निहिता नवा कृतिः ॥५॥

१. गोवर्धन इति व्याख्याकर्तुं पितामहा महोपाध्याया गोवर्धनशास्त्रिणः । एतेषां पितरं व्याकरणवाचस्पतयः श्रीकाशीनाथशास्त्रिणः, माता च गौरी नाम्नी । अत्र शब्द-शक्तिमूलकेन ध्वनिना (व्यञ्जनया) पितामहानां देवदेवस्य गणपतेश्च उपमानोपमेय-भावो व्यज्यते । अपरञ्च, 'प्रवितत' इत्यादिपदे 'आनन्दिनी'ति मतिरितामही, गोवर्धन-शास्त्रिणां दाराः; अस्मिन् पद्ये 'आनन्दिनी एव सिद्धिस्तया शुक्र' इति योज्यम् । गण-पतिपद्ये तु आसमन्तान् नन्दिनी एतादृशी (चासौ) सिद्धिर्गणपतिवधूः तथा सह इति यथाप्रसंगं योजनीयम् । गणेशपद्ये 'गोवर्धन' इति पदं 'गां वर्धयतीति' व्युत्पत्त्या सुष्ठु परिणमति । 'कोपीति' पदद्वयेन भगवतो गणपतेः पितामहधरणात् महामहित्वं द्योत्यत इति दिक् । २. नखविधुरिरयत्र जातवेकवचनम् । ३. अनेन मम प्रथमे गीर्वाण-वाणीशुरत्वं पितामहपादा एव आसन्निति सूच्यते । तत्रैव भागवत-शैमुदी-रधुवंशादयो मन्या पाठिताः । ४. श्रीचन्द्रशेखरशास्त्रिणः पाण्डेया अनुवादकस्यालङ्कारशास्त्रे नाट्यशास्त्रे च गुरव आसन् । ५. 'मया इत्यर्थः' । ६. तयो, पितामहानां, चन्द्रशेखरशास्त्रिणां चेति भावः । शिष्यशेखरयोरेत्यपि प्रसङ्गेन व्यज्यत एव । ७. 'पदाब्जे' इति जातवेकवचनम् ।

विषय-सूची

भूमिका

१-४९

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति व विकास—नाटक का मूल अनुकरणवृत्ति—भारतीय मठ—
वैदिक संवादों में नाटकीय तत्त्व—पाश्चात्य विद्वानों के मत—पाणिनि, पतञ्जलि तथा कान-
सूत्र से नाटकों की स्थिति का संकेत—नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास—भरत—भरत के
व्याख्याकार—धनञ्जय तथा धनिक का ऐतिहासिक परिचय—नाट्यशास्त्र के परवर्ती ग्रन्थ ।

ग्रन्थ का संक्षेप—रूपक उसके भेद व भेदक तत्त्व—कथावस्तु या इतिवृत्त—अर्थप्रकृति,
अवस्था, सन्धि तथा सन्ध्यङ्ग—संस्कृत नाटकों में दुश्मान्त नाटकों के अभाव का कारण—
विष्कम्भक तथा प्रवेशक—पताका तथा पताकास्थानक—संवाद के प्रकार, स्वगतादि भेद—
नेता के धीरललिवादि तथा दक्षिणादि भेद—नायक का परिच्छेद—नायिका—भेद का
आधार—रस की पुष्टि—रस के सम्बन्ध में मत—लोहट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव
के मत—धनञ्जय का मत—रसविरोध तथा उसका परिहार ।

धनञ्जय व धनिक की मान्यताएँ—व्यञ्जना का लक्षण—रस वाक्यार्थ है—रस तथा
विभाव्यादि में भाव्यभावक सम्बन्ध है—धनञ्जय के मत में लोहट, शंकुक तथा भट्टनायक
के मतों का मिश्रण—शान्त रस के सम्बन्ध में धनञ्जय के विचार ।

प्राचीन भारतीय रङ्गमञ्च ।

प्रथम प्रकाश

१-७२

मंगलाचरण तथा ग्रन्थ के उद्देशादि का विवेचन—रूपक परिमाण व भेद—नृत्य तथा
नृत्त के भेद—इतिवृत्त के दो भेद—पताका तथा पताकास्थानक—५ अर्थप्रकृतियों—५ अव-
स्थाएँ—५ सन्धियों—मुखसन्धि लक्षण तथा १२ अङ्ग—प्रतिमुखसन्धि लक्षण तथा १३ अङ्ग—
गर्भसन्धि लक्षण तथा १२ अङ्ग—अवमर्शसन्धि लक्षण तथा १३ अङ्ग—निर्वहण सन्धि
लक्षण तथा १४ अङ्ग—वस्तु का दृश्य तथा सूच्य भेद—सूदन वस्तु के सूचक ५ अर्थोपक्षे-
पक—विष्कम्भक के दो भेद—प्रवेशक, वृत्तिका, अङ्गास्य तथा अङ्गावतार—वस्तु के सर्वश्राव्य,
अश्राव्य तथा निष्कृताव्य ये तीन भेद—आकाशनापित—उपसंहार ।

द्वितीय प्रकाश

७३-१४२

नायक का लक्षण—उसके ४ भेद—धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत—शङ्करी
नायक के ४ भेद—दक्षिण, शठ, घृष्ट तथा अनुकूल—उसके सहायक, विट, विदूषक, प्रति-

नायक, नायक के सात्त्विक गुण-नायिका के भेद, स्वीया, परचीया तथा सामान्या-मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा तथा ज्येष्ठा कनिष्ठा आदि १३ भेद-अवस्था के आधार पर नायिका के स्वाधीनपतिकादि ८ भेद । नायिका की सहायिकाएँ-नायिका के २० अलङ्कार-नायक के घनादि कार्य में सहायक-नायक के व्यवहार (वृत्ति) कैशिकी, कैशिकी के ४ अङ्ग-सात्त्विकी, उसके अङ्ग-आरमटी, उसके अङ्ग-नाटक में पात्रों के उपयुक्त सङ्गत, शौरसेनी प्राङ्गत तथा मागधीप्राङ्गत के प्रयोग का नियम-पात्रों के आमन्त्रण (सम्बोधन) का प्रकार ।

तृतीय प्रकाश

१४३-१७५

नाटक-पूर्वरङ्ग-भारती वृत्ति-भारती के प्ररोचनादि भेद-प्रस्तावना (आमुख) के तीन प्रकार-वीर्यङ्ग-नाटक का इतिवृत्त-नायकानुचित इतिवृत्तांश का परित्याग-अङ्ग-विधान-नाटक में वीर तथा शृङ्गार रस-अङ्गों में पात्रों की सङ्ख्या व प्रवेश तथा निर्गम-प्रकरण-नाटिका-भाग-प्रहसन-डिम-व्यायोग-समवकार-वीथी-अङ्ग-ईहामृग ।

चतुर्थ प्रकाश

१७६-२८२

रस-विभाव-आलम्बन तथा उद्दीपन-अनुभाव-भाव का लक्षण-सात्त्विक भाव-व्यभिचारी भाव-३३ व्यभिचारियों का सौदाहरण लक्षण-स्थायीभाव तथा भाव-विरोध पर विचार-शान्तरस तथा उसके स्थायी शान्त का निषेध-भावादि का काव्य से सम्बन्ध-स्यअनावादी के पूर्वपक्षी मत का उद्धरण-सिद्धान्तपत्र की रथापना-काव्य का वाक्यार्थ स्थायीभाव ही है-रस सामाजिक में रहता है-रसास्वाद के प्रकार-आस्वाद का लक्षण तथा भेद-आठ रसों की सङ्ग-शान्तरस के विषय में पुनः विचार-शृङ्गार रस-संयोग तथा अयोग शृङ्गार-अयोग शृङ्गार के ३ भेद-प्रवास, प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान-मान के हटाने के उपाय-कृष्ण तथा अयोग शृङ्गार का भेद-वीररस-वीभत्सरस-रौद्ररस-हास्यरस-हास्य के ६ भेद-अद्भुत रस-भयानक रस-कृष्णरस-प्रीति, भक्ति आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव-भूषणादि का भी इन्हीं में अन्तर्भाव-उपसंहार ।

दो शब्द

घनशम की 'दशरूपक' की यह हिंदी व्याख्या आज से कई वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो जानी चाहिये थी, पर समय के अनुकूल न होने से ऐसा न हो पाया। प्रकाशक महोदय ने आज से चार वर्ष पूर्व मुझसे इसकी हिंदी व्याख्या करने को कहा था। उन्हीं दिनों मैंने दशरूपक का कार्य आरम्भ भी कर दिया था, किन्तु लन्दन विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ़ रियन्डल स्टडीज के निमन्त्रण पर मुझे भाषाविज्ञान विषयक मनेष्या के लिए वहाँ जाना पड़ा। इसलिए अनुवाद कार्य सट्टाई में पड़ गया। लन्दन से लौटने के बाद मैं पी. एच. डी. उपाधि के यीसिड में व्यस्त रहा। जब मैंने अपना आजीविका-स्रोत ही बनारस चुना, तो प्रकाशक महोदय ने पुरानी बात याद दिलाई, और मुझे दशरूपक के अधूरे पड़े अनुवाद को पूरा कर देने को प्रोत्साहित किया।

नाट्यशास्त्र के इतिहास में घनशम का दशरूपक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरत के नाट्यशास्त्र के रूपकविषयक सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु सर्वांगीण विवेचन इसकी विशेषता है। यह ग्रन्थ बाद के नाट्यशास्त्र तथा रसशास्त्र के ग्रन्थ-प्रतापकद्रीम, पद्मवती, साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण, रसमञ्जरी का उपजीव्य रहा है। ऐसे ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद आवश्यक था। अंगरेजी भाषा में डॉस ने इसका अनुवाद प्रकाशित कराया था, किन्तु वह केवल कारिकाओं का ही अनुवाद है। मेरी ऐसी धारणा है, कि घनशम की कारिकाएँ स्वतः अपूर्ण हैं। घनिक के अवलोक के बिना वे अधूरी ही हैं, तथा नाट्यशास्त्र का आवश्यक ज्ञान अवलोकित दशरूपक के अध्ययन पर ही हो सकता है। अतः यहाँ पर मैंने सावलीक दशरूपक की व्याख्या की है।

कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों की व्याख्या करने में मूल का सदा ध्यान रखा गया है। किन्तु भिन्न-भिन्न स्थलों पर आवश्यकतानुसार मिलता मिल सकती है। कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग में एक ही बात के कहे जाने पर, तथा वृत्तिभाग में विशेषता व होने पर कहीं कहीं दोनों की एक साथ ही व्याख्या कर दी गई है। इसका कारण है, पुनरुक्ति दोष से बचना। वृत्तिभाग के शास्त्रार्थ स्थलों को स्पष्टरूप से समझाने की चेष्टा की गई है। इन स्थलों में मूल भाग की अवहेलना न करते हुए भाव को स्पष्ट किया गया है। ऐसे स्थलों पर पुनरुक्ति को दोष न समझ कर कभी कभी एक ही बात को दो तीन उद्गमों में गणनावाया गया है, जिससे हिन्दी के पाठक संस्कृत साहित्य की

शास्त्रार्थप्रणाली को हृदयहम कर सकें। उदाहरणों की व्याख्या में दो शैलियाँ मिलेंगी। कुछ स्थलों पर पद्यों का शाब्दिक अनुवाद ही किया गया है, तो अन्य स्थलों पर पद्यों के भाव को स्वतन्त्र रूप से स्पष्ट करते हुए पद्य की व्याख्या की गई है। यह शैलीभेद विषय को ध्यान में रखकर किया गया है। व्याख्या में पण्डिताउपन को बचाने की कोशिश की गई है, तथा भाषा में इस दोष को न आने दिया है। किन्तु कुछ स्थलों पर, संस्कृत की शाब्दिक परम्परा का अनुवाद (विशेषरूप से) अक्षरशः स्पष्ट करने के कारण, पण्डिताउपन आ गया हो, तो क्षम्य है। भाषा को प्रवाहमय रखने के कारण कहीं कहीं अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग हो गया है, किन्तु यह उदाहरणों के अनुवाद में उनके भावों की अभिव्यक्ति को विशेष स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुआ है और ऐसे ही स्थलों पर इनका प्रयोग किया गया है।

इस अनुवाद को पण्डित-मण्डली के सम्मुख रखने हुए मैं यह दावा नहीं करता कि यह अनुवाद दोषरहित है। अपनी वस्तु किसे बुरी लगती है। मुझे इसके कई दोष नजर न आये हों। मैं साहित्यशास्त्र के नदीपथ विद्वानों से प्रार्थना करूँगा कि उन दोषों को निर्दिष्ट करने की कृपा करें, जिससे भावी संस्करण में मैं उन्हें हटा सकूँ।

इस अनुवाद को मैं अपने संस्कृत-साहित्य के प्रथम गुरु, अपने पितामह महोपाध्याय पं० भोवर्षन जी शास्त्री की दिवंगत आत्मा को, तथा अपने भारतीय साहित्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के आचार्य प्रो० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय एम. ए., शास्त्री, मृतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, सनातन धर्म कालेज, वानपुर की स्वर्गत आत्मा को, श्रद्धाञ्जलि के रूप में भेंट कर रहा हूँ।

काशी दीपावली
सं० २०११ }

भोलारांकर व्यास

भूमिका

(१)

संस्कृत नाटक-उत्पत्ति व विकास

मानव में स्वभाव से ही अनुकरण वृत्ति पाई जाती है। छोटे बच्चों की अविकसित चेतना में भी इसका बीज रूप देखा जाता है। मानव ही नहीं कई पशुओं में भी, विशेषतः धन्दरों में हम इस अनुकरणवृत्ति को मजे से देख सकते हैं। रुन्दन के म्यूजियम के चिम्पेजीज हमारी तरह कुर्सी टेबिल पर बैठ कर प्याले-तरतरी से चाय पीते हैं, और कभी कभी तो कोई चिम्पेजीज मुलगी हुई सिगरेट को देने पर अभ्यस्त व्यक्ति की तरह धूमपान भी करता हुआ देखा जा सकता है। वैसे मैं कार्लिन के विकासवाद का उस हद तक कायल नहीं, जितना कि लोग उसके सिद्धान्त के खड़ को खींच कर धड़ते नजर आते हैं, पर इस विषय में मेरी धारणा आधुनिक जीवशास्त्रियों तथा मन-शास्त्रियों से मिलती है, कि चेतना की अविकसित स्थिति में भी हम अनुकरण-वृत्ति के पिढ पा सकते हैं। मैं इस भूमिका को लिखने में व्यस्त हूँ, पीछे मेरी छोटी बच्ची जिसकी अवस्था डेढ़ वर्ष से भी कम ही है, मेरे कण्ठों को दोनों पैरों में पहनने की चेष्टा कर रही है। यही नहीं, मुझे रेडियो के वोल्चूम-कन्ट्रोलर को घुमाते देखकर, वह भी वोल्चूम-कन्ट्रोलर घुमाना चाहती है, यदि कभी कभी उसकी इस चेष्टा में बाधा उपस्थित की जाती है, तो वह रुदन के द्वारा उसकी प्रतिक्रिया करती है। बच्चों ही नहीं, बच्चों में भी दूसरे लोगों की चाल-ढाल, रहन-सहन, योसने का उग आदि का ब्यंग्यात्मक अनुकरण देखा जाता है। यह क्यों ?

अनुकरण वृत्ति का एकमात्र लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना, मन का रक्षण करना ही माना जा सकता है। अज्ञात रूप से मेरी छोटी बच्ची भी हमारी गिया-प्रक्रियाओं का, व्यवहार का, अनुकरण कर, अपनी मनस्तुष्टि ही सम्पादित किया करती है। हमारे नपसुरक, किन्हीं बट्टे-बूटों का हरकतों का नकल कर अपने दिल को बहलावा करते हैं। दिल बहलाना ही इसका एकमात्र कारण है। दिल बहलाने वाली वस्तु में हमें एवाप्रचित करने की क्षमता होती है, और कुछ क्षण तक वह हमें केवल मनोरंजन में ही विचरन करती है। उक्त विषय के अतिरिक्त दूसरे विषयों से जैसे हम कुछ क्षणों के लिए अलग से हो जाते हैं। यहाँ मैं साधारण 'मनोरंजन' की बात यह रहा हूँ, वाच्य के रसास्याद को हम शत प्रतिशत रूप में इस कोटि का नहीं मान सकते, क्योंकि उगमें 'दिल बहलाने के अलावा' कुछ 'और' भी है, और यह कुछ और उगमें कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

काव्य या कला में भी अनुकरणशुक्ति को मूल कारण मानना अनुचित न होगा। सम्भवतः इसीलिए पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू ने तो 'कला को अनुकरण' ही माना। जहाँ तक नाटक का प्रश्न है, उसमें तो अनुकरण स्पष्ट दिखाई पड़ता है। धर्मजय की नाट्य तथा रूपक की परिभाषाएँ इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं—
'अवगम्यानुकृतिर्नाट्यम्', 'रूपकं तत्समारोपात्'।

काव्य और उल्लिखित कला; विशेषतः नाटक, मानव तथा मानवोत्तर प्रकृति का अनुकरण कर उसके द्वारा आनन्द की उत्पत्ति या रसोद्बोध करते हैं। वे केवल बाह्य प्रकृति का ही अनुकरण नहीं करते, किन्तु मानव की अन्तः प्रकृति को, उसके मानसिक भावों को भी अनुकृत करते हैं। एक कुशल मूर्तिकार या चित्रकार न केवल किसी सुन्दरी के अवयवों का सुन्दर चित्रण कर सजीवता की अनुकृति करता है, किन्तु उसके मुखमण्डल, नेत्र आदि का टुडन या अडन इस प्रकार का करता है, कि वे उसके मनोगत भावों की व्यञ्जना कराने में समर्थ होते हैं। इसी तरह कुशल कवि अपने पात्र के मनोगत रागादि को भी ठीक उसी तरह वर्णित करता है, जैसे उसके वाहरी रूप को। नाटक की सफलता भी तभी मानी जाती है, जब कि नाटककार ने पात्रों की आन्व्यन्तर प्रकृति को सुन्दर तथा मार्मिक रूप से अभिव्यक्त किया हो। भारतीय चलचित्रशास्त्र में रस-सिद्धान्त की महत्ता इसी ओर सङ्केत करती है, और हरय काव्य के क्षेत्र में रस की आत्मरूप में प्रतिष्ठा भरत मुनि के भी बहुत पहले ही-नन्दिवेश्वर या और किन्हीं आचार्यों के द्वारा-हो चुकी थी। इस प्रकार नाटक का एकमात्र लक्ष्य मानव तथा मानवोत्तर प्रकृति का चित्रण ही है।

आजकल की समाजशास्त्रीय प्रगति ने काव्य के उद्भव के विषय में कई नई बातें खोज निकाली हैं। उनका कहना है, कि आदिम सभ्यता वाले लोगों में प्रकृति के रहस्यात्मक तत्वों की ओर जिज्ञासा का भाव रहता है। वे इसे समझने की चेष्टा करते हैं। यह जिज्ञासा-वृत्ति आदिम सभ्यता वाले लोगों में जादू की धारण को उत्पन्न करती है। जादू की समाजशास्त्री काव्य या सङ्गीत के ही नहीं, भाषा के विकास में भी एक महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं। जादू के द्वारा प्रकृति को अपने वश में करने की प्रक्रिया में नृत्य, गीत तथा उत्सव की दूसरी कर्मकण्डोपदति का प्रयोग कई आदिम सभ्यता वाली जातियों में पाया जाता है। समाजशास्त्री इन्हीं उत्सवों में नाटक के भी बीज दृष्टने की चेष्टा करेंगे। अस्तु,

भारतीय परम्परा के अनुसार जैसा कि नाट्यशास्त्र में बताया गया है, नाटक की उत्पत्ति प्रेतयुग में ब्रह्मा के द्वारा की गई थी। सतयुग में लोगों को किन्हीं मनोरञ्जन के साधनों की आवश्यकता न थी। प्रेतयुग में देवता लोग ब्रह्मा के पान गये, और उनमें प्रार्थना की कि वे किसी ऐसे वेद की रचना करें, जो शूद्रों के द्वारा भी अनुशीलित हो सके, क्योंकि शूद्रों के लिए निध्रेयम् का कोई साधन न था, वेदाध्ययन

उनके लिए निषिद्ध था। इस पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर ही पद्यम वेद-नाट्यवेद-की रचना की। इस पद्यम वेद में चार अङ्ग पाये जाते हैं—पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस। इन चारों तत्त्वों को ब्रह्मा ने ऋग्वेद, साम, यजुषू तथा अथर्ववेद से ग्रहीत किया।^१ इसके बाद ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को एक नाट्यग्रह बनाने का आदेश दिया, तथा भरत मुनि को इस कला को सम्पादित करने तथा उसकी शिक्षा देने को कहा। ब्रह्मा ने भरत मुनि को सौ शिष्य तथा सौ अप्सराएँ भी इसलिए सौंपी, कि मुनि उन्हें नाट्यकला की व्यावहारिक शिक्षा दें। इस काम में शिव तथा पार्वती ने भी हाथ बँटाया। शिव ने नाट्य में ताण्डव नृत्य का, तथा पार्वती ने लाल्य नृत्य का समानेश किया।

नाट्यवेद के विकास के विषय में यह कल्पना कम से कम एक बात की पुष्टि अवश्य करती है, कि भरत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भारतीय नाटक तथा भारतीय रङ्गमय पूर्णतः विकसित हो चुके थे। पर, भरत का नाट्यशास्त्र कब लिखा गया? इस प्रश्न का उत्तर हमें खोजना पड़ेगा। भरत के नाट्यशास्त्र की रचनातिथि, तथा महत्ता पर हम आगे प्रकाश डालेंगे। यहाँ तो हमें केवल यह बताना था कि भारतीय परम्परा नाटकों की दैवी उत्पत्ति मानती है।

नाटकों के कई तत्त्वों में से दो तत्त्व विशेष प्रमुख हैं, संवाद तथा अभिनय। संवाद वाले तत्त्व को हम, भारत के प्राचीनतम साहित्य-ऋग्वेद, में ढूँढ सकते हैं। इस तरह नाटक के बीज वेदों में मूले से मिल सकते हैं। ऋग्वेद में लगभग १५ सूक्त ऐसे हैं, जिनमें संवाद का तत्त्व पाया जाता है। इन्द्र-मरुत्-संवाद (१।१६३; १।१७०), विश्वामित्र-नदी-संवाद (३।३३), पुरुवरुषस्-दर्वशी-संवाद (१०।१५५), तथा यम-यमी-संवाद (१०।१०) इनमें प्रमुख हैं। वैसे दूरे संवादों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जैसे इन्द्र, इन्द्राणी तथा कृपाकपि का संवाद (१०।६६), अगस्त्य तथा उनकी पत्नी लोपामुद्रा का संवाद (१।१७९)। इन संवादों के आधार पर मैक्समूलर ने यह मत प्रकाशित किया था, कि इन सूक्तों का पाठ, यह के समम इस ढङ्ग से किया जाता रहा होगा, कि अलग अलग श्रुतिक अलग पात्र (मरुत् या इन्द्र) बोलें-ज्यों (संवादों) का संतान करते होंगे। ओकेसर सिद्धों सेही-ने भी इस मत की पुष्टि की है, तथा ऋग्वेद काल में अभिनय की स्थिति मानी है। उनका मत है, कि उस काल में देवताओं के रूप में, यज्ञादि के समय, नाट्याभिनय अवश्य होता होगा।^२

लेवी तथा मैक्समूलर ही नहीं, थोएदर तथा हर्टेल भी इसी मत के हैं, कि ऋग्वेद के सूक्तों में अभिनय तथा संवाद के तत्त्व विद्यमान हैं, जो नाटकों के बीज हैं। हर्टेल का मत है कि वैदिक सूक्त गेय रूप में प्रचलित रहे हैं। अतः विभिन्न वक्ताओं

१. ब्रह्मा पाठ्यं ऋग्वेदान् सामभ्यो गीत गेय च ।

यजुर्वेदान् अभिनयान् रसानापरवणा दपि ॥ (भरत नाट्यशास्त्र १.)

२. कीच संस्कृत द्रामा पृ १५-१६.

के भेद का प्रदर्शन एक ही गायक (या पाठक) के द्वारा नहीं हो सकता था । इसलिए ऐसे सूक्तों का, जिनमें एक से अधिक वक्ता पाये जाते थे, अनेक पाठकों के द्वारा पढ़ा जाना असंभव नहीं । इस प्रकार ये सूक्त नाट्यकला के प्रारम्भ कहे जा सकते हैं । थोएदर नोऋग्वेद से कुछ सूक्त उपस्थित किये हैं, जिनको वे नाटक का आदिम रूप मानते हैं, तथा गेय' एवं अभिनय दोनों तत्वों को वहाँ ढूँढते हैं । ऋग्वेद के मण्डक सूक्त (७।१०२) के बारे में वे कहते हैं, कि ब्राह्मण लोग मेटकों से भरे तालाब में खड़े होकर इस सूक्त को गाते होंगे । ऋग्वेद के नवम मण्डल के ११२ वें सोम सूक्त के विषय में भी उनका यही मत है । किन्तु ये दोनों ऊपरी मत निःसार हैं ।

डॉ० क्रीय ने इन दोनों मतों का खण्डन किया है । वे इन संवादों को नाटकीय संवाद न मान कर कर्मकाण्ड तथा पौरोहित्य कर्म के संवाद मानते हैं । वस्तुतः कर्मकाण्डीय परिपाटी को नाटकीय मान बैठना ठीक नहीं । साथ ही थोएदर आदि विद्वानों का यह कहना कि ये सूक्त गाये जाते थे, ठीक नहीं जान पड़ता । गेय तत्त्व के लिए तो सामवेद के मन्त्र थे । ऋग्वेद के मन्त्रों का 'उद्गीय' न होकर 'शंसन' होता था । डॉ० इतना माना जा सकता है, कि ऋग्वेद के इन संवादों में नाटक के बीज विद्यमान हैं, पर इन्हें नाटक का स्थानापन्न मानना ठीक नहीं ।

। प्रो० थोएदर आदि के मत का खण्डन अन्य विद्वानों ने भी किया है । श्री सीताराम जी चतुर्वेदी ने अपने 'अभिनवनाट्यशास्त्रम्' में बताया है, कि नाटक स्वतः एक यज्ञ है, अतः इसे ऋग्वेद के उन सूक्तों का आधार मानकर किसी दूसरे यज्ञ का ध्येय कैसे माना जा सकता है । साथ ही थोएदर आदि नाटक, नृत्य तथा संवाद सभी को एक मान बैठते हैं । कोरा नाच या कोरा संवाद नाट्य कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि नाट्य में सात्त्विक, आज्ञिक, वाचिक तथा आहार्य चारों प्रकार के अभिनयों के द्वारा रससृष्टि की जाती है । उन्होंने अपने मत का प्रदर्शन करते समय यह भी बताया है कि यूरोप वाले विद्वान् प्रत्येक स्थान पर विकासवाद का सिद्धान्त लागू करते हैं, और भारतीय भाषकों की परम्परा का अध्ययन भी इसी आधार पर करते हैं । ऐसा करना ठीक नहीं जान पड़ता । कुछ भी हो, ऋग्वेद के संवादों में नाटक के बीज मानने में कोई अनुचित बात नहीं है ।

नाच को नाटक का पूर्वरूप मानने वालों में मैकडोनल भी हैं । उनकी कल्पना है, कि संस्कृत के नट तथा नाटक शब्द 'नट्' धातु से निकलते हैं । यह धातु संस्कृत के 'शुत्' (नाचना) धातु का ही प्राकृत या देशीरूप है । किन्तु यह मत ठीक नहीं है । संस्कृत में नट् तथा नृत् दोनों भिन्न धातु हैं, साथ ही नाट्य, नृत्य तथा नृत्त तीनों शब्दों का अर्थ भी अलग अलग है । दशरूपकार ने वाक्यार्थमय अभिनय के द्वारा रससृष्टि करने को नाट्य माना है (वाक्यार्थमय अभिनयं रसाध्यं) । इसी तरह केवल शब्दार्थ का अभिनय कर भावप्रदर्शनमात्र करने को नृत्य तथा ताल तय के साथ हस्त-पाद सञ्चालन का नृत्त कहा है । वे बताते हैं कि ये तीनों भिन्न भिन्न हैं—'अभ्युद्

भाषाश्रयं नृत्यमन्यत् ताललयीश्रयम् । यह दूसरी बात है कि नृत्य तथा गृह दोनों ही, जिन्हें हम क्रमशः शास्त्रीय भाग तथा देशी भी कह सकते हैं, नाटक के उपस्कारक हो सकते हैं । इसी बात को दशरूपककार कहते हैं:—

मधुरोद्धतमेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः ।

हास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥

दशरूपककार की साक्षी पर मैकडोल का नाच और नाटक की एक मांग लेने वाला मत धाराशायी हो जाता है ।

एक दूसरा मत प्रो० पिरोल का है, जो भारतीय नाटकों की उत्पत्ति पुतलियों के नाच, पुतलिनृत्य—से मानते हैं । प्रो० पिरोल ने बड़े विस्तार के साथ यह धराया है, कि यूनान में प्राचीन नाटकों के पहले पुतलिका का प्रचलन नहीं था, अतः वहाँ के नाटकों को इसका विकसित रूप नहीं मान सकते । भारत में इनका प्रचार बहुत पुराना रहा है । महाभारत में पुतलियों का वर्णन मिलता है । क्यासरिस्तागर में भी इन पुतलियों का बड़ा वर्णन है । प्रो० पिरोल ने तो भारतीय नाटक के सूत्रधार की 'संज्ञा' की भी इनसे जोड़ने की चेष्टा की है । वे कहते हैं, कि पुतलियों को नचाते समय नचाने वाला उनके डोरों को—सूत्र को—पीछे से पकड़े रहता है । इसलिए यह 'सूत्रधार' कहलाने लगा, और यही नाम नाटक के प्रयोका को भी दे दिया गया । प्रो० पिरोल के इस मत का सङ्घन एक दूसरे पाषाण्य विद्वान् रिज़े ने ही कर दिया है । 'सूत्रधार' शब्द की पिरोल वाली व्युत्पत्ति के बारे में कहा जा सकता है कि 'सूत्रधार' नाटक की कथावस्तु, नायक, रस आदि का सूत्र (संक्षेप) में वर्णन करता है, इस लिए सूत्रधार कहलाता है, जोरे को पकड़ने के कारण नहीं । शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाश' में इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है —

सूत्रयन् काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेदकथारसान् ।

नान्दीभ्लोकेन नान्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः ॥

प्रो० पिरोल एक दूसरा मत भी रखते हैं । इस मत के अनुसार नाटकों का विकास छाया-नाटकों से हुआ है । वाक्टर कोनों भी इस मत के समर्थक हैं । संस्कृत में कुछ छायानाटक पाये जाते हैं, जिनमें 'द्वयाजद' विशेष प्रसिद्ध है । छायानाटक में महीन पर्दे के पीछे वास्तविक अभिनेताओं या मूर्तियों के द्वारा अभिनय दिखाया जाता है, सामानिक पर्दे पर उनकी छायामान देखाता है । द्वायाजद आदि संस्कृत के दो चार परवर्ती छायानाटकों के आधार पर भारतीय नाटकों का विकास छायानाटकों से मानना ठीक नहीं जान पड़ता ।

कुछ विद्वान् वीरपूजा या इन्द्रध्वज उत्सव जैसे धार्मिक उत्सवों से नाटक का विकास मानते हैं, पर यह ठीक नहीं । संस्कृत के कई नाटकों में वीररस नहीं पाया जाता, वही वीरपूजात्मक कैसे कहा जा सकता है । न यूनानी नाटकों की तरह भारतीय नाटक धार्मिक उत्सव से ही विकसित हुए हैं । कुछ लोग भारतीय नाटकों को यूनानी

नाटकों को देन कहते हैं। वे यह भी बताते हैं कि संस्कृत नाटकों में पर्दों के लिए प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द 'यवन' से बना है, जो 'यूनानी' के लिए प्रयुक्त होता था। अतः इस शब्द से भारतीय नाटकों के यूनानी नाटकों के ऋणी होने का संकेत मिलता है। पर यह कल्पना बहुत दूर की है। यूनानी नाटक तो छुले मैदान में होते थे, वहाँ कोई पर्दा भी नहीं होता था। फिर भारत के नाटकों के पर्दों को 'यवन' से शब्द से सम्बद्ध करना, यूनानी नाटकों से कोई सम्पर्क नहीं रखता जान पड़ता। इस मत के प्रतिष्ठापक वेबर का खण्डन डॉ० कीच ने ही कर दिया है। भारत की प्रत्येक साहित्यिक कलात्मक या शास्त्रीय समृद्धि में यूनानी बोज़ डूबना पाश्चात्य विद्वानों का प्रसुप्त-किन्तु निःसार-लक्ष्य रहा है।

वेदों के बाद महाभारत तथा रामायण में नाटकों का सङ्केत इंचा जा सकता है। कीच के मतानुसार महाभारत तथा रामायण के नट शब्दों ही के आधार पर उस काल में नाटकों का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। रामायण में नाटक तथा नट शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। आरम्भ में ही अयोध्या के वर्णन में महर्षि वाल्मीकि ने बताया है कि वहाँ नाटक की मण्डलियाँ तथा बैरियाँ थीं (वधुनाटकसपैथ सयुक्ताम्)। राम के अभिषेक के समय भी रामायण में नटों, नर्तकों, गायकों आदि का उपस्थित होना तथा अपनी कलाकुशलता से लोगों को प्रसन्न करना लिखा है —

नटनर्तकसंधाना गायकानां च गायताम् ।

यतः कर्णमुखा घाचः शुश्राव जनता ततः ॥

— महाभारत में नट, शैलूष आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, और उसके हरिवंश पर्व के ९१ से ९७ अध्याय तक तो नाटक खेले जाने का भी सङ्केत है। वज्रनाभ नामक दैत्य का वध करने के लिए श्री कृष्ण तथा यादवों ने कपट-नटों का वेप धारण कर उसकी पुरी में जाकर रामायण का नाटक खेला। रामायण नाटक के अतिरिक्त इन्होंने कौबेररम्भाभिसार नाटक भी खेला। नाटक का अभिनय इतना सुन्दर हुआ, कि दैत्यों व उनकी पत्नियों ने सुवर्ण के आभूषण खोल खोल कर नटों को दे दिये। इसके पश्चात् प्रद्युम्न ने वज्रनाभ का वध किया तथा उसकी पुत्री प्रभावती से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। इस कथा से यह सङ्केत मिलता है कि महाभारत-काल में नाटक का सर्वांगीण रूप विद्यमान था। यह निःसन्देह है। डॉ० ए० वी० कीच हरिवंश तथा महाभारत (हरिवंशोत्तर महाभारत) के रचनाकाल में बड़ा अन्तर मानते हैं। वे कहते हैं कि 'महाभारत में कहीं भी नाटक के होने या खेले जाने का सङ्केत नहीं है। जहाँ तक हरिवंश का प्रश्न है, वह याद का स्रोत है। हरिवंश की इस नाटक वाली कथा का इतना महत्त्व नहीं, क्योंकि हरिवंश की रचना-तियाँ अनिश्चित है।' डॉ० कीच हरिवंश को ईसा की दूसरी या तीसरी शती से पहले रखने को राजी नहीं।

महाभारत व रामायण के बाद बौद्ध ग्रन्थों, तथा जैन ग्रन्थों एवं वात्स्यायन के

कामसूत्र में भी नाटकों का तथा नटों का संकेत मिलता है। ईसा की दूसरी शती के बहुत पहले भारत में नाटकों का अस्तित्व न मानने वाले पाश्चात्य पण्डितों के आगे वास्तव्यन के अर्थशास्त्र से निम्न पंक्तियों उपस्थित की जा सकती है —

‘कृशीलवा ध्यागन्तवः प्रेक्षणक मेपां द्युः । द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नियत लमेरन् । ततो यथाश्रद्ध मेपां दर्शन मुत्सर्गो वा । व्यसनोत्सयेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता । (का० सू० १, ४, २८-३१)

अर्थात् घाट से आये हुए नट पहले दिन नागरिकों को नाटक दिखाकर उनका उद्धार या मेहनताना (पूजा) दूसरे दिन लेंगे । यदि लोग देखना चाहें तो, फिर देखें नहीं तो नटों को विदा कर दें । नगर के नटों व आगन्तुक नटों दोनों को एक दूसरे के कष्ट तथा आनन्द में परस्पर सहयोग देना चाहिए ।

इस से भी बहुत पहले पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रों में ही शिलाली तथा कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख मिलता है — **पापशर्यशिलालिभ्या मिश्रु-नटसूत्रयोः** (४।३।११०) **कर्मन्दकृशाश्वदिनिः** (४।३।१११) । इससे शिलाली तथा कृशाश्व इन दो आचार्यों के नटसूत्रों का पता चलता है । डॉ० कीप, प्रो० सिन्घों लेवी की गवाही भर इन दोनों शब्दों में व्यस्य मान कर इन्हें किन्हीं आचार्यों (नाट्याचार्यों) का नाम मानने से सहमत नहीं है । लेवी के मतानुसार ‘शिलाली’ का अर्थ है ‘जिनके पास शिलाकी ही शय्या है, और कोई चीज सोने की नहीं’ और ‘कृशाश्व’ का अर्थ है ‘जिनके घोड़े दुपले-पतले हैं’ । पर इस तरह का अर्थ निवाकना कोरा भनगदन्त ही जान पड़ता है । कीप यह भी संकेत करते हैं कि ‘नट’ शब्द का पाणिनि में पाया जाना पुत्तलिक वृत्त्यादि की पुष्टि कर सकता है । पाणिनि का काल वे चौथी शताब्दी ई० पू० मानते हैं तथा पाणिनि में ‘नाटक’ शब्द के अभाव से उस घाट में भारतीय नाटकों के न होने का प्रमाण मानते हैं ।^१ किन्तु ‘नटसूत्र’ शब्द पस्तुत किन्हीं सैद्धान्तिक सूत्रों का उल्लेख करता है, जिसमें नटों के लिए क्रिया प्रक्रिया, कला-दौशल का विवेचन किया गया होगा । अतः ‘शिलाली’ व ‘कृशाश्व’ का लेवी की तरह उटपटाँप अर्थ लेना, या कीप की तरह ‘नाटक’ शब्द या ‘नाटक’ के पर्यायवाची शब्द ही पर अडे रहना पक्षपातरहित नहीं मजर आता ।

महाभाष्यकार पतञ्जलि में तो स्पष्ट रूप से ‘कसवध’ तथा ‘यत्स्विन्धन’ इन दो शब्दों से सम्बद्ध नाटकों का उल्लेख है । महाभाष्यकार पतञ्जलि का समय निश्चित है, कि वे अग्निमित्र (शुश्रवशी राजा) के पुरोहित तथा गुरु थे । ये लिखते हैं कि कस पहले मर चुका है, इसी तरह यत्स्वि का वन्धन भी अर्थात् धूल में हो चुका है, किन्तु ये नट वर्तमान काल में भी हमारी आँखों के सामने कस को मारते हैं, तथा यत्स्वि को धँपते हैं —

इह तु कस्य यत्तमानकसता कस घातयति यत्स्वि यन्धयतीति

चिरहते कंसे विरचये च वली । अत्रापि युक्त । कथम् । ये तावदेते शोभनिका (शौभिका) नामैते प्रत्यक्ष कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च वलिं घन्धयन्तीति ।'

प्रो० वेवर तथा प्रो० स्फूर्डर्स पतञ्जलि के इस स्पष्ट सङ्केत को भी सटपटॉंग वज्र से सामने रखते हैं । वेवर के मतानुसार पतञ्जलि का सङ्केत मुत्तलिका रूप में बंसवध तथा बालिवन्धन से है । स्फूर्डर्स के मतानुसार 'शौभिका' या 'शोभनिका' शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि ये नट बिना किसी संवाद (Dialogue) के कंसवध या बालिवन्धन की नकल दिखाते थे । बाद के साहित्य में संवाद प्रयोक्तारों के लिए 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग मिलता है । पर इतनी खँचातान, और यह गजनिमीलिका-यित क्यों, जब कि महर्षि पतञ्जलि की प्रंक्तियों नाट्याभिनय के स्पष्ट सङ्केत हैं ।

कुछ भी हो, महामाध्यकार पतञ्जलि के पहले ही से कवि-भास से लेकर बीसवीं शती के कुछ संस्कृत नाटकों तक संस्कृत नाटकों की एक अक्षुण्ण परम्परा पाई जाती है, जिसमें किन्हीं ग्रीक नाटकीय चीजों को इँदना दुरामह तथा दृश्यमिता ही होगी । संस्कृत साहित्य का नाटक-अंग इतना समृद्ध है, कि मात्रा तथा गुण दोनों दृष्टियों में विश्व के नाटक साहित्य में उसका विशिष्ट स्थान है । संस्कृत में सैकड़ों एक से एक सुन्दर नाटक लिखे गये, जिनमें असंख्य नाटक अभी भी अन्धकार में पड़े हैं । उनमें से कुछ नाटकों का संकेत किन्हीं अलङ्कार शास्त्र तथा नाट्य शास्त्र में दिये उदाहरणों से मिलता है । कई नाटक अभी २ अन्धकार से अज्ञात हुए हैं । भास के नाटकों का ही खेगों को १९१३ ई० के पहले पता नहीं था, जब कि म० म० स० गणपति शास्त्री ने उनको प्रकाशित किया । भास, कालिदास, शूद्रक, अश्वघोष, भवभूति, मुरारि, विशाखदत्त, भट्टनारायण, राजशेखर, जयदेव आदि प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त जयदेवोत्तर काल (१२५०-१९५०) के सैकड़ों नाटककार ऐसे हैं जिन्होंने सुन्दर अक्षरपूर्ण नाटक लिखे हैं । यह दूसरी बात है, कि जयदेवोत्तरकाल के नाटककारों में कई नाटककार सिद्धान्त व प्रक्रिया के सामग्रस्य का निर्वाह अपने नाटकों में न कर पाये । नाटकीय सिद्धान्त व नाटकीय प्रक्रिया के सामग्रस्य की अन्तिम सीमा हम जयदेव का प्रथमराषव मान सकते हैं । मेरा तात्पर्य यह नहीं, कि इस काल के सारे ही नाटक रङ्गमयीय प्रक्रिया में खरे न उतरेंगे, किन्तु अधिकांकी ऐसी ही दशा है । साथ ही इस काल में भाषा-रूपकों की बहुतायत ने भी नाटक-साहित्य की विविधता को कुछ क्षति ही पहुँचाई । इस काल के प्रमुख नाटककारों में यामन मद्र बाण, शेष कृष्ण, मधुराषव, सुवराज रामवर्मा आदि हैं, जिनके अग्रणः पार्वतीपरिणय, कंठवध, कृष्णमातृजा नाटिका, अनङ्गविजय भाषा आदि रचनाएँ हैं । संस्कृत के इस विराट् नाट्यसाहित्य के समुद्र से कुछ रत्नों को निकाल कर उनका महत्त्व बताना बड़ा कठिन है । कालिदास, शूद्रक तथा भवभूति की कविश्री तो समस्त संस्कृत नाटककारों की

मूर्धन्य है ही । वैसे संस्कृत की प्राचीन परम्परा के पण्डित मुरारि को भवभूति से बड़ कर मानते जान पड़ते हैं । तभी तो वे कहते हैं :—

(१) मुरारिपद्यचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा ।

(२) भवभूति मनादृत्य मुरारि मुररी कुरु ॥

पर भवभूति जैसी रागात्मक उद्गायना मुरारि में बहों, वहाँ तो शास्त्रीय पण्डित्य ही विशेष है । कालिदास का पद निश्चित है, और उसका 'अभिज्ञानशाकुन्तल' समस्त वाच्य (साहित्य) का सार—'एतेम्स'—है, इस बात का उद्घोष प्राचीन पण्डितों ने मुक्तकण्ठ से किया है :—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्यं शकुन्तला ।

तत्रापि च शतुर्थोऽङ्गः तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

संस्कृत के इस विशाल ज्ञान सुन्दर नाट्य साहित्य की समृद्धि का ध्येय किसी हद तक भारत के नाट्यशास्त्र जैसे नाटक के सिद्धान्त-ग्रन्थों-लक्षणग्रन्थों-को भी देना होगा । स्वयं कालिदास गुनि भरत के नाटकीय सिद्धान्तों से पर्यप्रदर्शन पाते रहे होंगे ।

(२)

नाट्य-शास्त्र का सङ्क्षिप्त इतिहास.

साहित्य में लक्षण ग्रन्थों, लक्ष्य ग्रन्थों का चोली दामन का साथ है । दोनों एक दूसरे के सहयोगी बन कर साहित्य की श्रीवृद्धि में योग देते हैं । यद्यपि साहित्य के आदि विधायक लक्ष्य ग्रन्थ, वाच्यनाटकदि ही हैं, किन्तु वे जहाँ एक ओर लक्षण ग्रन्थों को प्रोत्साहित करते हैं, वहाँ उनके द्वारा नियन्त्रित भी होते हैं । लक्ष्य ग्रन्थों में रचयिता की उच्छृङ्खलता, मनमानी को रोकने यामने के ही लिये लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई । ये लक्षण ग्रन्थ भी स्वयं अपने पूर्व के लक्ष्य ग्रन्थों की विशेषताओं, उनके भादशों को मान बनाकर लिखे गये, तथा उन्हें 'मानों' को भावी काव्यों वा नाटकों का निकषोपल घोषित किया गया । चात्मीकि, व्यास आदि कवियों के काव्यों में ही भामह को अलंकार-विभाजन का मार्ग दिखाया । अन्यथा, रामायण, महाभारत या अन्य पूर्ववर्ती कवियों की कविता के अभाव में भामह के लिए कविताकामिनी के इन सौन्दर्य विधायक उपकरणों का पता लगाना असम्भव नहीं होता क्या ? अरस्तू 'मोयतिवा' तथा 'हेतोरिका' को तभी जन्म दे सका, जब उसके आगे एक ओर होमर के 'इलियड' तथा 'ओडेसी' एवं सोफोक्लीज़ के नाटक, तथा तत्कालीन ग्रीक पण्डितों की भाषणशैलियों प्रचलित थीं । इन लक्ष्यों के अभाव में लक्षण की स्थापना हो ही कैसे सकती थी । ठीक यही बात संस्कृत के नाट्यशास्त्र के विषय में कही जा सकती है हम यथा सुके हैं कि संस्कृत का नाट्यशास्त्र संस्कृत के नाटक साहित्य की समृद्धि का साथी है । आज ठेठ हजार वर्ष से भी अधिक पूर्व लिखा गया भरत का नाट्यशास्त्र इस बात की पुष्टि करता है कि भरत के पूर्व ही कई ग्रीक नाटक लिखे जा चुके होंगे, जो बाद के गर्त में लीन हो गये और आज हमें भास ही सबसे पुराने संस्कृत नाटककार दिघार्थ पढ़ते हैं ।

जैसा कि हम आगे चलकर बतायेंगे शारम्म में नाट्यशास्त्र तथा अलङ्कार शास्त्र दो भिन्न शास्त्र थे । राजशेखर की काव्यमीमांसा में इसका स्पष्ट उल्लेख है । यही नहीं 'रस' की विवेचना नाट्यशास्त्र का अङ्ग थी, अलङ्कारशास्त्र में इसका प्रवेश पहले तो निषिद्ध था, बाद में इसे गौण रूप देकर प्रवेशस्वीकृति दे भी दी गई । धर्म्य काव्य में रस की मान्यता ने नाट्यशास्त्र तथा अलङ्कारशास्त्र के बीच की खाई पाट दी । फलतः परवर्ती अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र का भी समावेश होने लगा जिसके उदाहरण स्वल्प हम साहित्यदर्पण जैसे ग्रन्थ रच सकते हैं । यहाँ पर हम नाट्यशास्त्र के इतिहास पर कुछ शब्द कहते समय शुद्ध अलङ्कारशास्त्र के लेखकों पर साक्ष्य करना ठीक नहीं समझेंगे ।

(१) भरत :—भरत का 'नाट्यशास्त्र' नाट्यशास्त्र पर सच से प्राचीन ग्रन्थ है । 'नाट्यशास्त्र' पर ही नहीं अलङ्कारशास्त्र सङ्गित, नृत्य तथा नाटक सभी का इसे प्राचीनतम पथप्रदर्शक मानना होगा । भरत का नाम प्राचीन ग्रन्थों में भरत के परवर्ती ग्रन्थों में दो प्रकार से मिलता है—एक बृद्धभरत या आदिभरत, दूसरे केवल भरत । नाट्यशास्त्र के विषय में भी कहा जाता है कि नाट्यशास्त्र के दो ग्रन्थ मिनते हैं, एक नाट्यवेदांगम्, दूसरा नाट्यशास्त्र । पहला ग्रन्थ द्वादशासाहस्री, तथा दूसरा ग्रन्थ पद्मसाहस्री भी कहलाता है । शारदावनय के महातुषार 'पद्मसाहस्री' प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त रूप था ।

एवं द्वादशासाहस्रैः श्लोकैरेकैः तद्वर्णितः ।

पद्मभिः श्लोकैस्तद्वर्णितैः यां नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥ (भावप्रकाश)

नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत का क्या समय है, इस सम्बन्ध में विद्वानों के कई मत हैं । विद्वानों में कई उनके नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी में मानते हैं, कई इसके भी पूर्व । दूसरे विद्वान् भरत का समय ईसा की दूसरी या तीसरी शती मानते हैं । कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो भरत का काल तो चौसरी या चौथी शती मानते हैं, किन्तु नाट्यशास्त्र के इस रूप को उस काल का नहीं मानते । डॉ॰ एच॰ के॰ दे के मतानुसार नाट्यशास्त्र के सङ्गीत वाले अध्याय चौथी शताब्दी की रचना है, किन्तु नाट्यशास्त्र में कई परिवर्तन होते रहे होंगे, और उसका उपलम्भ संस्करण आठवीं शती के आत तक हुआ जान पड़ता है ।

कुछ भी हो इतना तो अवश्य है कि भरत प्राचीनतम अलङ्कारशास्त्री, रसशास्त्री, व नाट्यशास्त्र ही हैं, जिनका प्रायः हमें प्राप्त है । भरत के विषय में कुछ ऐसे धार्य और आभ्यन्तर प्रमाण हमें मिलते हैं, जो उनके कालनिर्धारण में कुछ सहायक हो सकते हैं । हम पहले बाघ प्रमाण ही लेंगे । वैसे तो कालिदास का भी समय मतभेद से रहित नहीं पर अधिकतर विद्वान् उसे चौथी शताब्दी (ईसवी) का ही मानते हैं । कालिदास के निरुद्धमोर्वशीय नाटक में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से भरत का निर्देश मिलता है । निर्देश ही नहीं, भरत उस काल तक इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि कालिदास

इन्द्र के समक्ष भरत के नाटक के अभिनय का गढ़ित करते हैं । तात्पर्य यह है कि नाट्याचार्य भरत कालिदास से पूर्व ही पौराणिक व्यक्तित्व धारण कर चुके थे, वे ऋषि थे, उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से नाट्यवेद सीखा था । नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में पाठ जाने वाली नाटक की उत्पत्ति की घटना का सूक्ष्म संकेत कालिदास के पद्य से भी मिल सकता है । विष्णोर्वशीय नाटक के प्रथम अङ्क का यह पद्य यों है—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वधरसाश्रयो निबद्धः ।

एतित्ताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकापालः ॥

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत कुछ ऐसे स्थल हैं, जो उसकी प्राचीनता की और पुष्ट करते हैं । नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण, तथा यास्क के उद्धरण हैं, किन्तु पाणिनि के नहीं । अतः नाट्यशास्त्र उस काल की रचना है, जब ऐन्द्र व्याकरण का महत्त्व पाणिनीय व्याकरण के द्वारा घटाया नहीं गया था । नाट्यशास्त्र कई प्राचीनतम सूत्रों व श्लोकों का उद्धरण मिलता है—

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः । सप्त श्लोकः, आदि—

भाषा व विषयप्रतिपादन की दृष्टि से भी भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनता का पोटक है । फलतः भरत भी भरतमुनि के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं । भरत का नाट्यशास्त्र कहीं कहीं सूत्रसंरिपाटी का आश्रय लेता है । टीकाकारों ने भरत की रचना कई स्थानों पर 'सूत्र' तथा उन्हें 'सूत्रकृत' कहा है । नान्यदेव भरत के लिए 'सुत्रकृत' शब्द का प्रयोग करते कहते हैं—'कलानामानि सूत्रकृतानि यथा—' । अभिनय शुभ भी भरत के नाट्यशास्त्र को 'भरतसूत्र' कहते हैं—

'पट्टप्रिशाकं भरतसूत्रमिदं चिबृण्वन् ' ...

अनुमान है भरत का नाट्यशास्त्र कालिदास से लगभग दो शताब्दी पूर्व का—ईसा की दूसरी सतीका है ।

भरत का नाट्यशास्त्र ३७ अध्यायों का ग्रन्थ है । भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में प्राचीन टीकाकारों का मत है कि यह ३६ अध्यायों में विभक्त है । अभिनय शुभ भी अभिनय भारती में उसे 'पट्टप्रिशाक—३६ अध्याय वाला—ही मानते हैं । किन्तु इसके साथ ही अभिनय ३७ वें अध्याय पर भी 'भारती' लिखते हैं, साथ ही इस अध्याय का अलग से मञ्जलाचरण इका संकेत करता है कि अभिनय ३६ अध्याय की परम्परागत मान्यता को स्वीकार करते हुए भी इस अध्याय की व्याख्या करते हैं । इतना ही नहीं नाट्यशास्त्र के उत्तर व दक्षिण से प्राप्त प्राचीन हस्तलेखों में भी यह भेद पाया जाता है । उत्तर की प्रतियों में ३७ अध्याय हैं, जब कि दक्षिण के हस्तलेखों में ३६ व ३७ दोनों अध्याय एक साथ ही ३६ वें अध्याय में पड़े जाते हैं । इसका क्या कारण है ? कुछ लोगों के मतानुसार ३६ वें अध्याय दो अध्यायों में विभक्त करना 'भारती' के रचयिता अभिनयशुभपादाचार्य को ही भनीष्ट था, यद्यपि वे पुरानी '३६ अध्यायवाले परिपाटी को सर्वथा भंग नहीं करना चाहते थे । अभिनयशुभ अपने शैवशिखाओं का भेज नाट्यशास्त्र के ३६ अध्यायों से मिलाकर शैव ३६ तत्त्वों

का सङ्केत करते जान पड़ते हैं । इन तत्त्वों पर स्थित 'अनुत्तर' तात्प का सङ्केत करने के लिए उन्होंने ३६ वें अध्याय में से ही ३७ वें अध्याय की रचना की हो । ३७ वें अध्याय की 'अभिनवभारती' का मङ्गलाचरण इसका सङ्केत दे सकता है—

आकाङ्क्षाणां प्रशमनचिधेः पूर्यमावाचधीनां
धाराप्राप्तस्तुतिगुद्यगिरां गुह्यतत्त्वप्रतिष्ठा ।
ऊर्ध्वादिन्यः परमुवि न धा यत्समानं चकास्ति
प्रीदानन्तं तद्द्व मधुनानुत्तरं धाम धन्दे ॥

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाटक व नाट्यशास्त्र (नाट्यवेद) की उत्पत्ति का वर्णन है, जिसका सङ्केत हम दे चुके हैं । बाद में रत्नभूमि-रत्नमथ के प्रचार, रत्नमथ के विभिन्न अङ्गों-रत्नशीर्ष, रत्नमध्य, रत्नपृष्ठ, मत्तवारणी, तथा दर्शकों के बैठने के स्थानों का विशद वर्णन है । अनुर्ष तथा षष्ठम अध्याय में पूर्व रत्नविधान का वर्णन है । इसके बाद भरत ने चारों प्रार के अभिनयों का क्रमशः वर्णन किया है । हम आगे देखेंगे कि नाट्यशास्त्र में अभिनय चार प्रकार का माना गया है—सात्त्विक, आत्तिक, वाचिक तथा आहार्य । नाट्यशास्त्र के छठे तथा सातवें अध्याय में सात्त्विक अभिनय का विचार किया गया है । इसके अन्तर्गत भावाभिव्यक्ति आती है । रसों, भावों, विभावों, अनुभावों व सञ्चारियों का विचार भरत ने यहीं पर किया है । आगे के ६ अध्यायों में, ८ वें से १२ वें अध्याय तक, आंगिक अभिनय का विवेचन है । १४ वें अध्याय से २० वें अध्याय तक वाचिक तथा इसके बाद आहार्य अभिनय की विवेचना की गई है । भरत के इसी विभाजन को लेकर आगे के नाट्यशास्त्री चले हैं ।

भरत के नाट्यशास्त्र के विषय में एक और बात । कुछ लोगों का यह भी मत है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत न होकर भरत का कोई शिष्य था । यह मत अभिनव गुप्त के समय में भी प्रचलित था । अभिनव ने इस मत का डटकर खण्डन किया है, तथा इस बात को सिद्ध किया है कि नाट्यशास्त्र भरत की ही रचना है । अपने खण्डन का उपसंहार करते हुए अभिनव ने 'भारती' में लिखा है—

'एतेन सदाशिवग्रहभरतमतत्रयचिवेचनेन प्रथमतसारताप्रतिपादनाय
मतत्रयीसारासारचिवेचनं तद्गुणन्धखण्डप्रज्ञेपेण विहितमिदं शास्त्रम्,
न तु मुनिरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्याया स्तत्प्रत्युक्तम् ।'

भरत के नाट्यशास्त्र या सूत्रों पर कई टीकाएँ व व्याख्याएँ लिखी गईं जो नाट्यशास्त्र के विकास में सहायक हुईं । इनमें कई तो अनुपलब्ध हैं । भरतटीका, हर्षशत वाचिक, आक्याचार्य शाहुलकृत कारिकाएँ, मातृगुप्तकृत टीका, कीर्तिहरकृत टीका उनमें से हैं, जो उपलब्ध नहीं, इनमें से कुछ के उद्धरण व मत 'भारती' में मिलते हैं । भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावावुभावन्यभिचारिसंयोगात् रस्तनित्पत्तिः' की व्याख्या करनेवालों में लोल्लट, शंकुट, भट्टनायक, व अभिनवगुप्त प्रसिद्ध हैं । अभिनव ने 'भारती' की रचना की है । क्या लोल्लट, शंकुट व भट्टनायक ने भी भरत के नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्याएँ लिखी थीं ?

(२) लोहटः—अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में भट्ट लोहट के मतों का उल्लेख किया है। सम्भवतः लोहट ने भरत नाट्यशास्त्र पर कोई व्याख्या लिखी होगी, जो उपलब्ध नहीं। लोहट ने ही सर्वप्रथम भरत के रस परक सिद्धान्त की व्याख्या की। भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभाषानुभाष व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या में उसने 'संयोगात्' से 'कार्यकारण भावरूपसंबंध' तथा 'निष्पत्ति' से 'उत्पत्ति' अर्थ लिया। उन्होंने रस की स्थिति रामादि अनुसृष्ट पात्रों में मानी, न कि नटों या सहृदयों में। लोहट मीमांसक थे, तथा अभिवादादी थे। वे अभिवादादि को ही समस्त काव्यार्थ का साधन मानते हैं। उनका मत था कि शब्द के प्रत्येक अर्थ की प्रतिपत्ति अभिवा से ठीक उसी तरह हो जाती है, जैसे घाण अकेला ही ज्ञान को भेद, शरीर में चुसकर, प्राणों का अपहरण कर लेता है। मम्मट ने इसी मत को इस प्रकार उद्धृत किया है:—'सोऽयमिपो रिव दार्घ्यदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः'। लोहट के मत का प्रभाव कुछ हद तक दशरूपककार धनञ्जय एवं अरलोहकार धनिक पर भी पाया जाता है। लोहट के समय का पता नहीं, किन्तु यह निश्चित है कि लोहट व्यञ्जनावाद तथा ध्वनिवाद के उदय के बाद रक्षे जा सकते हैं। यदि ध्वनिकाट आनन्दवर्धन से भिन्न है, तो लोहट ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के बीच के समय में उत्पन्न हुए हैं, अन्यथा वे आनन्दवर्धन के समसामयिक हैं। इस तरह लोहट का समय ईसा की नवीं शती माना जा सकता है। जैसा कि लोहट के नाम से ही स्पष्ट है, वह कारमीरी थे।

(३) शङ्कुकः—अभिनव ने भारती में ही शङ्कुक के मत का भी उल्लेख किया है। शङ्कुक ने भी भरत पर कोई व्याख्या लिखी होगी। शङ्कुक भी भरतसूत्र की व्याख्या 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शङ्कुक नैयायिक थे, तथा उन्होंने विभाषादि साधनों एवं रसरूप साध्य में अनुनायक-अनुमापकभाव की कल्पना की है। इस प्रकार वे रस को अनुमेय या अनुमितियम्य मानते हैं। इसके अतिरिक्त वे एक कल्पना और करते हैं—'चित्रतुरगादिन्यथा' की कल्पना। इस कल्पना के अनुसार नट सच्चे रामादि नहीं हैं, वे 'चित्र में लिखे घोड़े की तरह' राम हैं। इस कल्पना को दशरूपककार ने भी धरनाया है यह हम यथावसर बताएँगे। शङ्कुक ने 'रस' की स्थिति सहृदयों या सामाजिकों में मानी है, ठीक वैसे ही जैसे घोड़े के चित्र को देख कर अनुभव होता है। शङ्कुक ने ही सब से पहले लोहट के 'उत्पत्तिवाद' तथा सहृदयों में रसानुभव न मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।

शङ्कुक भी कारमीरी थे। वे लोहट के ही समसामयिक रहे होंगे। राजतरङ्गिणी के मतानुसार शङ्कुक ने भुवनाभ्युदय धरम्य लिखा था, तथा वे कारमीरराज अजि-तापी के राज्यकाल में थे:—

अथ मम्मोत्पलकयो रुद्रभूदाक्षणो रणः।

रुद्रप्रधाह यथासीद् चितस्ता सुमदैर्हृतीः ॥

कवि बुधमनःसिन्धुराशाङ्कः शङ्कुकाभिधः ।

यमुद्दिश्यकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥ (रा० त० ४, ७०३-४)

शाङ्गधरपद्धति तथा सुकिसुकावली में शङ्कु को मयूर का पुन कहा गया है, तथा निम्न पद्य को उसके नाम से उद्धृत किया गया है:—

दुर्घाताः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽभ्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं घयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम् ।
स्त्रोत्यं धैर्यधिरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यध्वतुराः कथं नु चिरदस्सोढय्य इत्यं शठः ॥

क्या ये मयूर 'सूर्यशतक' के रचयिता ही हैं ? यदि ऐसा हो तो शङ्कु सातवीं शती के आसपास रक्खे जा सकते हैं । किन्तु, नाट्यशास्त्री शङ्कु को इस काल का मानने में आपत्ति है । स्पष्ट है, दोनों शङ्कु एक नहीं हैं । भरत के व्याख्याकार, अनुभूतिवाद के प्रतिष्ठापक तथा भुवनाभ्युदय काव्य के रचयिता शङ्कु एक ही हैं, और हम उन्हें नवीं शती का मान सकते हैं ।

(४) भट्टनायकः—रासूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं, जिनके मत का विशद उल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है । अभिनवगुप्त, जयरथ, मरिमभट्ट तथा रुष्यक ने भट्टनायक के मत का उल्लेख किया है, साथ ही इन लोगों ने भट्टनायक की रचना 'हृदयदर्पण' का भी निर्देश किया है । भट्टनायक का 'हृदयदर्पण' स्वतन्त्र ग्रन्थ था, या भरत के नाट्यशास्त्र की टीका इस विषय में दो मत रहे हैं । डॉ० एत० के० दे के मतानुसार हृदयदर्पण टीका न होकर अलङ्कारशास्त्र का स्वतन्त्र ग्रन्थ था । हृदयदर्पण उपलब्ध तो नहीं, पर मुना जाता है कि इसकी एक प्रति दक्षिण में थी, और उससे स्पष्ट है कि यह नाट्यशास्त्र की टीका ही थी । यह प्रति भी अब उपलब्ध नहीं है । भट्टनायक भी खोजे गए तथा शङ्कु, महिमभट्ट एवं कुन्तक की भाँति अभिषावादी ही हैं, ये ध्वजना शक्ति या ध्वनि जैसी कल्पना से सहमत नहीं । भट्टनायक अनन्दवर्धन के ही समकालीन हैं । सम्भवतः वे भी आनन्दवर्धन के आश्रय कारमीरराज अवन्तिवर्मा (८४५-८८४ ई०) के ही राजकवि थे ।

भट्टनायक रस के सम्बन्ध में 'शुक्तिवादी' सिद्धान्त के पोषक हैं । वे काव्य में भावकल्प एवं भोजकल्प दो व्यापारों की कल्पना करते हैं । इस पर भट्टनायक 'संयोगान्त' का अर्थ 'भाव्यभावक सम्बन्ध' मानते हैं, 'निष्पत्ति' से उनका तात्पर्य 'शुक्ति' (आस्वाद) से है । भट्टनायक रस की स्थिति सहृदय में 'पूर्णतः' सिद्ध करते हैं । वे ही 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रवर्तक हैं, जिसका विस्तार अभिनव ने किया है । भट्टनायक सांख्यमतानुयायी हैं, वे अपने रससम्बन्धी सिद्धान्त में सात्यदर्शन का ही आश्रय लेते हैं । मनप्रय व धनिक के मत पर भट्टनायक के प्रभाव को हम क्यावसर विश्लेषण करेंगे ।

(५) अभिनवगुप्तपादाचार्यः—अभिनवगुप्त एक और ध्वनिसम्प्रदाय के रचयिताक आचार्य हैं, तो दूसरी और नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य । इसके अतिरिक्त अभिनव का एक तीसरा भी व्यक्तित्व है, यह है उनका शैव दर्शन के आचार्य का व्यक्तित्व । अभिनवगुप्त ने ध्वनियाद या नाट्यशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न लिखा ही टीकाएँ लिखी हैं । आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर उनकी 'लोचन' टीका तथा भरत के नाट्यशास्त्र पर उनकी 'अभिनवभारती' (भारती) अमूल्य ग्रन्थ हैं । यद्यपि ये दोनों टीका ग्रन्थ हैं, तथापि इनका महत्त्व किन्ही आकर-ग्रन्थों से कम नहीं, विद्वत्समाज में ये दोनों ग्रन्थ (टीकाएँ) अलङ्कारशास्त्र तथा रसशास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थ हैं । इनके अतिरिक्त अभिनव ने तन्त्रशास्त्र तथा शैव आगम पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । इनमें 'तन्त्रालोक' तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' पर लिखी 'विमर्शिनी' टीका विशेष प्रसिद्ध हैं । अन्तिम रचना अभिनव गुप्त ने १०१५ ई० में की थी । इनके अतिरिक्त अभिनव ने एक तीसरे ग्रन्थ की भी देन अलङ्कारशास्त्र की दी थी, ऐसा जान पड़ता है । अभिनव-गुप्त की यह तीसरी साहित्यशास्त्रीय रचना 'काव्यकौतुकविवरण' की जो अब अनुपलब्ध है । अभिनव के कुल ग्रन्थ ४०-४१ के लगभग हैं ।

अभिनव के गुरु पिता, कुल, तथा समय के विषय में अभिनव ने स्वयं अपनी रचनाओं में सूचित किया है । अभिनव के पिता नरसिंहगुप्त या नुसुलक थे ।^१ उनके गुरु भट्टेन्दुराज^२ तथा भट्टतौत थे । इनके पिता स्वयं शैव आगम के प्रकाण्ड पण्डित तथा शिवभक्त भी थे । गुरु भट्टेन्दुराज कवि भी थे, क्योंकि अभिनव अपने 'लोचन' में उनके पद्यों को उद्धृत करते हैं । भट्ट तौत प्रसिद्ध मीमांसक माने जाते हैं, सम्भवतः अभिनव ने उनसे मीमांसशास्त्र पढ़ा हो । साहित्यशास्त्र का अध्ययन अभिनव ने भट्टेन्दुराज से ही किया होगा ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य एक और शैव दार्शनिक थे, दूसरी और साहित्य में व्यञ्जनाचार्य तथा ध्वनिवादी । अतः उनका रसपरक सिद्धान्त शैवदर्शन तथा व्यञ्जनावेद की आधारभूत पर स्थापित है ।^३ ये रस को व्यंग्य मानते हैं, तथा भरतसूत्र के 'संयोगात्' तथा 'निष्पत्ति' के 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात्' तथा 'अभिव्यक्ति' अर्थ करते हैं ।

१. तस्यात्मज नुसुलकेति जने प्रसिद्धखन्दावदाताधिपणो नरसिंहगुप्तः ।

यं सर्वाशास्त्रसमञ्जनशुभचित्तं नादेयरी परगलंक्रुते स्म भक्तिं ॥

(तन्त्रालोक ३७)

२. भट्टेन्दुराजचरणान्नकृताधिवागद्वयद्युतोऽभिनवगुप्तपादाभिधीऽहम् ॥

(ध्वन्यालोकलोचन)

३. द्रष्टव्य—डॉ० पाण्डेय 'अभिनवगुप्त हिस्टोरिकल एण्ड फिलोसोफिकल स्टडी'

इसी विषय का विशद निचन मैंने अन्यत्र अपने 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' नामक गवेषणापूर्ण प्रबन्ध के प्रथम भाग में किया है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा ।

वे रस की स्थिति सद्दय में मानते हैं तथा रसदशा को शैवी की 'विमर्शदशा' से जोड़ते जान पड़ते हैं। धनञ्जय व धनिक को अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों का पता या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों अभिनव के समसामयिक ही हैं। पर, इन्हें ज्ञानन्दवर्धन के व्यक्तित्वादी मत व रससम्बन्धी मत का पूरा पता था, जो अभिनव से भी पहले रस के व्यंग्यत्व की स्थापना कर चुके थे। तभी तो इन्होंने दशरूपक की कारिका में तथा अवलोकवृत्ति में व्यञ्जना जैसी तुरीया वृत्ति की कल्पना का, तथा रस के व्यंग्यत्व का बटकर विरोध किया है, इसे हम देखेंगे।

रस की चर्चना, तथा निष्पत्ति के मत के अतिरिक्त अभिनव ने एक और नई स्थापना की है, वह 'शान्त रस' की स्थापना है। भरत नाट्यशास्त्र में आठ ही रसों का हवाला है; किन्तु भरत के ही आधार पर अभिनव ने 'भारती' में शान्त रस जैसे नवम रस की स्थापना की है, जो अभिनव के शैवदर्शन वाले सिद्धान्त को सर्वथा अभीष्ट थी। धनञ्जय व धनिक शान्त जैसे नवम रस को नाट्य में स्थान नहीं देते इसकी विवेचना हम भूमिका के अगले भाग में करेंगे।

अभिनवगुप्त का समय द्वादशी शती का अन्त तथा ग्यारहवीं शती का पूर्वभाग है। अभिनव को 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' की रचना १०१५ ई० में हुई थी, इसका निर्देश स्वयं अभिनव ने ही किया है।

इति भवतितमैशे षट्सरान्ते युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्ये मार्गशीर्षावसाने ।
जगति विहितबोधा मीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यच्युष्टुत परिपूर्णा मेरितशम्भुः पादैः ॥

इस पद्य के अनुसार यह रचना कलिसंवत् ४०९० अथवा १०१५ ई० में हुई थी।

अभिनवगुप्त का रससिद्धान्त ही मम्मट से लेकर जगन्नाथ पण्डितराज तक मान्य रहा है। संस्कृत के अलङ्कारशास्त्र व नाट्यशास्त्र में अभिनवगुप्त की गणना पहली धेणीके आचार्यों में होती रही है।

(६) धनञ्जयः—प्रस्तुत ग्रन्थ 'दशरूपक' के रचयिता धनञ्जय विष्णु के पुत्र थे। ये मालवा के परमारवंश के राजा मुध (नाक्यतिराज द्वितीय) के राजकवि थे, जिनका समय ९७४-९९५ ई० माना जाता है। धनञ्जय ने अपने पिता व आश्रयदाता का निर्देश अपने ग्रन्थ के ही अन्त में किया हैः—

धिष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विदग्मनोरागनियन्धहेतुः ।

आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीपैदग्ध्यभाजादशरूप मेतत् ॥

धनञ्जय की 'दशरूपक' की कारिकाएँ भरत के नाट्यशास्त्र के ही सिद्धान्तों का संक्षेप है। यही कारण है कि दो एक स्थानों पर किये गये कुछ परिवर्तनों के अतिरिक्त, जो प्रमुखतः नायिकभेद तथा शृंगार रस के विषय में हैं,—धनञ्जय भरत के नाट्यशास्त्र का ही आश्रय लेते हैं। वेते धनञ्जय आह्निक, वाचिक या आहार्य अभिनय के उस विस्तृत वर्णन में नहीं आते, जो हमें नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। धनञ्जय

का प्रमुख लक्ष्य बरतु, नेता तथा रस के विश्लेषण एवं रूपकों के प्रमुख दशभेदों के वर्णन तक ही सीमित है । घनशय को अभीष्ट भी यही था, क्योंकि उनका लक्ष्य तो केवल 'नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं सङ्गिपरमि—' यही रहा है । घनशय के नाटकसम्बन्धी, रससम्बन्धी या अन्य मतों का विशद विवेचन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है ।

घनशय के दशरूपक तथा इनके भाई के द्वारा इसी के कारिकाभाग पर लिखी श्रुति अवलोक का एक विशेष महत्त्व है । घनशय व घनिक के यस्तुविभाग, पौंय अर्थप्रकृति, शब्दस्या तथा सन्धियों के अङ्गविभाजन, अर्थोपचोपकों का वर्णन, नायक व नायिकाओं का अवस्थानुरूप मनोवैज्ञानिक विभाजन, उनके सहकारियों का वर्णन, रस व उनके साधनों का विश्लेषण का प्रभाव चाद के अलङ्कारशास्त्र व नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों पर स्पष्ट परिष्कृत होता है । विद्यानाथ के प्रतापछरीय का नायकनायिकागेद इत्यादि स्पष्टतः श्रुती है । विद्यानाथ के साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद का नायक-नायिकागेद तथा षष्ठ परिच्छेद का हरयकाल्यविवेचन दशरूपक से ही प्रभावित है । यही तक नहीं भातुदत्त की रसमधुरी, रसतरङ्गिणी, भावमिश्र की रससरसो आदि रस व नायिकागेद के ग्रन्थ भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं । १६ वीं शताब्दी का गुणचन्द्र व रामचन्द्र का लिखा हुआ नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' भी दशरूपक की किसी हद तक उपजीव्य बनाकर चलता है । दशरूपक पर घनिक, यदुरूपमह, नृसिंहमह, देवपाणि, क्षोणीधरमिश्र, तथा कूरवीराम की टीकाएँ हैं । इनमें घनिक की अवलोक नामक श्रुति ही प्रसिद्धि पा सकी है ।

(७) घनिकः—घनिक 'दशरूपक' कारिकाओं के रचयिता घनशय के ही छोटे भाई थे । अवलोक के प्रत्येक प्रकार के अन्त की तुलिका से यह स्पष्ट है कि वे विष्णु के पुत्र थे—

इति धीचिष्णुसूनोर्घनिकस्य कृतौ दशरूपपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥

कुछ खोजों के मतानुसार कारिकाभाग तथा श्रुतिभाग दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं । कई अलङ्कारग्रन्थों में दशरूपक की घनिक की रचना बताया जाता है । यही कारण है कि कारिकाकार तथा श्रुतिकार की अभिषत्ता बाल्य ज्ञान्त मत प्रचलित हो गया है । अवलोक में ऐसे कई स्थल हैं जो इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हैं, कि कारिकाभाग तथा श्रुतिभाग दो निम्न निम्न व्यक्तियों की रचनाएँ हैं ।

घनिक के मतों का विशेष विवेचन हम आगे करेंगे । वैसे घनिक पक्षे अभिधावादी तथा व्यञ्जनाविरोधी हैं । वे रस के साम्यन्ध में भट्टनायक के मत को मानते हैं; यद्यपि उस मत में शोण्ड व शङ्क के मतों का कुछ मिश्रण कर लेते हैं । वे शान्त रस की नाटक में स्थान नहीं देते । उनके इन सिद्धान्तों की हम आगे देखेंगे ।

घनिक ने 'अवलोक' के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र पर एक दूसरे ग्रन्थ की भी रचना की थी, यह 'वाम्यनिर्णय' था । घनिक अपनी श्रुति के चतुर्थप्रकाश स्वयं इस

ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए इससे ७ कारिकाएँ उद्धृत करते हैं—‘यथावोचाम
काव्यनिर्णये—’ सम्भरत यह ग्रन्थ कारिकाओं में था । धनिक स्वयं कवि भी थे ।
वे स्थान २ पर उदाहरणों के रूप में अपने पद्यों को भी उद्धृत करते हैं ।

(८) विश्वनाथः—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ महापात्र अलङ्कारशास्त्र के
आचार्यों में माने जाते हैं । साहित्यदर्पण में इन्होंने नाट्यशास्त्र सम्बन्धी मतों का भी
उल्लेख किया है । उनके ग्रन्थ का पष्ठ परिच्छेद दृश्यकाव्य का विवेचन करता
है । विश्वनाथ व्यञ्जनावदी हैं, तथा रस के विषय में उनके सिद्धान्त अभिनवगुप्त के
मत की ही छाया है । हाँ, वे एक दसवें रस—वात्सल्यरस—की स्थापना करते हैं ।

विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी में माना जा सकता है, क्योंकि साहित्य-
दर्पण में उदाहृत पद्यों में एक पद्य में अलाउद्दीन-सम्भवत अलाउद्दीन खिलजी-का
बर्णन मिलता है ।^१ विश्वनाथ मदाववि चन्द्रशेखर के पुत्र थे । जो बलिद्वाराज के
सान्निधिप्रहिक थे । विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के अतिरिक्त कई काव्यनाटकादि की रचना
की थी, जिनका उल्लेख साहित्यदर्पण में मिलता है ।

(९) रामचन्द्र-गुणचन्द्रकृत ‘नाट्यदर्पणः—’ ‘नाट्यदर्पण’ के ये दोनों
रचयिता हेमचन्द्राचार्य के शिष्य थे । इनका समय १२ वीं शताब्दी माना जा सकता
है । ‘नाट्यदर्पण’ का नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में एक दृष्टि से महत्त्व है । वह यह है कि
नाट्यदर्पण में कई प्राचीन एवं अनुपलब्ध काव्यों तथा नाटकों के उद्धरण पाये जाते
हैं । विशाखदेव या विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्तम् जैसे कई महत्त्वपूर्ण अनुपलब्ध
नाटकों का पता इसी ग्रन्थ से मिलता है ।

कहा जाता है रामचन्द्र ने लगभग १०० ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें कई
नाटक तथा काव्यग्रन्थ थे । रामचन्द्र के तीन चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं ।
नाट्यदर्पण का प्रकाशन गायकवाड़ ऑरियण्टल सीरिज से हुवा है ।

संस्कृत के नाटकों व नाट्यशास्त्रपरक ग्रन्थों के इतिहास पर दृष्टिपात करते समय
हमें यह पता चलता है कि १३-१४ वीं शती के बाद सैकड़ों नाटकों की रचना हुई
पर एक भी ग्रन्थ नाट्यशास्त्र पर नहीं लिखा गया । इसका क्या कारण है ? नाटक
या दृश्यकाव्य वस्तुतः रङ्गमञ्च की वस्तु है, खाली पढ़ने की नहीं । यवनों के भारत में
आने से भारत की कला को कुछ धक्का अवरय पहुँचा, विशेषकर संस्कृत दृश्यकाव्यों
के रङ्गमञ्च को । साथ ही कवियों की प्रवृत्ति भी पाण्डित्यप्रदर्शन व अदिलता की ओर
हतनी हो गई कि-रङ्गमञ्च से धीरे धीरे सम्पर्क छूटता गया । इसके वीज हम सुरारि
के अनर्घराधव में ही देख सकते हैं । दूसरी ओर रङ्गमञ्च का ध्यान रखने वाले नाटकों
में से भी कई नाट्यशास्त्र में वर्णित पद्यसन्धिओं के अङ्गों (सन्ध्यङ्गों) के निर्वाह के
फेर में इतने पड़ गये कि स्वतन्त्र कला में ये थापक से हो गये । भट्टनारायण के
घेणीसहार, तथा हर्ष की रत्नावली में इन सन्ध्यङ्गों का पूर्ण निर्वाह देखा जा सकता है ।

१. सन्धी सर्वस्वहरणं विभङ्गे प्रागभिप्रहं । अलावद्दीननृपती न सन्धिर्न च विप्रहं ॥

यह बूढ़ी बात है कि यह निर्वाह हर्ष की रत्नावली के सौन्दर्य को छुण्ण नहीं कर पाया है । साथ ही मरम्भगवादी भारतीय पण्डितों व कवियों ने भरत या अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र सम्बन्धी तथा रससम्बन्धी मान्यताओं को अन्तिम मान लिया था । वे इन्हीं का अध्ययन, मनन व विवेचन करते रहे । नाट्यशास्त्र व रसशास्त्र में नई कल्पना, नई उद्भावना, नये विचारों के प्रदर्शन की लगन न रही । फलतः नये प्र-थ न धन पाये । हम देख चुके हैं 'भारती' के बाद के नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ या तो भरत के नाट्यशास्त्र का संक्षेप है, या दशरूपक को नकल । रससिद्धान्त में वे अभिनव के पृष्ठगामी हैं । साथ ही ऐसे ग्रन्थों की गणना एक, दो, या अधिक से अधिक तीन ही है । इस गणना में हम को रस व नायिकाभेद के संस्कृत ग्रन्थों को छोड़ देते हैं ।

(३)

धनञ्जय कृत कारिकाएँ व धनिककृत वृत्ति (ग्रन्थ का संक्षेप)

जैसा कि हम बता चुके हैं दशरूपक कारिकाओं में लिखा हुआ ग्रन्थ है । धनञ्जय ने इसके कारिका भाग की रचना की है । इसमें 'अवलोक' नामक वृत्ति के रचयिता धनिक हैं । दशरूपक चार प्रकारों में विभक्त ग्रन्थ है । इसके प्रथम प्रकार में रूपकों का वर्णन, वयावस्तु या वस्तु के ६४ संघर्षों का वर्णन, तथा अयोपक्षेपकों का वर्णन, किया गया है । द्वितीय प्रकार नायक तथा नायिका के भेद, उनके गुण, कियारें तथा उनके सहचरों का वर्णन है । इसी प्रकार में नाटकीय वृत्तियों का वर्णन किया गया है । तृतीय प्रकार में दशरूपकों में प्रमुख नाटक का विशद रूप से सलक्षण विश्लेषण किया गया है । तदनन्तर अन्य नौ रूपकों के लक्षणों का निर्देश है । चतुर्थ प्रकार में रस की विवेचना है । प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रकार के कारिका भाग में क्रमशः ६८, ७२, ७६, तथा ८४ कारिकाएँ हैं । इस गणना में अन्त के दो पद्य, प्रशस्ति के पद्य छोड़ दिये गये हैं । कारिका भाग में ७ पद्यों को छोड़कर बाकी सारी कारिकाएँ अत्रुष्टुप छन्द में हैं ।

धनिककृत वृत्ति भाग में है । इसी वृत्तिभाग में लक्षणों के उदाहरणस्वरूप कई वाक्यों तथा नाटकों से पद्यों को उद्धृत किया गया है । अवलोक के अभाव में दशरूपक की कारिकाएँ अपूर्ण हैं, इसी से दशरूपक की 'अवलोक' वृत्ति का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । यहाँ पर सावलोक दशरूपक की रूपरेखा संक्षेप में दे देना आवश्यक होगा ।

प्रथम प्रकार—आरम्भ में मङ्गलापरण के पश्चात् कारिकाकार ने दशरूपक की रचना के उद्देश्य को बताया है । यही वह यह भी सूचित करता है कि दशरूपक काल में भरत के नाट्यशास्त्र के मतों का ही संक्षेप है । तदनन्तर यह 'रूपकों में रस ही प्रमुख वस्तु है' इस मत का निर्देश करता है । रूपकों के पद्य की भाँति, दस प्र-थ का

भी फल 'रस' सिद्ध हो जाता है। भारतीय शास्त्रपरम्परा में शास्त्र के ४ अनुबन्ध^१ माने जाते हैं, इन्हें 'अनुबन्ध चतुष्टय' कहते हैं। ये अनुबन्ध हैं—विषय, अधिकारी, सम्बन्ध तथा प्रयोजन है। दशरूपककार ने आरम्भ में ही इनका विवेचन किया है। दशरूपक का विषय क्या है, इसके अध्ययन का अधिकारी कौन है, इस ग्रन्थ का विषय से क्या सम्बन्ध है, तथा इस ग्रन्थ रचना का क्या प्रयोजन है। प्रथम प्रकार का चतुर्थ कारिका में धनञ्जय ने बताया है कि इस ग्रन्थ का विषय नाट्यवेद है। वह नाट्यवेद, जिसकी रचना में विरिधि, शिव तथा पार्वती ने योग दिया है, जिसकी प्रयोगरचना भरतमुनि ने की है। ऐसे दिव्य, विशाल नाट्यवेद का संक्षेप, इस ग्रन्थ का विषय है, और उसका सश्लिष रूप रचना धनञ्जय का अभीष्ट प्रयोजन।

उद्घृत्योद्घृत्य सारं यमखिलनिगमाद्नाट्यवेदं विरञ्चि

अत्रे यस्य प्रयोगं मुनि रपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः ।

शर्वाणी लास्य मस्य प्रतिपद मपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे

नाट्यानां किं तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥

इसके बाद की कारिका में धनञ्जय ने अधिकारी का सङ्केत करते हुए बताया है कि पण्डित लोग तो भरत का नाट्यशास्त्र ही पढ़ सकते हैं। हाँ, मन्दबुद्धि वहाँ अपनी गति नहीं पाते इसलिए उन लोगों के लिए ही नाट्यवेद का संक्षेप किया गया है।

दयाकीर्णै मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः ।

तस्यार्थस्तत्पदै रेच संक्षिष्य क्रियतेऽक्षसा ॥

आगे चलकर धनञ्जय नाट्यवेद,—साग ही दशरूपक—के सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए उसके प्रयोजनरूप 'आनन्दास्वाद' का सङ्केत करते हैं।

अनुबन्ध चतुष्टय के प्रकाशन के बाद कारिकाकार प्रस्तुत विषय की ओर बढ़ते हैं। आरम्भ में नाट्य, रूप, तथा रूपक की परिभाषा दी गई है, तथा रूपकों के दस भेदों का उद्देश—नाममात्र के द्वारा उनका सङ्कीर्तन—किया गया है। इनके लक्षण आगे तृतीय प्रकार में विवेच्ये गये हैं। इसके बाद नृत्य तथा नृत्त, के परस्पर भेद व इनके प्रकारों का सङ्केत है, क्योंकि ये रूपकों के अन्तर्गत प्रयुक्त होते हैं, उसके उपचरक व शोभाविधायक हैं।

सदनन्तर रूपक के ३ भेदों—वस्तु, नेता तथा रस का निर्देश कर वस्तु की विवेचना आरम्भ की जाती है। वस्तु के आधिकारिक तथा प्रासजिक दो भेद बताकर पताका के प्रसङ्ग में पताकास्थानकों का वर्णन किया गया है। फिर वस्तु के भेदों तथा उसकी पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं, पाँच सन्धियों, ६४ संध्युक्तों का संलक्षण वर्णन है। फिर विश्रम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अद्वास्य तथा अद्वावतार इन ५ अर्थोपल्लेपकों का निर्देश है।

द्वितीय प्रकार में रूपकों के दूसरे भेदक नायक या नेता का विवेचन है। नायक के गुणों का उल्लेख करने पर उसके ४ भेद, धीरोदात्त धीरशान्त, धीरललित तथा

१ अनुबन्ध उसे कहते हैं, जो हमें किसी ज्ञान में प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति के प्रयोजकज्ञान का विषय है—अर्थात् वह वस्तु जो हमें किसी प्रवृत्ति की ओर ले जाते हैं।—'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्व अनुबन्धत्वम् ।'

धीरोद्धत के लक्षण उपशित किये गये हैं। इसके बाद पताकानायक-पौठमर्द, तथा अन्य नेत्रसहचरों का वर्णन है। तदनन्तर नायक के सात्त्विक गुणों का सलक्षण वर्णन है। नायक के बाद नायिका का विवेचन प्राप्त होता है। नायिका के तेरेह भेदों का सलक्षण वर्णन करते हुए उसके अवस्थानुरूप स्वाधीनभर्तृकादि आठ भेदों का भी लक्षण किया गया है। तब नायिका के वीस अलङ्कारों-शारीरिक, अयक्षज, तथा स्वभावज अलङ्कारों का वर्णन मिलता है। इसके बाद नायक के परिच्छद (Paraphernalia) का वर्णन कर उसके व्यापाररूप चार नाट्यवृत्तियों-कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती का निर्देश किया गया है। इसी सम्यन्ध में प्रथम तीन वृत्तियों के अङ्गों का सलक्षण वर्णन है। तदनन्तर कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे इसका उल्लेख है।

तृतीय प्रकार में काव्य की स्थापना या प्रस्तावना के प्रकारों का वर्णन है। यहीं भारती वृत्ति तथा उसके अङ्गों का वर्णन है। तदनन्तर प्रस्तावना के तीन प्रकारों—कपोद्घात, प्ररुत्क, तथा अवलगित का निर्देश है। इसके बाद तेरेह वीध्यङ्गों का वर्णन है। इसी प्रकार में रूपकों के प्रकरणादि अन्यभेदों का लक्षण बताया गया है।

दशरूपक के चौथे प्रकार का विशेष महत्त्व है। इस प्रकार में रस की विवेचना की गई है। रस की परिभाषा बताने के बाद उसके साधनों-विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अवलोककर ने उन्हें सुन्दर उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। तदनन्तर स्थायी भाव के स्वरूप का वर्णन है। यहीं वृत्तिकार ने रसविरोध तथा भावविरोध के सम्यन्ध में अपने मत उपन्यस्त किये हैं। इसके बाद आठ भावों तथा आठ रसों का उल्लेख करते हुए 'शम' नामक स्थायी भाव की स्थिति का नाट्य में खण्डन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में रस के व्याप्यत्व वाले ध्वनिवादी सिद्धान्त का उल्लेख खण्डन किया गया है। ध्वनिकार के मतों को उदाहरण करके वृत्तिकार उनके व्यञ्जना वृत्ति वाले मत का खण्डन करता है, तथा यह सिद्ध करता है कि व्याप्यार्थ जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, वह सब तात्पर्यार्थ ही है। यहीं वह रस के भावनावादी सिद्धान्त पर जोर देता है तथा विभावादि को भावक एवं रस को भाव्य मानता है। रस के स्वरूप तथा भेदों की विवेचना करने के बाद अन्य की परिस्माप्ति हो जाती है।

यहाँ हमने दशरूपककार के कारिक भाग द्वादश वृत्तिभाग के विषय का सवृक्षेप देने की चेष्टा की। दशरूपककार व वृत्तिकार के नाट्यशास्त्र एवं रस सम्बन्धी अमिनव सिद्धान्तों या मान्यताओं का विशद विवेचना हम भूमिका के अगले भाग में करेंगे।

(४)

रूपक, उनके भेद व भेदक तत्त्व

अंगरेजी में जिस अर्थ में 'ड्रामा' (Drama) शब्द का प्रयोग होता है, उस अर्थ में संस्कृत साहित्य में 'रूपक' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। जैसे अधिकतर इस अंगरेज शब्द का अर्थ 'नाटक' शब्द के द्वारा किया जाता है, किन्तु नाटक रूपकों

का एक भेद-मान है, यह रूपों के दस प्रकारों में से एक प्रकार है। वैसे यह प्रकार रूपक का प्रमुख भेद है। जब हम काव्य की विवेचना करने बैठते हैं, तो देखते हैं कि काव्य के दो प्रकार हो सकते हैं—एक श्रव्य काव्य, दूसरा दृश्य काव्य। पहला काव्य सुनने या पढ़ने की वस्तु है, इसमें श्रवण-न्द्रिय के द्वारा बुद्धि एवं हृदय का सम्पर्क काव्य के साथ होता है। दूसरा काव्य मुख्य रूप से देखने की वस्तु है, वैसे यहाँ भी पात्रों के संलाप में श्रव्यत्व रहता है। श्रव्य काव्य का कोई रङ्गमय नहीं, वह अभ्ययन-कला की वस्तु है, जब कि दृश्यकाव्य रङ्गमय की वस्तु है, उसका लक्ष्य अभिनय के द्वारा सामाजिकों का मनोरञ्जन, उनमें रसोद्बोध उत्पन्न करना है। यही दृश्य काव्य 'रूपक' कहलाता है। इसे 'रूपक' इसलिए कहा जाता है कि इसमें नट पर उत्तम पात्र का, रामादि का आरोप कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए 'भरत-मिलाप' या 'रामराज्य' के चतुर्विधों में एक नटविशेष-प्रेम अदीब-पर रामका, एसरी अवस्था का, आरोप किया गया है।

प्रमुख रूप से रूपक के दस भेद किए गये हैं। वैसे तो रूपों से ही सम्बद्ध १८ उपरूपक माने जाते हैं और भरत तथा विश्वनाथ ने उनका उल्लेख किया है, किन्तु धनञ्जय व धनिक ने उपरूपकों का वर्णन नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि तृतीय प्रकाश में प्रसङ्गवशा उपरूपक के एक प्रमुख भेद-नाटिका-का विवेचन मिलता है। प्रकरणिका, माणिका, हल्लोरा, धीगदित, रासक आदि दूसरे उपरूपकों का वहाँ कोई उल्लेख नहीं। वस्तुतः इनमें से कई भेद रूपकों के ही अवान्तर रूप हैं और कुछ भेद ऐसे भी हैं, जिनका सम्बन्ध काव्य से न होकर प्रमुखतः सङ्गीत-कला व नृत्य-कला से है। रूपकों के ये दस भेद-वस्तु, नेता, तथा रस के आधार पर किये जाते हैं।^१ किन्ती एक रूपक-प्रकार की क्यावस्तु (Plot), उसका नायक-नायिका की प्रकृति, तथा उसका प्रतिपाद्य रस उसे अन्य प्रकारों से भिन्न करता है। इसी प्रकार इन दसों रूपकों में से प्रत्येक एक दूसरे से, वस्तु, नेता, व रस की दृष्टि से भिन्न है। ये दस रूपक-ये हैं—
नाटक, प्रकरण, माण, व्यायोग, समन्वार, विम, ईहाभूत, अद्भुत, वीथी और प्रहसन।

नाटका मथ प्रकरणं भाण व्यायोगसमन्वारविमाः ।

ईहामृगाद्बुध्याः प्रहसन मिति रूपकाणि दश ॥

दशरूपककार की प्रकृति का वर्णन करते हुए हमारे लिए ठीक यह होगा कि पहले इन तीन भेदकों—वस्तु, नेता तथा रस का विरलेपण कर दे, फिर प्रत्येक रूपक की विवेचना करें। इन तीन भेदकों के विषय में अधिकतर यह माना जाता है कि ये नाटक के तीन तत्त्व हैं, ठीक वैसे ही जैसे अरस्तू ने रूपक के-प्रमुख रूप से प्राप्त

१. रूपकं तत्समारोपात् ॥ (बारीका) नटे रामायणस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्भूपकं मुख्यधन्नादिपत् ॥ (दशरूपकव्यवहार)

२. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक—(तली)

(Tragedy) के ६ धातु माने हैं । धरस्तू के मतानुसार रूपक के छः अङ्ग, १. इतिवृत्त, २. आचार, ३. वर्णनशैली, ४. विचार, ५. हरय तथा ६. गीत हैं । कुछ विद्वान् इन्हें तत्त्व मानने से सहमत नहीं । ये इन्हें केवल 'भेदक' कहना ठीक समझते हैं । किसी रूपक के तत्त्व उनके मत से १. कथा, २. संवाद और ३. दर्शनदेश ये तीन हैं । इन्हीं तीनों में धरस्तू के रूपक के छहों अङ्ग अन्तर्भावित हो जाते हैं । हमें यहाँ भेदकों का ही वर्णन करना अभीष्ट है ।

(१) कथा, वस्तु या इतिवृत्त:—रूपकों का पदार्थ भेदक वस्तु है । इसे ही कथा, इतिवृत्त, कथावस्तु (Plot) आदि नाम से भी पुकारते हैं । वस्तु दो प्रकार की होती है, एक आधिकारिक, दूसरी प्रासङ्गिक । आधिकारिक कथावस्तु मूल वस्तु, तथा प्रासङ्गिक कथावस्तु गौण होती है । आधिकारिक वस्तु की यह संज्ञा इस लिए की गई है, कि इसका सम्बन्ध 'अधिकार' नायक के फलस्वामित्व, या फलप्राप्त करने की योग्यता से है । आधिकारिक वस्तु रूपक के नायक के फल की प्राप्ति से सम्बद्ध होती है, वह नायक के जीवन की उर महासरिता से सम्बद्ध है, जो निश्चित फल की, निश्चित सत्य की ओर बढ़ती है । प्रासङ्गिक वस्तु इसी महासरिता में गिर कर उसके प्रवाह में अपनापन रो देने वाले, किन्तु आधिकारिक वस्तु की गति देने वाले छुद्र नदी, गद व नाले हैं । उदाहरण के लिए रामायण की वस्तु में रामचन्द्र की कथा आधिकारिक वस्तु है, सुग्रीव या शबरी की कथा प्रासङ्गिक ।

प्रासङ्गिक वस्तु के भी दो भेद किए जाते हैं—पताका तथा प्रकरी । जो कथा काव्य या रूपक में धराधर चलती रहती है—सानुगन्ध होती है—उसे पताका कहते हैं । इस पताका कथा वस्तु का नायक अलग से होता है, जो आधिकारिक वस्तु के नायक का साथी होता है, तथा उसी गुणों में कुछ ही न्यून होता है । इसे 'पताका-नायक' कहते हैं । उदाहरणार्थ, रामायण का सुग्रीव, या मालतीमाधव का मकरन्द पताका-नायक है, तथा उनकी कथा पताका । जो कथा काव्य या रूपक में कुछ ही काल तक चलकर टक जाती है, वह 'प्रकरी' नामक प्रासङ्गिक कथा वस्तु होती है । रामायण की शबरी वालों कहानी 'प्रकरी' है । जैसा कि हम पहले बता चुके हैं पताका व प्रकरी आधिकारिक कथा के प्रवाह में ही योग देती हैं । सुग्रीव व शबरी की कहानी राम-कथा को आगे बढ़ाने में सहकारी सिद्ध होती हैं ।

इस इतिवृत्त के मूल तथा प्रकृति के विषय में भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में सङ्केत दिया गया है । इतिवृत्त मूल की दृष्टि से तीन तरह का होता है:—१ प्रख्यात, २ उपाय तथा ३ मिश्र । प्रख्यात इतिवृत्त रामायण, महाभारत, पुराण या बृहत्कथादि ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर होता है । इस प्रकार का इतिवृत्त प्रसिद्ध कथा से सम्बद्ध रहता है । उदाहरणार्थ, भवभूति के उत्तरचरित तथा सुरारि के अनर्पतापव की कथा रामायण से ली गई है । कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की कथा महाभारत तथा पञ्चुराण से ग्रहीत है । आस के स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरयणम्; विशाखदत्त

का मुद्राराक्षस ऐतिहासिक इतिवृत्त से सम्बद्ध है। इनका मूल गुणाव्य की वृहत्कथामें भी है। जैसा कि हम देखेंगे, नाटक के लिए यह परमावश्यक है कि उसका वृत्त प्रख्यात हो। दशरूपकर ने इतिवृत्त के मूल के विषय में लिखते हुए कहा है—

इत्याद्यशेष मिह घस्तुविभेदजातम्,
रामायणादि च विभाव्य वृहत्कथाञ्च ।
आसूनये तदनु नेतरसानुगुण्या-
घिनां कथा मुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥

प्रख्यात इतिवृत्त के निर्वाह में कवि या नाटककार को बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। वह कथा के प्रख्यात इतिवृत्त में अपनी कल्पना के अनुसार हेरफेर करके उसकी वास्तविकता को नहीं बिगाड़ सकता। ऐसा करने से सामाजिकों की वृत्ति को दुःख होता है। उदाहरण के लिए चम्पली कवि माइनेल मधुसूदनदत्त के 'मिथनादवध' में मिथनाद का उच्च आदर्श रूप में उपस्थित करना प्रख्यात इतिवृत्त को ठेस पहुँचाता है। इसी तरह का हेरफेर कथा के प्रख्यातत्व को क्षुण्य करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि प्रख्यात इतिवृत्त में कोई हेरफेर कर ही नहीं सकता। यदि प्रख्यात इतिवृत्त की गति कुछ ऐसी हो कि वह नायक के गुणों, उसके धीरोदात्तत्व में बाधक होती हो, तो ऐसा दशा में रस के अनौचित्य दोष को हटाने के लिए कथा के उस अंश में कवि मजे से परिवर्तन कर सकता है। शकुन्तला नाटक में विवाह के बाद भी शकुन्तला को भूल जाने की दुष्प्रवृत्तिली घटना पद्मपुराण में है। वहाँ दुर्वाशाशाप का कोई हवाला नहीं। यह घटना दुष्प्रवृत्त के कामुकत्व को स्पष्ट कर उसके चरित्र को नीचा गिरा देती है। कालिदास ने दुष्प्रवृत्त के धीरोदात्तत्व को अक्षुण्य बनाए रखने के लिए दुर्वाशाशाप की कल्पना कर ली है। इसी तरह भवभूति ने भी अपने 'महावीर-चरित' में रामभद्र (रामचन्द्र) के धीरोदात्तत्व की रक्षा के लिए बालिवध की प्रसिद्ध घटना में हेर-फेर कर दिया है। प्रख्यात घटना है कि राम ने बालि का बध छल से किया था, पर यह रस के ठीक नहीं पड़ता, न राम के उदात्त चरित्र के ही। अतः भवभूति ने यह कल्पना की है कि बालि स्वयं रामचन्द्र से लड़ने आया और मारा गया।

उत्पाद्य इतिवृत्त कवि का स्वयं का कल्पित होता है—उत्पाद्य कविकल्पितम्। इस इतिवृत्त का प्रयोग कई प्रकार के रूपकों में देखा जाता है, यथा प्रकरण, भाग, प्रहसन। शूद्रक के मृच्छकटिक, भवभूति के मालतीमाधव आदि की कथा उत्पाद्य ही है।

मिथ इतिवृत्त की वृष्टभूमि प्रख्यात होती है, पर उसमें बहुत-सा अंश कल्पित भी होता है। रूपक के समस्त इतिवृत्त को हम कुछ स्थितियों में बाँट लेते हैं। इतिवृत्त को पाँच अर्थप्रकृतियों, पाँच अवस्थाओं तथा पाँच सन्धियों में विभक्त किया जाता है।

१ विचिन्तवन्ती य मनन्यमानसा तपोधन वेत्ति न मामुपस्थितम् ।

स्मरिष्यति त्वां न स भोयितोऽपि सन् कथां प्रमत्त प्रथमं कृता मिथ ॥

(शकुन्तल, चतुर्थ अङ्क)

अर्थप्रकृतियों	अवस्थाएँ	सन्धियाँ
१ बीज	आरम्भ	मुल
२ बिन्दु	यत्न	प्रतिमुग
३ पताका	प्राप्त्यारा	गर्भ
४ प्रकरी	नियताति	विमर्श
५ कार्य	फलागम	उपसंहृति

अर्थप्रकृतियों नाटकीय इतिवृत्त के पाँच तत्त्व हैं। सारे नाटकीय इतिवृत्त इन नाटकीय तत्त्वों में विभक्त होते हैं। बीज, वृक्ष के बीज की तरह बढ़ तत्त्व है, जो अङ्कुरित होकर नायक के कार्य या फल की ओर बढ़ता है। बिन्दु वह स्थिति है, जब बीज पानी में घिरे तेल के बूँद की तरह फैलता है। इस दशा में इतिवृत्त का बीज फैल कर व्यक्त होने लगता है। पताका के अन्तर्गत पताका नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त, तथा प्रकरी में दूसरी प्रासङ्गिक वस्तु होती है, यह हम बता चुके हैं।

अवस्थाएँ नाटकीय इतिवृत्त की गति को व्यक्त करती हैं। हम देखते हैं मानव का जीवन एक सीधी रेखा की तरह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। यह टेढ़ा मेढ़ा होता हुआ, अपने उद्देश्य तक पहुँचता है। मानव का जीवन सद्दर्प से भरा हुआ है, ये सद्दर्प ही उसे गति देते हैं। सद्दर्प की चटानों को तोड़ता, उन पर विजय प्राप्त करता, आशा और उल्लास के साथ आगे बढ़ता है। मोक्ष जैसे परमानन्द की स्थिति का विश्वासी भारतीय निराशावादी नहीं, सद्दर्पों से बह डरता नहीं, सद्दर्प तो उसकी परीक्षा हैं। यदि वह उनसे निरारा भी होता है, दुखी भी होता है, तो वह निराशा, वह दुःख क्षणिक होता है। उस दुःख के काले पर्दे के पीछे सुख, आशा, उल्लास, आनन्द का दिव्य प्रकाश छिपा रहता है। भाव यह है, भारतीय को इस बात में पूर्ण विश्वास है कि जीवन के सद्दर्पों, विघ्नों पर अवश्य विजय प्राप्त करेगा, उसे अपने लक्ष्य तथा उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता मिलेगी, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। भारतीय जीवन के 'फलागम' में पूर्ण विश्वास करता है। मानवजीवन का लक्ष्य ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष-चतुर्वर्ग फल प्राप्ति है। हम भारतीयों की धारणा पाश्चात्त्यों की तरह निराशावादी नहीं रही है। यह दूसरी बात है कि यहाँ भी कुछ निराशावादी सिद्धान्त अङ्कुरित हुए, पर आशावाद के प्रताप में ये कुलस-से गये।

वाक्य या नाटक का इतिवृत्त कुछ नहीं मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब है। 'नाटक मानवप्रकृति का दर्पण है।' भारतीय नाटक साहित्य में, (संस्कृत नाटकसाहित्य में) भारतीय मानव-जीवन पूर्णतः प्रतिबिम्बित हुआ है। यह दूसरी बात है कि उनमें मार्गदेशिकता, सार्वकालिकता, तथा मानव-जीवन के शाश्वत-मूल्यों का भी प्रदर्शन है। भारतीयों के आशावादी दृष्टिकोण के ही कारण यहाँ के नाटकों के नायक के लिए फल प्राप्ति आवश्यक है। नाटक का नायक सद्दर्पों तथा विघ्नों को कुचलता, पददलित करता दुर्गर्भ गति से आगे बढ़े, तथा अपने लक्ष्य को प्राप्त करे। फलतः यहाँ के इतिवृत्तों का अन्त फल प्राप्ति में ही होगा, नायक की सफलता में ही

होगा; फलभान में या उसकी असफलता में नहीं। यही कारण है कि निराशावादी प्रीस की तरह भरत ने दुःखान्तकियों या त्रासदों (Tragedy) को जन्म नहीं दिया। यहाँ के नाटकों का इतिवृत्त सदा सुखान्त रहा है। यहाँ के समस्त नाटक उल्लासान्त या सुखान्त (Comedies) हैं। किन्तु ग्रीस देश के त्रासदों की महत्ता को यहाँ कमी नहीं। भारतीय नाटक वस्तुतः उस अर्थ में 'कॉमेडीज़' नहीं, जो अर्थ इसका नहीं लिया जाता है। यहाँ 'कॉमेडी' के अन्तर्गत व्यंग्यात्मक प्रहसन आते हैं। इस कोटि में हमारे भाण या प्रहसन आयेंगे। ट्रेजेडी के अन्तर्गत ये महापुरुषों के उदात्त चरित्र को हमारे सामने रखते हैं। ये महापुरुष विरोधी शक्तियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते, फलतः उनका कष्टमय पतन बताया जाता है। निराशावाद का इस प्रकार का परिणाम आवश्यक है। यह दूसरी बात है कि इन महापुरुषों के चरित्र में कुछ ऐसी कमी अवश्य चित्रित की जाती है, जो उन्हें असफलता की ओर ले जाती है। शेक्सपियर के हेमलेट या मेकबेथ उदात्त एवं महापुरुष हैं। किन्तु उनके चरित्र में कुछ कमी भी है, जो उन्हें मृत्यु के गर्त में ले जाती है। नाटक की समाप्ति के साथ सामाजिक के हृदय में उन महापुरुषों की नियतिगत दुरवस्था पर दया उभर आती है, वह उनके प्रति सहानुभूति दिखाता है। दूसरी ओर वह जीवन के निराशामय वातावरण के विश्वास की पुष्टि करता है, कोरा भाग्यवादी बन जाता है। ग्रीस की 'दुःखान्तकियों' हमें नियतिवादी बनाती हैं, संस्कृत के 'सुखान्त' हमें पुरुषार्थवादी। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि संस्कृत के नाटकों में सङ्घर्षों या विघ्नों का चित्र उपस्थित करने में कोई कसर रहती है। सङ्घर्ष व विघ्नों का दुर्लभ रूप उपस्थित करने में संस्कृत नाटककार कुशल है, और उसका नायक भी उन पर विजय पाने में सफल। यही कारण है कि यहाँ नाटकों में एक ओर ग्रीस देश की 'दुःखान्तकियों' के तत्त्व की भी स्थिति होती है। यही कारण है कि कुछ लोगों ने संस्कृत के नाटकों को कोरे सुखान्त न कहकर 'सुखोन्मुख दुःखपरक' ('Tragi-comedy') माना है। इस सब विवेचन से हमारा तात्पर्य यह है कि नाटकीय इतिवृत्त की ऊपर की पाँच अवस्थाओं में भारतीय दृष्टि से 'कलागम' का विशेष महत्त्व है।

नाटकीय कथा वस्तु की पहली अवस्था आरम्भ है। इस अवस्था के अन्तर्गत नेता में किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है, यह दूसरी बात है कि उसका प्रथमान कोई दूसरा पात्र करे। दूसरी अवस्था प्रयत्न है, जब नायक उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। तीसरी अवस्था-प्राप्त्यारा में, विघ्नादि के विचार कर लेने के बाद नायक की लक्ष्य प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। चौथी अवस्था-नियताप्ति में उसे सफलता वा पूरा विश्वास हो, जाता है और पाचवीं अवस्था में वह 'फलान्त' तक पहुँच जाता है। उदाहरण के लिए शकुन्तला नाटक में 'असं-दायं क्षत्रपरिग्रहक्षमा' आदि के द्वारा राजा में शकुन्तला की प्राप्ति की इच्छा के द्वारा आरम्भ अवस्था व्यक्त की गई है। तदनन्तर वह उसकी प्राप्ति के लिए दूसरे व तीसरे अङ्क में प्रयत्नशील है। यहाँ 'प्रयत्न' नामक अवस्था है। चतुर्थ अङ्क में

दुर्गरा का शीघ्र विम्वहण में उपस्थित होता है, विन्दु बड़ी दूरी परता रहता है कि उनका शीघ्र दान्त हो गया है, और सामाजिक को नायक दुष्यन्त की शकुंतला प्राप्ति का सम्मानना हो जाती है। यहा प्रात्याशा नामक अन्वया है। छठे अङ्क में सुश्रिका के फिर से मिल जाने पर शकुन्तला प्राप्ति नियत हो जाती है। यह प्राप्ति अगले अङ्क में होती है, अथा यहा 'नियताप्ति' है। सातवें अङ्क में नायक व नायिका का मिलन हो जाता है, नायक को पत्न प्राप्ति हो जाती है। यहा 'कलागम' नामक अन्वया पाई जाती है।

अर्थप्रकृति तथा अन्वया के अतिरिक्त नाटक की रचनास्तु में पांच सन्धिया भी होती हैं। इन्हें सन्धिया वर्णन करते हैं जिसे पांच अर्थप्रकृतियों व पांच अन्वयाओं के विभ्रण से बनती हैं —

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासामन्विताः ।

यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ॥

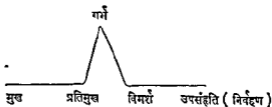
(प्रथम प्रकाश, भा० २२)

जैसा कि ऊपर पाँचों अर्थप्रकृतियों, अन्वयाओं तथा सन्धियों के नामनिर्देश में बताया है इनका क्रमशः एक दूसरे से सम्बन्ध है। बीज तथा आरम्भ मिलकर मुद्र को, विन्दु तथा प्रयत्न मिलकर प्रतिमुद्र को, पताग तथा प्रात्याशा मिलकर गर्भ को, प्रहरी तथा नियताप्ति मिलकर विमर्श को, एवं कार्य तथा पद्मगम मिलकर उपसंहृति या निर्वाहण को जन्म देते हैं। जैसे, शकुन्तला नाटक में प्रथम अङ्क से लेकर द्वितीय अङ्क के उस स्थल तक जब सेनापति बला जाता है, तथा दुष्यन्त कहता है— 'विश्रामं लभतामिद् च शिथिलन्याचन्ध मस्मिद्धनुः' मुद्र सन्धि है। तदनन्तर तृतीय अङ्क के अन्त तक प्रतिमुद्र सन्धि है। चतुर्थ अङ्क से पाचवें अङ्क के उस स्थल तक जहा भीतनी शकुन्तला का अन्वगुण्ठन हटाती है, गर्भसन्धि है। पाचवें अङ्क के शेष अंश तथा सम्पूर्ण षष्ठ अङ्क में विमर्श सन्धि है। तदनन्तर सप्तम अङ्क में निर्वाहण सन्धि पाई जाती है। एक दूसरा उदाहरण हम रत्नावली से ले सकते हैं। रत्नावली के प्रथम अङ्क व द्वितीय अङ्क के उस स्थल तक जहा रत्नावली (सागरिका) बलरत्न उदयन का चित्र बनाना चाहती है, मुद्रसन्धि है। दूसरे अङ्क के शेष भाग में प्रतिमुद्र सन्धि है। तृतीय अङ्क में गर्भसन्धि पाई जाती है। चतुर्थ अङ्क में अग्नि वाग्म्याली घटना तक विमर्श सन्धि है, तदनन्तर निर्वाहण।

पाँचों सन्धियों को ६४ सन्धियों में विभक्त किया गया है। इस यहा सन्धियों के नामनिर्देशन में न जायेंगे। सन्धियों के इस विशाल विभाग के विषय में विद्वानों के दो मत हैं कुछ लोग इन्द्र जलिक तथा अनावश्यक मानते हैं। जो ए बी बीष को मानता है कि नाटकीय इतिवृत्त की दृष्टि से यह विभाजन कोई वास्तविक मूल्य नहीं रखता। उदक के मतानुसार प्रत्येक सन्धिया का प्रयोग अपनी ही सन्धि में करना उपयुक्त

है। किन्तु, हमारे विद्वानों के मत से सन्ध्यों के लिए यह नियम निर्धारण ठीक नहीं। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि नाटकदि में इन ६४ सन्ध्यों का, सभी का प्रयोग किया जाय। जैसे भट्टनारायण के वेणीसहार जैसी नाटक-कृतियाँ ऐसी पाई जाती हैं, जिन्होंने इन सन्ध्यों का पूरा निर्वाह करने की चेष्टा की है। पर इसका परिणाम यह हुआ है कि भट्टनारायण को वेणीसहार के द्वितीय अङ्क में भानुमती-दुर्योधन वाले प्रेमालाप की रचना जबरदस्ती करनी पड़ी है। यह काव्य के रस में न केवल बाधक हुआ है, अपि तु उसने दुर्योधन के चरित्र को उपस्थित करने में गड़बड़ी कर दी है।

कथावस्तु के इस विभाजन के विषय में कीय का मत है 'कि जहाँ तक सन्धियों का प्रश्न है, उनका विभाजन इसलिए ठीक है कि इनमें नाटकीय सहर्ष पर जोर दिया गया है, किस प्रकार नायक विघ्नों पर विजय प्राप्त करके फलप्राप्ति की ओर बढ़ता है यह इस विभाजन का लक्ष्य है किन्तु अर्थप्रकृति की कल्पना व्यर्थ की जान पड़ती है। सन्धियों की कल्पना कर लेने के बाद अर्थप्रकृति का विभाजन अनावश्यक है। साथ ही पाँच सन्धियों का पाँचों अर्थप्रकृतियों व पाँचों अवस्थाओं से क्रम से मेल मिलाने की योजना दोषपूर्ण है।' पाँचों सन्धियाँ कथावस्तु में आवश्यक हैं, विशेष कर नाटक की वस्तु में, क्योंकि उसे 'पञ्चसन्धिसमन्वित' होना ही चाहिए। यह दूसरी बात है कि कई रूपक ऐसे हैं, जिनमें पाँचों सन्धियाँ न होकर चार या तीन ही सन्धियाँ पाई जाती हैं। हम यहाँ नाटक की इन पाँच सन्धियों की गति को एक रेखाचित्र से व्यक्त कर देते हैं।



कथावस्तु के विभाजन पर विचार किया गया। हम देखते हैं दृश्य काव्य रत्नमय की वस्तु है। उसे रत्नमय की आवश्यकता के अनुसार दृश्यों का नियोजन करना होता है। कथा-सूत्रों में कई ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मध्य पर नहीं दिखाया जा सकता। कुछ को तो इसलिए कि उसमें समय विशेष लगता है, और कुछ को इसलिए कि वे दर्शकों पर गुरा प्रभाव डाल सकते हैं। कुछ ऐसे भी कथा-सूत्र होते हैं, जो कथा-निर्वाह के लिए जरूरी तो हैं, पर इतने जरूरी नहीं कि उन्हें मध्य पर बताया जाय। इस तरह हम दो प्रकार के कथा सूत्र मान सकते हैं—१ दृश्य, तथा २ सूच्य। दृश्य कथासूत्र मध्य पर दिखाये जाते हैं, उनका अभिनय किया जाता है, सूच्य कथासूत्रों की पात्रों के संवाद के द्वारा सूचना मान दे दी जाती है। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अधिपान पात्र होते हैं। कभी-कभी सूच्य कथासूत्रों की सूचना नेपथ्य से भी दी जाती है। इन कथासूत्रों के सूचनाप्रकार 'अर्थोपलक्षक' कह-

जाते हैं, क्योंकि ये सूत्र्य अर्थ को आक्षिप्त करते हैं। अर्थोपचोपक पांच प्रकार के होते हैं—१ विष्कम्भक, २ प्रवेशक, ३ चूलिका, ४ अद्वास्व तथा ५ अद्वावतार। इन पाँचों प्रकार के अर्थोपचोपकों में विष्कम्भक तथा प्रवेशक का विशेष महत्त्व है, इन्हीं का प्रयोग नाटकों में प्रायः देखा जाता है। हम इन दोनों की विवेचना बाद में करेंगे। पहले, चूलिकादि तीन अर्थोपचोपकों को ले लें।

चूलिका में सूत्र्य अर्थ की सूचना नेपथ्य से, या यपनिका के भीतर से दी जाती है। अद्वास्व बर्हा होता है, जहाँ किसी अङ्क के अन्त में किसी ऐसी बात की सूचना दी जाय, जिससे अगले अङ्क का आरम्भ हो रहा हो। अद्वावतार में पहले अङ्क के पात्र पूर्व अङ्क के अर्थ को विच्छिन्न किए बिना ही दूसरे अङ्क में आ जाते हैं। अद्वास्व या अद्वावतार में पात्रों के सवाद के द्वारा सूत्र्य अर्थ की सूचना दी जाती है।

विष्कम्भक तथा प्रवेशक में भी विष्कम्भक विशेष प्रधान है। प्रवेशक विष्कम्भक का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है, जहाँ नीचे पात्र होते हैं, तथा उसका प्रयोग प्रथम अङ्क के आरम्भ में नहीं होता। विष्कम्भक अर्थोपचोपक में दो पात्र होते हैं, ये दोनों पात्र भौण अथवा अध्रधान पात्र होते हैं, किन्तु दोनों (या एक) उच्चकुल के होते हैं। विष्कम्भक के द्वारा भूतकाल की या भविष्यत् काल में होने वाली घटना का सूचित किया जाता है। इसका प्रयोग कहीं भी हो सकता है। यहाँ तक कि विष्कम्भक नाटकादि के आरम्भ में, प्रथम अङ्क के आरम्भ में भी प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार का विष्कम्भक वा प्रयोग भवभूति के मालतीमाचय में देखा जा सकता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध तथा मिश्र। शुद्ध विष्कम्भक के सभी पात्र मध्यम श्रेणी के तथा संस्कृत वक्ता होते हैं। मिश्र विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी तथा निम्न श्रेणी, दोनों संस्कृत के पात्र होते हैं, तथा प्राकृत का भी प्रयोग होता है। राजकुन्तल नाटक में चतुर्थ अङ्क के पूर्व शुद्ध विष्कम्भक पाया जाता है, जहाँ कश्यप कृषि का एक शिष्य आकर हमें बताता है, कि कश्यप लौट आये हैं।

प्रवेशक भी विष्कम्भक की भाँति सूत्र्य अङ्क है। इसके पात्र सभी निम्न श्रेणी के होते हैं, तथा प्राकृत भाषा बोलते हैं। प्रवेशक का प्रयोग नाटक के आरम्भ में कभी नहीं होता, यह सदा दो अङ्कों के बीच प्रयुक्त होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में छठे अङ्क के पहले प्रवेशक का प्रयोग पाया जाता है।

इसी सम्बन्ध में 'पताकास्थानक' को भी समझा दिया जाय। नाटककार कभी सवाद या घटना में कुछ ऐसी रचना करता है, जिससे भावी प्रस्तुत या घटना की सूचना मिल जाती है। पदार्थकथार ने पताकास्थानक के दो भेद माने हैं—अन्योक्ति रूप तथा समासोक्तिरूप। रत्नावली से राजा के विदा होते समय नेपथ्य से 'प्राप्तोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैव' "पद्म करोति" के द्वारा-उदयन के द्वारा-सागरिका के भावी आकाशान की सूचना दी गई है। यहाँ अन्योक्तिरूपद्वारा राजा पताकास्थानक है। अन्योक्तिरूपद्वारा राजा पताकास्थान में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का इविवृत्त एक था होता है, ये 'सुप्तेतिष्ठत' होते हैं। प्रस्तुत उदयन-सागरिका-स्वाभार की व्यञ्जना

(सूचना) अप्रस्तुत दिनकर-पत्रिणी-व्यापार के द्वारा करई गई है। रत्नावली में ही एक दूसरे-स्थान पर समासोक्तिरूप पताब्रह्मस्थानक भी पाया जाता है। समासोक्तिरूप पताकारस्थानक में प्रस्तुत पक्ष तथा अप्रस्तुत पक्ष में विशेषणों की समानता होती है, ये 'तुल्यविशेषण' होते हैं। रत्नावली में कठियों से भरी हुई उद्यानकला के देखते समय की उदयन की उक्ति 'उद्दृशामोत्कलिकां विपाण्डुरस्रवं प्रारब्ध-जृम्भं क्षणात् ... देव्याः करिष्याम्यहम्' के द्वारा भावी सागरिकदर्शन से जनित देवोन्मेष की सूचना दी गई है। यहा रत्ना के विशेषण अप्रस्तुत कमविदग्धा नायिका में भी अन्वित हो जाते हैं।

पाश्चात्य शास्त्रियों की भांति यहा के नाट्यशास्त्रियों ने संवाद (Dialogue) को अलग से तत्त्व नहीं माना है। इसका तात्पर्य यह नहीं, कि ये इसका विवेचन नहीं करते। वस्तुतः वे इसका विवेचन वस्तु के साथ ही करते हैं, तथा इसे वस्तु का ही अंग मानते जान पड़ते हैं। पात्रों का संवाद हमारे यहा बड़े तरह का माना गया है—प्रकार, स्वगत, अपवारित तथा जनान्तिक। प्रकार यह उक्ति है, जो सर्वधाव्य हो, जिसे सारे पात्र सुन सकें। स्वगत यह उक्ति है, जो रहस्य के अन्य पात्रों को सुनानी अभीष्ट नहीं। अपवारित तथा जनान्तिक कुछ ही लोगों को-रहस्य पर स्थित कुछ ही पात्रों को, सुनाना अभीष्ट होता है। अपवारित में पात्र किसी दूसरे एक ही पात्र को अपनी बात सुनाना चाहता है। जनान्तिक में दो पात्र आपस में एत मन्त्रणा करते हैं। सामाजिक के लिए तो ये सारे ही संवाद ध्यान्य होते हैं। इनके अतिरिक्त कभी कभी नेपथ्य से आकाशभाषित का प्रयोग भी किया जाता है।

(२) नेता तथा पात्रः—रूपकों का दूसरा भेदक नेता है। नेता शब्द के साथ नायक का सारा परिकर आ जाता है। नायिका, नायक के साथी, नायिका की सत्तियों आदि, प्रतिनायक और उसके साथी, सभी 'नेता' के अङ्ग माने गये हैं। पादकादि के इतिवृत्त का नायक वही बन सकता है, जिसमें विनीतत्वादि अनेक गुण^१ विद्यमान हो। नायक को नाट्यशास्त्र में चार प्रकार का माना गया है। यह प्रकार-भेद नायक की प्रकृति के आधार पर किया गया है। ये चारों प्रकार के नायक 'धीर' तो होते ही हैं। धीरत्व के अतिरिक्त इनमें अपनी २ प्रकृतिगत विशेषता पाई जाती है। नायक का पहला प्रकार 'ललित' या धीरललित है, दूसरा 'शान्त' या धीरशान्त (धीरप्रशान्त), तीसरा 'उदात्त' या धीरोदात्त और चौथा 'उद्धत' या धीरोद्धत। इनके उदाहरण क्रमशः बरबरज उदयन, शारदत्त, राम तथा भीमसेन दिए जा सकते हैं।

(१) धीरललितः—धीरललित राजपाठ की या दूसरी चिन्ताओं से मुक्त होता

१. इन गुणों के लिए दशरूपक के द्वितीय प्रकाश की पहली दो परिचारों व उनकी कृति देखिए।

है। वह सजीव, शून्य, चित्र आदि कला का प्रेमी और रसिक शक्ति का होता है। प्रेम उसका उपास्य होता है, वह भोगविवास में लिप्त रहता है, तथा प्रायः अनेकपत्नी वाला होता है। धीरललित नायक अधिकतर राजा होता है। उसका राज्यकार्य मन्त्री आदि सभाले रहते हैं और वह अन्तःपुर की बहारदीवारी में प्रेम स्वीदा किया करता है। यहीं पर वह नई नई सुन्दरियों के प्रति अपने प्रेम-प्रदर्शन की धुन में रहता है। उसके इस व्यापार में वह अपनी महादेवी-महारानी-से सदा बरखा हुआ, शक्ति होकर प्रवृत्त होता है। भाव तथा हर्षवर्धन का वस्तराज उदयन ऐसा ही धीरललित नायक है। रत्नावली तथा त्रियदर्शिना का नायक इन सय गुणों से युक्त है।

(२) धीरप्रशान्तः—धीरप्रशान्त प्रकृति का नायक धीरललित से सर्वथा भिन्न होता है। कुछ की दृष्टि से वह शान्त प्रकृति का होता है। शान्त प्रकृति प्रायः धाड़ण या पैश्व में ही होती है। अतः वह निष्कर्ष निकलता है कि धीरप्रशान्त कोटि का नायक या तो धाड़ण होता है या प्रैश्व (प्रेमी)। यह दूसरी बात है कि वह चाण्डल या माधव की तरह मलाप्रिय भी हो। प्रकरण नामक रूपकभेद का नायक प्रायः धीरप्रशान्त ही होता है। शूद्रक के गृह्यकटिक का नायक 'चारदत्त' तथा नवमूति के मालतीमाधव प्रकरण का नायक माधव धीरप्रशान्त है। दोनों ही युद्ध से धाड़ण हैं। कुछ लोगों के मतानुसार सुधिमिर, युद्ध या जीमूतदाश्न को भी इसी कोटि में मानना ठीक होगा, क्योंकि वे शान्त प्रकृति के हैं। अवलोकवार धनिक ने इस मत का अच्छी तरह खण्डन किया है। धनिक के मतानुसार वे धीरोदात्त हैं।

(३) धीरोदात्तः—धीरोदात्तप्रकृति का नायक भी प्रायः राजा या राजकुलोपभूत होता है। वह निरामिनी, आर्यन्त गम्भीर, स्थिर तथा अविचल्यन होता है, जिस मत को वह धारण कर लेता है, उसे छोड़ता नहीं है। धीरोदात्त नायक, नायक के सम्पूर्ण आदर्शों से युक्त होता है। नाटक का नायक इसी प्रकृति का चुना जाता है। उत्तर-रामचरित के रामचन्द्र या अभिज्ञानशाकुन्तल का सुप्यन्त धीरोदात्त नायक है।

(४) धीरोद्भूतः—धीरोद्भूत नायक समंती, ईर्ष्यापूर्ण विकल्पन तथा छली होता है। यही कारण है कि वह 'उद्भूत' कहा जाता है। परशुराम या भीमसेन धीरोद्भूत कोटि के नायक हैं।

रूपक का प्रत्येक नेता इन प्रकारों में से किसी एक प्रकार का होता है। हम आगे बतायेंगे कि किस किस रूपक का नेता किस किस प्रकृति का होता है।

(१) राम व सुप्यन्त का धीरोदात्तत्व ममश निता पशों से स्पष्ट हो जाता है—

(क) यदि वा जानकी मयि ।

आराधनाय लोकस्य सुप्रती नास्ति मे वदया ॥

(उत्तररामचरित, प्रथम अङ्क)

(२) स्वधुपनिरभिलाष सिधते लोकहेतोः, प्रतिदिनमथवा ते श्रुतिरेपं विधेय ।

अनुभवति ही गूर्वा पादपस्तंजमुष्णं शमयति परितारं छावशेषाभितायाम् ॥

(शाकुन्तल, द्वितीय अङ्क)

नायक का एक दूसरे ढाँचा का वर्गीकरण भी किया जाता है। यह वर्गीकरण उसके प्रेमव्यापार एवं तत्सम्बन्धी व्यवहार के अनुरूप होता है। प्रेम की अवस्था में नायक के दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल ये ४ रूप देखे जा सकते हैं। ये रूप अपनी परिणीता पत्नी के प्रति किये गये उसके व्यवहार में पाये जाते हैं। दक्षिण नायक एक से अधिक प्रियाओं को एक ही तरह से प्यार करता है। रत्नावली नाटिका का बत्सरज उदयन दक्षिण नायक है। शठ नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका के साथ बुरा बर्ताव तो नहीं करता, पर उससे छिप छिप कर दूसरी नायिकाओं से प्रेम करता है। धृष्ट नायक धोखे बाज है, वह ज्येष्ठा नायिका की पचाई नहीं करता, कभी २ सुले ध्याम भी दूसरी नायिका-वनिष्ठा से प्रेम करता है। एक ही नायक में भी तीनों अवस्थाएँ मिल सकती हैं। रत्नावली का उदयन जैसे कई स्थान पर दक्षिणरूप में, कई स्थान पर शठरूप में तथा कई स्थान पर धृष्टरूप में सामने आता है। फिर भी उसमें प्रधानता दक्षिणत्व की ही है। अनुकूल नायक सदा एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है। उत्तररामचरित के रामचन्द्र अनुकूल नायक हैं, जो केवल सीता के प्रति आसक्त हैं।

नायक के अन्तर्गत आठ प्रकार के सात्विकगुणों की स्थिति होना आवश्यक है। ये गुण हैं—शोभा, विलास, माधुर्य, गांभीर्य, स्वैर्य, तेज, स्वाठित्य तथा औदार्य।

नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। यह धीरोद्धत प्रकृति का होता है। जैसे महावीरचरित तथा वेणोसंहार में, रावण तथा दुर्योधन प्रतिनायक हैं। ये राम तथा युधिष्ठिर की पक्षप्राप्ति में बाधक होते हैं। नायक का साथी पताकानायक, पीठमर्द कहलाता है। यह बुद्धिमान होता है तथा नायक से कुछ ही गुणों में न्यून रहता है। पीठमर्द सदा नायक की सहायता करता है। रामायण का सुग्रीव, तथा मालतीमाधव का मकरन्द 'पीठमर्द' हैं। नायक के दूसरे सहायक भी होते हैं। नायक के राजा होने पर राज्यकार्य, तथा धर्मकार्य में उसके सहायक मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि होते हैं। प्रेम के समय राजा का नायक के सहकारी विदूषक तथा विट होते हैं।

विदूषक संस्कृत नाटक का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। जैसे तो वह नाटक में हास्य तथा व्यंग्य की रचना कर नाटकीय मनोरंजन का साधन बनता है, किन्तु उसका इससे भी अधिक गंभीर कार्य है। वह राजा के अन्तःपुर का आलोचक भी बनकर आता है। कभी कभी वह अपने संवाद में ऐसा संकेत करता है, जो उसकी साक्ष्यबुद्धि का संकेत कर देता है, जैसे मोटे तौर पर वह पेट्र तथा मूर्ख दिखाई पड़ता है। विदूषक प्राक्षण्य जाति का होता है, उसकी बेराभूषण, बाल-बाल, व्यवहार तथा यातचीत का दृग हास्यजनक होता है। वह ठिगना, अस्वाष्ट तथा संतुल होता है। विदूषक प्राकृत भाषा का आश्रय लेता है। संस्कृत नाटकों में वह मोदकप्रिय तथा अपने पेट्रपन के लिए मराहूर है। विदूषक राजा (नायक) का विश्वासपात्र व्यक्ति होता है, जिसे राजा अपनी गुप्त प्रेम-मन्त्रणा तक बताने देता है। वह कभी कभी राजा के गुप्त प्रेम-व्यवहार में सहायक भी होता है। शकुन्तला का विदूषक तथा भृङ्गकटिक का

मैत्रेय इसके उदाहरण हैं। श्याम्य, हास्य तथा श्यालोचक-प्रवृत्ति की दृष्टि से विदूषक की तुलना शेक्सपियर के 'फाल्स्टाफ' (Falstaff) से की जा सकती है। किन्तु विदूषक में कुछ भिन्नता भी है, कुछ निजी व्यक्तित्व भी हैं, जो 'फाल्स्टाफ' के व्यक्तित्व से पूरी तरह मेल नहीं खाता। विदूषक के अतिरिक्त विट भी राजा या नायक का नर्मसुहृद् होता है। विट किसी न किसी कला में प्रवीण होता है, तय बेरियाओं के व्यवहारों का पूरा जानदार होता है। भाण नामक रूपक में विट प्रधान पात्र भी होता है, जहाँ वह अपने अनुभव सुनाता है। कालिदास व भवभूति में विट नहीं है। हर्ष के नागानन्द में, तथा मृच्छकटिक में विट का प्रयोग पाया जाता है।

राजा के और भी कई सहायक होते हैं दूत, कुमार, प्राङ्घ्रिवाक आदि, जिनका प्रयोग नाटककार आवश्यकतानुसार किया करते हैं।

(नायिका-भेद) — नाटकादि रूपक में नायिका का भी ठीक उतना ही महत्त्व है, जितना नायक का, विशेष करके शृङ्गार रस के रूपकों में। नाटिका में तो नायिका का विशेष व्यक्तित्व है। नायिका का वर्गीकरण तीन प्रकार का होता है। पहले ढंग का वर्गीकरण उसके तथा नायक के संबन्ध पर आश्रित होता है। दूसरे ढंग का वर्गीकरण एक ओर उसकी उम्र और अवस्था, दूसरी ओर नायक के प्रतिकूलचरण करने पर उसके प्रति नायिका के व्यवहार के आधार पर किया जाता है। तीसरा वर्गीकरण उसकी प्रेमगत दशा के वर्णन से संबद्ध है। हम यहाँ इन्हीं को क्रमशः लेंगे।

नायिका को मीठे तौर पर तीन तरह का माना जा सकता है — १ स्वीया या स्वपत्नी, नायक की स्वयं की परिणीता पत्नी, जैसे उत्तररामनरित की सीता। २ अन्या, वह नायिका जो नायक की स्त्री नहीं है। अन्या या तो किसी व्यक्ति की अनूठा कन्या हो सकती है, या किसी की परिणीता पत्नी। अनूठा कन्या का रूप हम शकुन्तला, मालती या सागरिका में देख सकते हैं। परस्त्री या अन्य पत्नी का नायिका के रूप में प्रयोग नीति व धर्म के विरुद्ध होने के कारण नाटकादि में नहीं बताया जाता। ३ सामान्या, साधारण स्त्री या गणिका। कई रूपकों में विशेषतः प्रकरण, प्रकरणिका तथा माण में गणिका भी नायिका के रूप में चित्रित की जा सकती है। मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना गणिका ही है।

अपस्था के अनुसार नायिका— १ सुग्धा, २ मध्या तथा ३ धीरा या प्रगल्भा। सुग्धा नायिका प्राप्तयौवना होती है, वह बड़ी मोली, प्रेम-कलाओं से अज्ञात, तथा प्रेम-धीरा से धरी-धी रहती है। वह नायक के समीप अकेली रहने में धरती है, तथा नायक के प्रतिकूलचरण करने पर उस पर मोघ नहीं करती, बल्कि स्वयं अस्ति गिराती है। मध्या नायिका सम्प्राप्ततारुण्यवामा होती है, उसमें कामवासना उद्भूत हो जाती है। नायक के प्रतिकूलचरण करने पर वह युद्ध होती है। ऐसी दशा में उसके तीन रूप होते हैं — १ धीरा, २ अधीरा, ३ धीराधीरा। धीरा मध्या प्रतिकूलचरण वाले नायक को रिलेट बायों के द्वारा उपलब्ध देती है। अधीरा कट्ट शब्दों का प्रयोग करती है। धीराधीरा मध्या एक ओर रोती है, दूसरी ओर नायक को श्याम्य भी सुनाती है। इय

प्रकार मध्या तीन प्रकार की होती है। प्रौढ या प्राणकभा नायिका प्रेमकला में दम होती है, प्रेमशीला में वह कई प्रकार के अनुभव रखती है। शृतापराध प्रिय के प्रति उग्रा आचरण मध्या की नीति ही तीन तरह का हो सकता है। अतः वह भी तीन प्रकार की होती है — १ धीरा, २ अधीरा, ३ धीराधीरा। धीरा प्रौढ प्रिय को कुल नहीं कहती, वह कैवल उदासीन इति धारण कर लेती है। इस प्रकार वह नायक की कर्मशीला में हाथ नहीं बँटाती और उसमें वाक-सी होकर अपने मोह की व्यग्रता करती है। अधीरा प्रौढ नायक को बराती, पमकाती और यहाँ तक कि मारती-पीटती भी है। धीराधीरा प्रौढ मध्याधीराधीरा की भाँति ही व्यंग्योक्ति का प्रयोग करती है। इसके साथ ही मध्या तथा प्रौढ के तीन तीन भेदों का फिर से ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा के रूप में वर्गीकरण किया जाता है। ज्येष्ठा नायिका नायक की पहली, तथा कनिष्ठा उसकी अभिनव प्रेमिका होती है। उदाहरण के लिए रत्नादली नाटिका में वासवदत्ता ज्येष्ठा है, सागरिका कनिष्ठा। इस प्रकार मध्या के ६ भेद तथा प्रौढ के भी ६ भेद हो जाते हैं। मुग्धा नायिका केवल एक ही तरह की मानी जाती है। उसे इन भेदों में मिला देने पर दस वर्गीकरण के अनुसार नायिका के १३ भेद होते हैं।

नायिका का तीसरा वर्गीकरण उसकी दशा को उपस्थित करता है। इसके अनुसार नायिका आठ तरह की होती है — १ स्वाधीनपतिवा, २ वासकसम्भा, ३. विरहोत्कण्ठिता, ४. खण्डिता, ५. कलहान्तरिता, ६. विप्रलम्भा, ७. प्रोदितप्रिया तथा ८. अभिसारिका। स्वाधीनपतिवा का नायक सर्वथा उसके अनुकूल होता है, जैसे वह उसके आधीन होता है। वासकसम्भा नायिका नायक के आने की राह में सजबज कर बैठी रहती है। नायक के आने के विषय में उसके हृदय में पूर्ण आशा होती है। विरहोत्कण्ठिता का नायक ठीक समय पर नहीं आता, अतः उसके हृदय में खरली मची रहती है, आशा तथा निराशा का एक सपर्यं उसके दिल में रहता है। खण्डिता का नायक दूसरी नायिका के साथ रात गुजार कर उसका अपराध करता है, और प्रातः जब लौटता है, तो परस्त्रीसम्भोग के चिह्नों से युक्त रहता है जिसे देखकर खण्डिता क्रुद्ध होती है। कलहान्तरिता नायिका कलह के कारण प्रिय से नियुक्त हो जाती है, तथा गुस्से में आकर प्रिय का निरादर करती है। विप्रलम्भा नायिका सनेतस्थल (सहेट) पर प्रिय से मिलने जाती है, पर प्रिय को नहीं पाती, वह प्रिय के द्वारा डाँगी गई होती है। प्रोदितप्रिया का प्रियतम विदेश गया होता है। अभिसारिका नायिका सजबजकर या तो स्वयं नायक से मिलने जाती है, या दूती आदि के द्वारा उसे अपने पास बुला लेती है।

नायक के गुणों की भाँति नायिका में भी गुणों की स्थिति माना गई है। नायिका में ये गुण भूषण या अङ्कार कहलाते हैं, तथा गणना में बीस हैं। इन बीस अङ्कारों में पहले तीन शारीरिक हैं, दूसरे सात अयत्न, तथा बाकी दस स्वभावज हैं। ये हैं — भाव, हाव, हेम, शोभा कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्राणमता, शौचार्थ, धैर्य, लीला विलास, विच्छिन्ति, विघ्न, क्लिबिच्छिन्ति, मोक्षयित, कुदमित, विष्वोक, ललित, तथा निहत।

नायिकाओं में राजा की पहराही महादेवी कहलाती है। यह उच्चकुलोत्पन्न होती है। राजा की रानियों में कई निम्नकुल की उपपत्तियाँ भी हो सकती हैं। इन्हें स्वामिनी या भोगिनी कहा जाता है। राजा के अन्त पुर में कई सेवक होते हैं। कजुकी इनमें प्रधान होता है। यह प्रायः वृद्ध ब्राह्मण होता है। कधुकी के अतिरिक्त यहाँ बौने, कुबड़े, नर्पसक (गर्भवर), किरात आदि भी रहते हैं। अन्त पुर में रानियों की कई राक्षियों, दासियों आदि भी वर्णित की जाती है।

दूसी सम्बन्ध में कई नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में पात्रों के नामादि का भी संक्षेप किया गया है, दशरूपक में इसका अभाव है। इनके मतानुसार गणिका का नाम दशा, सेना या सिद्धा में अन्त होना चाहिए, जैसे मृच्छकटिक में वरान्तसेना का नाम। दास-दासियों के नाम ऋतुसम्बन्धी पदार्थों से लिये गये हैं, जैसे मालतीनायक में कलहंस तथा मन्दारिका के नाम। वापालिकों के नाम घण्ट में अन्त होते हैं, जैसे मालतीनायक वा शचीरघण्ट।

नाटकादि में कौन पात्र किसे किस तरह सम्बोधित करे, इस शिष्टता का सङ्केत भी नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। सामन्तादि राजा को 'देव' या 'स्वामिन्' कहते हैं, पुरोहित या ब्राह्मण उसे 'आयुष्मन्' कहते हैं, तथा निम्न कोटि के पात्र 'भद्र'। सुवराज भी 'स्वामी' कहा जाता है, तथा दूसरे राजकुमार 'भद्रमुख' कहे जाते हैं। देवता तथा भवि-मुनि 'भगवन्' कहलाते हैं, तथा मन्त्री एवं ब्राह्मण 'आर्य' नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' कहती है। विद्वान् 'राज्य' या नायक को 'वयस्य' कहता है, वह भी उसे 'वयस्य' ही कहता है। छोटे लोग बड़े लोगों को 'तात' कहते हैं, बड़े लोग छोटे लोगों को 'तात' या 'वत्स'। मध्यवर्ग के मुख्य परस्पर 'हैंहें' कह कर सम्बोधित करे निम्न वर्ग के लोग 'हण्डे' कहकर। विद्वान् महादेवी या उसकी राक्षियों को 'भवती' कहता है। सेविवाएँ महादेवी या रानियों को 'भविनी' या 'स्वामिनी' कहती है। पति पत्नी को 'आर्या' कहता है। राजकुमारियों 'गर्तुदारिका' शब्द से सम्बोधित की जाती है। गणिका अञ्जुरा, कुडिनी या वृद्धा को 'अम्मा' कहती है। राक्षियों परस्पर 'हत्ता' कहती है, और दासियों को 'हत्ता' कहकर सम्बोधित किया जाता है।

३ रस तथा भावः—भारतीय नाट्यशास्त्र में रसविद्येयना का विशेष स्थान है। हम यथा पुके हैं किन्तु तरह हरय काव्य में 'रस' की स्थिति भरत के भी पहले से पली आरही है। हरयकाव्य के तीन भेदों में एक 'रस' भी है। 'रस' की व्यञ्जना करना, सामाजिकों के हृदय में रसोद्देक उत्पन्न करना हरय काव्य का प्रमुख उद्देश्य है। हरयकाव्य में यज्ञों का यही उद्देश्य है कि उनके अभिनय के द्वारा सामाजिकों में रसोद्दीप्त हो। रस क्या है? इस विषय में यहाँ ही हम इतना ही कहना चाहते कि काव्य के पठन, भवण या ध्यान से जिस आनन्द का अनुभव हमें होता है, वही आनन्द 'रस' कहलाता है। यह रस किन साधनों के द्वारा होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भी यहाँ हम इतना ही कहना चाहेंगे कि 'रस' की निष्पत्ति, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी

के संयोग से होती है।' भरत मुनि ने 'रस' की चर्चा के साधनों के विषय में नाट्य-शास्त्र में यही मत व्यक्त किया है—'विभावाद्युभावयन्विचारिसंयोगाद् रस-निष्पत्तिः।' विभावादिकों तथा रस के परस्पर सम्यग्ध पर हम आगे विचार करेंगे, जहाँ लोखंड, शङ्खुक, मटनायक, अभिनव तथा धनिक के मतों की विवेचना की जायगी।

पहले हम यहाँ इनका समझें कि सहृदय सागाजिकों के हृदय में 'भाव' रहता है। यदि आधुनिक मनोविज्ञान से सहायता ली जाय, तो हम कहेंगे कि 'भाव' मानस-मानस के अर्धचेतन, या अचेतन भाग में छिपा रहता है। 'भाव' की उद्भूति हमारे व्यावहारिक तथा लौकिक जीवन से ही होती है, भारतीय पण्डित के मत से वह पूर्वजन्म का लौकिक जीवन भी हो सकता है। हम स्वयं अपने जीवन में किसी से प्रेम करते हैं, किसी के प्रति क्रोध, उस्साह, कृपा प्रदर्शित करते हैं, किसी शेर या सर्प को देख कर डरते हैं या किसी कोढ़ी के विकृत शरीर को देखकर जुगुप्सा वा अनुभव करते हैं। यही नहीं, दूसरे लोगों को भी इस प्रकार के भाव प्रदर्शित करते देखते हैं। लौकिक तथा व्यावहारिक जीवन में, जब हम इस प्रकार के अनुभव बार-बार प्राप्त करते हैं, तो उनका प्रभाव हमारे चेतन मन पर पड़ता हुआ धीरे-धीरे हमारे अचेतन मन के अन्तराल में अपना नीड घना लेता है। और जब हम काव्य नाटकादि में तत्सत् भाव का चित्रण पढ़ते या देखते हैं, तो वह छिपा भाव उभर कर चेतन मन की लहरों में उतराता नजर आता है। यही भाव काव्य में वर्णित विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है, वह चेतन और अचेतन मन को जैसे कुछ समय के लिए एक करके, उनके बीच की बरनिका को जैसे हटाकर हमें हृदय की उम चरम सोपान सीमा तक पहुँचा देता है, जहाँ हम मनोरंज्य में विचारण करते हैं, जहाँ आनन्द ही आनन्द है। और भारतीय रसशास्त्री के मत में यह आनन्द जिसे 'रस' की संज्ञा दी गई है, लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, वह दिव्य है, तथा 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है।

पर 'रस' के साधन, 'भाव' को 'रस' रूप में परिणत करने वाले, ये विभावादि क्या हैं? मान लीजिये, हम एक नाटक देख रहे हैं, कालिदास के शकुन्तला नाटक के प्रथम दृश्य को दिखाया जा रहा है। भय पर दुष्यन्त आता है, वह आश्रम के पादपों को सींचती शकुन्तला को देखता है। शकुन्तला अर्ध-मावण्यवती है, पंडे को उदाकर नवमस्तिका को पानी पिणते समय उसके अश्रुओं का इस प्रकार का आकुचन प्रसारण होता है कि वह उसके सौन्दर्य को बढ़ा देता है। भैंरों से डर के उसका श्वर उभर दौड़ना, कौपना, घातें दिलाता और चिष्पाना भी दुष्यन्त को उसकी ओर और अधिक आकर्षित करता है। और आगे जाकर दुष्यन्त तथा शकुन्तला के इसी अर्ध में परस्पर विदा होते समय शकुन्तला का दर्भ से पैर के क्षत होने का बहाना बनाना, या लताओं में अँचल के न उलझने पर भी उसे सुसभाने का उपनम करना, शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के आकर्षण को परिपुष्ट रूप दे देता है। कण्व ऋषि के आश्रम का एकान्त उपवन तथा मालिनोत्तीर आदि भी दुष्यन्त के मानस

में शकुन्तला के प्रति 'रति' भाव को व्यक्त कर उसे 'शुद्धार' के रूप में परिणत करने में कारण होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं दुष्यन्त के मन में 'रस' व्यक्त होता है, अतः दुष्यन्त 'शुद्धार' रस का आस्वादकर्ता है, वह 'रति' भाव का आश्रय है। इस भाव को 'रस' रूप में परिणत करने का प्रसुरा साधन शकुन्तला है, किन्तु इसके साथ शकुन्तला की चेष्टाएँ तथा उस दृश्य वा देश-कालादि भी सहायता करते हैं। ये दोनों विभाव कहलाते हैं। शकुन्तला दुष्यन्त के 'रति' भाव का आलम्बन है तथा देश-कालादि इसके उदीचन। जब दुष्यन्त के मन में 'रति' भाव का अनुभूत होने लगता है, तो उसके शरीर में कई चिह्न उत्पन्न होते हैं, उसका चेहरा तिल उठता है, कभी उसकी आँखें बार बार शकुन्तला की ओर अपने आप उठती हैं, वह फिर उन्हें समेटता है, इस प्रकार की दुष्यन्त की चेष्टाएँ 'अनुभाव' कहलाती हैं, क्योंकि ये 'रति' भावानुभूति के वाद पैदा होती हैं या उस 'भाव' का अनुभव सामाजिकों को कराती हैं। तीसरे साधन सभारिभाव या व्यभिचारिभाव है। हम देखते हैं, शकुन्तला के प्रति 'रति' भाव उत्पन्न होने पर, दुष्यन्त कभी सोचता है कि शकुन्तला ऋषियुत्री है, अतः वह उसके द्वारा परिणययोग्य नहीं, वह निराशा तथा विन्ता या अनुभव करता है। कभी उसे अपने मन पर विश्वास होता है, तथा शकुन्तला के विधामित्र पुत्री वाले पुराणत को सुनकर हर्ष तथा आशा दौती है। इसके पहले ही अरुण उत्सुकता होती है। इस प्रकार ये सभी प्रकार की भावानुभूतियाँ वे अस्थायी भाव हैं, जो योके समय तक रहते हैं, और फिर लुप्त हो जाते हैं। एक क्षणिक भाव उठता है, लुप्त हो जाता है, दूसरा उठता है, लुप्त होता है, इस प्रकार एक स्थायी भाव में कई छोटे भाव संचरण करते रहते हैं। ये भाव स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं। इनकी स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसे समुद्र में तरंगों के उदय व अवसान की। स्थायी भाव समुद्र हैं, सभारिभाव तरंग हैं। चूंकि ये भाव क्षणिक तथा अस्थिर हैं अतः ये रावारी या व्यभिचारी कहलाते हैं। गिनती में ये रावारी भाव २३ हैं, जिनके नामादि ग्रन्थ में देले जा सकते हैं।

हम देखते हैं 'भाव' ही 'रस' का योज है, रस वा मूल रूप है। रस को अणु वा 'म्युस्त्रिफल' (Mlens) गहो 'भाव' है। रास क्या है, इसे हम बता चुके हैं। भाव को क्षणिक सभारिभावों से अलग करने के लिए स्थायी भाव भी कहा जाता है। साहित्यशास्त्रियों ने आठ या नौ तरह के भाव माने हैं। धनञ्जय नाटक में आठ ही भाव मानते हैं, जैसा कि हम आगे 'धनञ्जय की मान्यताएँ' शीर्षक भूमिका भाग में बतायेंगे। शमिनर व नवीन रचयिताओं को नौ भाव अभीष्ट हैं। ये भाव हैं— रति, उत्साह, लुगुच्छा, मोध, हास, विस्मय, भय तथा शोक। इनके अतिरिक्त शर्षा भाव है 'शम'। इन्हीं भावों की परिणति शमरा आठ या नौ रसों में होती है— शुद्धार, चीर, बीभास, रौद्र, हारय, अद्भुत, भवानक, कथन तथा नवों भाव 'शम' का

१ आगे जाकर विश्वनाथ ने 'वत्सल' भाव की तथा गारसहय रस की भी थी। इसी तरह कृष्णोत्थामिन ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में 'भापुर' रस (भक्ति रस)

रसरूप 'शान्त' । इन आठ रसों में-शान्त की गणना न करने पर चार प्रमुख हैं, चार गौण । ऊपर की सूची के प्रथम चार प्रमुख हैं, द्वितीय क्रमशः प्रथम चार में से एक एक से उद्भूत माने जाते हैं । यथा हास्य को शृङ्गार से, अद्भुत को वीर से, भयानक को वीभत्स से तथा करुण को रौद्र से उद्भूत माना जाता है । इस प्रकार शृङ्गार-हास्य, वीर-अद्भुत, वीभत्स-भयानक, रौद्र-करुण इन रस-युग्मों की स्थिति हो जाती है । इनका सम्बन्ध मन की चार स्थितियों से लगाया जाता है । रसास्वाद के समय सामाजिक का मानस या तो विवक्षित होता है या कैलता है या क्षुब्ध होता है या उसमें विक्षेप की क्रिया होती है । इस प्रकार इन चार स्थितियों में से प्रत्येक का अनुभव ऊपर के एक एक रस-युग्म में क्रमशः पाया जाता है । यथा, शृङ्गार-हास्य में मानस विवक्षित होता है, उसमें मन का विवास पाया जाता है । इसी तरह वीर-अद्भुत में मन के विस्तार, वीभत्स-भयानक में क्षोभ तथा रौद्र-करुण में विक्षेप की स्थिति रहती है । भूमिका-भाग में हम यहाँ प्रत्येक रस के स्वरूपादि का विवेचन कर व्यर्थ की कलेवर श्रृष्टि करना ठीक नहीं समझने । इनके लक्षणादि मूलग्रन्थ में देखे जा सकते हैं ।

रसनिष्पत्तिपर विभिन्न मत

हम देख चुके कि भरत मुनि के मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव के 'संयोग' से रस की निष्पत्ति होती है । रसनिष्पत्ति के विषय में भरत के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लोहट, शङ्कर, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने अपने रस सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित किया है । धनंजय का रस सम्बन्धी मत कोई भवोन कल्पना नहीं है । धनंजय तथा धनिक के मत का विवेचन हम यहाँ न कर अगले भूमिका-भाग में करेंगे कि किस तरह उसने लोहट, शङ्कर एवं भट्ट नायक के मतों का समन्वय आस्थित किया है ।

(१) लोहट का उत्पत्तिवादः—लोहट का रस सम्बन्धी मत, साहित्य शास्त्र में, 'उत्पत्तिवाद' के नाम से विख्यात है । लोहट रस को विभावादि के द्वारा उत्पन्न मानते हैं । विभावादि उत्पादक हैं, रस उत्पाद्य । इस प्रकार लोहट विभावादि को रस का ठीक उसी तरह कारण मानते हैं, जैसे षडरूप कार्य के शृङ्खलादि कारण हैं । लोहट की इस मत सरणि पर मीमांसकों का प्रभाव है । लोहट स्वयं मीमांसक है । यही कारण है कि वे यहाँ कार्य कारणवाद, आधारणवज्ज के कार्य कारण वाद की कल्पना कर 'उत्पत्तिवाद' को जन्म देते हैं । उदाहरण के लिए, भट्ट लोहट के मत से जो रति भाव, नायिका 'आत्मम्वन विभाव' के द्वारा उत्पादित होता है, उपवनादि उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीत होता है, आलिङ्गनकटाशादि अनुभावों के द्वारा अनुभूत होता है, तथा औलुक्क्यादि सञ्चारियों के द्वारा पुष्ट होता है, वही रति भाव रस रूप में

की कल्पना की । शृङ्गार प्रकारा में भोज में केवल एक ही रस माना, शृङ्गार । धाकी सारे रस गौण के मत से शृङ्गार के ही विवर्त हैं । भवमूनि सभी रसों को करुण का विवर्त मानते हैं ।

अपक्ष होता है। यह रस नट या सामाजिक के हृदय में पैदा नहीं होता है। राम या दुष्यन्तादि पात्र ही इस रस का अनुभव करते हैं। जैसे नट उनकी नकल करता है, उनकी धेशभूषा में आता है, वैसा व्यवहार करता है, इसीलिए सामाजिक उसे राम या दुष्यन्त समझ बैठते हैं। यह समझना भी भ्रान्ति जनित है। उसे राम या दुष्यन्त को चोँदी मान लें, तो राम या दुष्यन्त बना हुआ वह नट वह श्रुति (सौप) है, जिसमें हमें रजत की भ्रान्ति हो जाती है। सामाजिक को इस भ्रान्ति से ही क्षणिक आनन्द मिल जाता है।

लोटल्ट का यह मत निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। सामाजिक में रस की स्थिति न मानना इसका सबसे बड़ा दोष है। क्योंकि राम या दुष्यन्त जैसे पात्रों में ही रस मानना तथा सामाजिकों में रस की स्थिति का विषेय करना ठीक नहीं जान पड़ता। देखा जाय, तो राम या दुष्यन्त तो अतीत काल में थे, वर्तमान काल में तो उस गान्धर्वि के रस का आस्वादनकर्ता सामाजिक ही है। यदि सामाजिक को रसास्वाद न हो, तो वह गान्धर्वि के प्रति प्रहृत ही क्यों होंगे लगा? यही नहीं, विभावादि तथा रस में परस्पर साधारण उक्त के कार्य वारण वाद की करना करना भी एक दोष है, जिसका खण्डन हमें अभिजातवृत्त के मत में मिल सकता है। लोटल्ट के मत के प्रथम दोष का निर्देशक उसके मत का खण्डन करते हुए शङ्कर ने नये मत को प्रतिष्ठापित किया।

(२) शङ्कर का अनुमितिवादः—लोटल्ट के उत्पत्तिवाद का सर्वप्रथम खण्डन नैयायिक शङ्कर ने किया है। शङ्कर ने अपने मत की प्रतिष्ठापना में भरत के रससूत्र की नई व्याख्या उपस्थित की। उसके मतानुसार विभार, अनुभार तथा व्यभिचारिभाव रस की अनुमिति करते हैं। जैसे हम पर्वत में घुड़ों को देखकर 'पर्वत अग्निमान्' है, क्योंकि यह भूमवन्त है' इस परामर्श के द्वारा पर्वत में वहि स्थिति की अनुमिति कर लेते हैं, वैसे ही नट में रामादि के से अनुभवादि देखकर हम वहा रस की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार विभावादि रस के अनुभावरूप है, रस अनुभाष्य। उनमें उत्पाद्य-उत्पादक-भाव न होकर अनुभाष्य-अनुभाषक-सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध में शङ्कर ने चित्रतुरगादिन्याय की बहना भी की है। जैसे चित्र का पौडा, वास्तविक पौडा न होते हुए भी उसे पौडा मानना ही पड़ता है, वैसे ही नट स्वयं राम या दुष्यन्त नहीं है, फिर भी सामाजिक उसे चित्रतुरग की भाँति राम या दुष्यन्त समझता है। तदनन्तर सामाजिक नट के द्वारा रसादि भाव का प्रकटन देखता है, और यह अनुमान कर लेता है कि उसके हृदय में रसादि भाव रसरूप में परिणत हो रहे हैं। सामाजिक इस अनुमिति का अनुभव करते समय, हृदय अनुभव के रसपूर्ण होने के कारण स्वयं भी रसानुभव करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शङ्कर भा वास्तविक रस रामादि पात्रों में ही मानता है, किन्तु वह लोटल्ट की भाँति सामाजिकों में रसाद्य सर्वथा अभाव नहीं मानता। शङ्कर का मत इतने पर भी निर्दुष्ट नहीं कहा जा सकता। रस को अनुमितिगम्य मानना ठीक नहीं जान पड़ता। यह अनुभव सिद्ध है कि रस प्रत्यक्ष प्रमाण संवेद्य है, यह -

ज्ञान का विषय है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को न मानकर रसास्वाद में अनुमिति की कल्पना करने में कोई साधक प्रमाण नजर नहीं आता।

(३) भट्ट नायक का भुक्तिवादः—भट्ट नायक अपने मत में रसास्वाद के विषय में उत्पत्ति, अनुमिति या अभिव्यक्ति वाले सिद्धान्तों को नहीं मानते। वे रस के विषय में 'भुक्ति' के सिद्धांत को जन्म देते हैं। उनके मतानुसार विभावादि रस के भोजक हैं, रस भोज्य। भट्ट नायक ने काव्य के सम्बन्ध में 'अभिधा' शक्ति के अतिरिक्त दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है। ये दो नये व्यापार हैं—भोजकत्व व्यापार, तथा भोजकत्व व्यापार। भट्ट नायक ने इन दो नये व्यापारों की कल्पना कर हमें रस के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझाने की चेष्टा की है। यह दूसरी बात है कि भट्ट नायक का मत भारतीय रसशास्त्र में मान्य न हो सका हो, किन्तु उसने जिन रस सम्बन्धी गूढ़ बातों का उद्घेत किया है, उनका उपयोग उसके विरोधी अभिनवगुप्त तक ने किया है। रस को श्लैशिक रूप देने तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त को जन्म देने का ध्येय भट्ट नायक को ही जाना चाहिए।

भट्ट नायक के मत से सामाजिक या श्रौता सर्वप्रथम काव्य की अभिधाशक्ति के द्वारा उसके वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। तदनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा वह रामादि पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का सादान्वय करता है। इसी व्यापार द्वारा रामादि पात्र अपना व्यक्तित्व छोड़ कर साधारणी कृत हो जाते हैं। इस दशा में पहुँचने पर सामाजिक की बुद्धि में रजस् तथा तमस् गुणा का प्रभाव नष्ट हो जाता है, वहाँ केवल सत्त्व गुण का उद्रेक पाया जाता है। इस दशा में सामाजिक समस्त श्लैशिक इच्छाओं से स्वतन्त्र हो जाता है। इस दशा में जो रसास्वाद होता है, उसका साधन भोजकत्व व्यापार है। भट्ट नायक के इस सिद्धान्त पर सायबरदानका प्रभाव परिलक्षित होता है।

भट्ट नायक के इस सिद्धान्त में अभिनवगुप्त ने जो दोष निकाला, वह यही है कि भट्ट नायक को भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार की कल्पना का कोई साधक प्रमाण नहीं।

(४) अभिनवगुप्त का व्यक्तित्वादिः—भारत के रसग्रन्थों के विषय में अन्तिम मत अभिनवगुप्त का व्यञ्जनाविवादी मत है। रसशास्त्र तथा अलङ्कारशास्त्र में यह मत अपनी दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधारभित्ति के कारण अत्यधिक प्रसिद्धि पा सका है। जैसा कि हम देख चुके हैं अभिनवगुप्त व्यञ्जनाविवादी तथा ध्वनिवादी शालङ्कारिक हैं। ध्यानन्दवर्षन के द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों के अनुसार वे रस को ध्वनि का ही एक प्रमुख भेद-रसध्वनि मानते हैं। इसी कारण वे रस को व्यंग्य मानते हैं, तथा उसे अभिधा या उल्लापना के द्वारा प्रतीत न मानकर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त मानते हैं। ध्वन्य या नाटकादि में प्रयुक्त विभाव, अनुभाव तथा सघारिभाव रस के अभिव्यञ्जक हैं, रस अभिव्यञ्ज्य। इस प्रकार अभिनव विभावादि तथा रस में परस्पर व्यापार-व्यञ्जक-भाव मानते हैं।

हम देनाते हैं कि लौकिक ह्य में अपने जीवन में हम कई प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं। ये अनुभव हमारे मानस में रस्यदि भावा की स्थिति को जन्म देते हैं। प्रत्येक राहृदय के मानस में ये रस्यदि भाव ठीक उमी तरह छिपे पड़े रहते हैं, जैसे नये शराय में छिपी सृष्टिना की सीधी वास। जब शराय में जल डाला जाता है, तो सृष्टिना की गन्ध अभिव्यक्त हो जाती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती, न पानी उस गन्ध को उत्पन्न ही करता है। ठीक इसी तरह जब राहृदय कान्य पड़ता है या नाटकादि का अध्ययन करता है, तो उस काव्यनाटकादि में वर्णित विभागादि उसके मानस के अव्यक्त भाव को व्यक्त कर देते हैं, और वह भाव रसरूप में व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार राहृदय ही रस का आस्वाद कर सकता है, क्योंकि इसके लिए पूर्व संस्कार अपेक्षित है। यह रस लौकिक भावानुभव से सर्वथा भिन्न होता है, यही कारण है कि इसे अलौकिक विशेषण से विभूषित पर, प्रज्ञास्वादादसहोदर बताया जाता है। इस दशा में राहृदय आनन्दयन का अनुभव करता है। इस दशा को तुलना योगी की दशा से की जा सकती है। दोनों दशाओं में पूर्ण आनन्द का अनुभव होता है। अभिनवयुत की यह कल्पना रस की तुलना शैव वेदान्त की 'विगर्श' दशा से बरती जान सकती है, जहाँ साधक 'शिवोऽहम्' का अनुभव करता है।

इस दशा में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि विभागादि अपने वैयक्तिक रूप को छोड़ दें, साथ ही सामाजिक भी निर्वैयक्तिकता धारण कर लें। उस समय दुष्मन्ता-शकुन्तला, राम सीता अपने व्यक्तिस्व को छोड़कर केवल नायक तथा नायिका के रूप में हमारे सामने आते हैं, साथ ही हम भी केवल रसानुभाववर्ता बन जाते हैं। इस प्रकार विभागादि केवल नियम-मात्र तथा सामाजिक केवल नियमि-मात्र रह जाया है। इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है। अभिनवयुत ने 'भारती' में स्पष्ट बताया है कि साधारणीकरण केवल आत्मयन विभाज या आश्रय का ही नहीं, सभी तत्त्वों का-अनुभावादि का भी, होता है। साधारणीकरण के कारण ही रसानुभूति होती है, क्योंकि उस दशा में वैयक्तिक रामहेयादि का लोप हो जाता है। रसानुभूति का आनन्द अलौकिक है। इसका आस्वाद प्रमाणक से आस्वाद की भाँति है। प्रमाणक में हृदयशी, कालामिर्च, मिथी, केशर, कर्पूर आदि के मिश्रण से एक अभिनव स्वाद की सृष्टि होती है, जो प्रत्येक वस्तु के अलग अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न है। वैसे ही, विभागादि सभी का आस्वाद मिल कर रस की विशेष प्रकार की चर्चना को जन्म देता है।

जैसा कि हम आगे धनराय एवं 'धनिक की मान्यताएँ' शीर्षक भूमिका भाग में देखेंगे, दशरूपककार रस को व्यक्त न मानकर सापर्ययसृष्टिमय मानते हैं, साथ ही विमलादि एवं रस में परस्पर भाव्य-भावक-भाव मानते हैं। उन्हें भक्तिवादियों का रसतन्मयी सिद्धान्त मान्य नहीं।

× × ×

रूपक के तीन भेदक तत्त्वों की विवेचना की गई। इनके अतिरिक्त नाटकादि रूपकों में भावनीय वृत्तियाँ, सञ्जीत, नृत्य, का भी प्रमुख स्थान है। दशरूपककार ने

सङ्गीत तथा नृत्य की विवेचना नहीं की है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन दोनों का क्रमशः वाचिक तथा आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। दशरूपरुकार ने सात्त्विक अभिनय-रस का ही विवेचन किया है। संस्कृत के कई नाटकों में हम सङ्गीत तथा नृत्य का विनियोग पाते हैं। शकुन्तला में आरम्भ में नटी का सङ्गीत तथा पष्ठ अङ्क में हंसपदिका का गीत है। मालविकाग्नि मित्र में मालविका का नृत्य है। पर दशरूपक में ही नहीं, याद के अलङ्कारशास्त्र के उन ग्रन्थों में भी जो नाट्यशास्त्र के रूपकसम्बन्धी विवेचन का प्रयोग करते हैं, सङ्गीत व नृत्य का विवेचन इसलिए नहीं मिलता, कि वे इन्हें सङ्गीत-शास्त्र के विषय समझने लगे थे।^१

नाटकीय वृत्तियों को एक ओर नायक का व्यापार बताया गया है, दूसरी ओर रसों से भी उसका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वृत्तियों चार हैं:—वैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती। भारती, दशरूपककार के मतानुसार शाब्दिक वृत्ति है, उसका प्रयोग विशेषतः आमुष्य या प्रस्तावना में पाया जाता है। वैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृङ्गार रस के अनुकूल होता है। इसके चार अङ्ग होते हैं:—नर्म, नर्मस्फिन्न, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ। इन अङ्गों की विवेचना मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। सात्वती वृत्ति वीर, अद्भुत तथा भयानक के उपयुक्त होती है। इसका प्रयोग करुण तथा शृङ्गार में भी किया जा सकता है। आरभटी वृत्ति का प्रयोग भयानक, धीमत्स, रौद्र रसों में होता है।

इस भाग को समाप्त करने के पूर्व हम दशरूपकों की तालिका के साथ उनके वस्तु आदि भेदकों का सङ्केत कर देते हैं, जो उनके परस्पर भेद को स्पष्ट कर देंगे।

- १ नाटक—सबसन्धियुक्त पौराणिक या ऐतिहासिक वस्तु, ५ से १० तक अङ्क, धीरोदात्त नायक, शृङ्गार या वीररस, वैशिकी या सात्वती वृत्ति।
- २ प्रकरण—सबसन्धियुक्त कल्पित वस्तु, ५ से १० तक अङ्क, धीरप्रधान नायक, शृङ्गार रस, वैशिकी वृत्ति।
- ३ भाण—वृत्तचरितविषयक कल्पित वस्तु, एक अङ्क, कलावित् विद नायक, एक ही पात्र की उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग (Mono-acting) वीर तथा शृङ्गार रस।
- ४ प्रहसन—कल्पित वस्तु, एक अङ्क, पाखण्डी, कामुक, भूर्त्त आदि पात्र, हास्य रस।
- ५ डिम्ब—पौराणिक वस्तु, चार अङ्क, विमर्श रहित चार सन्धियों में विभक्त वस्तु, धीरोदात्त नायक, हास्य तथा शृङ्गार से भिन्न ६ रस, सात्वती तथा आरभटी वृत्ति।
- ६ व्यायोग:—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, गर्भ तथा विमर्श रहित तीन सन्धियों, एक अङ्क, धीरोदात्त नायक, हास्य तथा शृङ्गार से भिन्न ६ रस, सात्वती तथा आरभटी वृत्ति,—इस रूपक-भेद में सौपात्र कम होते हैं, पुरुष पात्र अधिक।
- ७ समपकार—देव-दैत्यों से सम्बद्ध प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, विमर्श सन्धि का अभाव बाकी चार सन्धियों की स्थिति, ३ अङ्क, धीरोदात्त तथा धीरोदात्त प्रकृति के १२ नायक; वीर रस, सात्वती तथा आरभटी वृत्ति।

१ नृत्य तथा आङ्गिक अभिनय का विवेचन नंदिकेश्वर के अभिनयदर्पण में विशेषरूप से हुआ है।

- ८ धीधी—कल्पित वस्तु, एक अङ्क, शृङ्गारप्रिय नायक, शृङ्गार रस, कैशिकी वृत्ति ।
 ९ अङ्क—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, एक अङ्क, आकृत पुरुष नायक, वरुण रस, सात्वती वृत्ति ।
 १० ईदामृग—मिथित वयावस्तु, चार अङ्क, गर्भ व विनय से रहित तीन सन्धियों, पीरोद्धत नायक, शृङ्गार रस ।

रस-विरोध तथा उसके निराकरण पर

कभी कभी ऐसा देखा जाता है, एक ही काव्य में एक से अधिक रसों का समावेश कर दिया जाता है । ऐसी दशा में कवि को यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं ये रस परस्पर विरोधी तो नहीं, तथा प्रसुप्त भाव या रस की क्षति तो नहीं पहुँचाते । स्थायी भाव या भाव की परिभाषा निम्न करते समय दशरूपकर यताता है कि वह लवणाकार के समान है, जो सभी वस्तुओं आत्मसात् कर लेता है, उन्हें भी खारी बना लेता है । स्थायी भाव यही है, जो सजातीय तथा विजातीय भावों से क्षुण्य न होता हो ।

चिरञ्जैरविद्यदैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभावं नयत्यन्यान् रस स्थायी लवणाकारः ॥

भावों का परस्पर विरोध दो तरह से हो सकता है—या तो वे भाव एक साथ एक काव्य में न रह सकें या एक दूसरे के बाधक बन जायें, उनमें बाध्यबाधभाव हो । जहाँ व्यक्तिचारियों का प्रश्न है उनका स्थायी के साथ कोई विरोध नहीं हो सकता, साथ ही वे एक साथ न रह सकते हैं, यह भी बात नहीं है, क्योंकि वे तो स्थायी भाव के ही अङ्ग बन कर काव्य में आते हैं । उनमें परस्पर बाध्यबाधभाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि अङ्ग होने के कारण व्यक्तिचारीभाव स्थायी भाव के विरोधी नहीं हो सकते ।

जहाँ तक स्थायी भाव या रस के विरोध का प्रश्न है, यदि उनके आलम्बन अलग अलग हैं, तो कोई विरोध नहीं होता । उदाहरण के लिए मालतीमाधव में शृङ्गार रस है, उसके पद्यम अङ्क में भीमत्स का पित्रण है । ऐसी स्थिति में क्या यह विरोधी है ? नहीं, मालतीमाधव में एक साथ शृङ्गार तथा भीमत्स का उपनिबन्धन विरोधी इसलिए नहीं पड़ता कि इन दोनों के आलम्बन भिन्न भिन्न हैं । शृङ्गार का आलम्बन मालती है, तो भीमत्स का श्मशान । वही रौद्र रस का उपनिबन्धन है, जहाँ अपोर-पष्ट कापालिक माधव के क्रोध का आलम्बन बनता है । यदि अलग अलग आलम्बन बनाकर, विरोधी रसों का उपनिबन्धन किया जाय, तो विरोध नहीं होता, न वे एक दूसरे के बाधक ही होते हैं ।

दो परस्पर विरोधी रसों के विरोध-परिहार का एक ढङ्ग यह भी है कि दोनों के पीछे ऐसे रस का समावेश कर दिया जो दोनों का विरोधी न हो ।

दूसरी बाँध एक प्रश्न उठना सम्भव है । जहाँ एक ही रस प्रसुप्त हो, वहाँ अन्य विरोधी या अविरोधी रसों को उसका अङ्ग मान कर, विरोधाभाव मानना ठीक है । पर

ऐसे भी काव्य है, जहाँ कई रसों का समप्राधान्य देखा जाता है, इन काव्यों में रस-विरोध का परिहार कैसे किया जाय ? शृष्टिकार धनिक इस शब्दा के उठते समय कई ऐसे काव्य-पद्य-उपस्थित करते हैं, जहाँ एक से अधिक भावों का समप्राधान्य देखा जाता है। शृष्टिकार इस शब्दा का निराकरण करते हुए बताते हैं कि वस्तुतः इन स्थलों में भी प्रधान भाव तथा प्रधान रस एक ही है, दूसरे उपन्यस्त रस या भाव गौण ही होते हैं। हम निम्न दो उदाहरणों को ले सकते हैं:—

(१) एकत्रो वञ्चइ पित्रा अण्णसो समरतरणिग्घोसो ।

पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइर्धं हिअश्रम् ॥

(२) एकेनाएणा प्रविततरुपा धीत्तते व्योमसंस्थं

भानोर्विम्बं सज्जललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।

अहश्त्रेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी

द्वो सङ्गीणो रचयति रसो नर्तकीव प्रगल्भा ॥

यहाँ पहले उदाहरण में हम देखते हैं कि कोई योद्धा समर-यात्रा के लिए तैयार है। युद्ध में जाने के पहले वह प्रिया से विदा ले रहा है। विदा होते समय प्रिया रोकर अपने दुःख की व्यञ्जना कराती है। एक और प्रिया का रोना उसके हृदय में प्रेम का सञ्चार करता है, दूसरी और युद्ध के दुर्ग का शब्द हृदय में वीरता का सञ्चार करता है। इस प्रकार योद्धा का दिल जैसे प्रेम और वीरता के द्विद्वेष पर, सन्देह-दोष में मूल रहा हो। शब्दा करने वाला यहाँ दोनों रसों—शृङ्गार तथा वीर-का सम-प्राधान्य मानता है। धनिक इस शब्दा का निराकरण करते बताते हैं कि यहाँ वीररस ही प्रधानता है, शृङ्गार रस तो गौण है, तथा उसी का प्रोषक घन कर आया है। ऊपर की गीता का 'भदस्स' (भडस्स) पद भी इसी बात का सङ्केत करता है।

दूसरे उदाहरण में, सन्ध्याकाल के समय सूर्यास्त से उत्पन्न किसी चक्रवाकी की विरह दशा का वर्णन है। सूर्यास्त हो रहा है, सूर्य का विम्ब पश्चिम में डूबने जा रहा है, रात्रि के आगमन की आशावादी से भविष्यत् प्रियविरहशङ्किनी चक्रवी सूर्यविम्ब को एक अक्ष से गुस्से के साथ देख रही है। उसकी दूसरी अक्ष प्रिय पर टकी है, और उस अक्ष में अक्ष भर आये हैं। इस तरह चक्रवी, एक कुशल नर्तकी की तरह एक साथ दो रसों की व्यञ्जना करा रही है। यहाँ हम देखते हैं कि चक्रवी एक और श्लेष का अनुभव कर रही है, दूसरी और विरहविदग्धता का। इस प्रकार इस पद्य में एक साथ रति, शोक तथा श्लेष की व्यञ्जना हो रही है। शब्दा को उठाने वाले के मत से यहाँ तीनों भावों का समप्राधान्य है। धनिक हमसे सहमत नहीं। यहाँ रसविरोध का निराकरण करते हुए वे बताते हैं कि इस काव्य में प्रमुखता भविष्यद्विप्रलम्भ की है, अतः यहाँ अनेकतात्पर्य की समप्रधानता नहीं है।

'एकेनाएणा' इत्यादी तु समस्तमपि चाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषय-मिति न कचिदनेकतात्पर्यम् ।'

रस-शास्त्र के अन्य ग्रन्थों में कौन-कौन रस किन्तु रस का विरोधी है, इसका विराट् वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिए शृङ्गार का रौद्र, शान्त तथा कष्ट से विरोध है। दशरूपककार का प्रसुत लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का एक छोटे से पैमाने में समीक्षा कर देना है। यही कारण है धनञ्जय एवं धनिक अनावश्यक विस्तार में जाना अभीष्ट न समझ कर परस्पर विरोधी रसों की पूरी तालिका नहीं देते। फिर भी रसविरोध तथा उसके परिहार जितना बड़ा गया है, वह स्वरूप होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

धनञ्जय तथा धनिक की मान्यताएँ

साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा रस शास्त्र के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर धनञ्जय तथा धनिक ने दशरूपक में अपने सिद्धान्तों की व्यक्त किया है। धनिक की ये मान्यताएँ हम तीन शीर्षकों में बाँट देते हैं —

(१) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा व्यञ्जना शक्ति का निषेध।

(२) रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में धनिक का मत।

(३) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शृङ्गार का निषेध।

(१) धनञ्जय तथा व्यञ्जनावृत्तिः—धनञ्जय तथा धनिक दोनों ही भाट्ट मीमांसकों के द्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं। वे अग्निधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन ही वृत्तियों को मानते जान पड़ते हैं। ध्वनिवादी की नई कल्पना, व्यञ्जना या तुरीया शक्ति उन्हें स्वीकृत नहीं। भाट्ट मीमांसक व्यञ्जना शक्तिगम्य प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं मानते। उनका मत है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्य शक्ति से ही हो सकती है। ध्वनिवादी रस को व्यङ्ग्य मानते हैं, तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने चतुर्थ प्रकार में इसी मत का खण्डन करते हुए अपने इस मत की प्रतिष्ठापना की है कि स्थायी भाव (रस भी) विभावादि के द्वारा प्रतीत वाक्यार्थ ही है, जैसे किसी वाक्य रूप में अनिहित या प्रकरणादि से बुद्धिस्थ किया, कारणों से युक्त होकर, वाक्यार्थ बन जाती है।

वाच्य्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।

वाक्यार्थाः कारकैर्मुक्ताः स्थायीभावस्तद्येतरैः ॥

धनञ्जय की इस कारिका का वाक्यार्थ कुछ नहीं, तात्पर्यार्थ ही है, तथा शक्तिकार धनिक ने इसे स्पष्टतः तात्पर्यार्थकिसाम्य माना है।

इसी कारिका के उपोद्घात के रूप में शक्तिकार धनिक में सर्वप्रथम धनिकार के मत को उपरिष्ठ किया है, जो वाच्य तथा रस में, या विभावादि तथा रस में वाच्य-वाचकभाव, या लक्ष्यलक्षक भाव नहीं मानते। वे दर्शाल देते हैं कि रस के वाचक शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग अन्य में नहीं होता, यदि ऐसा होने पर रसप्रतीति हो तो वाच्यवाचक सम्बन्ध मान सकते हैं। साथ ही, मान लीजिये शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग हो भी, तो रस प्रतीति हो ही यह आवश्यक नहीं। वाच्य ही, वाच्यवाचकभाव

ऐसे भी काव्य हैं, जहाँ कई रसों का समप्राधान्य देखा जाता है, इन काव्यों में रस-विरोध का परिहार कैसे किया जाय ? वृत्तिकार धनिक इस शब्दा के उठते समय कई ऐसे काव्य-पद्य-उपस्थित करते हैं, जहाँ एक से अधिक भावों का समप्राधान्य देखा जाता है। वृत्तिकार इस शब्दा का निराकरण करते हुए बताते हैं कि वस्तुतः इन स्थलों में भी प्रधान भाव तथा प्रधान रस एक ही है, दूसरे उपन्यस्त रस या भाव गौण ही होते हैं। हम निम्न दो उदाहरणों को ले सकते हैं:—

(१) एकस्रो रुद्रश्च पित्रा अण्णस्रो समरतरुणियोसो ।

पेभ्येण रणरसेण अ भडस्स डोलाइत्थं हिअअम् ॥

(२) एकेनाइणा प्रविततरुपा पीत्तते व्योमसंस्थं

भानोविम्बं सज्जललुलितेनापरेणाभकान्तम् ।

अद्धरुदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी

द्वौ सङ्कीर्णो रचयति रसौ नर्तकीष प्रगल्भा ॥

यहाँ पहले उदाहरण में हम देखते हैं कि कोई मोटा समर-यात्रा के लिए तैयार है। युद्ध में जाने के पहले वह प्रिया से विदा ले रहा है। विदा होते समय प्रिया रोकर अपने बुख की व्यञ्जना कराती है। एक ओर प्रिया का रोना उसके हृदय में प्रेम का सञ्चार करता है, दूसरी ओर युद्ध के तूर्य का शब्द हृदय में वीरता का सञ्चार करता है। इस प्रकार मोटा का दिल जैसे प्रेम और वीरता के हिडोले पर, सन्देह-दोष में भूल रहा हो। शब्दा करने वाला यहाँ दोनों रसों—शृङ्गार तथा वीर-का सम-प्राधान्य मानता है। धनिक इस शब्दा का निराकरण करते बताते हैं कि यहाँ वीररस की ही प्रधानता है, शृङ्गार रस तो गौण है, तथा उसी का पोषक बन कर आया है। ऊपर की गाथा का 'भटस्य' (भडस्स) पद भी इसी बात का सङ्केत करता है।

दूसरे उदाहरण में, सन्ध्याचाल के समय सूर्यास्त से उत्पन्न किसी चक्रवाकी की विरह दशा का वर्णन है। सूर्यास्त हो रहा है, सूर्य का विम्ब पश्चिम में डूबने जा रहा है, रात्रि के आगमन की आशङ्का से भविष्यत् प्रियविरहाशङ्किनी चक्रवी सूर्यविम्ब की एक आँख से सूर्य के ढाग देख रही है। उसकी दूसरी आँख प्रिय पर टकी है, और उस आँख में आँसू भर आये हैं। इस तरह चक्रवी, एक कुशल नर्तकी की तरह एक साथ दो रसों की व्यञ्जना करा रही है। यहाँ हम देखते हैं कि चक्रवी एक ओर मोघ का अनुभव कर रही है, दूसरी ओर विरहविदग्धता का। इस प्रकार इस पद्य में एक साथ रति, शोक तथा मोघ की व्यञ्जना हो रही है। शब्दा को उठाने वाले के मत से यहाँ तीनों भावों का समप्राधान्य है। धनिक इससे सहमत नहीं। यह रसविरोध का निराकरण करते हुए वे बताते हैं कि इस काव्य में प्रसुखता भविष्यद्विप्रलम्भ की है, अतः यहाँ अनेकतात्पर्य की समप्रधानता नहीं है।

'एकेनाइणा' इत्यादौ तु समस्तमपि चाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषय-मिति न कचिदनेकतात्पर्यम् ।'

रस-शास्त्र के अन्य ग्रन्थों में कौन-कौन रस बिना रस वा विरोधी है, इसका विशद वर्णन मिलता है। उदाहरण के लिए शृङ्गार वा रौद्र, शान्त तथा क्रम्य से निरोध है। दशरूपककार का प्रमुख लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का एक छोटे से पैमाने में समन्वित कर देना है। यही कारण है धनञ्जय एवं धनिक अनावश्यक विस्तार में जाना अभीष्ट न समझ कर परस्पर विरोधी रसों की पूरी तालिका नहीं देते। फिर भी रसविरोध तथा उसके परिहार जितना कहा गया है, वह स्वरूप होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

धनञ्जय तथा धनिक की मान्यताएँ

साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा रस शास्त्र के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर धनञ्जय तथा धनिक ने दशरूपक में अपने सिद्धान्तों को व्यक्त किया है। धनिक की ये मान्यताएँ हम तीन शीर्षकों में बाँट देते हैं—

- (१) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा व्यञ्जना वृत्ति का निषेध।
- (२) रस की निवृत्ति के सम्बन्ध में धनिक का मत।
- (३) धनिक तथा धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शान्त का निषेध।

(१) धनञ्जय तथा व्यञ्जनावृत्तिः—धनञ्जय तथा धनिक दोनों ही भाद्रमीमांसकों के द्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं। वे अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन ही वृत्तियों को मानते जान पड़ते हैं। ध्वनिवादी को नर्द कल्पना, व्यञ्जना या तुरीया वृत्ति उन्हें स्वीकृत नहीं। भाद्रमीमांसक व्यञ्जना वृत्तिगम्य प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्य से भिन्न नहीं मानते। उनका मत है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्य वृत्ति से ही हो सकती है। ध्वनिवादी रस को व्यङ्ग्य मानते हैं, तथा अनारी प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने वाच्य प्रकाश में इसी मत का समर्थन करते हुए अपने दस मत की प्रतिष्ठापना की है कि स्थायी भाव (रस भी) विभावादि के द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ ही है, जैसे किसी वाच्य रूप में अभिव्यक्ति या प्रकरणादि से उद्दिष्ट किया, कारकों से युक्त होकर, वाच्यार्थ बन जाती है।

वाच्यया प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।

वान्यार्थः कारकैर्मुक्तः स्थायीभावस्तथेतरैः ॥

धनञ्जय की दस धारिका का वाच्यार्थ कुछ नहीं, तात्पर्यार्थ ही है, तथा वृत्तिकार धनिक ने इसे स्पष्टतः तात्पर्यशक्तिगम्य माना है।

इसी धारिका के उपोद्घात के रूप में वृत्तिकार धनिक में सर्वप्रथम ध्वनिवादी के मत को उल्लिखित किया है, जो काव्य तथा रस में, या विभावादि तथा रस में वाच्य-वाचकभाव, या लक्ष्यलक्षक भाव नहीं मानते। वे दलील देते हैं कि रस के वाचक शब्दादि शब्दों का प्रयोग काव्य में नहीं होता, यदि ऐसा होने पर रसप्रतीति हो तो वाच्यवाचक सम्बन्ध मान सकते हैं। साथ ही, मान लीजिये शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग हो भी, तो रस प्रतीति ही वह आवश्यक नहीं। शाय ही, वाच्यवाचकभाव

(१) कुछ लोग शान्तरस को मानते ही नहीं, क्योंकि भरतमुनि ने, उसके विभावादि का प्रतिपादन तथा लक्षण नहीं किया।

(२) कुछ लोग 'शान्तरस' का इसलिए अभाव मानते हैं, कि अनादिकाल से आये हुए रागद्वेष का नष्ट होना असम्भव है।

(३) कुछ लोग शान्त वा अन्तर्भाव वीर, वीभत्स आदि रसों में ही ऋर लेते हैं।

धनञ्जय बतलाते हैं कि वे शम भाव या शान्त रस का निषेध केवल नाटकदि रूपकों में ही करते हैं। शम में समस्त व्यापारों की परिसमाप्ति होनी चाहिए, यह व्यापार समाप्ति अभिनीत नहीं हो सकती। अतः अनभिनेय होने के कारण, शान्त की स्थिति नाटक में अस्वीकृत करनी ही पड़ेगी।

इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि सुद, दुषिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि में शान्त रस की स्थिति देखी जाती है। कुछ लोग उन्हें धीरप्रशान्त छोटि के नायक मानने की भी आन्ति कर बैठते हैं। जो लोग नागानन्द नाटक में शान्तरस मानते हैं, उन्हें धनिक निम्न उत्तर देते हैं—

हम देखते हैं कि नागानन्द का नायक जीमूतवाहन एक धीर मलयवती में प्रेम करता है, दूसरी ओर विद्याधर चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। ये दोनों धातें शम भाव के विरुद्ध पड़ती हैं। वस्तुतः जीमूतवाहन दयावीर है, तथा नागानन्द में वीर रस ही है। इस वीररस का मलयवती-प्रेम, तथा विद्याधर चक्रवर्तित्वलाभ से कोई विरोध भी नहीं जान पड़ता। इस सब निर्णय से स्पष्ट है कि नाटक में शान्त रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती।

भारतीय रङ्गमञ्च

हरय काव्य या रूपक रङ्गमञ्च पर अभिनीत किए जाने की वस्तु है। यही कारण है कि रङ्गमञ्च के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भरत के नाट्यशास्त्र में आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले के भारतीय रङ्गमञ्च की एक झोंकी देखी जा सकती है। धनञ्जय ने रङ्गमञ्च का संकेत नहीं किया है। हम देख चुके हैं धनञ्जय का लक्ष्य सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र के विषयों की विशद विवेचना नहीं था। इस भूमिका-भाग को समाप्त कर देने के पूर्व दो शब्द भारतीय रङ्गमञ्च की बनावट, प्रकार, साजसज्जा के विषय में कह देना अनावश्यक न होगा।

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्यगृहों का विशद वर्णन किया है। उनके मत से नाटकदि का अभिनेय तीन प्रकार के नाट्यगृहों में होता था। ये उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट श्रेणी के होते हैं। पहला १०८ हाथ लम्बा, दूसरा ६४ हाथ लम्बा, तथा तीसरा ३२ हाथ लम्बा होता है। इनमें दूसरा ठीक समझा गया है। समस्त नाट्यगृह को दो भागों में बाँट दिया जाता है—रङ्गमञ्च तथा दर्शकों से बैठने की जगह। दर्शकों के बैठने की जगह में प्राङ्गण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के बैठने की अलग-अलग जगह होती थी। प्रत्येक वर्ण के व्यक्तियों के बैठने की जगह पर उरका लटका करने

पाला रत्नम् होता था। प्राङ्गणों के बैठने की जगह इतने रत्नम् होता था, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के बैठने की जगह मनसः रत्न, पति तथा नील रत्नम्। बैठने के आसन लकड़ी या हँट के होते थे। सामाजिकों के बैठने की जगह के सामने रत्न या रत्नमय होता था। द्वितीय श्रेणी के नाट्यगृह में यह रत्न आठ हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा होता था। इसके आरिष्ट में रत्नसौर्ष होता था। रत्नमय के पीछे पटी या जलनिका होती थी, इसके पीछे नेपथ्य गृह होता था। रत्नसे रत्नसौर्ष, रत्नमय तथा रत्नगृह इन तीन भागों में विभाजित किया जाता था। रत्न के दोनों ओर मत्तवारणी होती थी, जहाँ से पात्र प्रवेश करता था।

भारत के नाट्यशास्त्र में तीसरे तरफ के नाट्यगृहों का उल्लेख है—प्रथम नाट्यगृह दोर्ष चतुरस्र होता था, जिसे हम 'रेक्टैंगुलर' कह सकते हैं, इसकी लम्बाई अधिक व चौड़ाई कम होती थी। दूसरे उन्नत का नाट्यगृह विष्ट चतुरस्र होता था, जिसे हम 'स्क्वायर' कह सकते हैं, जो लम्बाई व चौड़ाई में बराबर होता था। तीसरे उन्नत का नाट्यगृह त्रिभुजा होता था, इसे 'मस' कहा गया है। इनमें प्रत्येक में सामाजिकों के बैठने की जगह का तथा रत्नमय के विभिन्न भागों का विभाजन उसकी पनावट तथा लम्बाई-चौड़ाई के आधार पर किया जाता था।

हम बता चुके हैं भारतीय रत्नमय की अभिवृद्धि के साथ ही साथ संस्कृत के नाटकों का विकास हुआ। कालिदास, शूद्रक, हर्ष, भणभूति आदि के नाटक रत्नमय पर मन्त्रे से रोले जा सकते हैं, वे धीरे पाठ्य-नाटक नहीं। धीरे धीरे भारतीय रत्नमय का ह्रास होता गया, किन्तु कारणों से इन्हें राजाश्रय या लोकाश्रय न मिल पाया। फलतः नाटकों में सिद्धान्त और प्रशिक्षण की दृष्टि से समन्वय न हो पाया। संस्कृत नाटक धीरे धीरे पाठ्य-नाटक से घटते गये और उनका एक मात्र लक्ष्य नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का उदाहरण के रूप में प्रकाशन हो गया। इन नाटकों में धीरे धीरे धर्म्य चरित्रत्व बढ़ता गया। इस प्रकार यवनों के भारत में आने के बाद ही भारतीय रत्नमय तथा संस्कृत नाट्य-साहित्य दोनों अपनी प्राचीन समृद्धि को खो चुके थे।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
समर्पण (पिछला पृष्ठ)	२७	महामहितं	महामहिमत्वं
३०	३८	विषमत्वविद्योपणेन	विषमहवेन
७६	२२	इस तरह में	पर इस तरह में
८२	३८	पट्टं	पट्टयंत
९९	२४	सम्यक्ताप०	संयक्ताप०
१०४	३०	रत्नरूपवित्ते शीर्षं०	०पतिते शीर्षं०
१२६	२९	सखिभि	सखीभि
१४४	१९	नीता	नीती
२९४	१८	सुरत्यार्थभाषे रतयोगे	सुरत्यार्थभाषे तद्योगे
२२५	३८	तद्युक्तम्	तद्युक्तम्

॥ श्रीः ॥

श्रीधनञ्जयविरचितं

दशरूपकम्

धनिककृताचलोकसहितं चन्द्रकलाहिन्दीव्याख्योपेतं च

प्रथमः प्रकाशः ।

इह सप्तचारं प्रमाणसङ्घिनविधेन प्रकरणस्य समापर्ययमित्यो प्रकृतमिमतदेवतयो-
र्मगस्यर क्रियते रत्नोच्छेदेन—

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।

मदाभोगधनञ्जयानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥ १ ॥

यस्य कण्ठ पुष्करायते = मृदाभोगदानरति, मदाभोगेन धनञ्जय = निषिद्धधनि,
नीलकण्ठस्य = शिवस्य, ताण्डवे = उद्धते गृते, तस्मै गणेशाय नमः । अत्र खण्डश्लेष
शिष्यागोपमाच्छायालङ्कार - नीलकण्ठस्य = मयूरस्य ताण्डवे मया मेघधनि पुष्करा
यत इति प्रतीते ।

संस्कृत के प्रथमरी में ऐसी परिपाटी तथा शिष्टाचार प्रचलित है कि प्रथमरूप के पूर्व के
अपने इष्टदेवता का स्मरण महालाचरण के रूप में किया करते हैं । इसी शिष्टाचार को प्रमाण
मानकर उसका पालन करते हुए प्रथमरूप भगवत ने यहाँ सर्वप्रथम महालाचरण की अनुत्तरण
की है । उनका अर्थ बिना किसी विघ्न के पूरा हो जाय, इसीलिए अपने इष्टदेवता (गणेश तथा
विष्णु) की दो श्लोकों से नमस्कार किया गया है ।

नीले कण्ठ वाले शिव के ताण्डव गूण करने पर मन्दल की परिवर्णता से सम्भर तथा
भीर ध्वनि वाला गणेश का कण्ठ मृदङ्ग के समान आचरण करता है । उन भगवान् गणेश की
नमस्कार ही ।

यहाँ 'नीलकण्ठ' शब्द का अर्थ 'मयूर' भी होता है । मयूरपक्ष के अर्थ करने पर
'मदाभोगधनञ्जयानो' इस पद के 'धनञ्जयान' शब्द को लेकर उसका अर्थ 'मेघधनि' लिया
जा सकता है । इस खण्डश्लेष अलङ्कार के द्वारा शिव तथा गणेश पर मयूर तथा मेघ का
अपमानोपमेय भाव आश्रित हो जाता है । अत्र यहाँ श्लेष के द्वारा उपमा की छाया व्यञ्जित
हो रही है । भाव यह है कि जैसे मयूर के ताण्डव के समान मेघधनि मृदङ्ग के समान
दृशोभित होती है वैसे ही शिव के कण्ठ गूण के समान गणेश की सम्भर कण्ठध्वनि भी वैसी

ही प्रतीत होती है। नृत्य के समय मृदङ्ग भी प्रयुक्त होना है, क्योंकि वह उसकी ताल और गति का नियामक है।

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।

नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥ २ ॥

यदि मत्स्यकूर्मादिप्रतिमातामुद्देशेन, अथप्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावका = ध्यातारो रचिताश्च, माद्यन्ति = ह्वयन्ति, तस्मै विष्णवेऽभिमताय, प्रकृताय भरताय च नमः।

✓ दिन भगवान् विष्णु के मत्स्यकूर्मादि दशावतारों के शंकरादि से मालुक भक्त प्रसन्न होते हैं, उन सर्वेश भगवान् विष्णु को नमस्कार ही तथा जिन महर्षि भरत के द्वारा निर्भूत दश (नाटकादि) रूपक-भेदों के अवलोकन और पर्यालोचन से सद्दर्प सामाजिक प्रसन्न होते हैं, उन गुनि भरत को भी नमस्कार हो।

श्रोतुं प्रवृत्तिनिमित्त प्रदर्शयते—

कश्यचिदेव कदाचिद्दयया विषय सरस्वती विदुषः।

पठयति कामपि तमन्यो मज्जति जनो येन वैदग्ध्यम् ॥ ३ ॥

त कश्चिद्विषयं प्रकरणादिरूप कदाचिदेव कश्यचिदेव कवे सरस्वती योपयति येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति।

✓ किसी भी ग्रन्थ के प्रति पाठक या श्रोता को आकृष्ट करना आवश्यक है। इसीलिए उसको प्रवृत्त करने के लिए बनाया जाता है कि प्रकरणादिरूप किसी विषय या मन्थ को हर कोई बनि सर्वांगपूर्ण नहीं बना पाता। यह तो देवी सरस्वती की ही कृपा है कि वह किसी किसी विद्वान् के किसी विषय को कभी-कभी शत ढङ्ग से घटित कर देती है कि उस विषय के पर्यालोचन से दूसरा गनुष्य छाभी तथा विदग्ध हो जाना है।

स्वप्रवृत्तिविषयं दर्शयति—

उद्घृत्योद्घृत्य सार यमखिलनिगमात्नाट्यवेद चिरिञ्चि-

श्वके यस्य प्रयोग मुनिरपि भरतस्ताण्डव नीलकण्ठः।

शार्वाणी सास्वमस्य प्रतिपद्मपर लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे

नाट्यार्ना किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षण सक्षिपामि ॥ ४ ॥

य नाट्यवेदं वेदेभ्य सारमादाय ब्रह्मा कृतवान् यरसवद्भूमिनय भरतश्चकार करणात्प्रहासानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धत, लास्यं सुकुमार भृत पार्वती, कृतवती तस्य सामस्येन लक्षणं कर्तुं क शक्यं, तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य लक्षणे मियत इ ययं।

✓ ग्रन्थ के आरम्भ के पूर्व यह भी अपेक्षित है कि अपने विषय वा उल्लेख कर दिया जाय। अतः दशरूपककार धनञ्जय अपने ग्रन्थ के विषय तथा उसकी पर्यालोचना में आश्रित सरणि का सङ्केत करते हैं।

समस्त वेदों के जिस सार को लेकर भगवान् ब्रह्मा ने नाट्य नामक (पञ्चम) वेद की रचना की जिस वेद से सम्बद्ध अभिनय प्रयोग की हाथ तथा पाँव के समायोग एवं अङ्गविक्षेप के द्वारा मरण मुनि ने (भ्यावहारिक रूप में) पृथक् किया जिसमें भगवान् शिव ने लक्ष्म (उद्धत) नृत्य का शग भगवती पार्वती ने सारव (कोमल) नृत्य का समावेश किया, उस

नाट्यवेद के सम्पूर्ण लक्षण को कौन कर सकता है ? यद्यपि देवतानों और महापुरुषों के द्वारा निरुद्ध इस नाट्यशास्त्र की सिद्धान्तसरणि का विवेचन अस्माद्दृश लौकिक प्राणियों के लिए असम्भव है, फिर भी उन नाट्यों के लक्षणों को केकर कुछ कुछ संक्षेप करता हूँ।

विषयवैषम्यप्रसक्तं पौनश्चर्यं परिहरति—

व्याकीर्णं मन्दबुद्धीनां जायते मतिविध्रमः।

- तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽज्ञसा ॥ ५ ॥

व्याकीर्णं = विशिष्टे विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीनां पुंसां मतिमोहो भवति, तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य प्रशुश्रुत्या क्रियते इति ।

नाट्यवेद का विवेचन तो मगवान् महा तथा भरत मुनि कर चुके हैं; तो फिर से उसी का वर्णन करना क्या विष्टपेषण न होगा; इस आशङ्का का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहता है कि नाट्यशास्त्र (रसशास्त्र) क्या विस्तृत तथा गहन है, अतः मन्दबुद्धि वालों को बुद्धिग्राम ही जाता है, वे शारीरिक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाते। इसलिये इस ग्रन्थ में ज्ञेय (गरातमुनिप्रणीत) नाट्यवेद के अर्थ को केकर जन्हीं पदों के द्वारा हीपे ढंग से संक्षिप्त कर दिया है। अतः यह ग्रन्थ कोई स्वतन्त्र अभिनव ग्रन्थ न होकर उसी का ध्येय रूप है। इसलिये इसकी रचना में कोई विष्टपेषण नहीं।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम् । दशरूपं किं फलमित्याह—

ज्ञानन्दनिरस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।

योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराह्मुपजाय ॥ ६ ॥

तत्र केचित्—

‘धर्माधिक्यमोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिपेणम् ॥’

दशरूपज्ञान त्रिवर्गादिव्युत्पत्ति काव्यकलारयनेच्छन्ति साक्षिरासेन, स्वसंवेद्यः परमानन्दरूपो रसास्वाद्यो, दशरूपार्णो फलं न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति धरितम् । नम इति सोहलुण्ठम् ।

इनारे ग्रन्थ का नियम या प्रकरण दशरूपक (रूपक के नाटकादि दस भेद) है; तथा इस प्रकरण का फल है इन दस रूपकों का ज्ञान। किन्तु दशरूपक का फल क्या है, इस प्रश्न के उपस्थित होने पर बताते हैं कि रूपकों के पर्यालोचन का लक्ष्य केवल व्युत्पत्ति या लौकिक ज्ञान न होकर रसरूप अलौकिक आस्वाद का अनुभव है।

✓ रूपक (अलौकिक) आनन्द से प्रयत्न रहते हैं। इनका लक्ष्य (फल) सद्दय को अलौकिक आनन्दरूप रस का आस्वाद कराना है। कोई अल्पबुद्धि विद्वान् इन रूपकों का फल केवल रसना ही मानता है कि इनसे व्युत्पत्ति होती है, जोक जैसे ही जैसे इतिहास, पुराण आदि के पठन से लौकिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह के मत वाला विद्वान् रस के आस्वाद से पराङ्मुखा है; उसमें सद्दयना या रसिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसे विद्वान् को हमारा नमस्कार है।

कुछ लोगों का कहना है कि ‘तत्काल्य के सेवन करने से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में पूर्व कलाओं में किराया प्राप्त होती है तथा श्रमियों में श्रुति तथा प्रीति का समन्वय होता है।’ इस मत वाले लोग कलाय का फल या प्रयोजन धर्म आदि विषयों का ज्ञान ही मानते हैं।

इस मत का स्पष्टन करते हुए धनञ्जय यह व्यक्ति बनना चाहते हैं कि दशरूपकों के अनुशीलन का फल स्वतन्त्र परमानन्दरूप रसास्वाद है, इतिहासादि के अध्ययन की तरह नहीं जो कीर्ति विवर्णादि ज्ञान का ही कारण है। यहाँ इस मत के प्रवर्तक (आचार्य भामह) को जो नमस्कार किया है वह उनका मन्त्रक उद्योग के लिए है।

‘नाट्यानां लक्षणं सशिषामि’ इत्युक्तम्, किं पुनस्तादात्म्यमित्याह—

✓ अवस्थानुकृतिर्नाट्यं—

वाच्योपनिबद्धधोरोदात्तावस्थानुकारधनुर्विधाभिनेयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् ।

✓ ‘नाट्यों का सशिक्ष लक्षण देना हूँ’ ऐसा बहने पर, नाट्य क्या है यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है, अतः उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ‘अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं’। जहाँ वाच्य में निबद्ध वा वर्णित धोरोदात्त, धोरोदत्त, धोरलक्षित, धोरप्रज्ञान प्रकृति के लयकों (तथा तत्प्रकृतिगत नायिकाओं तथा अन्य पात्रों) का आदिक, वाचिक, आहार्य तथा सार्विक इन चार दग के अभिनयों के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अवस्थानुकरण से यह तात्पर्य है कि चाल-बाल, वेग-भूषा, आलाप-प्रलाप आदि के द्वारा पात्रों को प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस दग से किया जाय कि जहाँ में पात्रों की ‘तादात्म्यापत्ति’ हो जाय। जैसे नट दुष्मन् की प्रत्येक प्रकृति की ऐसी अनुकृति करे कि सामाजिक उसे दुष्मन् ही समझे। नाट्य के समय दुष्मन् और नट का भेद न रहे उनमें परस्पर अभेदप्रतिपत्ति हो जाय।

✓—रूपं दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादिरूपवत् ।

✓ यही नाट्य रूप भी कहलाता है। नाट्य केवल वच्य काव्य न होकर रसमन्त्र के ऊपर अभिनीत भी होता है, अतः यह दृश्य है, देखा जा सकता है। जैसे दम नीले-पीले आदि रंग को देखते हैं तथा हमारे चक्षुरिन्द्रिय के विषय को रूप कहते हैं, उसी तरह चक्षुर्मात्र होने के कारण नाट्य रूप भी कहलाता है।

✓ रूपकं तत्समारोपात्—

नटे रामायवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं सुखचन्द्रादिष्वत् इत्येकदिमक्षर्ये प्रवर्तमानस्य शब्दप्रत्यस्य ‘इन्द्र सुन्दर राक’ इतिवरप्रकृतिनिमित्तभेदो दृष्टितः ।

यही नाट्य रूप रूपक भी कहलाता है, क्योंकि उद्यममें आरोप पाया जाता है। जैसे रूपक अलङ्कार में हम देखते हैं कि सुख पर चन्द्रमा का आरोप नर दिया जाता है—सुखचन्द्र (सुखरूपी चन्द्रमा) वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप किया जाता है, अतः इसे रूपक भी कहते हैं। जिस तरह इन्द्र, सुन्दर, राक तीनों नामों से पुकारते हैं, वैसे ही एक ही अर्थ में नाट्य, रूप तथा रूपक तीनों शब्दों का प्रयोग होता है, इसे बताया गया है।

—देश्यैव रसाध्यम् ॥ ७ ॥

रसानाभिरस्य वर्तमान दशप्रवारकम्, एतेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण । नाटिकायां संकीर्णत्वेन यद्यवस्थात्वात् ।

रसों पर आश्रित यह नाट्य केवल दम ही तरह का होता है। शुद्ध नाट्य केवल दस ही तरह का होता है, इस अवधारण के लिए ‘ही’ (एव) का प्रयोग किया गया है। नाटिका

का समावेश रूपक के शुद्ध भेदों में नहीं। उनका वर्णन संवर्ण रूपकों में आगे किया जायगा, रसोक्ति रूपक केवल दस तरह के माने हैं।

तानेव दशभेदानुविराति—

✓ नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।

व्यायोगसमवकारी घीथ्यङ्केष्टामृगा इति ॥ ८ ॥

उन दस भेदों का उल्लेख करते हैं:—'नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, घीथि, अङ्क, ईहामृग'।

ननु—

'लोम्बी श्रीगदितं भाषो भाषीप्रस्थानरासकाः ।

कार्ष्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तोऽपि भाणवत् ॥'

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणप्रबुधपतिरित्याशाङ्कवाह—

✓ अन्यद्वावाध्यं नृत्यम्—

रसाध्यवसायाद्भाषाभयं नृत्यमन्यदेव तत्र भाषाभ्रमिति विषयभेदान्नृत्यमिति वृत्तेर्गागीधेपार्यवेनातिरुसहुक्यात्तरकारिणु च नर्तकस्यपदेशाहोकेऽपि च 'अन प्रेशणी-याम्' इति न्यवहारप्रादकादेरन्यन्नृत्यं तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः । नाट-कादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थाभूतविभावादिकृतसंगतमकवाक्यार्थहेतुकरवादा-प्यार्थाभिनयारमकत्वं रसाध्यमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च 'नट भवस्यन्दने' इति मतेः किञ्चित्कलनायैवात्साक्षिकवाहुस्वाम्, अत एव तरकारिणु मडव्यदेशः । तथा च भाषाविधेपार्यवे समानेऽभ्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा भाषावार्थाभिनयात्मका-भाष्यात्पदार्थाभिनयारमकमन्यदेव नृत्यमिति ?

✓ इस विषय में यह आशा हो सकती है कि कोई कोई मन्थकार का मत भिन्न है, जैसे 'नृत्य के लोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाषी, प्रस्थान, रासक तथा कार्ष्य भे सप्त भेद होते हैं, वे भाण की तरह ही होते हैं'। इस तरह तो दूसरे रूपक भी सिद्ध होते हैं, फिर 'रूपक दस ही हैं' इस प्रकार अवधारण करना ठीक नहीं मान पड़ना; इनका उत्तर देते हुए मन्थकार कहते हैं कि '(नृत्य नाट्य से भिन्न है) भाषाभय नृत्य विच्छिन्न अलक्ष्य चीज है'। नाट्य या रूपक रसों पर आश्रित है, जब कि नृत्य भाव पर आश्रित है, अतः वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। नाट्य रसाश्रित है, नृत्य भावाश्रित; इसलिये उनमें विषयभेद है; तथा 'नृत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नृप्' भाग्य से हुई है जिसका अर्थ है 'गायविधेय'; जिसका तात्पर्य आदिक अभिनय की बहुलता है, (जब कि नाट्य में पारों तरह के अभिनय पाये जाते हैं), साथ ही नृत्यरसा-विचार नर्तक बदलाते हैं (नट नहीं); साथ ही नृत्य केवल देवाने भर की चीज है, यहाँ मकनीय कुछ नहीं होगा; कथनोपकथन का यहाँ जगान रदता है; लौकिक व्यवहार में 'यहाँ

६. नाट्य में पारों का सर्वाङ्गीण विषय करते हुए रस की परिपुष्टता की जाती है, जो मात्र ही धरम परिपोरतीया है, जब कि नृत्य में केवल गारों की अभिव्यञ्जना ही रहती है। नाट्य में कथनोपकथन आवश्यक होगा है, जब कि नृत्य में केवल गायविधेपादि से ही भावव्यञ्जना होती है। नाट्य या रूपक का उदाहरण शाङ्कुक नाटक है, नृत्य का उदाहरण चंद्र के भाव-नृत्य।

प्रेक्षणीयक (दृश्य) है' ऐसा प्रयोग नृत्य के लिए पाया जाता है, इसलिए नाट्यकारि रूपों से नृत्य सर्पथा भिन्न वस्तु है अतः 'दत्त ही रूपक है' यह अन्वयार्थ शीघ्रदिशारि के विषय में संगत बैठ जाता है। नाट्यकारि रूपक कोरे भाव पर आश्रित न होकर, रसपरक होते हैं। रस समस्त वाक्य के उस वाक्यार्थ से निष्पन्न होता है, जो वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थरूप विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के सत्सर्ग से युक्त होता है, इसलिए वाक्यार्थरूप अभिनय का पाया जाना (अर्थात् वाचिक अभिनय की सत्ता) ही रसाश्रय है रस वात वा संकेत क्रिया गया है। 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट अवस्थापन्दने' धातु से हुई है, जहाँ नट धातु का अर्थ अवस्थापन्दन, या कुञ्ज २ चम्रलगा है, अतः नाट्य में सात्त्विक अभिनय को बटुलता होगी है, इसीलिए नाट्यविशारद नट बटुलते हैं। जैसे गात्रविशेष के समान रूप से दोनों में पाये जाने पर भी नृत्य नृत्त से सर्वाथ भिन्न इसलिए है कि प्रथम में अनुकरण पाया जाता है, दूसरे में नहीं, वैसे ही वाक्यार्थरूप (वाचिक) अभिनय वाले नाट्य से पदार्थरूप अभिनय वाला नृत्य भी अलग चीज है।

प्रसहान्नुत्सं व्युत्पादयति—

५—नृत्तं ताललयाधयम् ।

तालध्वस्तुटादि, लयो द्रुतादि, तन्मात्रापेशोऽङ्गविशेषोऽभिनयरत्नयो नृत्यमिति ।

ऊपर के विवेचन में प्रसहवश 'नृत्त' का उल्लेख हो गया है, अतः उसकी व्युत्पत्ति को जाती है। नृत्त ताल तथा लय पर आश्रित होता है। नृत्त में केवल अङ्गविशेष पाया जाता है, अभिनय वा वहाँ अभाव रहता है। यह नृत्त ताल के आधार पर मात्रा का अनुसरण करता है, तथा लय के आधार पर गति (द्रुत, मन्द या मध्य) का आश्रय लेता है। इसमें किसी भी प्रकार के अभिनय की सत्ता नहीं होती, कोरा गात्रविशेष रहता है, जो ताल तथा लय के द्वारा नियमित होता है।

अनन्तरोक्तं द्वितीयं व्याचष्टे—

ध्यायं पदार्थाभिनययो मार्गो देशी तथा परम् ॥ ६ ॥

नृत्यं पदार्थाभिनयारम्भं मार्गं इति प्रसिद्धम्, नृत्यं न देशीति । द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

इसी नृत्य तथा नृत्त की पुनः व्याख्या करते हुए बताते हैं कि 'पहला पदार्थाभिनयरूप नृत्य मार्ग भी कहलाता है, तथा दूसरा (नृत्त) देशी भी कहलाता है।' शास्त्रीयपद्धति से समन्वित पदार्थाभिनयरूप गात्रविशेष नृत्य कहलाता है। यह शास्त्रीय होने के कारण मार्ग भी कहलाता है। नृत्त में कोरा गात्रविशेष है, जो ताललयसमन्वित है, पर शास्त्रीय नहीं, अतः उसे 'देशी' के नाम से भी पुकारते हैं।

मधुरोद्धतमेदेन तद्वद्वयं द्विचिधं पुनः ।

स्तस्यताण्डयरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥ ✓

१. ताल सङ्गीत में स्वर की मात्रा का तथा नृत्त में पदविशेष की मात्रा का नियामक होता है। जैसे सङ्गीत में १६ मात्रा के पद में पहली, पाँचवीं और तेरहवीं पर ताल दिया जाता है, नहीं रा ली छोड़ दो जाती है, इसी तरह नृत्त को भी ताल दो जाती है। लय नृत्त की गति को द्रुत, मन्द या मध्यम करने की सूचना देती है।

२. मार्ग या नृत्य का उदाहरण दक्षिण में प्रचलित 'भरतनृत्यम्' या कथक नृत्य या पदव्यंशक के भावनृत्य हैं। देशी या नृत्त के उदाहरण हैं लोकनृत्त जैसे भोलों वा गरबा।

सुकुमारं द्वयमपि सास्यम्, उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रसङ्गोपस्योपयोगं
दर्शयति—तच्च नाटकानुपकारकमिति, नृत्यस्य कविदशान्तरपदार्थामिनयेन नृत्यस्य च
शोभाहेतुत्वेन नाटकादाउपयोग इति ।

✓ ये दोनों ही फिर से दो ढंग के होते हैं—'मधुर तथा उद्धत, मधुर लास्य कहलाता है,
और उद्धत ताण्डव । ये दोनों तरह के नृत्य तथा नृत्त नाटकदि रूपकों के उपस्कारक
होते हैं । ये दोनों प्रसङ्गोप नृत्य और नृत्त विषय के उपयोगी हैं इसलिए 'नाटकाद्युपकारक' पद
का प्रयोग किया है । नाटकादि में पदार्थामिनय के रूप में भावाशय नृत्य का तथा शोभाजनक
होने के कारण नृत्त का प्रयोग पाया जाता है ।

शास्त्रीय नृत्य में कोमल भावों तथा उद्धत भावों की -वचनना में भिन्न २ तरफि का आशय
लिया जाता है । इसीलिए इसे दो तरह का माना है सुकुमार लास्य और उद्धत ताण्डव । इसी
तरह देवी भूत का भी हाल है । लीननृत्यों में प्रयुक्त धीरेजी, माताजी के नृत्त जिन्हें हम
भावों में देखते हैं, उद्धत होते हैं । जब कि सावन या होली के अवसर पर प्रचलित कामिनियों
के लीननृत्य मधुरता तथा सुकुमारता लिये होते हैं ।

अनुकारकत्वेन रूपाणां समेदात्किञ्चित् भेद इत्याराद्धमाह—

वस्तु नेता रसस्तेर्पा भेदकः—

वस्तुभेदासायकभेदाद्रसभेदाद्रूपानामन्योन्यं भेद इति ।

सभी रूपकों में अनुकरण पाया जाता है अतः उनमें कौरे भेद नहीं दिखाई देता, फिर
यदि भेद क्यों किया जाता है, इस भेद के कारण क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते
हैं—हम रूपकों को एक दूसरे से भिन्न करने वाले तीन तत्व हैं—वस्तु, नेता तथा
रस । वस्तुभेद नायकभेद तथा रसभेद भी इति से ही रसों परस्पर भेद है ।

वस्तुभेदमाह—

—यस्तु च द्विधा ।

वस्तुभेद को बताते हुए कहते हैं कि—यस्तु दो तरह की होती है ।

कथमित्याह—

✓ तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ११ ॥

प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तं, तदङ्गत्वं प्रासङ्गिकं यथा
तत्रैव विभीषणगुप्तीकादिवृत्तान्तं इति ।

हमें मुख्य वस्तु आधिकारिक (कथावस्तु) कहलाती है तथा अङ्गरूप वस्तु प्रास-
ङ्गिक (कथावस्तु) कहलाती है । नाटकादि रूपकों में प्रधानभूत यथा नी आधिकारिक कहते
हैं, जैसे रामायण कथा में राम तथा सीता का वृत्तान्त । इसी आधिकारिक कथा के अङ्गरूप
में जिन उपकथाओं का समावेश होता है, वे प्रासङ्गिक कहलाती हैं, जैसे रामायणकथा में ही
विभीषण या वृत्तान्त, सुग्रीव या वृत्तान्त या ऐसी ही दूसरी कथाएँ ।

निष्कर्षाऽऽधिकारिकं लघयति—

अधिकारक फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।

तन्निर्वृत्तमभिग्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

फलैव स्वस्वामित्वन्योऽधिकारकत्वस्वामी अधिकारी तेनाविधरेणाधिकारिणा च
निर्वृत्तम् = फलपर्यन्ततां शीयमानवित्तिवृत्तमाधिकारिकम् ।

आधिकारिक शब्द की श्रुत्यपि करते हुए उसका हृद्यन करते हैं। 'फल पर स्वामिन्य प्राप्त करना अधिकार कहलाता है, तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फलभोग्य के द्वारा फल प्राप्ति तक निर्वाहित पृथ या कथा आधिकारिक बस्तु कहलाती है।' उदाहरण के लिए राक्षसवध, सीताप्राप्ति तथा रामराज्य की स्थापना रामायण कथा का फल है, इनके स्वामी या भोग्य राम हैं, अतः आरम्भ से रावणवध, सीताप्राप्ति तथा रावणनिषेक तक की कथा आधिकारिक कथावस्तु है।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

✓ प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्थायीं यस्य प्रसङ्गतः।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य, सतस्तत्प्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिकमिति वृत्तं प्रसङ्गनिर्दिष्टे ।

• क्व प्रसङ्गोपाय प्रासङ्गिक बस्तु की व्याख्या करते हैं। जो कथा या घृष्ट दूसरे (आधिकारिक के) प्रयोजन के लिए होती है, किन्तु प्रसङ्ग से शिथिल स्वयं का फल भी सिद्ध हो जाता है, वह प्रासङ्गिक घृष्ट है। प्रासङ्गिक शिथिल का प्रमुख ध्येय आधिकारिक घृष्ट की चल्तिनिर्वाहता में सहायता प्रतिपादित करना है, किन्तु प्रसङ्गत-वस्तुका स्वयं का भी फल होता है, जैसे सुग्रीवकथा का प्रयोजन बालिवध तथा राज्यप्राप्ति, तथा विभीषणघृष्ट का प्रयोजन लङ्काराज्यप्राप्ति।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीमेदाद्द्विविधमित्याह—

सानुबन्धं पताकात्थ्यं प्रकरी च प्रदेशमाफ् ॥ १३ ॥

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुभवादिवृत्तान्तवत्—पताकेवासाधारणनायक-विह्वलतुण्डकरित्वात्, यदल्पं सा प्रकरी धमणादिवृत्तान्तवत् ।

यह प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी पताका तथा प्रकरी दो तरह का होता है। 'जो प्रासङ्गिक कथा अनुबन्धसहित होती है, तथा रूपक में दूर तक चलती रहती है, वह पताका कहलाती है। तथा जो कथा केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है, वह प्रकरी कहलाती है।' रामायण की कथा में सुग्रीव व विभीषण का वृत्तान्त पताका है, वह दूर तक चलती है, वह मुख्य नायक के पताका चिह्न की तरह आधिकारिक कार्य तथा मुख्य नायक को पोषक होती है। (पताका का नायक निम्न होता है तथा वह पताकानायक कहलाता है।) रामायण में छोट-छोट वृत्त प्रकरी हैं जैसे समना शबरी आदि की कथाएँ।

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं श्रुत्वा द्रवति—

प्रस्तुतांगन्तुभाषस्य वस्तुनोऽन्योक्तिस्सूचकम् । ✓

पताकास्थानकं तुल्यसंघिधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

प्राकरणीकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकं तद्य तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्—अन्योक्तिसमाश्लेषिमेदात् । यथा रत्नानश्याम्—

'यातोऽस्मि पवनयने समयो भवैव गुहा मयैव भवति प्रतिषेधनीया ।

प्रत्यायनामममितीव सरोरुहिष्या' सर्वोऽस्तमस्तकनिविष्टकर' करोति ॥'

• पताका के साथ ही यहाँ पताकास्थानक की श्रुत्यपि करते हुए बताते हैं कि 'जहाँ प्रस्तुत भावी वस्तु की समान वृत्त या समान विशेषण के द्वारा अन्योक्तिमय सूचना हो, उसे

पताकास्थानक कहते हैं। कवि कभी-कभी रूपक में एक स्थान पर मन्त्रिभ्य में घटित होने वाली घटना का संकेत कर देता है। यह घटना पताका या ध्वजा की भाँति भावी वृत्त की घटना देती है, इसलिये पताकास्थानक कहलाती है। यह संकेत वा तो घटनाओं की समाप्ति के आधार पर होता है या फिर उनमें समाप्त विशेषणों के पाये जाने के कारण होता है। एक में (प्रथम भेद में) अन्वोक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसा का आवरण लिया जाता है, द्वितीय में समाप्तीक्ति का। रत्नावली नाटिका के निम्न पद्य में समान शतवृत्तरूप अन्वोक्ति प्रणाली द्वारा पताकास्थानक पाया जाता है।

‘हे पद्य के नेत्र वाली (पद्य जैसे नेत्रवाली), मेरे जाने का समय आ गया है, यह मैं जा रहा हूँ। प्रायः काल तुम्हें सोने से मैं ही अगाऊँगा।’ अस्तावक के मस्त्रक पर शक्तिरो विरहों रते हुए वह यहाँ इस प्रकार पद्मिनी को (अपने छोट आगे का) विश्वास दिला रहा है।

यहाँ पर यहाँ-पद्मिनी वर्णन के द्वारा भावी अन्वयन-रत्नावलीरूप कृष्णात की अन्वोक्तिमय स्वयंज्ञा, पताकास्थानक ही है। एही नाटिका के निम्न पद्य में समान विशेषण वाला पताकास्थानक भी पाया जाता है।

यथा न तुल्यविशेषणतया—

‘उदासोत्कृष्टिका विषाण्डुरध्वं प्रारब्धजृम्भा क्षणा-

दायासं क्षसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मन ।

अधोदानलतामिमा समदनां नारीनिवान्यां ध्रुवं

परम-कोपविपाटलद्युतिं सुर्या देव्या करिष्याम्यहम् ॥’

२. प्रश्न होता है यहाँ यहाँ-पद्मिनी की जब प्रसङ्ग में प्रस्तुत है, तो फिर अप्रस्तुतप्रशंसा कैसे होगी। सुवर्णनाचार्य टीका में यहाँ स्पष्ट कर्मलिप्तीर्ष्यवृत्तात् से नायकनायिकाकृतान्त की प्रतीति में अन्वोक्ति या अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार मानते हैं। यही दृष्टिकार धनिन मी कहते हैं। हमारे मतानुसार यह अन्वोक्ति स्वरूपमान है, जिसका अर्थ अन्वयन-उपमानोपमेय भाव माना जा सकता है। अन्वयकाल के प्रसङ्ग में कहे गये इस पद्य में प्रारम्भिक तो सर्वप्रथमिनी कृष्णात स्पष्ट है। उसे अप्रकारणिक मानने पर अप्रस्तुतप्रशंसा हो सकती है। यदि नायक-नायिका कृष्णात को अप्रस्तुत मान लेंगे, तो सारी मन्त्रवादी ही जायगी। यहाँ की समाप्तीक्ति बनेगी, क्योंकि समाप्तीक्ति में समान कार्य भी होता है। हमें इस मन से सहमत नहीं है। नायिका में यह राजा की कृतिज्ञान के समय नहीं गई है, अतः प्रारम्भिक तथा प्रस्तुतार्थ उसे ही मानना हीना। हाँ, भावी प्रस्तुत नायिका नायिकाकृष्णात की आधी स्वयंज्ञा से मानकर बहुत से उपमा अलङ्काररूप अन्वय मान लेंगे। यही मन्त्रवादी भागे के उदाहरण में भी पढ़ेंगे। यद्यपि यहाँ समाप्तीक्ति ठीक बैठ जाती है। पर अप्रस्तुत नायक-नायिका रूप अर्थ ‘समानार्थ’ रूप में लगे या ‘सामरिवा-उदवत् रूप विशेष’ अर्थ में। यदि पद्य विवरण माना जाय, तो पताकास्थानक मानने में कुछ कष्ट मानना होगा। यदि द्वितीय विवरण, तो वह तो नायिका का प्रस्तुत प्रतिपाद अन्वय है। हमारे समय में दोनों में केवल यही भेद है, एक उपवेतिवृत्तरूप है, दूसरा तुल्यविशेषण रूप। अप्रस्तुतप्रशंसा वा समाप्तीक्ति मानने की सारी मन्त्रवादी का कारण धनिक की दृष्टि को पकड़ है। प्रस्तुत बसा दोनों में स्वयंवाच्य प्रतीति है। निष्पत्त्य शतिकाप्य इस प्रकार में अन्वोक्ति-समाप्तीक्ति वा प्रयोग नहीं करते (देखिये या दिल्हाद्वयं पद्य वा ४४-४५), न भरत ही (देखिये वा मा. २१, २१-२५)। वे दोनों हमारे अर्थ को ‘उत्पन्नार्थ’ मानते हैं, अर्थात् वह वही विद्य काय है।

मैं चम्बली बलियों वाली, पीले रंग वाली, रिल्ली हुई हूँ उपवनगा को देगा रहा हूँ जो वायु के गिरन्तर बेग के कारण अपनी विशालता को व्यक्त कर रही है तथा मदन नामक पीपों से आवृत है। इसे देखते हुए हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मैं कामवासना से लक्ष्मि, पीपों पड़ी हुई, जामाई लेनी हुई, सखाम दूमरी स्त्री को देता रहा हूँ जो गिरन्तर निशाम के लेकर अपनी कामपीठा को व्यक्त कर रही हो। अतः मैं ऐसी बचनना करता हूँ कि हम लता भी देखकर मैं अन्य स्त्री को देखने के समान देवी वासवदत्ता का अपराध कर रहा हूँ तथा इस अपराध से मैं निश्चय ही देवी के मुग को क्रोध से आवृत कान्तिशाला बना दूंगा।

यहाँ लता के वर्णन में मुख्यविशेषणों के द्वारा अपर नायिका की यचना दी गई है, जो रत्नावली संशुद्ध भावी वृत्त को संश्लेषित करती है। अतः यहाँ दूमरे रंग का पताकारस्थानक है।

१. हम देखते हैं, पञ्चम तथा धनिक केवल दो तरह का पताकारस्थानक मानते हैं। एक मुख्यविशेषणरूप, दूसरा मुख्यविशेषणरूप। प्रथम का उदाहरण 'यातोऽरिम पद्यवने' इत्यादि पद्य है, दूसरे का 'उदामोत्कलिका' आदि पद्य। भरत एवं विश्वनाथ दोनों ही चार चार तरह के पताकारस्थानक मानते हैं। विश्वनाथ की परिभाषाएँ भरत के ही श्लोको की नकल है, वहीं 'परिकीर्त्यते' को जगद् 'परिकीर्तितम्' कर दिया है, तो 'हृष्यते' को जगद् 'उच्यते', उनमें ही तार्किक अन्तर नहीं है। भरत की परिभाषा यों है।

'जहाँ किसी एक अर्थ (वस्तु) के चिन्तन के समय नाटकादि के भावो पदार्थ होने के कारण उसी चिह्नो वाले अन्य अर्थ का भी प्रयोग किया जाय, वहाँ पताकारस्थानक होता है।

(१) जहाँ सहसा ही प्रेमानुकूल व्यापार (उपचार) के कारण उच्छृष्ट प्रयोजनसिद्धि हो, वहाँ पहला पताकारस्थानक होता है।

(२) अल्पिक श्लिष्ट शब्दों वाला, अनेकार्थबोधक, नायकादि का मगलकामना पताकारस्थान दूसरे रंग का होता है।

(३) जहाँ वक्ता वा अर्थ अन्यथा किन्तु अनिश्चय हो, तथा श्लिष्ट उच्छर से युक्त हो, वहाँ तीसरा पताकारस्थानक होता है।

(४) जहाँ दो अर्थ वाले श्लिष्ट वचनवियोग का प्रयोग काव्य में हो, तथा वह प्रधान-तर अर्थ की प्रतीति कराय, वहाँ चौथा (अन्य) पताकारस्थानक होता है।'

यत्रार्थे चिन्तयमानेऽपि तस्मिन्नार्थे प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताकारस्थानक च तत् ॥

सहसैवार्थमप्यतिगुणवस्तुपचारतः। पताकारस्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्त्यते ॥

वचसाऽतिशयश्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम्। पताकारस्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥

अर्थोच्छेपणं यच्च लीनं सति नय भवेत्। श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं एणीयमिदं निश्चयते ॥

द्वयार्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः। उपन्याससप्तमं तत्तदुर्थमुदाहरणम् ॥

(नाट्य शा० २१ । ३१-३५)

यहाँ अब तक इनके उदाहरण न दिये जाँव, विषय स्पष्ट न होगा। विश्वनाथ के उदाहरण यों हैं:-

(१) रत्नावली में वासवदत्ता के रूप में सागरिका की लतापारा से मरता देव कर, राजा पहले उसे वासवदत्ता ही समझता है। बाद में सागरिका की पहचान लेने पर उसकी गुणवती अर्थसम्पत्ति (उच्छृष्ट प्रयोजनसिद्धि) होती है।

(२) बेगीसंहार में धृतराज के 'रक्तप्रमाथितमुर धृतरिग्रहाथ, स्वस्था भवन्तु कुरु-राजगुणाः समृत्त्या' में अनेकार्थबोधक श्लिष्ट शब्दों से नायक की मगलकामना की गई है।

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासंगिकमेदात्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

प्रत्यातोत्पाद्यमिश्रत्वमेदान्नेधापि तन्निधा ।

प्रथयातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पिगम् ॥ १५ ॥

मिश्र च सकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिमेदता ।

इति निगद्व्याहारात् ।

८ इस तरह इतिवृत्त आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी (प्रासंगिक के दो भेद) तीन प्रकार हैं, यह फिर से तीन तीन तरह का होता है। यह तीन तरह का इतिवृत्त प्रत्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र इस तरह फिर से तीन तीन प्रकार का है। प्रत्यात इतिहास, पुराण आदि से गृहीत होता है, उत्पाद्य कवि की स्वयं की कल्पना होता है, तथा मिश्र में दोनों की खिचड़ी रहती है। साथ ही यह वृत्त दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य होता है।

उत्प्रेतवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिधर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ १६ ॥

धर्मार्थकामा फल तत्र शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्विव्यनुबन्धं वा ।

इस इतिवृत्त का प्रयोजन या फल क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताते हैं कि इसका फल (कार्य) धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिधर्ग है। यह फल कभी तो द्वयमें से एक ही हो सकता है, कभी दो धर्म और कभी तीनों धर्म।

(३) वेणीसंहार के दूसरे अंक में जब राजा (दुर्षोत्तम) मानुमती से कहता है कि मेरी दोनों जीवें (कक्षुगुल) हो तुम्हारे बैठने की पर्याप्त हैं, तो जीक उठी बक 'कक्षुकी उपरिपत होकर कहता है—'देव, तोड़ डाला'। इस प्रकार यहाँ सामाजिक एक बार 'पर्याप्तमेव कर्त्तव्येण ममोक्षुगुम्' सुनने के बाद ही कक्षुकी की उक्ति 'देव, भद्रम्' सुन कर सहम जाता है। आगे राजा जब पूरता है 'किसने', तो कक्षुकी उत्तर देता है—'मीमसेन ने'। और फिर परि १ पदा पचना है कि मीम ने राजा का रथ तोड़ डाला है। इस तरह यहाँ तीसरा पताका स्थानक है। इसका दूसरा उदाहरण उत्तररामचरित से दिया जा सकता है—

राम—'यदि परमसहायु विरह' के बाद ही 'कक्षुकी—देव, उपरिपत', में सामाजिक विरह तथा उपस्थित का लक्षण समझ बैठता है, जो भावी घटना का दृष्टक है। जैसे कक्षुकी को दुर्मुखा के उपरिपत होने की घटना देने आता है।

(४) चौथा उदाहरण 'उदाभोरकलिका' ही है, जिसे धनिक ने दिया है।

इस तरह धर्मत्रय व धनिक वाच्य दूसरा पताकास्थानक भरत व निधनाथ का चौथा है। पर उनका पहला अ-पोकिताला (?) दुर्प्रेतवृत्त पताकास्थानक ऊपर के तीनों में से निम्न में आया? वह पहले और तीसरे में तो नहीं आ सकता। क्या 'धर्मत्रयने' की गिळट मानकर उसे दूसरे प्रकार के पताकास्थानक में मान सकते हैं?

त्रिपु परिभाषा में भरत 'अतिशयविरह' का विशेषण देते हैं। 'वातोऽसिध०' आदि एक का अर्थ 'अतिशयविरह' नहीं कहा जा सकता। तो दूसरे वच से यह उदाहरण भरत के दूसरे पताकास्थानक में भी नहीं आ पाता।

इसके धर्मत्रय का यह भेद अन्य प्रकार का है। अगर इसे चौथे ही प्रकार का मान लिया जाय, तो यहाँ कुछ संगति बैठ जायगी। पर फिर भी धर्मत्रय ने दूसरे पताकास्थान कर्म गरी भागे यह प्रश्न बना ही रहता है ?

सत्साधनं ध्युत्पादयति—

न्यहपोहिष्टस्तु तस्तेतुर्याजं विस्तार्यनेकया ।

स्तोत्रोद्दिष्ट कार्यसाधक पुरस्तादनेकप्रकारं, विस्तारी हेतुविरोधो योजवद्बीजं यथा रत्नावल्यां बरखराजस्य रत्नावलीप्राप्तितेनुरक्षुल्लद्वैवो योग्यधरायणव्यापारो विष्णुमन्त्रे न्यस्तः—'योग्यधरायण—क संदेह ('द्वोपादन्यस्मात्-' इति पठति)' इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो इन्द्रिहेतो' इत्यन्तेन ।

' यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीदेवसंयमनहेतुभीममोक्षोपचितयुधिष्ठिरोस्ताहो भीममिति । तस्य महाकार्यान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति ।

इम विवर्गरूप फल के साधन की विवेचना करते हुए बताते हैं कि 'रूपक के धारम में अव्यपक में संकेतित यह तत्त्व जो रूपक के फल का कारण है तथा इतिवृत्त में अनेकरूप में प्रकृत होता है, बीज कहलाता है। अत्यरूप में निर्दिष्ट हेतु जो वृत्त के कार्य (फल) का साधक है, तथा वृत्त के बीज की तरह पठाना होकर अनेकशास्त्र वृत्त की भाँति वृत्त के रूप में विवृद्ध होना है, उद् पारिभाषिक रूप में बीज कहलाता है। रत्नावली नाटिका के वृत्त वा कार्य उदयन व रत्नावली वा मिलन करा देना है, जो मन्त्री योग्यधरायण की अभीष्ट है। नाटिका के विष्णुमन्त्र में ही योग्यधरायण की यह चेष्टा, पिते भाग्य की भी अनुकूलता प्राप्त है, बीज के रूप में सामने रखी गई है। योग्यधरायण इसमें क्या सन्देश है' कहते हुए तथा 'अतुल्ल भाग्य वही से भी उत्तर रष्ट वस्तु की प्राप्त करा देना है' (द्वोपादन्यस्मात्पि०) इत्यादि उक्ति से आरम्भ करके 'स्वामी की उन्नति के कार्य की प्रारम्भ करके तथा देव के द्वारा सहायता मिलने पर मैं अपने कार्य में सफलता प्राप्त करूँगा' इस उक्ति तक बीज का संकेत करता है।

वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी का केश संयमन नाटक का फल है। इम कार्य का हेतु भीम के मोक्ष से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह है, यही इस नाटक का बीज है। यह बीज भी महाकार्य तथा अवान्तरकार्य का हेतु होने के कारण दो तरह का है।

अन्तर्बीजस्य संज्ञान्तरमाह—

अचान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ॥ १७ ॥

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्य-हेतु—'उदयनस्मेन्दोरिवोद्गीशते । सागरिका—(ध्रुत्वा) कर्हं एषो सोः उदयनपरिन्दो जस्स अहं तादेण दिष्णा ।' (कथयेथ स उदयननेन्दो यस्याहं तातेन सत्ता) इत्यादि । विन्दु—अले तैकविन्दुवत्प्रसारित्वात् ।

महाकार्य बीज का संकेत ही चुका है, अब अचान्तरबीज की दूसरी सहा (नाम) बताते हुए कहते हैं कि जहाँ किसी दूसरी कथा (अर्थ) से विच्छिन्न हो जाने पर इतिवृत्त को

१. वेणीसंहार नाटक में बीज 'इस्या भवंतु मयि जीवति धार्तराष्ट्रः' इति भीमोक्ति से लेकर—

गन्वायस्तार्णवाम् ध्युत्पादयन्तु मन्वरायानपीरः ।

वीगापातेपु गर्जत्प्रलपयन्पदान्धोन्वसपद्मचम्प ॥

शुभाकोषामदूत क्रुरकुनिषनोत्पावनिर्गन्वात् ।

केनास्मिन्निन्दनारप्रति सिनमो दुन्दुभिराकितोऽयम् ॥

तथा 'मोघम्योतिरिदं महारुचने यौधिष्ठिरं चम्भते' तक धनित हुआ है ।

जोड़ने और आगे बढ़ाने के लिए जो कारण होता है, वह विन्दु कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदेव के द्वारा कामदेव को पूजा एक अवान्तर वृत्त है, इससे एक अर्थ समाप्त हो जाता है और कथा में विशृङ्खलता आ जाती है। इसे सखिल्य वा श्लेषकवच करने के लिए वहाँ नेपथ्य से मार्गों को उक्ति के द्वारा 'नद्वारान उदयन के चरणों की गद गद होग इसी तरह, देख रहे हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों की' यह संज्ञना देवत सागरिका के रूप में वहाँ रहती हुई रत्नावली के द्वारा 'कथा पढ़ी वह राजा उदयन है, जिसके लिए शिताबी ने मुझे दे दिया है' यह उक्ति बहलवा कर कथा का अच्छेद (संबान) कर दिया है। यह अच्छेदकारण विन्दु वृत्त में आगे जाकर ठीक वैसे ही प्रसारित होता है जैसे तेल की बूँद पानी में फैलती है। इसीलिए इसे विन्दु कहते हैं। २७-४-५६

इदानीं पताकार्यं प्रसङ्गात्पुरुकमोक्षं क्रमार्थमुपसंहरामाह—

वीजविन्दुपताकाव्यप्रवारीकार्यलक्षणाः ।

✓ अर्थप्रकृतयः पञ्च तत्र पताः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

अर्थप्रकृतयः = अर्थोपनसिद्धिहेतवः ।

✓ पताका तथा प्रकरी का वर्णन ग्रन्थकार ने क्रम के अनुसार नहीं किया था, इसलिये अब क्रम को ठीक करने के लिए उपसंहार करते हुए पाँच अर्थप्रकृतियों का विवेचन करते हैं:—
रूपक में बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। अर्थप्रकृति से तात्पर्य उन तत्त्वों से है जो अर्थोपन सिद्धि के कारण होती हैं, अर्थ से तात्पर्य अर्थोपन या वस्तु के फल से है, ये दोनों उसी अर्थ की प्रकृति से संबन्ध होते हैं।

१. प्रथम होता है नाटकीय कथावस्तु में विन्दु एक ही होता है, या अनेक ? विन्दु की परिभाषा के अनुसार विन्दु जहाँ कथा, एक अर्थोपन सिद्धि के पूरे होने के कारण टूट जाता है, वहाँ उसे जोड़ कर आगे बढ़ता है। इस तरह तो विन्दु अनेक हो सकते हैं। हमारे मत में किसी नाटक में विन्दु अनेक हो सकते हैं।—

२. अर्थप्रकृति की स्पष्ट कृति हुए धनिक बताते हैं कि ये (रूपक के नायक की) अर्थोपन-सिद्धि के हेतु हैं—'अर्थोपनसिद्धिहेतवः'। पर इन परिभाषा पर एक आपत्ति होती है। अर्थप्रकृतियों पाँच हैं:—बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। जहाँ तक पहली चार अर्थ-प्रकृतियों की बात है, वे अर्थोपनसिद्धिहेतु हैं ही। पर पाँचवीं अर्थप्रकृति पर आते ही धनिक की परिभाषा गड़बड़ा जाती है। कार्य नामक अर्थप्रकृति स्वयं 'अर्थोपन' है। फिर 'अर्थोपन' स्वयं उसी का सिद्धिहेतु कैसे बन सकता है ? या तो ये दोनों अर्थोपन भिन्न होने चाहिए या फिर कार्य से हट कर दो अर्थप्रकृति में अर्थोपनसिद्धिहेतुत्व मानना चाहिए।

धनिक की भाँति विषयवाच भो 'अर्थोपनसिद्धिहेतवः' कहकर चुप रह जाते हैं। वस्तुतः वे पञ्च परिच्छेद में धनिक को नकल करते हैं। इस समस्या की एक रंग से सुलझाया जा सकता है। कार्य या अर्थोपन दो तरह के माने जाने चाहिए। एक प्रसृत अर्थ जो नाटक वा खास कार्य है, जैसे रामकथा में रावण का वध। दूसरा अवान्तरकार्य जैसे विभीषण का मिलना आदि। ऐसा मानने पर अवान्तर कार्य प्रमुख कार्यरूप अर्थोपन का सिद्धिहेतु बन जायगा। पर क्या धनिक, धनिक तथा विषयवाच को यह समीह था। यदि ऐसा हो तो उन्हें सबैत बरना चाहिए था। इसके अभाव में हम इस गण को टूट ही मानेंगे।

३. पताका हीसरी तथा प्रकृति चौथी अर्थप्रकृति मानी गई है। पताका का उदाहरण रामकथा में सुग्रीव-वृत्तान्त तथा प्रकरी का उदाहरण वृत्तान्त दिया है। इस तरह तो रामकथा में प्रकरी का उदाहरण पहले माना है, सुग्रीव का बाद में। रामकथा में इन विच्छेदों से प्रकरी

अन्यदवस्थापञ्चकमाह—

अथरथा पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियतात्तिफलागमाः ॥ १६ ॥

✓ पाँच अर्थप्रकृतियों का निर्देश कर देने पर अब पाँच अवस्थाओं को बताते हैं—'पल' की हृष्टा वाले नायकादि के द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियतात्ति तथा फलागम ।

ययोद्देशं लक्षणमाह—

श्रौतुष्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

इदमह सपादयामीत्यव्यवधायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा रत्नावल्याम्—'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्य इत्तदहस्तावलम्बे ।' इत्यादिना सविवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यात्मनो यौगन्धरायणमुपेन दर्शित ।

इसी पाँचों के नामानुसार लक्षण बना रहे हैं—अत्यन्त फललाभ की उत्सुकता मात्र ही आरम्भ कहलाती है। निस्ती भी पल की प्राप्ति के लिए नायकादि में हृष्टा होती है तथा उसके प्रति उत्सुकता होती है। इस उत्सुकता मात्र का पाया ज ना ही आरम्भ है क्योंकि प्राप्ति के लिए की गई चेष्टा का समावेश 'यत्न' नामक दूसरी अवस्था में हो जाना है। 'मैं इसे बर्हूँ' सिर्फ इतनी चेष्टा ही आरम्भ है, जैसे रत्नावली नाटिका में 'स्वामी की उन्नति के हेतु का आरम्भ कर लेने पर तथा भाग्य के द्वारा इस तरह सहायता भिये जाने पर 'आदि उक्ति के द्वारा बत्सराज उदयन के उस कार्यारम्भ की यत्नना यौगन्धरायण के मुँह से दिलारं गरी है, जिसकी सिद्धिमंत्री यौगन्धरायण पर आश्रित है। यहाँ यौगन्धरायण ने उदयन-रत्नावली-मिलन रूप फल के प्रति उत्सुकता प्रदर्शित की है।

अथ प्रयत्न —

प्रयत्नस्तु तद्प्राप्तौ व्यापारोऽतिथराधिगतः ॥ २० ॥

तस्य फलह्याप्तात्तुपाययोजनादिहृष्टचेष्टाविशेष प्रयत्न एषा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपाय—'तहावि ण्तिय अरणो वसणुवाओ ति जहा-एडा आलिहिय जथासमीहिय करिस्तम्' (तथापि आस्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथालिख्य यथासमीहित करिष्यामि ।) इत्यादिना प्रतिपादित ।

उस फल की प्राप्ति न होने पर, उसे पाने के लिए बड़ी तेजी के साथ जो उपाय तीसरी अर्थप्रकृति हो जायगी, पताका लीधी। इसे कैसे सुलझाना होगा ? इस अपने मत की हमने सवि के प्रकरण में फुटनोट में समेनित किया है, वहाँ देखना चाहिये ।

१ दशरूपकवार के मन से अभिवृत्ति तथा अवस्था का भेद स्पष्ट नहीं होता। ये दोनों ही कथावस्तु में पाई जाती है। पर आश्रित इनमें अन्तर क्या है ? हमारे मतानुसार भोज आदि पाँच अर्थप्रकृति वस्तु के उपादान कारण है। इसे हम वस्तु का 'भौतिक' कह सकते हैं। जहाँ भी ये पाँच अर्थप्रकृति होंगी, कथा का ढाँचा खड़ा हो जायगा। अवस्था नायक की मनोऽशा से संबद्ध है, यह तत्त्व अवस्था की परिभाषा से स्पष्ट है। इस प्रकार यह जेंचना है कि ५ अर्थप्रकृति नाटकीय कथावस्तु का औपादानिक विभाजन (Physical division) है, जब कि ५ अवस्था नायक की मनोऽशा की दृष्टि से वस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन (Psychological division) है। इस मन के लिये मैं श्री० वात्तावाप दासी तैलग का कृणी हूँ ।

योजनायुक्त व्यापार या चेष्टा होती है, यह प्रयत्न है। प्रयत्न के अन्तर्गत नायक या नायिका अपनी अभीष्टित वस्तु को प्राप्त करने के व्यापार में संलग्न रहते हैं। जैसे रत्नावली में नायिका सागरिका वत्सराज की प्राप्ति करना चाहती है, इस प्राप्ति के उपाय रूप में वह वत्सराज के चित्र का आलेखन करती है। यहीं से नाटिका में वरुण नामक अवस्था पार जाती है। 'वत्सराज उद्वेग के दर्शन का बोध दूसरा उपाय नहीं, फिर भी मैं जैसे जैसे उनका चित्र बनाकर रचना को पूर्ण करती हूँ।' इस उक्ति के द्वारा पत्न की पूजना दी गई है।

प्राप्त्याशायाह—

उपायस्मापयशङ्कायाय भासादनिर्घोरितैकान्ता फलप्राप्ति प्राप्त्याशा । यथा रत्ना-

वत्यां तृतीयेऽङ्के वेपपरिवर्ताभिसरणादौ रामागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायश-
ङ्काया—'एव यदि अत्रालवापाती विभ्र आत्रच्छिद्य अण्णदो ण णइस्सदि वासव-
दत्ता ।' ('एवं यथात्मातालोवागत्यान्मतो न नेत्यति वासवदत्ता ।') इत्यादिना दर्शि-
तत्वादनर्घोरितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

अहाँ उपाय तथा विघ्न की आशंका के कारण फलप्राप्ति के विषय में कोई ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता, फल प्राप्ति की समाप्ति उपाय व विघ्नसंका दोनों में दोहायमान रहती है, वहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था होती है। जैसे रत्नावली नाटिका के तीसरे अंक में रत्नावली के वेप बदल कर अभिसरण करने वाले समागम के उपाय के होने पर भी, विदूषक की 'आगर अत्राल वायु की तरह बीच में ही आकर देवी वासवदत्ता दूसरी ओर न ले पाय तो ऐसा ही होगा' इस उक्ति के द्वारा वासवदत्ताजनित विघ्न की आशंका दिखा कर समागमप्राप्ति के अनेकान्तिक निश्चय की पूजना दी गई है। वहाँ विदूषक की इस उक्ति से नायक तथा सामाजिकों को यह संदेश हो जाता है कि कहीं फलप्राप्ति में कोई विघ्न उपस्थित न हो जाय।

नियतासिगाह—

अप्रायाभायतः प्राप्तिर्नियतासिः सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

अप्रायाभावादेवपरितोकांशा फलप्राप्तिर्नियतासिरिति । यथा रत्नावल्याम्—'विदू-
षक—सागरिका दुष्कर जीविस्स'द ('सागरिका दुष्कर जीविष्मति ।) इत्युपकम्ब
'कि ण उपाय चिन्तेसि ।' ('कि ओपाय चिन्तयसि ?) इत्यनन्तरम् 'राजा—ययस्स ।
देवीप्रसादनं सुक्त्वा नान्यमओपाय मययाणि ।' इत्यनन्तराद्धार्यचिन्दुनानेन देवीलक्षणा-
पायस्य प्रसादनेन निवारणाजियता फलप्राप्ति सूचिता ।

जब विघ्न के अभाव के कारण फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है तो नियतासि नामक अवस्था होती है। हम देव सुखे हैं कि प्राप्त्याशा में फलप्राप्ति के बाद में नायक का मानस संवेद से विचलित रहता है। किन्तु नियतासि में प्राप्ति निश्चित हो जाती है, उसका मानस एक बात को ('फल प्राप्ति अवश्य होगी') ही निश्चित कर लेता है। जैसे

१ भारतीय नाटक सभी सुखान्त होते हैं। अतः पत्न-त निश्चय के बाद तथा फलप्राप्ति ही होगी। भारतीय नाट्यशास्त्र की कथोपे पर पाश्चात्य ढंग के दुःखान्त नाटकों की मीमांसा करने पर 'फलप्राप्ति नहीं होगी' इस निश्चय की दशा में नियतासि मानी जा सकेगी। किन्तु 'नियतासि' शब्द की व्युत्पत्ति भी सुखान्त रूपको के ही अद्वय रूप है।

रत्नावली नाटिका में रत्नावली के तहखाने में बन्द पिये जाने पर उसकी दशा क विषय में विचार करते हुए विदूषक बनाना है कि 'सागरिणी बड़ी मुदिकल से जिन्दगी काटगी इसके बाद वह राजा से पूछता है—'तुम उसने छुटकारे का कोई उपाय क्यों नहीं सोचते ?' इसके उत्तर में राजा कहता है—'मित्र, इस विषय में देवी वासुदेवा की सृष्ट करने के अलावा कोई उपाय नहीं दिखाएँ देता।' यहाँ भावी (चतुर्थ) अङ्क की घटना के बिन्दु के रूप में यथिन इस देवीप्रसादन से वास्तविकता में प्राप्त हो जायगा। इस प्रसादन की भावना के कारण फलप्राप्ति की निश्चिन्ता यथित हो गई है।

फलयोगमाह—

समप्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।

यथा रत्नावल्या रत्नावलीनामचक्रवर्तिन्यायातिरिति ।

समस्त फल की प्राप्ति हो जाने पर फलयोग (फलागम) कहलाता है। इस लक्षण में फल के साथ 'समस्त' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि अपूर्ण फल मिलने तक 'नियन्ता' अवस्था ही मानी जायगी। रत्नावली नाटिका में देवता की रत्नावली का नाम तथा तज्जनित चक्रवर्तिन्यप्राप्ति नाटिका का फलागम है।

संधिलक्षणमाह—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥ २२ ॥

यथासंशयेन जायन्ते मुख्यायाः पञ्च सधयः ।

अर्थप्रकृतीना पदाना यथासंशयेनावस्थाभि यवभिर्योगात् यथासंशयेनैव बह्व्यमाणा मुख्याया पञ्च संशयो जाय ते ।

रूपक की अर्थप्रकृति तथा अवस्था का वर्णन करने पर उन दोनों के मिश्रण के सभूत संधियों का वर्णन करते हैं। धीज, विन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियों जय क्रम से अवस्था, यत्न, प्राप्ति, नियन्ता तथा फलागम इन पाँच अवस्थाओं से मिलती हैं, तो क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसंहार (उपसंहार) इन पाँच संधियों की रचना होती है।

२ धनञ्जय के मन से पाँचों अर्थ प्रकृतियों में से एक एक, अवस्था के एक एक अर्थ से मिलकर ५ संधियों का निर्माण करती है। संधि की परिभाषा तो धनञ्जय दूरी ही देते हैं, कि अर्थात् एक अवान्तर प्रयोजन पूर्ण हो जाय और मुख्य प्रयोजन से जोड़ते हुए कथाओं की श्रम के प्रयोजन से सम्बद्ध कर दिया जाय, वहाँ वह सम्बन्ध संधि कहलाता है। पर परिभाषा में तो वहाँ अर्थप्रकृति तथा अवस्था के मिश्रण की बात नहीं है। धनञ्जय की परिभाषा के मतानुसार तो यह मिश्रण सिद्ध नहीं होता। भरत में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता। (दे० ना० शा० २१-३६-३७) विश्वनाथ ने भी धनञ्जय के ही मत का अनुसरण किया है, वे भी वही कहते हैं —

यथासंशयेनवस्थाभिराभिर्योगात् पञ्चभिः । पञ्चपैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्चसधयः ॥ (सा ६ ६ ७४)

पर यह बात मानने पर एक गड़बड़ी हो सकती है। प्रकरी का सम्बन्ध विमर्श या अवमर्श से माना गया है। पर वहाँ यह गर्भ में पारं जाती है। उदाहरण के लिए राम की कथा में शरीरवृत्तान्त प्रकरी माना जाया है। पर राम कथा में वहाँ वर्मसंधि ही चल रही है जो सुधीय के मिश्रण तक चली है। फिर तो सारा मिश्रण गड़बड़ा जायगा। हमारे मन से यह पाँच अर्थप्रकृति, तथा पाँच अवस्था का मेल ५ संधि मानकर मेल मिलाने की कोशिश में ही सारी त्रुटि की अड़ है।

संघिसामान्यलक्षणमाह—

अन्तरैकार्यसंयन्त्रा संघिरेकान्यये सति ॥ २३ ॥

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कर्माणामवागन्तरैकप्रयोजनसंबन्धः संघिः ।

संघि का सामान्य लक्षण बनाते हुए कबते हैं कि किसी एक प्रयोजन से परस्पर संबन्ध (अन्वित) कर्माणों को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से संबन्ध किया जाय, तो यह सम्बन्ध संघि कहलाता है। यथा भीरु कर्माणों का सामान्य अर्थप्रकृति के रूप में कार्य से है, दूसरी भीरु अवस्था के रूप में जलागण से दोनों को सम्बन्ध करने पर संघि हो जाती है।

के सुनस्ते संघयः—

मुपपत्तिमुत्ते गर्भः सत्यमर्शोपसंहतिः ।

ये धर्मिनो वीज सी हे ।—मुल, प्रतिमुल, गर्भ, अवमर्श (विमर्श) यथा उपसंहति (उपसंहार या निर्वहण) ।

यपोदेशं लक्षणमाह—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानाधैरस्तेसम्भवा ॥ २४ ॥

अज्ञानि द्वादशैतस्य योजारम्भस्सम्भवात् ।

योजनामुत्पत्तिरुत्प्रेकप्रकाशप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुमुखसंघिरिति व्याख्येयं तेना-
श्रियर्गकले प्ररसनादौ रसोत्पत्तिहेतुरेव बीजरमिति ।

जन्म में कबला लक्षण बनाते हुए कबते हैं कि 'मुलसंघि में नाना प्रकार के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पाई जाती है। बीजारम्भ के लिये प्रयुक्त होने के कारण रस मुखसंघि के चारद अंग हैं। मुखसंघि में ही रसक के बीज की उत्पत्ति हो जाती है। यही बीज प्राण्य वा नाटक के विभिन्न रसों को उत्पन्न करता है, उनका हेतु है। अन्य रूपों में तो कर्मादि में ये बीज एक वर्ग हेतु या बीज के रूप में होता है, किन्तु महान, भाग आदि में स्वरूप से बीज का (पुस्तक) हेतु के रूप में नहीं दिखाई देता। इसका समाधान करते हुए कबते हैं कि वहाँ भा हास्य आदि रस की उत्पत्ति तो होती ही है, अतः रसोत्पत्तिहेतु (रस का आन्वय, समान का उपहास्य पक्ष) ही बीज माना जायगा।

अस्य च बीजारम्भकार्ययुक्तानि द्वादशाज्ञानि भवन्ति तान्माह—

उपलेशः परिकरः परिग्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥

उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभाषना ।

उद्भेदभेदकरणान्यन्यथाऽथ सहाणम् ॥ २६ ॥

इसमें बीज के आरम्भ के लिए प्रयुक्त द्वादश अंग होते हैं, कहीं का वर्णन करते हैं—
उपलेश, परिकर, परिग्यासु, विलोभन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभाषना, उद्भेद, भेद तथा करण इन मुख के चारद अंगों के नाम अन्वर्थ हैं, अथ इगका लक्षण कहेंगे।

एतेषां स्वसंज्ञान्याख्यातानामपि सुज्ञार्थं लक्षणं कियते—

बीजन्यास उपलेशः—

यथा रसावल्याम्—(नेपथ्ये)

द्रीषादन्यस्मादपि सस्यादपि जलनिषेधिसोऽप्यन्तात् ।

आशीष मडिति पटयति विधिरगिमतमनिमुक्तीभूतः ॥

(१) 'संभव' इत्यपि पाठः ।

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं
वीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपलक्षेपः ।

रूपक के आरम्भिक अंश में जब कवि बीज का न्यास करता है, तो उसे उपलक्षेप कहते हैं। जिस प्रकार कृक वृक्षादि के फल ही वृक्षा से भूमि में बीज वा निक्षेप करता है, वही प्रकार यदि नी कार्यरूप फल के हेतुरूप बीज का निक्षेप रूपक के प्रथम अंक वा प्रथम भाग में किया करता है। जैसे रत्नावली नाटिका में मन्व पर प्रवेश करने के पहले ही यौगन्धरायण अपने कार्य को बीजरूप में डाल देता है। यौगन्धरायण का कार्य वत्सराज उदयन तथा रत्नावली वा मित्रा देना है, तथा वह इनके मिलान के लिए व्यापार में सलग्न है, जिसमें उसे देव की अनुकूलता भी प्राप्त है। इस बीजका व्यापार की घटना यौगन्धरायण ने निम्न शेषश्लोक्ति के द्वारा दी है —

‘अनुकूल होने पर देव अपनी वंशित वस्तु को दूसरे द्वीप से, समुद्र के बीच से, या दिशाओं के अन्त से कहीं से भी लाकर पकरम मिला ही देता है।’ इस प्रकार रत्नावली प्राप्ति रूप कार्य के बीज का न्यास होने से पदों उपलक्षेप है।

परिष्कारमाह—

—तद्वाहुल्यं परिक्रिया ।

यथा तत्रैव—‘अन्यथा क सिद्धदेशप्रत्ययप्रार्थितायां सिद्धलेशाहुल्येण समुद्रे प्रवह-
णमङ्गमग्नेरिषितायां फलकायादनम् ।’ इत्यादिना ‘सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमनुदया ।’
इत्यन्तेन वीजोत्पत्तेरेव बहुकरणात्परिकर ।

जब बीजन्यास का वाहुल्य पाया जाय तो उसे परिकर या परिक्रिया कहते हैं। जहाँ बीज की घटना देकर पात्र उस बीजन्यास की पुष्टि आदि करते हुए उसे दृढ़ करे उसे परिवर कहेंगे। जैसे रत्नावली नाटिका में ही यौगन्धरायण अपने फल के बीज का वाहुल्य प्रकाशित करते हुए बीजोत्पत्ति की परिक्रिया करता है। इसकी घटना यौगन्धरायण की रत्न उत्पत्ति से होती है—(यदि देव अनुकूल न होता) तो मित्रा पुरुषों के वचनों पर विश्वास करके सिद्धलेश की निम्न पुत्री को वत्सराज उदयन से विवाहित करने के लिए प्रार्थित किया गया है, वह अज्ञ के दृष्ट जाने से समुद्र में मग्न होने पर भी एक लहने के सहारे कैंठे लग जाती तथा ‘देना शान होता है स्वामी की प्रति सब तरफ से ही रहो है (जगति स्वामी का सब तरफ से स्वर्ण कट रही है)।’

परिन्यासमाह—

तद्विपत्तिः परिन्यासा—

यथा तत्रैव—

‘प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ देवे चेत्यं दत्तदस्तावत्सम्भे ।

सिद्धेर्भान्तिनास्ति सत्यं तथापि स्वैच्छाकारी भोत एवास्मि भर्तुः ॥’

इत्यनेन यौगन्धरायण स्वव्यापारदैवबोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः ।

बीजन्यास के वाहुल्यरूप परिकर की सिद्धि या परिष्कारवस्था (निष्पत्ति) परि-

१ रत्नावली के लक्ष्मी से जाने जाने अज्ञ के दृष्ट जाने पर, दृढ़ जाने की उत्तर प्रतिद्वारा देववत्सराज उसे यौगन्धरायण सागरिका के रूप में वासववत्सा की दासी बनाकर रख लेता है। वह इसे जानता है कि सागरिका ही रत्नावली है। तथा उसे पूर्ण विश्वास है उसकी वृक्षा पूर्ण होगी, क्योंकि देव उसके अनुकूल है।

न्यास कहलाती है। धीरे धीरे रूपक के पात्र को अपने चन्द्रबीज के विषय में और अधिक विश्वास हो जाता है। जब उसकी क्रिया की सिद्धि की घटना ही जानी है तो उसे परिन्यास करते हैं। जैसे योगम्भरायण की अरुने व्यापार तथा देव दोनों पर यह पूर्ण विश्वास है कि उसे सिद्धि अवश्य होगी, उनका बीज अवश्य निम्नन होगा। इसकी घटना यह निम्नपद के द्वारा देना है—

अपने स्वामी वत्सराम उदयन की उन्नति के लिये मैंने यह कार्य (रत्नावली मित्रारूप) शुरू कर दिया है, इस कार्य में देव भी मुझे इस तरह हाथ से सहाय दे रहा है (जि जराज के दूतों पर भी रत्नावली बचकर मेरे हाथ लग गई) और कार्य सिद्धि के विषय में भी मुझे कोई संदेह नहीं है, इतना होने पर भी मैं यह अनजानी बात (रत्नावली संयोग) करने के कारण स्वामी से छर रहा हूँ।

यहाँ योगम्भरायण की अपनी सिद्धि के प्रति पूर्ण विश्वास है। बीज खाल देने तथा उसके बाहुल्य के बाद निज तरह रूपक की सिद्धि तथा बीज-निम्नपि की व्याख्या होती है, उसी तरह रूपक के पात्र की भी। जब वह इसकी अभिव्यक्तता करता है, तो वह परिन्यास नामक नाट्यीय तत्व कहलाता है।

विलोभनमाह—

—गुणावयानं विलोभनम् ॥ २७ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘अस्तावास्तसमस्तमासि नभम्’ पारं प्रयाते रथा-

वास्थानीं समये समं नृपजनं सायंतने संपतन्।

संप्रत्येव सरोकड्युतिगुण पादास्तवाचेवितुं

प्रीत्युत्कर्षकृतो दशानुदयनस्वेन्दोरिवोदीक्षते ॥’

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्पराअष्टुणवर्णनया सागरिकायाः समायमहेत्वनुसारा-
पीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—

‘मन्यायस्तार्पणाम्भः प्लुतद्रुहरवलन्मन्दरश्वानघोरः

कोणपातेषु मार्जत्प्रलयधनघटान्योन्यसंप्रहृषणः ।

कृष्णाम्बोधाममूलं कुक्कुचनिभनोत्पातनिर्घातवात’

केनास्मरित्वहनाहप्रतिरुतितसज्जो दुन्दुभिरस्ताब्धितोऽयम् ॥’

इत्यादिना ‘यशोदुन्दुभि’ इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति ।

जब (फल से संवद्ध किसी वस्तु के) गुणों का वर्णन किया जाय तो उसे विलोभन कहते हैं। जोर भी अधिक किसी वस्तु के गुणों के कारण ही वह पर सुभ्र होता है, रूपक में भी नायकादि को फल ही और सुभ्र करने के लिए यदि उसके गुणों का आख्यायन करता है। नायकादि में इष्टप्राप्ति का लोभ उत्पन्न करने के कारण यह तथ्य ‘विलोभन’ कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में ही वैतालिक चन्द्रमा तथा वत्सराम के समान गुणों के वर्णन के द्वारा सागरिका का विलोभन करते हैं, जो समायम (उदयन रत्नावली मित्र) के हेतुरूप अनुराग बीज को सागरिका के हृदय में बसा रहे हैं। इस प्रकार निम्न पद्य में विलोभन पाया जाता है—

अन होने के समय समस्त शोभा (सैज) से घन्य ग्रहों के आकाश के पार चले जाने पर, सभी राजालोग श्याम के समय स्वप्नित होकर प्रीति तथा उन्नति के विधायक वत्सराज उदयन के, कमल की शोभा का अपहरण करने वाले, चरणों का सेवन करने के लिए राजमण्डप में वही तरह काट देख रहे हैं, जैसे प्रीति तथा उन्नति के विधायक, चन्द्रमा की, कमल की शोभा की छीन लेने वाली, किरणों की बाट देख रहे हों।

(यहाँ श्याम के समय भावी चन्द्रोदय के साथ ही साथ वत्सराज उदयन के गुणों का वर्णन किया गया है। 'पादान्' के दिल्ष्ट प्रयोग से अनुपातित उपमा अलंकार चन्द्र तथा उदयन के उपमानोपमेय भाव को व्यक्त करता है।)

अथवा, जैसे बेगीसहार नाटक में सुविष्टिर के द्वारा युद्ध शीवणा क्रिये जाने व रणदुन्दुभि के बजने से द्रौपदी का विलोमन किया गया है। निम्न पद्य में भीम ने रणदुन्दुभि के गुणों के आख्यान के द्वारा नाटक की नायिका द्रौपदी का विलोमन किया है।

यद् दुन्दुभि किसने बताया है, जिसकी आवाज हमारे सिंहनाद के समान है। इसका भीर तथा गभीर शब्द मथन के समय चंचल तथा धुम्धु समुद्र-जल से छिद्रों (गुहाओं) के भरने से शब्द करते हुए चंचल मंदराचल के गंभीर गर्जन के सदृश है, तथा जब एक साथ सैकड़ों ढक्काएँ तथा हजारों भेरियाँ बजाई जाती हैं तो ऐसी प्रचण्ड आवाज होती है जैसे गरजते हुए प्रलय के मेघ परस्पर टकरा रहे हों। यह रणदुन्दुभि कीरवों के प्रति उत्पन्न द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत है, तथा कुक्कुड के भावी सहार का अस्थानध्वजक प्रलयकालीन गंशावात है।

अथ युक्ति —

सप्रधारणमर्थानां युक्ति—

4-5

यथा रत्नावल्याम्—'मयापि चैनां देवीहस्ते सबहुमान निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम् । कथितं च मया यथा वाञ्छन्व' कथुकी सिंहलेश्वरमात्येन वसुभूतिना सह कथं कथमपि समुद्रादुत्थोर्यं कोशलोच्छिद्यत्ते गतस्य ह्यमण्वतो घटित ।' इत्यनेन सागरिकाया अन्त पुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद्वाभ्रव्यसिंहलेश्वरमात्ययो स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनरतेनावधारणायुक्तिरिति ।

जहाँ अर्थों का (पात्र के अभीष्ट तर्कों का) अवधारण या समर्थन किया जाय, वहाँ युक्ति होती है। जैसे अन्त पुर में स्थित सागरिका बड़े मजे से वत्सराज की दृष्टिपथ में आ सकती है, इस प्रयोजन वा समर्थन करने से तथा वाञ्छन् एव सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति के सागरिका (रत्नावली) तथा वत्सराज के समागम के प्रयोजन के समर्थन करने के कारण वहाँ युक्ति की व्यवस्था इन पंक्तियों में की गई है — मैंने भी सागरिका को सम्मानपूर्वक देवी वामदेवता के हाथों सौंप कर ठीक ही किया है। मैंने यह भी कह दिया है कि बधुरी वाञ्छन् सिंहलेश्वर के मंत्री वसुभूति के साथ शिमी तरह समुद्र में डूबने से बच गया है और कोशल के जीतने के लिए प्रस्थित सैनापति ह्यमण्वान् के साथ है। यहाँ 'मैंने यह ठीक ही किया है इस वाक्य से योगधारण ने अपने कार्य का समर्थन (अवधारण) किया है, अतः वहाँ युक्ति नामक नाट्यीय तत्त्व है।

अथ प्राप्ति —

—प्राप्तिः सुखानामः ।

यथा बेगीसहारे—'चेटी—भट्टिणि । परिकुविदो विष्णु कुमारो लक्ष्मीयदि ।'
(भक्ति । परिकुविद इव कुमारो लक्ष्यते ।) इत्युपमने 'भीम —

मथमाभि कौरवशतं समरे न धीमदुशासनस्य क्षिप्रं न विमानुरस्तः ।

संचूर्णयामि गदया न युषोऽधनोरु संधिं करोतु भवतां वृत्तिः पथेन ॥

द्रौपदी—(श्रुत्वा सहर्षम्) पाप धस्तुदपुत्रं च एदं वधर्षं ता पुनो पुनो मथ ।
(नाथ । श्रुत्वापूर्वं खल्वेतद्वचनं तद्गुणः पुनर्मथ) इत्यनेन भीमकोपवीरान्वयेनैव सुख-
प्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति ।

यथा च रत्नावल्याम्—‘सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिपूर्य एतृहं पश्यन्ती)
धर्मं धर्मं सो राधा सद्वयो जस्त इहं सादेण दिष्णा ता परपेसणदसिदं मे जीविदं
एतस्य दंसणेण बहुमधं संजादम् ।’ (कथमर्थं स राजोदयनो यस्याहं तातेन दत्ता तत्पर-
प्रेक्षणद्वयितं मे जीमितमेतरय दर्शनेन बहुमत्तं संजातम्) इति सागरिकायाः सुखागमा-
ख्यातिरिति ।

यहाँ (फल की प्राप्ति की आशा में)-सुख का आगम हो, यहाँ प्राप्ति नामक
सुखान्त होता है। जैसे बेनीसदार नाटक के प्रथम अंक में जब सेविका द्रौपदी को यह
खतना देती है कि ‘रामाग्नि, कुमार भीमसेन कुल से नगर आवे है,’ और जब भीम निम्न
शक्ति की हुनाता है—

क्षोभ के कारण मैं तो कौरवों को कुल से न भूष दूँ; दुःशासन की छाती से खून को न
पीऊँ; सुयोधन की दोनों जीवों को गदा से न लौटूँ ? कुन्दारे राजा सुभिक्षि विती (भी)
यहाँ पर (कौरवों से) सधि करते रहें; (मुझे इसकी कोरे पर्वत नदी) ।

तब द्रौपदी इर्ष के साथ कहती है—‘रामाग्नि, ऐसा वचन पहले कभी नहीं सुना, रस-
त्रिये फिर से (बार बार) कहिए ।’ यहाँ भीम के क्षोभ के संशय के कारण द्रौपदी को सुखप्राप्ति
हीतो है (रसत्रिये कि भीम उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर उसकी सुखी बेनी की भवश्य आवंश
करेगा), अतः प्राप्ति मानी गई है ।

कथवा, जैसे रत्नावली नाटिका में वैतालिकों की उक्ति सुनकर सागरिका इर्ष के साथ
शब्द उभर सरसद इति से देखती हुई कहती है—‘यवा यहाँ पर राजा उरदन है, जिसके शिप
वितानी ने मुझे दे दिया है; पर भी दूसरे लोगों की सेवा करने से कञ्चित् मेरा जीवन इसके
दर्शन से सफल हो गया है ।’ यहाँ सागरिका को सुख की प्राप्ति हुई है, अतः यहाँ भी प्राप्ति है।

अथ समाधानम्—

धीजागमः समाधानम्—

यथा राजाख्याम्—‘वासवदत्ता—तेण हि उभयोहि मे उपभरणार्हः । (तिन सुप-
म्य म उपकरणामि ।) सागरिका—भद्रिणि एदं सधं सज्जम् । (भद्रि । एतत्सर्वं
सज्जम् ।) वासवदत्ता—(निरुप्यात्मगतम्) अहो वनादो परिमणस्य जस्त एव
दंसणपहादो पभतेण ररतोअदि तस्य जजेण कट्टं दिदिठगोभरं काभदा, मोडु एव
दाव । (प्रजातम्) इहे सागरिए कीस तुमं अथ पराहीणे परिचये मभसुसुये छारिधं
भोगुण इहागदा ता तदि ज्ये मच्छ । (‘महो प्रजादः परिजनस्य यस्याय दर्शनपदा-
रमलेन रक्षते तस्याय कथं दृष्टियोररमागता, मवु एवं तात । येति सापरिके । कथं
रमय पराथोने परिकने मदनोसये छारिकी सुवसेहागता तस्मात्तथैव मच्छ ।’) इत्यु-
पक्रमे ‘सागरिका—(स्वगतम्) ‘सारिका दाव मए सुर्षगदाए ह्ये सनपिवा पेविषुं

च मे कुतूहल ता अत्रिष्यन्मा वेरिष्यस्यन् ।' ('सागरिका साधनमया मुर्धगताया हस्ते सम-
पिना प्रेम्णितुं च मे कुतूहलं तदलक्षिता प्रेम्णिये ।') इत्यनेन । वाचनदत्ताया रत्नावली-
वत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारासागरिकाया मुर्धगतापर्येमानक्षितश्रेष्ठेण च वत्सराजप्रमा-
णमहेतोर्बीजस्योपादानासमाधानमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम—भवन्तु पाचानराजतनये ध्युतामचिरेणैव कलेन

('चण्डकूजप्रमितचण्डकूजदाभिपातमचूर्णिते द्युगनस्य सुयोधनस्य ।

रत्यानावनद्धयनशोणितशोणपागिहस्तंघडिष्यति कचांस्तत्र देवि भीम ॥'

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानासमाधानम् ।

बीज का उपादान; फिर से बीज का युक्ति के द्वारा व्यवस्थापन समाधान कहलाता है । जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका वचन को देकर भी इच्छा से मदनकृष्ण के स्थान पर आ जाती है, उसकी यह इच्छा बीजागम के रूप में इन पंक्तियों से स्पष्ट है ।

वासवदत्ता—तो पूजासामग्री मेरे पास ल आओ ।

सागरिका—रत्नामिनि, यह सब तैयार है ।

वासवदत्ता (देखकर अपने आप)—दासियों का प्रवाद होता है, गिहस्त्री (राधा की) दृष्टि से बचाने के लिये हम सब प्रयत्न से इनकी रक्षा करते हैं, उसी के दृष्टिपथ में (यह) कैसे आ रही है । ठीक है मैं मामले को यों संभाल लूंगी । (प्रकट) अरी सागरिके, सब दासियों के दूमरे काम में संलग्न होने पर सागरिका को छोड़कर तुम यहाँ मदनोत्सव में कैसे आ गईं ! इसलिये यहाँ चली चो ।

सागरिका—(स्वयं) मैना तो मैने सुमंगला के हाथों सौंर रखती है, तथा वत्सराज को देखने की मेरी उत्सुकता है, इसलिये मैं छिपकर देखूंगी ।

यहाँ एक ओर वासवदत्ता रत्नावली तथा वत्सराज के परस्पर दर्शन का प्रतीकार करती है तथा दूसरी ओर सागरिका मैना की सुमंगला के हाथों सौंर कर छिपकर उसे (राधा की) देखती है । यहाँ रत्नावली (सागरिका) की इस चेष्टा में वत्सराजसमागम के हेतुरूप बीज का उपादान किया गया है, अतः यहाँ समाधान नामक मुद्राग है ।

अथवा, जैसे वेणीसंहार नाटक में निम्न उक्ति के द्वारा शौण्डी को आश्रय करता हुआ भीम कौरवसंहार की सूचना देकर बीज का समाधान कर रहा है ।

'ठीक है । देवि पाचालराजपुत्रि सुनो, भोड़े ही दिनों में चंचल हाथों से तुमहें धुँरे गरा के प्रहारों से दूरी जावों वाले दुर्वोधन के पनेचिकने खून से रंगे हाथों वाला भीम पुग्दारे वालों को सँभरेगा ।'

यहाँ वेणीसंहार के कारण भीम के क्रोध (बीज) का बार बार उपादान हुआ है, अतः समाधान है । समाधान के द्वारा पात्र दूमरे लोगों की हम बात का विश्वास दिलाता है कि कलप्राप्ति अवश्य होगी ।

अथ विधानम्—

—विधानं सुखदुःखहृत् ॥ २८ ॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—'माधव—

'मान्द्या मुहुर्वक्षितकधरमानवस

पादतन्त्ररातपप्रनिर्भं पहन्त्या ।

द्विषोऽमृतो न च विषेण च पद्मलाक्ष्या
 गाढं निखल इव मे हृदये कटाक्षः ॥
 यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्वभाष—
 मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवामृत ।
 सत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीय—
 मङ्गारमुष्मितमिव व्यथमानमास्ते ॥'

एतन्नेन मालत्यवलोकनस्यानुप्रासस्य समागमहेतोर्भाषानुपुण्येनैव भाववस्य सुखदुःखकारित्वाद्भिधानमिति ।

यथा च वेणीसहारे—'द्वीपदी—गाप मुणोवि तुम्मेहि अहं आभ्रच्छिष्य समासा-
 सिद्ध्या । ('गाप पुनरपि स्वयाहमागत्य समाधातयितव्या ।') भीम—ननु पाञ्चाल-
 राजतनये किमद्याप्यलोकशोचनया ।

'भूय परिभ्रमन्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
 अनि शेषितकौरव्यं न परमसि वृकोदरम् ॥'

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्भिधानमिति ।

जहाँ (भाषकादि के हृदय में) सुख तथा दुःख पैदा हो, यहाँ विधान कहलाता है । कल्याणि की इच्छा हुए तथा दुःख का भाषकादि में रह रहकर संचार किया करती है, इसी को विधान के नाम से पुकारा जाता है । जैसे मालतीभावक नाटक में मालती को देखने के बाद भाषक सुख व दुःख का अनुभव करता है, इसका यना एवं पत्तों से लगवा है ।

भाषक—देहे मुझे दुःख वृन्त वाले काल के समान, देवी गरदन वाले उस मुख का बदन करती हुई, दौमस्तुत अँकों वाली जाती हुई मालती ने अमृत और विष में (एक साथ) डुगा हुआ कण्ठ (स्वी तीर) जैसे मेरे हृदय में बहुत गहरा गया दिया है ।

उस मालती के नगरीक होने पर मानो अमृत के सेवन से जो भैरा हृदय विस्मय के कारण स्फुरन हो गया था, तथा उसके दुमरे भावों का अस्त हो गया था, एव वद आनन्द से मन्द गति वाला हो गया था, बही भैरा हृदय अब (उसके अभाव में) इस तरह तड़प रहा है, मानो अंगारों का स्पर्श बर रहा हो ।

यहाँ मालती तथा भाषक के भाषी अनुराग तथा समागम का हेतु भाषकद्वारा मालतीदर्शन बीज के अनुरूप होने के कारण भाषक में सुख तथा दुःख को उत्पन्न कर रहा है, अतः यहाँ विधान नामक उपक्रम है ।

अथवा जैसे वेणीसहार में संवागमनित सुख तथा दुःख का वर्णन करके भीम ने विधान का संनिवेश किया है ।

द्वीपदी—नाथ, तुम फिर भी आकर मुझे आस्तामन दिखा जाला ।

भीम—भरे पाञ्चालराजपुत्रि, अब भी दूढे आरचागनी की क्या जरूरत है । हार को राजनि तथा लज्जा से रहित तुम वाले वृीरद की कौरवों की निरीश न करने तक तुम फिर से न देखोगी ।

अथ परिभाषना— 10/5/56

परिभाषोऽनुवावेशः—

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—(रत्ना सविस्मयम्) कथं वयवको जनेन अणतो
 पूर्वं पश्चिच्छेदि । सा अरंवि दय दिठद जनेव नं पूजयस्सम् । ('अयं प्रायश एवान्द्रः

पूर्णां प्रतीक्षते । तन् अहमपीदं नियतैर्न पूजयिष्यामि ।') इत्यनेन वरसराजस्यानङ्ग-
तवापह्वादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाप्रदणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेशः परिभाषना ।

यथा च वेणोसंहारे—द्रौपदी— किं वाणि एवो पलमज्जलघररथनिदमंसलो खणे
खणे समरदुन्दुभो ताडीमदि ।' ('किमिदानीमेव प्रलयजलघररथनितमांसलः क्षणे
क्षणे समरदुन्दुभिस्ताप्यते') इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिष्यनेर्विस्मयरत्तावेशाद्द्रौपद्या-
परिभाषना ।

जहाँ अद्भुत आवेश हो अर्थात् आश्चर्य की भावना पात्र में पाई जाती हो, वहाँ
परिभाव या परिभाषना होती है । जैसे रत्नावली नाटिका में मदनपूजा के समय स्वयं
उदयन की उपस्थिति देखकर द्विपकर देखनी हुई सागरिका आश्चर्य के साथ कहती है—'अरे,
क्या प्रत्यक्ष कामदेव ही पूजा प्रदण कर रहा है ? तो मैं भी यहीं से इसकी पूजा करूँगी ।'
यहाँ वत्सराज को कामदेव बनाकर उसकी स्वयं की सच्चा वा निराकरण (अपह्वन) किया
गया है तथा प्रत्यक्ष भनग के द्वारा पूजाप्रदण अलौकिक है इसलिये सागरिका की उक्ति में
अभिव्यक्ति अद्भुत रस के आवेश के कारण यहाँ 'परिभाषना' नामक भूषण है ।

अथवा जैसे वेणीसंहार में समरदुन्दुभि की लोकोत्तर ध्वनि को सुनकर द्रौपदी में अद्भुत
रस का आवेश पाया जाता है, जिसकी व्यञ्जना द्रौपदी की इन उक्ति हो रही है—'इत समय
प्रलय की मेघध्वनि के समान गभीर ध्वनि थाता यह समर दुन्दुभि क्षण-क्षणमें क्यों
बजाया जा रहा है ?'

अयोभेद—

—उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा रत्नावल्या वत्सराजस्य कुसुमायुधभ्यपदेशगूढस्यै तालिकवचसा

'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन वीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः ।

यथा च वेणीसंहारे—'आर्य किमिदानीमध्यवसति गुह' ।' इत्युपक्रमे ('नेपथ्ये')

यत्सस्यमत्तभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीवृत्तं

यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।

सहपूतारणिसंभृतं नृपसुताकेराम्वराकर्षणैः

क्रोधज्योतिरिदं महत्तु रुचने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥

भीम—(सहर्षम्) जृम्भतां जृम्भतां संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः ।' इत्य-
नेन ह्यस्य द्रौपदीकेरासंभवनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्भेदनादुद्भेदः ।

जहाँ अब तक छिपे हुए (गूढ) चीज को प्रकट कर दिया जाय अर्थात् गूढ का
भेदन हो, उसे उद्भेद कहते हैं । (पहले की स्थिति तक बीज का पोषण हो रहा है,
अनुकूल भूमि, जल तथा राध को पाकर बीज यहाँ फूट पड़ना है—कवि बीज का सकेत तो
पहले ही कर देता है, किन्तु बीज के साधनादि वा अवन्युत्पन्न, सख्यः रसी के अतर्गत होता है ।)

जैसे रत्नावली में कुसुमायुध के व्याज से वत्सराज की वास्तविक सच्चा द्विती थी, किन्तु
वैतालिक की उक्ति में 'उदयन' शब्द के द्वारा उस गूढ पक्षु का भेदन होने से यह उद्भेद है ।
यह गूढभेद बीज का ही सहायक वा साधन है ।

अथवा जैसे 'हे आर्य अब बड़े भारी क्या करना चाहेंगे'—सहदेव के यह पूछने पर ही,
नेपथ्य से निम्न पद्य सुनाई देता है—

अपने सत्यत्व के भंग से उठने वाले सुषिष्ठिर ने जिस-क्रोध की मन्दा कर लिया था, कुल की शान्ति की इच्छा वाले शान्तिप्रिय राजा ने जिस क्रोध की भुलाने की भी इच्छा की, सुषिष्ठिर की वही क्रोधाग्नि, जो श्रीयरि के बालों व बखों के खींचने से, गुरूको अग्नि (अश-दम्भ) से उत्पन्न हुई है, कीरवों के घने (बंधे) अंगुल में जौड़ रही है ।

इसे धुनकर इर्ष के साथ भीम कहता है—'पूज्य ज्ञाता की क्रोधाग्नि अब बेरोकटोक फैले, बेरोकटोक फैले ।' यहाँ श्रीयरि के बालों के बंधे जाने के कारणभूत सुषिष्ठिरक्रोध का उद्भेदा किया गया है, जो अब तक गूँड़ ही रहा है ।

अथ करणम्—

करणं प्रकृतारम्भः—

यथा रत्नावश्याम्—'यमो दे कुतुमाउद ता प्रमोददस्तणो मे भविस्त्वसि ति । दिष्टं च वेदितं दर्शं ता जाव न कोनि सं पेक्षसि ता यमिस्त्वम् ।' (नमस्ते कुतुमासुध-वदमोपदर्शानो मे भविष्यस्यति । इष्टं यत्प्रेक्षितव्यं तद्यथावत् कोऽपि मां प्रेषते तद्वि-प्यामि ।) इत्यनेनानन्तराद्यप्रकृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भकारणमिति ।

यथा च वेणीसंहारे—'तत्पश्चालि गच्छामो यमिदानो कुतुमुलक्षयाम इति । सह-देवः—'धर्म्यं । गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमातुरूपमापरिहृतम् ।' इत्यनेनानन्-तराद्यप्रस्तुतमानस्यप्रामारम्भकारणमिति । सर्वत्र चेदेहेशप्रतिनिर्देशयैषम्यं क्रियाक्रम-स्याप्रिवक्षितत्वादिति ।

रूपक की क्रिया के अनुरूप प्रकृत कार्य का यहाँ आरम्भ हो, वहाँ करण होता है । (करण के द्वारा भावी अंक के कृत् की व्यञ्जना भी करार जाती है) जैसे रत्नावली में, 'हे कामदेव, मेरे लिए सफलदर्शन करोमि । जो मुझे देखना चाहिये था, वह देस लिया । अब मैं इस संघ से चली जाऊँ कि मुझे कोई न देस पावे ।' राजावली की इस उक्ति के द्वारा भावी अंक में वर्णित निर्विघ्न-दर्शन-प्रवस के आरम्भ की व्यञ्जना करार गई है, अतः करण नामक सुत्राङ्क है ।

और जैसे वेणीसंहार में—(भीम) 'तौ श्रीयरि, अब हम कीरवों के नाश के लिए जा रहे हैं ।' (सहदेव) 'आनं, अब तुम्हें वही आशा पाकर पराक्रम के योग्य कार्य करने की चले ।' इस कथनोपकरण के द्वारा भावी अंक में प्रस्तुतमान मुद्र का आरम्भ व्यञ्जित है, अतः करण है । यहाँ भीम व सहदेव दोनों के भावनों में सभी जगत् (दोनों स्वर्गों पर) उदेष तथा विषेध के हान में स्थितिक्रम पाया जाता है । वाच्य में पहले उदेष (कुतुमुलक्षयाम; विक्रमातुरूपमापरिहृतम्) का प्रयोग होना चाहिये, बाद में विषेधकृत किया (गच्छामः) वा । निम्न इस वाच्य में पहले क्रिया (गच्छामः) का प्रयोग किया गया है, बाद में उदेष का, यह दोष नजर आता है—इस शब्दा के उपस्थित होने पर रत्ना निराकरण करते हुए सुविचार पत्रिक कहते हैं कि यहाँ 'गच्छामः' क्रिया कति या विरहित न होकर, 'कुतुमुलक्षय' या 'विक्रमातुरूपमापरण' ही विरहित है, अतः वही विषेध होने के कारण यहाँ बाद में प्रयुक्त हुआ है ।

अथ भेदः—

—भेदः प्रोत्साहनर मता ॥ २६ ॥

यथा वेणीसंहारे—'वाय । मा वसु अम्यतेनोपरिभपुर्हीनदकोवा अमपेविचद-सरीस परिभमिस्वय अरी अन्पमस्यंभरणोयां शुभीयन्ति तिववसां ।' ('म.व । ता

छलु वाहतेनीपरिगवोहीपितकोवा अनपेक्षितशरीरा परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसचरणी
यानि धूयन्ते रिपुबलानि ।) भीम — अथि सुशत्रिये ।

अन्योन्यास्फ़लमिन्द्रिपवपिरवसासान्द्रमस्तिष्वपद्

ममाना स्यन्दनानानुपरिकृतपद् यासविक्रान्तपत्नी ।

स्त्रीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिशिवात्स्यनृत्यत्कवन्धे

सहप्रामैर्धर्षवान्त पयसि विचरितु पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥

हयनेन विपण्याया द्रौपद्या ऋघोरसाहवीक्रान्तुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद्भेद इति ।

एतानि च द्वादशमुखानि वीशरम्भयोत्कानि साभात्पारम्पर्येण वा विधेयानि ।

एतेषामुपज्ञेपरिकरपरिन्वासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यंभावितेति ।

जहाँ प्रोत्साहन पाया जाय, अर्थात् पात्र को बीज के प्रति प्रोत्साहित किया जाय,
वहाँ भेद होता है ।

जैसे बेनीसहार के निम्न कथनोपबन्धन में क्रोध उत्साह रूप बीज के अनु-रूप वचन के
द्वारा भीम विपण्य द्रौपदी को प्रोत्साहित करता है। अतः वहाँ भेद नामक मुद्राज्ञ होगा ।

द्रौपदी—नाथ यशसेनी के पराम्भ से उदीप्त वीर्य वाले होकर, अपने शरीर को भूल
कर युद्ध में न लड़ना, क्योंकि शत्रुओं की सेना सावधानी से घूमे जाने योग्य है ऐसा
सुना जाता है ।

भीम—अरी सुशत्रिये । पाण्डव के पुत्र उस समामरूपी समुद्र के जल के बीच घूमने में
कुशल हैं, जिसमें आपल के टकराने से दूटे हुए हाथियों के खून, चर्बी और मत्सक के सान्द्र
बीज में मग्न रणों के ऊपर होकर पत्नी सेना पार ही रही हो तथा जिसमें जीमर कर खून
पी पीकर पानगोष्ठी में चिल्लाती हुई अमङ्गल शृगालियों के शब्दरूपी तुर्य की ताल पर
कवच नाच रहे हों ।

युद्ध चि के ये १२ अङ्ग बीज नामक अर्धप्रकृति तथा आरम्भ नामक अवस्था के व्यञ्जक
है इनका संघातन साक्षात् रूप से या परम्परा से नाटक वा रूपक में किया जाना चाहिए ।
इन बाहर में से भी उपश्लेष, परिकर, परिन्वास युक्ति, उद्भेद व समाधान इन अङ्गों का
मुखसंधि में उपदान सर्वथा आवश्यक है ।

अथ साज्ञ प्रतिमुखसंधिमाह—

लक्ष्मणलक्ष्मणतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुख भवेत् ।

विन्दुप्रयज्ञानुगमाद्भान्यस्य त्रयोदश ॥ ३० ॥

तस्य बीजस्य किञ्चिन्नद्य किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेद—प्रकाशन तत्प्रतिमुखम् । यथा
रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के बत्सरराजसागरिकायमायमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाद्भोपक्षितस्य
सुसन्नताविदूषकाभ्यां हायमानतया किञ्चलक्ष्यस्य वासयदक्षया च चित्रफनकवृत्तात्तेन
किञ्चिदुत्पीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेद प्रतिमुखसंधिरिति ।

बेनीसहारऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिन्नद्यस्य ऋणाशयवाचालक्ष्यस्य
भोषबीजस्याद्भेद ।

सहस्रायगण सवाधव सहमित्र समुत् सद्गनुजम् ।

स्वबलेन निहन्ति सयुगे न बिरास्पाण्डसुत मुषोधनम् ॥

इत्यादिभिः—

‘दुःशासनस्य हृदयक्षतगाम्युपाने
दुर्वोधनस्य च यथा गदयोऽभङ्गे ।
तेजस्विना समरगूर्धनि पाण्डवानां
श्रेया जयद्रथवपेऽपि तथा प्रतिष्ठा ॥’
इत्येवमादिभिश्चोद्देशः प्रतिमुखसंधिरिति ।

जय प्रसन्नोपात्त प्रतिमुख संधि का अङ्गों सहित वर्णन करते हैं—उस बीज का कुछ-कुछ दिखलाई देना और कुछ दिखलाई न देना और इस लक्ष्यालक्ष्य रूप में फूट पड़ना (उद्विग्न होना) प्रतिमुख संधि का विषय है। इस संधि में विन्दु नामक अर्धप्रकृति तथा प्रधान नामक अक्षरधा का मिश्रण होता है। इसके तेरह अङ्ग होते हैं। (मुखसंधि में बीज बीया जाता है, उसे उचित वातावरण में पोषण मिलता है। इस पोषण के द्वारा प्रतिमुख संधि में आकर नए फूटने लगता है, किन्तु जिस तरह पहले पहले निकलता बीयाङ्कुर कुछ-कुछ अस्पष्ट अवस्था में होता है, ठीक वैसे बीज का अङ्कुर शीघ्र अस्पष्टरूप में प्रतिमुख संधि में उद्विग्न होता है।)

जैसे रमावली के प्रथम अङ्क में यामराज व सागरिका के (मात्री) रामागम के देतुरूप गिम अनुरागवीज की बीया गया है, उसे दूसरे अङ्क में सुसयता व विदूषक जान जाते हैं, इसलिये नए कुछ-कुछ प्रगट हो जाता है, तथा निजकलकमपात्त के कारण वासवदत्ता के द्वारा कुछ-कुछ गृहीत हो जाता है। इस प्रकार बीज के अङ्कुर का दृश्य और कुछ अदृश्य रूप में उद्विग्न होना प्रतिमुखसंधि है।

वेणीसंहार में भी युधिष्ठिर वा जोषबीज भीष्मादि के साथ से अदृश्य हो गया है, किन्तु अभी वर्ण आदि के पथ के न होने से अलक्ष्य है। इस लक्ष्यालक्ष्य रूप में उसका उद्देश प्रतिमुख भी व्यक्तवा करता है।

‘पाण्डु का पुत्र युधिष्ठिर मदी जस्दी मृत्वां, शान्धर्षी, निमी, पुषी तथा अयुजो से युक्त सुपोषन को अपनी सेना के द्वारा युद्ध में (निधय हो) मार खलेगा ॥’ (इत्यादि वाक्यों के द्वारा, जिनसे बीज-युधिष्ठिर पोष—अदृश्य हो रहा है), तथा, दुर्वोधन की भिन्न उक्ति के द्वारा यहाँ दुर्वोधन का सादृश बीज को अलक्ष्य रख रहा है, प्रतिमुखसंधि अभिव्यक्ति है—

युद्धस्थल में ही गई तैजस्वी पाण्डवों की प्रतिष्ठा दुःशासन के हृदय के मूल की धीने के विषय में जैसी थी, तथा वरर से दुर्वोधन की जीव को लोहने के विषय में जैसी थी, वैसे ही अदृश्य के क्षण के विषय में समझो जानी चाहिये।

(भाव यह है वैसे पाण्डव न ही दुःशासन का ही मूल धी मके, न वेही जीये ही गया से हीइ सके वैसे ही अदृश्य को भी न मार सके, जगधी प्रतिष्ठा धुरी न हो सकेगी। यहाँ दुर्वोधन पाण्डवों के लिये बहुत ‘तेजस्वी’ विधेया के द्वारा उनकी अदृशकता की छिठी उजागा हुआ, तथा ऊँचे नीचा वास्तुवादशी बताता हुआ व्यंग्य पत्र रहा है।)

अस्य च पूर्वाहोपशितविन्दुरूपवीजप्रवर्तनार्वाहुगत्तानि त्रयोदशाहानि भवन्ति, तान्माह—

चिह्नानाम् परिसर्पंथं विधृतं श्रामतमर्णो ।

१. यह वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में दुर्वोधन के अङ्गुली की उक्ति है, जिसे विधान हो गया है कि युधिष्ठिर अदृश्य विभवो होगा।

नर्मद्युतिः प्रगमन निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥

वज्र पुष्पमुपन्यासो घर्णसंहार इत्यपि ।

4/9/57

पहले अंक में जिस बीज को ढाल दिया है, जो बिन्दु के रूप में प्रकटित होने वाला है, उस बीज तथा प्रयत्न से अनुगत हस्त प्रतिमुद्यत्तपि के जो तेरह अक्ष होते हैं उनका वर्णन करते हैं—विलास, परिसर्प, विधूत, क्षम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा घर्णसंहार ।

ययोर्देश लक्षणमाह—

रत्येहोहा विलासः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—सागरिका—द्विष्यथ प्रसीद प्रसीद किं इमिणा आम्नासमेत फलेण दुल्लभजनपत्यनाशुचन्दणे । ('हृदय, प्रसीद प्रसीद किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनाशुचन्देन । ') इत्युपक्रमे 'तथापि आलेखगद त अग कदुष्य अथासमी हिर्द करिस्वम्, तथापि तरस गतिर्य अण्णो दसणोवाउत्ति ।' ('तथाप्यालेखगदं त जनें कृत्वा यथासमीहित करिष्यामि । तथापि तस्य नास्त्वन्यो दर्शानोपाय ।') इत्येतैर्वत्स राजसमागमरतिं विप्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायारचेष्टाप्रयत्नोऽनुरागवीजानुगतो विलास इति ।

उहाँ का नाम के साथ-साथ लक्षण करते हैं—

रति की इच्छा को विलास अङ्ग कहते हैं । (यहाँ नायक नायिका में परस्पर एक दूसरे के प्रति रति का इच्छा व्यक्त की गई हो यहाँ विलास होगा) जैसे रत्नावली में सागरिका वत्सराजसमागमरति को इच्छा को लेकर चित्रादि के द्वारा ही उसे प्राप्त करने की चेष्टा करती करती है । यह चेष्टा प्रयत्न की अवस्था से संबद्ध है तथा यहाँ रत्नावली का अनुरागरूपी बीज साथ साथ व्यञ्जित हो रहा है, अतः रति को इच्छा से यहाँ विलास है । इसकी व्यञ्जना सागरिका की निम्न उक्ति से होती है—'हृदय, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो, दुर्लभजन (वत्सराज उदयन) को इस इच्छा के आग्रह से क्या लाभ, जिसका फल केवल दुःख ही है—अर्थात् जिस वत्सराज उदयन को कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसकी इच्छा करना केवल दुःख के ही लिये है ।' फिर भी उसे चित्रित कर इच्छानुसार अवश्य करूँगी, फिर भी उसे देखने का कौर दूसरा उपाय नहीं है ।'

अथ परिसर्प—

—दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्पः—

यथा वेणोसंहारे—कद्युकी—योऽयनुपतेषु बलवसु अथवा किं बलवस्तु वासुदेव सहामेध्वरिष्वयाप्य त-पुरसुखमनुभवति इदमपरमयथातथ स्वामिन—

(१) 'प्रगमणम्' इत्यपि पाठ । (२) 'रत्येहोहा' इत्यपि पाठ ।

१ सस्कृत टीकाकार छदशनाचार्य 'रत्येहोहा' का अर्थ 'दूरतार्वच्छा' करते हैं, विदु रति का अर्थ सामान्यनिष्ठ ही लेना ठीक होगा, भारत के प्रकरण में विशेषनिष्ठ नहीं यह हमारा मत है । जैसे बालपावन मैथुन पर तरह के मानते हैं—दर्शनादि भी । केचिन लौकिक अर्थ में भारत केवल एक ही प्रकार का मैथुन है ।

‘आशास्यप्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-

स्तायासास्य न पाण्डुसनुभिरर्यं भीम शरै शायित ।

श्रीकानेकधनुर्परारिभिरियथाशान्तस्य वैकाकिनो

बाह्वस्त्रायिमरातिलूनवनुप प्रीतोऽभिमन्योर्वैधातु ॥’

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नदृश्यं यत्नवता पाण्डवाना बासुदेवसहा
पाणो घृह्णामलक्षणमिन्दुवीजप्रयत्नान्त्येन कञ्जुविमुञ्जेन बीजमुत्सर्पणं परितर्प इति ।

यथा च रत्नावल्या सारिकावन्धनयिनदर्शनान्ध्यां सागरिकाजुरावबोवस्य दृष्टमदृश्य
‘धातौ छातौ इत्यादिना वत्सराजैनानुसरणात्परिसरं इति ।

जघ घीज एक याद दृष्ट हो गया हो, किन्तु फिर दिखाई देकर नष्ट हो जाय, और
जसकी खोज वी जाय, तो वह खोज परिसरपं कहलाती है ।

जैसे वेणीसहर में द्वितीय अंक में भीष्मादि के मरण से बीज दृष्ट हो गया था, किन्तु
अभिमन्यु के यश से वह फिर से नष्ट हो गया । विन्दु कृष्ण की सहायता से युद्ध, बलवाद्
पाण्डवों के लुद्धरूप विन्दु, बीज तथा प्रबल के सम्पर्क से कंडुसो के मुख से निम्न यश में फिर
से बीज की खोज हो गई है, इसलिये यहाँ परितर्प नामक प्रतिसूत्रांग मानना हीना—

जिन मुनि परशुराम का बरहु शस्त्रमरण के समय से कभी किसी के भागे कुण्ठित न
हुवा, वन्दी परशुराम को बंधने वाले भीष्म या पाण्डुपुत्रों के द्वारा बाणों से घिरा देना इस
दुर्घोषन को दुष्टी न बना सता । यहाँ दुर्घोषन अनेकों शीघ्र धनुर्परं शत्रुओं के विषय से यके
इय, शत्रुओं के द्वारा छाटे गये धनुष वाले, कहेले बाह्वं अभिमन्यु के बारे जाने से प्रसन्न
हो रहा है ।

और जैसे रत्नावली ने, गीता के बचन तथा यिनदर्शन के द्वारा सागरिका को भगुराम
बीज क्रम से घात तथा नष्ट हो गया है, वही वी ‘वद नर्ही है, वह वहाँ है’ पदकर वत्सराज
के द्वारा खोज की जाती है, अत यहाँ परितर्प अह है ।

अथ विभूतम्—

—विभूतं स्याद्वरतिः—

यथा रत्नावल्याम्—‘सागरिका—सहि अहिंशं मे घतापो बापेदि । (‘वसि ।
अभिर्कं मे घतापो बापते ।’) (सुसहता द्योषिकतो नखिसीदलानि घृणालिकाबाजी-
यास्या अर्जुनं ददाति) सागरिका—(‘तानि ज्ञेयन्तां) साहि । अबलौदि एदादिकं अस्मारणे
अस्त्राणं अघातेति सं भगानि—(‘सधि । अपनयैतानि किमकारण आत्मानमापास-
यति । ननु भगानि—)

‘दुर्लभजनतनुसगो सज्जा शुर्वी परवत्त आत्मा ।

विश्वसहि विसम प्रेम मरण सरण अवर एकाद् ॥’

(दुर्लभजनतनुसगो सज्जा शुर्वी परवत्त आत्मा ।

विश्वसहि विसम प्रेम मरण शरणं केवलमेकम् ॥)

इत्यनेन सागरिकाया भीमान्त्येन शीतोपचारविभूतवादिभूतम् ।
यथा च वेणीसंहारे मालुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्घोषनस्वामिदृशद्वया पाण्डव-
यिनदराद्वया वा द्योविभूतनमिति ।

जहाँ बापि दो वहाँ विभूत नामक अह होता है । (अरि से वह तापर्व है कि

बीज के नष्ट होने पर पाप उसमें दुर्लिन होकर लक्ष्य को अलक्ष्य मान कर उसकी रक्षा छोड़ देता है, इसी को विभूत कहते हैं अर्थात् रति का विभूतन कर दिया गया हो।) जैसे रत्नावली में सागरिका का अनुराग बीज भरति के कारण विभूत कर दिया गया है। कामशोकासक्त सागरिका अपने सखी सुसगना से कहती है—'सखि सुग बड़ी ताप-पीडा हो रही है।' (सुसगना बावली से कमल के पत्तों और मृणालों की शंकर इसके अङ्ग पर रखती है)। सागरिका—(उन्हें रेंवती हुई) सखि, उन्हें हटाके, स्पर्ध में ही क्यों अपने आपकी तकलीफ दे रही है। मैं मच कहती हूँ—हे प्रियसखि, दुर्लभ व्यक्ति के प्रति प्रेम, गहरी लाज, पराधीन आत्मा, (असु प्रचार की स्थिति में) प्रेम विषम है, ठीक नहीं है, अब तो केवल एक मरना ही (मेरी) राग है। यहाँ सागरिका ने बीजाचय से शीतोपचार को हटा दिया है, अतः यह विभूत है।

और जैसे बेनीसहार में दूसरे अङ्क में बुरा स्वप्न देखने पर दुर्वोधन की पत्नी भानुमती की रति इसलिये विभूत हो जाती है कि या तो वह दुर्वोधन के अनिष्ट से आशंकित हो जाती है, या पाण्डवों के विजय की आशा से मयमौल हो उठती है।

अथ राम —

—तच्छुम। राम।

। तस्या अरतेक्षपशम शमो यथा रत्नावल्याम्—रामा—वयस्य । अनया त्विच्छि तोऽहमिति वरसत्वमारमन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि ।' इति प्रकमे 'सागरिका— (आरमगतम्) हिश्रभ । समस्तस मनोरहोवि दे एत्तिअ भूमिं ण गदो ।' ('हृदय । समाश्रुतिहि मनोरहोऽपि त एवावतीभूमिं न गत ।') इति किंचिदरम्युपरामाच्छुम इति ।

जब उस भरति की शान्ति हो जाती है, घड़ राम नामक प्रतिमुखाङ्क है। जैसे रत्नावली में, जब सागरिका अपने प्रति राम की रति जान लेती है, तो उसकी भरति शान्त हो जाती है (क्योंकि उसे वत्सराज की प्रति की आशा हो जाती है।) यह राम नामक प्रतिमुखाङ्क इन पक्तियों से स्पष्ट है—

राजा—मित्र, इसने मेरा चित्र बनाया है, इस बात से सचमुच मुझे अपने भाप पर गर्व है, तो अब मैं इस चित्रफलक को क्यों न देखूँगा।

सागरिका (सुनकर—अपने भाप) डरभ, भावस्व रह, ऐसी इच्छा भी रतनी ऊँची मखिल तक न पहुँच पाई है।

अथ नर्म—

परिहासपचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—'सुसज्जता—सहि । जस्य कए तुम आघदा सो अथ पुरदो विद्वदि । ('सखि । यस्य कृते त्वमागता सोऽय पुरतस्तिष्ठति') सागरिका—(वास्यम्) सुसज्जते । कस्य कए अहं आघदा । ('सुसज्जते । यस्य कृतेऽहमागता ।') सुसज्जता—अहं अप्ससकिदे । ण विपत्तकलअस्य ता गेण्ह एदम् । ('अयि आरमरादिने । अनु विपत्तकलकस्य । तद्दृष्टाणैतत् ।') इत्यनेन बीजाचित परिहासपचन नर्म ।

१ यहाँ धनिक ने 'शीतोपचारविभूतनाय विभूतम्' लिखा है हमारा मत है कि गाथा में प्रिय की दुर्लभ बताया है, तथा इसके द्वारा 'भरति' की व्यवस्था हो रही है, अतः हमें 'विभूत' का कारण यों ठोक जान पड़ता है— प्रियवय दुर्लभस्वनेन आत्मगारवस्वारादिना च अचिन्तेन प्रेम्णो विषमत्वानारते-व्यञ्जन-विभूत, यदा विषमत्वविशेषनेन प्रेम्णो विभूतनादिभूतम् ।

यथा च वीणीसंहारे—('दुर्योधनघेटीहरतादर्धपात्रमादाय देव्याः समर्पयति पुनः)
 भानुमति—(अर्घ्यं दत्त्वा) इत्या । सवखेहि मे कुसुमाई जाव अवरार्णं पि देवानं सवरी-
 निवर्तमे । ('हस्ता वषणय मे कुसुमानि यावदपरेपामपि देवानां सपर्या निवर्तमामि ।')
 (हरती प्रसारयति, दुर्योधनः पुण्याभ्युपनयति, भानुमत्यास्तःस्पर्शजातकम्पाया हस्ताःपुण्यानि
 पतन्ति ।) इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नादर्शनोपशामार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा वीजोद्घाटन-
 परिहासस्य प्रतिमुखाश्लेषं युक्तमिति ।

नर्म से सापस्यं परिहास के घचनों से है । (नर्म के अर्थात् पाशों का परिहास पाया
 जाता है ।) जैसे रत्नावली नाटिका में एक मार्ताण्ड से नर्म की व्यवस्था ही रही है ।

सुसंगता—जिसके लिये तुम आरंभ हो, वह तुम्हारे सामने ही है ।

सागरिका—(रत्नावली) सुनवता, मैं किसके लिये आरंभ हूँ ?

सुसंगता—भरी आपने आप पर बहम करने वाली, इस विषयके लिये तो बसे ले लो ।

यह परिहास तबचन यहाँ बीच से सपदा है, यहाँ नर्म नामक प्रतिमुखांग है ।

और जैसे वेगोसहार में, जब भानुमती देवपूजा कर रही है, तो दुर्योधन वहाँ पहुँच कर
 सुखाप दासी के हाथ से अर्घ्यपत्र लेकर भानुमती को सौंपता है । भानुमती (अर्घ्य देखकर)
 भती दासी, जहाँ फूल लाओ, मैं दूसरे देवताओं को पूजन कर लूँ । (भानुमती पुत्र्य लेने को
 हाथ बटाती है, दुर्योधन पुत्र्यो को सौंपता है, उसके स्पर्श से कम्पित भानुमती के हाथ से फूल
 गिर जाते हैं ।) यहाँ भानुमती दुःस्वप्नादर्शन की शान्ति के लिये देव-पूजा कर रही है,
 निन्द्य यह दुर्योधनवृत्त परिहासरूप नर्म वस पूजा में विघ्न उपस्थित कर बीच का हो, उद्घाटन
 कर रहा है । यह परिहास प्रतिमुखांग रूप नर्म ही है ।

अथ नर्मयुक्तिः—

—च्युतिस्तज्जा च्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'सुसंगता—तदि अदिगिहस धार्णि सि हुमम् वा एवं पि
 सटिणाहायापतन्मिचदा खेषं न सुयसि । ('सि । अतिनिगुहरेदानीमति त्वं यैवमपि भर्ता
 हस्तावतन्मिचदा कोषं न सुयसि ।') सागरिका—(सम्भ्रज्जनीपक्षिदस्य) सुतादे ।
 दारि पि न विरमसि ।' ('सुसंगते । इदानीमपि न विरमसि ।') इत्यनेनाश्रुतागयीजो-
 द्घाटनान्वयेन च्युतिर्मता च्युतिरिति दर्शितमिति ।

चैर्यं की स्थिति नर्मयुक्ति कहलवाती है । (नर्मयुक्ति के अन्तर्गत पात्र में चैर्य का उच्चार
 पाया जाता है ।)

जैसे रत्नावली की निम्न पक्तियों में च्युति को द्वारा अनुराग बीच उद्घाटित हो रहा है, यहाँ
 परिहास से सत्यन च्युति (नर्मयुक्ति) पार्श्व जाती है ।

सुसंगता—सरि, तुम अब बड़ी निगुह हो चर्ष हो, जो स्वामी को इस प्रकार हाथ से पकड़े
 जाने पर भी घुरसे को नहीं छोडती ।

सागरिका (देदी भीँहे करके, कुद हँस कर)—सुसंगता, अब भी तुव नहीं रहती ।

अथ प्रथमनाम्—

उत्तरा घासभगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—ओ कअस्त । दिदिआ चउते । ('ओ नर्मस्य ।

(१) 'प्रथमनाम्' इत्यपि पाठः ।

दिष्टया बर्धसे ।') राजा—(सकौनुकम्) वयस्य ! क्षिमेतत् । विदूषक—भो ! एदं वस्तु तं जं मए भगिदं तुमं एवञ्च आनिहिदो को अण्णो कुमुमाउह्ववदेसेण जिइवी अदि ।' ('भो ! एतत्खलु तवन्मया भणितं स्वमेवालिखित कोऽन्य कुमुमायुप-वपदे-शेन निद्ध्यते ।') इत्यादिना

'परिच्युतस्तत्कुवभूममध्याह्निकं शोपमायासि मृणालहार । ।

न सूक्ष्मतन्तोरेषि तावकश्च तत्रावकाशो भवत किमु स्यात् ॥'

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्ववचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटना-
प्रगमनमिति ।

जहाँ पात्रों में परस्पर उत्तरोत्तर वचन पाये जायें (जिससे बीज का साहाय्य प्रति-
पादित हो), वहाँ प्रगमन होता है । जैसे रत्नावली नाटिका में विदूषक व राजा, सागरिका
व सुसङ्गता के परस्पर उत्तरोत्तर वचन अनुराग बीज को प्रगट करते हैं, अतः वहाँ प्रगमन है ।
प्रगमन की स्पष्टता विदूषक व राजा की इस बातचीत से हो रही है—

विदूषक—भित्र, बडी सुशी को बात है, तुम्हारी वृद्धि हो रही है ।

राजा—(कौतुक से) भित्र, क्या बात है ।

विदूषक—भरे, यह वही है जो मैंने कहा था कि इस चित्र में तुम्हीं चित्रित हो, कामदेव
के नाम से और दूसरे किस व्यक्ति को दिखाया गया है ।

राजा—हे मृणालहार, उसके वक्ष स्थल के बीच से गिर कर क्यों उखल रहा है । भरे जहाँ
तेरे वक्ष तन्तु के लिए भी जगह नहीं, वहाँ तुम्हारी तुल्यवत् कैसे हो सकती है ।

अथ निरोध —

—हितरोधो निरोधनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—धिष्मूर्ख ।

प्राप्ता वयमपि देवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।

इत्वावलीव कान्ता मम इस्ताद्भ्रशिता भवता ॥'

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचनेन विदूषक-
वचसा निरोधातिरोधनमिति ।

हित की रोक (रोध) हो जाने पर निरोधन होता है । (प्राप्त वस्तु की प्राप्ति से
नायकादि की रोक दिया जाय उसमें अवरोध उत्पन्न कर दिया जाय, वहाँ निरोधन होगा ।)

जैसे रत्नावली में सागरिकासमागम वत्सराज वा अभीष्ट दिन है, किन्तु वासवदत्ता के
प्रवेश की सूचना देकर विदूषक उसमें अवरोध उत्पन्न कर देता है । अतः वहाँ निरोधन है,
जिसकी स्पष्टता राजा की निम्न उक्ति से होती है—

'मूर्ख तुझे बिस्कार है । किसी तरह देव की कृपा से प्राप्त, अनुराग से युक्त (जिसका
प्रेम प्रकट हो गया है), प्रिया (सागरिका) की मैं कण्ठ से भी न लगा पाया था कि तूने उसे
वनी तरह हाथ से गँवा दिया जैसे देववश प्राप्त, उज्ज्वल रत्नावली (रत्नमाला) को गले में
हालने के पहले ही गँवा दिया जाय ।'

अथ पर्युपासनम्—

पर्युपास्तिरनुतयः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—

प्रसीदेति द्रव्यामिदमसति कोपे न पटते

‘ करिभ्याम्येवं भो हुनरिति भवेदभ्युत्थमम् ।

न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि शास्त्रसि मया

किमेतस्मिन् वक्तुं क्षमयिति न वेधि प्रियतमे ॥’

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोर्दर्शनात्कृपिताया वासववत्ताया अनुनयनं नायकभोरतुरा-
नोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति ।

(नायकादि के द्वारा किसी का) अनुनय-विनय पर्युपासित या पर्युपासन कहलाता है । (शास्त्र के निरोध पर नायकादि उस अवरोध के निवारण के लिए, इस अंग के अंतर्गत अनुनय करते हैं ।)

जैसे रत्नावली नाटिका में, बलराम व सागरिका का एक चित्र में भालेखन, देखकर वासववत्ता झुक ही जाती है । राजा उसका अनुनय करता है । यह अनुनय उन (बलराम सागरिका) दोनों के प्रेम को प्रकट कर उसका साहाय्य संपादित करता है, अतः यह पर्युपासन है । इसकी व्यवस्था राजा भी उक्ति के निम्न पद्य में हुई है ।

‘ हे वासववदो, ‘तुम झुट हो जाओ’ यह कहना इसलिय ठीक नहीं है, कि तुम ताराम नहीं हो । ‘मैं ऐसा फिर कभी नहीं करूँगा’ यह कहने पर अपराध स्वीकार पटना हो जाता है । मेरा कोई दोष नहीं है’ ऐसा कहने पर तुम इसे भी झुट समझोगी । इसलिये हे प्रियतमे, इस सोके पर मुझे क्या कहना चाहिये यह भी नहीं जानता ।’

अथ पुष्पम्—

—पुष्पं चाक्षयं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

यथा रत्नावल्यमाम्—(राजा सागरिक इत्थे गृहीत्वा स्पर्शं नादयति) विदूषकः= भो ! एसा अपुष्पा सिरी तए शमासादिदा । (‘भो ! एसापूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता ।’) राजा—वक्षस्य । सत्यम् ।

धीरेया पाणिरभ्यस्या परिजालस्य पक्षव ।

कुतोऽन्यथा सवत्येष स्वेच्छमाभूत्तदव ॥’

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना लविशेषातुराणोद्घाटनानुपुष्पम् ।

जहाँ त्रिनिष्ठ वाक्यों द्वारा योजोद्घाटन हो, अथवा जहाँ पर वाक्य विशेष रूप योजोद्घाटन से करे, वह पुष्प कहलाता है । (प्रथम अंक में निश्चित तीन पक्षविन होकर, इस अंग में पुष्पोत्पत्ति करता है—जिस तरह वृत्त में पुष्पाविर्भाव भावीफलमिति का साहाय्य संपादित करता है, वैसे रूपक में यह अंग भी है ।)

जैसे रत्नावली नाटिका में उदयन व सागरिका का अनुनय परस्पर दर्शन आदि से विशेष रूप में प्रकट हो जाता है । इस पुष्प की यत्ना विदूषक व बलराम का निम्न कथनोप-
रथन देता है ।

(राजा सागरिका को हाथ से स्पर्श करने का अनियम करता है ।)

विदूषक—भरे मित्र, प्रथमे तो अपूर्ण भीषो पा लिया है ।

राजा—मित्र कुछ बहते हो । यह भी है, और वसुधा हाथ करवृत्त का लक्ष्य है । नहीं भो, यह (हाथ) स्पर्श के ब्याज से अशुभत्व को वैसे (नहीं तो) छोड़ता है ।

अथोपन्यास —

उपन्यासस्तु सोपायम्—

यथा रत्नावल्याम्—‘सुसज्जत—भद्रा ! अल सत्राए मए वि भद्रिणो पसाएण
कील्लिद एव ता किं कण्णभरएणेण अदो वि मे मरुओ पसाओ ज कीय तए अइ एए
आलिहिअ त्त कुविआ मे विअसही साअरिआ ता पसादीअदु ।’ (‘भर्त ! अल
शङ्कया मयापि भर्तु प्रसादेन श्लोडितमेव तर्कि कर्णाभरणेन, अतोऽपि मे गुरु प्रसादो
यत्कथ त्वय इमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियतन्त्री सागरिका तप्रसाद्यताम् ।’) इत्यनेन
सुसज्जतावयथा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च (वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन
वीजोद्गेषादुपन्यास इति ।

उपाययुक्त वा हेतुप्रदर्शक वाक्य उपन्यास कहलाता है। जैसे रत्नावली में सुसज्जता
यह बता कर कि चित्र में सागरिका मैंने आलिखित की है और सागरिका ने तुम, इस वाक्य
में प्रसन्नता (हेतु) का उपन्यास कर बीन का उद्गार दिया है। अतः सुसज्जता की इस उक्ति
में उपन्यास है—

‘स्वामिन्, सन्देह न करें, मुझे भी तो आपकी सुझी से प्रसन्नता है, इस कर्णाभूषण की
कथा जरूरत है। इससे ज्यादा सुझी तो मुझे इसमें होगी कि आप मेरी प्यारी सखी सागरिका
को सुझ करें, क्योंकि वह मुझ से इसलिये नाराज है कि मैंने उसे इस चित्र में आलिखित
कर दिया है।’

—वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

यथा रत्नावल्याम्—‘वासवदत्ता—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त ! एसावि जा
गुह समीपे एए किं वसन्तअस्स विण्णागम् ।’ (‘आर्यपुत्र ! एषापि वा तव समीपे
एतर्कि वसन्तकस्य विज्ञानम् ।’) पुन ‘अज्जउत्त ! ममावि एए विसत्कम्म पेक्खन्तीए
सीसवेअणा समुत्पण्णा ।’ (‘आर्यपुत्र ! ममान्येतच्चित्रकर्म परमत्था सीसवेदना
समुत्पन्ना ।’) इत्यनेन वासवदत्तया वसन्तराजस्य सागरिकानुरागोद्गेषनात्प्रत्यक्षनिष्ठुरा-
भिवान वज्रमिति ।

जहाँ नायकादि के प्रति कोई पात्र भावस्वरूप में निष्ठुर वचन का प्रयोग करे वह
(वज्र के समान क्षीण व भर्मभेदी) वाक्य वज्र कहलाता है।

जैसे रत्नावली में वासवदत्ता उन दोनों के प्रेम को जान कर क्रूर होती हुई निम्न कुछ
वचनों को वत्सराज से कहती है, यहाँ वज्र प्रतिष्ठुराज्ञ है।

‘(चित्रफलक की निष्ठा कर) आर्यपुत्र, वह (सागरिका) तुम्हारे पास जो (चित्रित)
है, क्या वह तुम्हारे मित्र वसन्तक (विदूषक) की वरामात (कौशल, विद्वान) है ?

× × × आर्यपुत्र, मेरे भी इस चित्रकर्म की देख कर तिरस्कार हो आया है ।’

अथ वर्णसंहार—

‘घातुर्वर्ण्योपगमन वर्णसंहार इत्यन्ते ॥ ३५ ॥

यथा वीरचरिते सुनीदेऽह्ने—

‘परिषदियस्यीणामेव वृद्धो मुषाजिव ।’

सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादस्य वृद्ध ।

(१) प्रसादनमुपन्यास इति पाठांतरम् ।

अथमविरतग्नौ ब्रह्मवादी पुराणः

प्रभुरपि जनकानामद्बुधो यत्नकालो ॥

इत्यनेन श्रद्धाप्रियायात्यादोनां संततानां वर्णानां यत्नसा रामविजय शंभिनः परशु-
रामदुर्भयस्वादोदवाचनाद्वाहुरेणोद्धेनाह्वयसंहार इति ।

एतानि च अथोदरा प्रतिमुखाङ्गानि मुपसंयुपसिक्तविन्दुवसणावान्तरयोजमहाबोज-
प्रत्यागुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रसामवज्रोपन्यासपुण्यानां प्राधान्यम्,
इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति ।

जहाँ चारों वर्ण (ब्राह्मणादि वर्ण) एक साथ एकत्रित हों, वहाँ वर्णसंहार होता है।
जैसे महाबोरचरित के मूलोप अङ्क में श्वपि, श्वपिष, जमात्य आदि (चारों) वर्ण स्वदे होकर
एक-एक के द्वारा रामविजय की आज्ञाका बाजे परशुराम के श्रुते की शान्ति की प्रार्थना करते
हैं । अतः यहाँ वर्णसंहार है, जिसकी सज्जा उस अङ्क के निम्न पद्य से हुई है ।

'यद् श्वपिषो वा समात्र, यद् ब्रह्म पुष्यश्विः; जमात्यग्न के साथ राजा, और बृह
धोमपाद, और यद् निरन्तर यद् धरने वाले, पुराणे (विष्णुवात) आत्मशानी जनकों के राजा
(राजा जनक) भी द्रोहरहित आपकी प्रार्थना करते हैं ।'

प्रतिमुखाङ्गि के ये तेरह अङ्क, मुपसंयुपसिक्त के द्वारा लगे गये विन्दु रूप दूसरे बीच,
महारीच तथा प्रवतन के साथ-साथ उपनिषद् किये जाये चाहिये । इनमें से परिसर्प, प्रशम,
वज्र, उपन्यास तथा पुष्प प्रधान हैं, बाकी अङ्कों का प्रयोग तथा संभव हो सकता है ।

अथ गर्भसंधिनाह—

गर्भस्तु उद्यतस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।

द्वादशाङ्गः पताका स्यात्त चा स्यात्प्राप्तिसंभयः ॥ ३६ ॥

प्रतिमुपसंयुप लक्ष्मणलक्ष्मणस्य स्तोत्रोद्धेनस्य बीजस्य सविद्योद्धेदपूर्वकः सागत
रायो लाभ पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्ति पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं चारुचरं सोऽ-
निर्धारितैकान्तकप्रणत्वासात्मको गर्भसंधिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्येन प्राप्तायां पताकायां
अन्वेषणं दर्शयति—'पताका स्वाहा वा' इत्यनेन । प्राप्तिर्गमवस्तु । स्वादेवेति दर्शयति—
'स्वाहा' इति । गया रत्नाकर्यां श्रुतीयेऽङ्के दत्तराजस्य वासवदत्तालक्षणाभायेन उद्धे-
परिमहत्सर्गिकाभिधरणोभायेन च विदुषुक्वचया वाग्गिरिकाप्रप्रयत्ना प्रथमं पुनर्वातव-
दत्ताया विच्छेदः पुनः प्राप्ति पुनर्विच्छेदः पुनरवाग्निधारणोपासनान्वेषणम् 'नास्ति देवी-
प्रसादनं मुक्ताण्य वपावः' इत्यनेन दर्शयति ।

जब बीज के दिशने के बाद फिर से जाह हो जाने पर उसका अन्वेषण बार-बार
किया जाता है, सो गर्भसंधि होती है । यह गर्भसंधि बारह अङ्कों वाली होती है ।
इसमें जैसे सो पताका (अर्धप्रकृति) तथा प्राप्तिरगम्य (अवरया) का मिश्रण पाया
जाता है, किन्तु पताका का होना अनिवार्य नहीं, यह हो भी सकती है, नहीं भी;
किन्तु प्राप्तिरगम्य का होना बहुत जरूरी है ।

जिस बीच से प्रतिमुपसंयुप में यानी पताका और कभी पुराणा (लक्ष्मणस्य का भी)
देता गया है, क्योंकि यह बहुत बीजा फूला है, बड़ी बीज यहाँ भावर विशेष रूप से फूट पड़ता
है । (निज पताका का विचारित नहीं है, इतने काही सो विच्छेदः (विच्छेद) होता है, फिर से जलको
कानि होती है, फिर विषो (विच्छेद) हो जाता है, और हम प्रकृत बार-बार यही को

खोज की जाती है। यहाँ प्राप्ति की सम्भावना तो होती है, किन्तु फल का देवान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। यह गर्भसन्धि की विशेषता है। यहाँ पताका या होना आवश्यक नहीं है।

इसका निदर्शन 'पताका हो या न हो' (पताका त्याग वा) इसके द्वारा किया गया है। माहिसम्व तो होना ही चाहे। इसकी सञ्चना 'त्याग' के द्वारा की गई है। जैसे रत्नावली के तीसरे अङ्क में वत्सराज की फलप्राप्ति में वासवदत्ता के द्वारा विघ्न होता है, किन्तु सागरिका के अभिसरण के उपाय से विदूषक के वचन सुनकर राजा की प्राप्ति की आशा ही आती है। पहले वासवदत्ता उसने विच्छेद उपरिष्ठ करती है, फिर से प्राप्ति होती है, फिर विच्छेद ही जाता है। फिर विघ्न के निवारण के उपाय तथा फल-हेतु का अन्वेषण किया जाता है। इस अन्वेषण की सञ्चना राजा की इस उक्ति से होती है—'मित्र, भव वासवदत्ता को मानने के भलावा और कोई उपाय नहीं है।'

स च द्वादशाङ्गो भवति । तान्युद्दिशति—

अभूताहरणं मार्गं रूपोदाहरणे क्रमः ।

संप्रहृद्धानुमानं च तोटकामिषले तथा ॥ ३७ ॥

उद्वेगसंभ्रमाक्षेपाः क्षुद्रणं च प्रणीयते ।

इस गर्भसन्धि के बारह अङ्क होते हैं—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संप्रहृद्, अनुमान, तोटक, अमिषल, उद्वेग, संभ्रम, आक्षेप; इन अङ्गों के लक्षण (लागे) बताये जाते हैं।

ययोर्देशं लक्षणमाह—

अभूताहरणं क्षुद्र—

यथा रत्नावल्याम्—'साधु रे अमच्च वसन्तम् साधु आदिसद्दो तए अमच्चो ओगन्धरास्यणो इमाए संविदिग्गहचिन्ताए ।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक साधु अति-शयितस्वरव्यामात्यो कौगन्धरास्यणोऽनया सधिविग्रहचिन्तया ।') इत्यादिना प्रवेशकेन शहीतवाचवदत्तावेकाया सागरिकाया वत्सराजमिसरणं क्षुद्रं विदूषकमुसप्रतप्तवदत्तसञ्चयन-भालानुवादद्वारेण दर्शितमियभूताहरणम् ।

जहाँ क्षुद्र या कपट हो वहाँ अभूताहरण होता है। (कपट के द्वारा जहाँ प्राप्ति कराने की चेष्टा की जाय) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता का वैध बना कर सागरिका वत्सराज के समीप अभिसरण करती है, इस क्षम की सञ्चना प्रवेश की द्वारा विदूषक तथा काञ्चनमाला बनी हुई सुसंगता के कथनोपकथन से दी गई है—

'हे भामाल वसन्तक तुम बड़े कुशल हो। इस सपि निम्न की पिन्ता के द्वारा तुमने भामाल कौगन्धरायण की भी जीत लिया।

अथ मार्ग—

—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—दिग्दिग्ग वरुधि समीहितान्धविकया कर्मसिद्धया ।' ('दिग्दिग्ग वरुधे समीहितान्धविकया कर्मसिद्धया ।') राजा—वयस्य कुशलं प्रियाया । विदूषक—अदरेण सभं णजेव्व पेविस्सभ आणिहिसि । ('अदरेण स्वय मेव प्रेक्ष्य ह्यस्यसि ।') राजा—दरानमवि भविष्पति । विदूषक—(सगर्भम्) कीत न भविस्सदि जस दे उवहयिदविहृष्करिदुद्विद्विद्वो अहं अमच्चो । ('कर्म न भवि-

भवति यस्य स उपहसितः तद्वदस्तिबुद्धिबिम्बोऽहममात्रे ।' राजा—तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि । विदूषक—(कर्णं कथयति) एवम् ।' ('एवम्') इत्यनेन यथा विदूषकेण सामन्निवासमागमः सूचित तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तात्पर्य-

कथनान्तर्गत इति ।

जहाँ निश्चित तत्त्व का (अर्थप्राप्ति रूप तत्त्व का) कीर्तन हो, वह मार्ग है । (यहाँ नायकादि के प्रति किसी शुभचिन्तक पात्र के द्वारा प्राप्ति के मार्ग की ध्वजना दी जाती है ।) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के वेष में सामन्निवासमरण की ध्वजना देकर, विदूषक सामन्निवासमागम का निश्चय राजा को दिखा देता है । इस प्रकार तत्त्वार्थनिवेदन के कारण निम्न पङ्क्तियों में मार्ग नामक गर्भाद्ग है ।

'विदूषक—बही सुधी की बात है, तुम्हारी कार्यसिद्धि के सम्पन्न पक्ष से पूर्ण होने से तुम्हारी वृद्धि हो रही है ।

राजा—बसत्य, मिया कुछल तो है ।

विदूषक—श्रीव दी छुद ही देखकर सारी बात जान लोये ।

राजा—क्या दर्शन भी होगा ।

विदूषक—(घमण्ड से) कर्णो नहीं होगा, जब तुम्हारा मुझ जैसा भयो है, जिसने बृहस्पति के बुद्धिवैभव को भी तुम्हल समझ कर हँस दिया है ।

राजा—फिर जरा कित्त बग से यह होगा, इसे सुनना चाहता हूँ ।

विदूषक—(काज में कहता है) येते ।'

अथ रूपम्—

रूपं चित्तकथनान्यम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वर्गदृष्टोत्तपापमपरिभा विनोऽभिभवं जनं प्रति पञ्चपातस्तथाहि—

प्रणमविशदां वष्टिं वज्रे ददाति न शङ्कित्वा

घटयति धन कण्ठमलेपे रसाद्य पयोधरौ ।

मदति बहुयो वच्छामीति प्रयत्नवृत्तान्यहो

रमयतिहरीं सकेतस्था तथापि हि कामिनी ॥

कथं चिरयति वसन्तक किं नु सल्लु विदित स्यादय वृत्तान्तो देव्या ।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्रस्ताशानुगुण्येनैव देवोऽशङ्कयाय वितर्कप्रश्रमिति ।

जहाँ प्राप्ति की प्रतीक्षा करते समय नायकादि चर्कितकर्मण्य वाक्यों का प्रयोग करें, उसे रूप कहते हैं । (प्राप्ति की प्रतीक्षा में कर्मो-कर्मो यह भी दर बना रहता है कि कर्मों शीघ्र प्राप्त उपरिगत न हो जाय, इस निश्चिन्त विचार की ध्वजना रूप में होती है ।) जैसे रत्नावली में यह वितर्क कि वही वासवदत्ता ने इस बात को न जान लिया हो, रत्नावली समागम की प्राप्त्याशा का ही साक्षात्प्र प्रविषादित करता है । यह वितर्करूप लक्ष्मियों में दृश्य है ।

'राजा—अधनी शृङ्गिणी (पत्नी) के समागम से परिचयित कामी यदुष्य क्व नये म्यक्षि (अर्थ मेमिच्छ) के प्रति किसी दूसरे ही रंग का पद्यपात होगा है, जेने—अधनि (अथ वर) संकेत वरुण में अनिरात्पाथे आर्थे दुर्ग मेमिच्छ, शङ्कित होने के कारण नायक के हृत्त की ओर प्रेममयी नजर से नहीं देख पाती, कण्ड से आशङ्कित करते समय प्रेम से रत्नों को ओर से

छाती से नहीं उठानी; तथा बड़ी कोशिश से रोके जाने पर भी बार-बार 'मैं जाती हूँ' इस तरह जाने का दर दिखाती है, तथापि वह कामी मनुष्य की अत्यधिक सुख पहुँचाती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अयोदाहरणम्—

—सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक'—(सहर्षम्) ही ही भोः, कौशम्बीरज्जलाहेणापि ण सादिसो वञ्चस्सस्स परित्तोसो अस्सि यादिसो भम सञ्जासादो' विञ्चवञ्चणं सुणिञ्च भविस्सदि त्ति तक्केमि ।' ('ही ही भो' कौशम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वय-स्यस्य परितोय आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।') इत्यनेन रत्नावलीप्रातिवार्तापि कौशम्बीराज्यलानादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृ-तिरिति ।

उत्कर्षं या उन्नति से युक्त वाक्य उपाहृति या उदाहरण कहलाता है। जैसे रत्नावली में विदूषक रत्नावली प्राति की बात को कौशम्बीराज्य-लाम से भी बढ़कर बनाया है, अतः निम्न वाक्य सोत्कर्षं होने से उदाहरण का व्यवहार है—

'विदूषक—(हर्ष के साथ) हा, हा, मेरे पास से प्रियवचन सुन कर तुम्हें जितनी प्रसन्नता होगी, उतनी कौशाबी के राज्य लाभ से भी न दुर्द होगी ।' 15. 9-5

अथ क्रम—

क्रमः संचिन्त्यमानासिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—उपनतप्रियासमागमोत्सवस्थापि मे किमिदमत्यर्थमु-त्ताम्यति चेत्, अथवा—

तीव्रं स्मरसंतापो न तथादौ वापते यथासजे ।

तपति प्राश्रये ह्यतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥

विदूषक—(आकर्ष्य) भोदि सागरिए । एसो पिञ्चवञ्चस्सो तुमं ज्जेव उदि-सिञ्च उञ्ज्ज्जाणिक्कमरं मन्तेदि । ता निवेदेमि से सुहागमनम् ।' ('भवति सागरिके । एष प्रियवचनस्वरत्नानेवोद्दिश्योरकठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयामि तस्मै तथागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासनागमनमभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रमः ।

जहाँ आसि (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) का चिन्तन किया जाय, तथा वह वस्तु प्राप्त हो जाय यहाँ क्रम नामक गर्भसन्धि का अङ्ग होता है। जैसे रत्नावली में निम्न पंक्तियों में वत्सराज सागरिका के समागम की अभिलाषा ही कर रहा था, कि भ्रान्त सागरिका (सागरिका के रूप में वास्तवस्था) वा जाती है, अतः क्रम है।

'राजा—प्रियासुमागम के उत्सव के नजदीक आ जाने पर भी मेरा चित्त एतदा ज्यादा बेचैन क्यों ही रहा है। अथवा, कामदेव की तीव्र पीडा आरम्भ में उठना नहीं सज्जाती जितना इष्ट वस्तु के आने के काल के नजदीक होने पर। (सच है) बादलों के बरसने के पहले का दिन बरसाण में बहुर तथा करता है।

विदूषक—(सुन कर) भरी सागरिके, यह प्रियवचन तुम्हें ही उदेश्य करके बड़े उरकण्ठित ढंग से चिन्ता कर रहा है। इसलिए, मैं तुम्हारे आगमन की छवना रुकें दे देता हूँ।'

अथ क्रमान्तरं भतमेदेन—

—भावदानमथापरे ॥ ३६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—‘राजा—(उपसृत्य) शिवे सागरिके ।

‘शीताशुभुम्बमुत्पले तत्र दशौ पयासुकारौ करौ

रम्भागर्भनिर्भं त्वेकमुगलं बाहू मृणालोपमौ ।

इ यादादकराशिलाशि रमसाभिःशङ्कमालिप्रथ मा

मज्ञानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येष्टेहि निर्वापय ॥’

इत्यादिना ‘इह तदप्यस्त्येव विन्वापरे’ इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य शतस्वाकृमन्तरमिति ।

दूतरे लोगों के मत से काम की परिभाषा मिलती है । वे (दूसरे श्लोक) भाव के ज्ञान की क्रम मानते हैं । (इस मत के अनुसार जहाँ दूतरे वाच के द्वारा नायकादि के भाव का ज्ञान हो जाय, वहाँ काम होता है) जैसे रत्नावली में वासवदत्ता (जो कि सागरिका की जन्म स्वयं वनेत इच्छा पर आ जाती है) निम्न वच से वत्सराज उदयन के रत्नावली विषयक अनुराग-भाव को जान जाती है अतः काम है ।

राजा—(नजदीक जाकर) शिवे सागरिके, तेरा मुख चन्द्रमा है, तुन्दारी दोनों आँखें कमल हैं; तुन्दारे दोनों करतल कम के समान हैं, तुन्दारी दोनों जाँवें केल के गर्म के समान हैं, और तुन्दारे दोनों दाँव (बाजू) मृणाल के समान हैं । इस तरह तुन्दारे सारे अङ्ग (श्लोक) आकाश देने वाले हैं, हे आकाशकराशिलाशि, आभी, आभी, निःशङ्क और शीघ्रता से मेरा आशुभन पर कायताप से पीड़ित रहे अज्ञों की शान्त करो । X X X ‘स विन्वापर में वद भी बहुत ही ही ।’

अथ संग्रह—

संग्रहः सामव्रतौकिः—

यथा रत्नावल्याम्—‘साधु वयस्य । साधु इदं ते परितोषिकं कटकं ददामि ।’ इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदुषकस्य सागरिकासामागमकारिणः संग्रहासंग्रह इति ।

जहाँ नायकादि अनुराग आचरण करने वाले पात्र को साम व दान से प्रसन्न करें, वहाँ साम व दान की उक्ति संग्रह कहलाती है । जैसे रत्नावली में राजा सागरिका को समागम करने वाले विदुषक को साम व दान से समृद्ध करता है, अतः संग्रह है ।

राजा—वयस्य बहुत अच्छा, बहुत अच्छा मैं तुम्हें वद कदा काम देता हूँ ।

अथानुमानम्—

—अभ्यूहो लिखतोऽनुमा ।

यथा रत्नावल्याम्—‘राजा—विह मूर्ख ! त्वत्कृत एवायमापत्तितोऽस्माकमनर्थः ।’ इति—

‘समाह्वयो श्रीति प्रणवैषकुमानात्प्रतिदिने

व्यलीकं श्रीवैदे कृतमष्टकं पलु र्का ।

शिवो मुच्यते स्फुटमसदना भीषितमखी

प्रकृतस्य प्रेम्णा स्थासितमविवर्ष्य हि भवति ॥

विदुषक—ओ बचस्य ! नागवदता कि करइसदि ति न वाचामि सागरिका वच

दुःखर जी वससदि त्तु तववेमि ।' ('भो वयस्य । वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि सागरिका पुनर्दुःखर जीविष्यतीति तर्षयामि ।') इत्यत्र प्रकृतप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्युहनमनुमानमिति ॥

जहाँ किन्हीं हेतुओं (लिंगों) के आधार पर नायकादि के द्वारा तर्क किया जाय, वहाँ अनुमा या अनुमान होता है । (पुन पर्वत में अग्नि की सत्ता का अनुमापक लिङ्ग है । 'यत्र यत्र घूम तत्र तत्र बद्धि' इस व्याप्ति के आधार पर वह पर्वत में अग्नि की सत्ता सिद्ध कर देता है—पर्वतोऽय बद्धिमान् (घुमात्) । इसी तरह जहाँ किन्हीं हेतुओं से किसी भी बात का अनुमान तर्कतरण के आधार पर हो, वहाँ अनुमान नामक गर्माह्न होगा । यथा, रत्नावली नाटिका में सागरिका से प्रेम करने से राजा प्रकृत प्रेम से स्थलित हो गया है, इसलिए इस बात को ध्यान कर वासवदत्ता शिन्दी न रह सकेगी, इस प्रकार प्रकृत प्रेमस्खलन हेतु के द्वारा वासवदत्तामरण का तर्क अनुमान है, जिसको खचना निम्न पद्य में दुर्है ।

'राजा—थिक्कर है, मूर्ख, हुमने ही यह सारा अनर्थ हमारे सिर झाला है । क्योंकि, (हम दोनों का) प्रेम दिन प्रति दिन प्रेम के सम्मान करने से बढ़ गया था, मेरे द्वारा अब तक कभी न किये इस अपराध को किया देखकर यह प्रिया वासवदत्ता इसे बर्दाश्त न करती दुर्है ध्यात्र सचमुच जीवन का त्याग कर देगी । प्रकृत (बहुत बड़े हुए) प्रेम से (एक व्यक्ति का) गिरना (दूसरे के लिए) असहनीय ही होता है ।'

विदूषक—हे मित्र, वासवदत्ता क्या करेगी, यह तो नहीं जानता, हाँ स रिक्का बयी शुरिकल से शिन्दी रह सकेगी इतना अनुमान करूँ करता हूँ ।'

अथाधिबलम्—

अधिवलमभिसंधिः—

यथा रत्नावल्याम्—'काञ्चनमाला—महिषि । इमं सा चित्रशालिन्धा । ता वसन्तमस्त घण्ण करेमि ('अग्नि । इय सा चित्रशालिन्धा तद्रसन्तकस्य सहां करोमि ।') (छोटिका ददाति) इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्या सागरिकासुगृहतावेयाभ्या राजविदूषकयोरभिसंधोयमानत्वादधिबलमिति ।

जहाँ किन्हीं पात्रों के द्वारा नायकादि का अभिप्राय जान लिया जाय, वहाँ अधिवल होता है । जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता व काञ्चनमाला सागरिकाभिसरण की बात जान कर सागरिका तथा सुसंगता का वेष बनाकर संकेत स्थल (चित्रशाला) को जाती है । वहाँ वे दोनों राजा व विदूषक से मिलती हैं तथा उनका अभिप्राय जान लेती हैं, अत अधिवल है । काञ्चनमाला की इस उक्ति से इसकी खचना ही गई है ।

'महिषि, यह वह चित्रशाला है । तो मैं वसन्तक को संकेत करती हूँ ।' (ताडी का संकेत देती है ।)

अथ तोटकम्—

—संरघ्यं तोटकं घत्ता ॥ ५० ॥

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(उपसृत्य) अज्जउत्त । जुत्तमिण सरिसमिणम् ।' (पुन सरोपम्) अज्जउत्त उट्टेहि किं अज्जवि आहिजार्देण सेतादुक्खमणुअवीअदि, वचनमाले । एदेण ज्वेव पासेण वधिअ आणे हि एण दुट्ठवम्हण । एद पि दुट्ठकण्णअ

१. वहाँ राजा व विदूषक दोनों की उक्ति में 'अनुमान' पाया जाता है ।

रामको कोदि ।'। ('आर्यपुत्र ') युक्तमिदं सदशमिदम् । आर्यपुत्रं वसिष्ठ
 किमवाप्सामिजायता सेवासु क्षमनुभूयते, कावचमाले । एतेनैव पाशेन बद्धपात्रयैर्न दुष्ट
 प्राणायम् एतामपिदुष्टपासेन बन्धिष्यन् श्राणेहि एण दुष्टकान्यकामाप्रतं कुरु ।') इत्यनेन
 वासवदत्तासंरब्धवचना सागरिणसमासमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम् ।

श्लोष से युक्त वचन तोटक कहलाता है । जैसे रत्नावली में सागरिकासमास के विषय
 उपरिष्ठ वरते हुए वासवदत्ता क्रुद्ध वचन के द्वारा उदयन की शपथों को अनिश्चित बना देती
 है । वहाँ यह श्लोक है । वासवदत्ता को इस उक्ति में तोटक है—' (भागे बद्धर) आर्यपुत्र,
 यह श्लोक है, आपके सदृश है । (फिर रोष से) आर्यपुत्र लडो, क्या भय भी कुंठोनाता सेवा
 दुष्ट का अनुभव करती है । कावचमाला, इसी पास से इस दुष्ट प्राणाय (वसन्तक) को बांध
 कर के जा, और इस दुष्ट लड़की को भी भागे कर ।'

यथा च वेणीसहारे—

'प्रयत्नपरिपोषित स्तुतिभिरस्य शेषे निशाम्'

इत्यादिना

'धृतायुषो वावदद् तावदन्यै किमायुषै'

इत्यन्तेनान्योन्य कर्णाच्चत्याम्नो सरब्धवचना सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजयप्राप्ताया
 शापित तोटकमिति ।

और जैसे वेणीसहार में कर्ण और अर्जुना के परस्पर क्रुद्ध वचनों के कारण कौरवों की
 सेना में भेद हो जाता है, और इतने पाण्डवविजय की प्रत्याशा को सहायता होती है, अन
 वहाँ तोटक है । इसका अभाव अवस्थान की 'युग आन स्तुतियों के प्रयत्नों से जगदीश हुए, रत्न
 को सो-सोमे' इस उक्ति से लेकर 'अब तक मैं आयुव धारण किये हूँ अब तक दूसरे आयुषों से
 क्या लाभ' इस उक्ति तक पाया जाता है ।

अन्धकारे तु—

तोटकस्यान्यथाभाव द्रुपतेऽधिपल बुधाः ।

यथा रत्नावलकाम्—'राजा—देवि एवमपि प्रत्यङ्गदृष्टमतीक किं विज्ञापयामि—

'धातापतामपनयामि विलक्ष एव

ताभारतां वरणयोस्तव देवि मूर्धा ।

कोपोपरागजनितां नु सुधेन्दुमिभ्ये

इहं शपो यदि पर कक्षमा मयि स्यात् ॥'

दूतों नात्यशास्त्र के प्रार्थों में अधिपल व तोटक दोनों की लक्षण विन्व बनाये गये हैं ।
 इनके विद्वानों के मतानुसार तोटक का उल्लेख ही अधिपल है । दशरूपकार के मन से
 क्रुद्धवचन तोटक है, अतः क्रुद्धवचन का उल्लेख विनीत व दीन वचन, अधिपल है । ये दूतों
 नात्यशास्त्री की वचनों को अधिपल मानते हैं, जैसे रत्नावली में राजा की इस उक्ति में—

'देवि, इस तरह मेरे अपराध के प्रत्यक्ष देण देने पर मैं क्या भय कर सकता हूँ । वे देवि
 अश्रित शोक में अपने सिर से तुम्हारे दोनों पैरों को अलङ्कृत (लाधा) की सज्जों की दया
 रख हूँ । (पीछे रहा हूँ) । लेकिन मोक्ष रूपी शरण से पैर हूँ पूर्ण सुखान्न की सज्जों की
 की लगी दया सकता हूँ, अब तुम्हारी विज्ञेय दया मेरे प्रति हो जाय ।'

सरब्धवचना यत्तु तोटकं सपुत्रादवम् ॥ ४१ ॥

यया रत्नावल्याम्—'राजा-प्रिये वासवदत्ते । प्रधीह प्रसीद । वासवदत्ता—
(अश्रुभि धारयन्ती) भ्रमठत् । मा एवं भण अण्णसहुन्ताइं सु एराइं अक्खराइं ति ।'
('आर्यपुत्र मीवं भण । अन्यसंक्रान्तानि जल्पेतान्यश्रुणीति ।)' ।

यया च वेणीसंहारे—'राजा-अये सुन्दरक । कश्चिक्कुरात्तमत्तराजस्य । पुरुष—
कुशलं शरीरमेतकेण । ('कुशलं शरीरमात्रकेण । ') राजा—किं तस्य किरीटिना हता
घौरिया, क्षतं सारयि, भग्नो वा रथ । पुरुष—देव । ण भग्गो रहो भग्गो से
मणोरहो । ('देव न भग्गो रथ । भग्गोऽस्य मनोरथ ') राजा—(ससंभ्रमम्) कथम् ।
इत्येवमादिना सँन्धवचसा सोटकमिति ।

इन दूसरे पण्डितों के मत से संरघ्य (उद्दिग्ण) वचन सोटक है । जैसे रत्नावली में—
'राजा—प्रिये, वासवदत्ते, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो ।

वासवदत्ता—(आश्रु भर कर) आर्यपुत्र, ऐसा मत कहो । ये अक्षर, अब दूसरे के लिए हो
गये हैं ।' और जैसे वेणीसंहार में—

राजा—अरे सुन्दरक, महाराज कर्ण कुशल तो है ?

पुरुष—उनका केवल शरीर कुशल है ।

राजा—क्या धनके घोड़े अजुन ने मार दिये, सारयि धावल कर दिया, वा रथ तोड़ दिया ?

पुरुष—देव, उनका रथ नहीं, मनोरथ तोड़ डाला ।

राजा—(उद्दिग्ण होकर) कैते ।

अयोद्धेय—

उद्देगोऽरिक्त्वा भीतिः—

यया 'रत्नावल्याम्—'सागरिका—(आरमगतम्) कहं अकिदपुण्येहिं अलणो
इच्छाए मरिडं पि ण पारीअदि ।' ('कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया' मर्तुमपि न
पार्यते ।') इत्यनेन वासवदत्तात् सागरिकाया भयमित्युद्देयः । यो हि यस्यापञ्चारी स
तस्यारिः ।

यया च वेणीसंहारे—'सूत—(शुक्ता सभयम्) कथमावन्न एवासी कौरवराज-
पुत्रमहावगतोत्पातमागतो नाहतिरनुपलब्धसंरुध महाराज, भवतु दूरमपहरामि इत्यन्दनम् ।
कदाचिदयमनार्यं तु शासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति ।' इत्यरिक्त्वा भीतिषुद्देयः ।

शत्रुओं के द्वारा किया गया भय उद्देग कहलाता है । जैसे रत्नावली में वासवदत्ता
सागरिका का अपकार करने वाली है अतः उसकी शत्रु है । अब वह सागरिका को पकड़ कर
ले जाती है तो सागरिका की भय होगा है, अतः यह उद्देग है । सागरिका की इन उक्ति में
रही का संकेत है—

'क्या पुण्य न करने के कारण इच्छा से मरा भी नहीं जाता ।'

और जैसे वेणीसंहार में, सूत की निम्न उक्ति उसके भय की व्यञ्जक है । '(सुन्दर, हर के
साथ) क्या यह कौरव राजकुमारों के महान् धन के लिए भीषण दंष्ट्रावात (प्रकृत वात) के
समान भीमसेन समीप ही आ गया है और महाराज बेहोश हैं । ठीक है, रथ को दूर ले जाता
हूँ । शायद यह उ'शासन की तरह इनके साथ भी अनुचित व्यवहार कर बैठे ।'

अथ सभ्रमः—

—शत्रुवासी च संभ्रमः ।

यथा रत्नवत्याम्—'विदूषक'—(परचर) का उण एता । (ससंभ्रमम्) कथं देवी वासवदत्ता भक्तार्ण मावादेदि । ('का पुत्ररेषा । कथं देवी वासवदत्तामानं व्यापा-
वर्ति' ।) राज्ञा—(ससंभ्रममुपसर्जनं) प्राप्तौ कायौ । इत्यनेन वासवदत्तायुक्तिरुद्दी-
ताया सागरिकाया मरणाद्व्यासंभ्रम इति ।

यथा च देवीसंहारे—(नेपथ्ये फलकान्) अर्थायामा—(ससंभ्रमम्) मातुल ।
मातुल । कथम् । एष श्रोत्रु प्रतिष्ठाभङ्गभोक्तः किरीटी सभं शरवर्षैदुस्योषनापेयावभि-
रकति । सर्वथा पीतं योगित दुःखायनस्य भविते । इति शब्दा । तथा (प्रविरय
संभ्रान्त सप्रहार) सतः—श्रायतां श्रायतां कुमार । इति भास । इत्येताभ्यां प्राय-
शब्दाभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूत्रकाभ्या पाण्डवविजयज्ञान्याशान्वितः संभ्रम इति ।

जहाँ पात्रों में संका एवं भय का संघार हो, वहाँ संभ्रम माना जाता है। जैसे
रत्नवती में वासवदत्ता की उक्ति से उद्दीत सागरिका के मरने की आशंका निम्न कति में पार्
वती है, अतः यहाँ संभ्रम है।

विदूषक—(देसकर) पद कीन है ? (पररा कर) क्या देवी वासवदत्ता अपने भाप की
मार रही है (आत्महत्या कर रही है) ।

राजा—(परराहट के साथ आगे बढ़ते हुए) वह कड़ा है, पद कड़ा है।

और जैसे देवीसंहार में, वीसरे अंक में वास तथा रीका श्रेण तथा दुःशासन के वध की
पलक है, वनसे पाण्डवों की विजय ही प्राप्तया अभिगत है, अतः यहाँ संभ्रम नामक पात्रों है,
नितकी यजना निम्न स्थल पर हुई है।

(नेपथ्य में बोलुदाह) अर्थायामा (परराहट)—मार्गा, माता, बड़े दुःख की बात है।
मार्दे की प्रतिष्ठा में भङ्ग होने से बरा हुआ वह अर्जुन कर्णों की वपों के साथ दुर्योग व कर्ण
वा पीछा कर रहा है। भीम ने सचमुच दुःशासन का सूत्र पी' ही लिया। यहाँ अथवा
की चला ही रही है कि भीम कहीं अपनी प्रतिष्ठा पूरी न कर ले। 'रती के भागे अब शीघ्र
छाया हुआ दुःशासन का सारथि अथवात्थाना के पास आकर उसे वननि को बरहा है—'कुमार
दुःशासन भी रहा करो, वही बचावों, तो पास की अभिप्यथना होती है।

अथाद्येप—

गर्भबीजसमुद्भेदादाद्येपः पत्तिकीर्तिताः ॥ ४२ ॥

यथा रत्नवत्याम्—'राज्ञा-धयस्य देवीप्रसादनं मुञ्जसा नान्मश्रीपायं परवामि ।'
एनं कमान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादेनं प्रति निष्प्रत्याशो भूता' स्मः पुनः । 'तत्किमिह दिपयेन
देवीमेव यत्वा प्रसादयामि ।' इत्यनेन देवीप्रसादादपत्ता सागरिकायामावसिद्धिरिति गर्भ-
बीजोद्भेदादाद्येपः ।

यथा च देवीसंहारे—'सुन्दरक—'ब्रह्मा क्षियोप देव्यं उभ्रातहामि तस्य वध
एवं निम्नरिद्धविदुरवमननीधस्य परिभुदपिदातादिदीपदेसुन्दरस्य सतनिकेपेच्छा-
रणसङ्गुलस्य पूरुविपरादिशो पद्यातीकेरणसङ्गुलस्य फलं परिशमेदि ।' ('अथवा
क्षियत देवसुकातमामि तस्य सन्नेतभिर्भरिष्ठतविदुरवचमभीमस्य परिभूतपिदापहदितो-
पदेराहस्य सङ्गुनिभोराहाहस्यमूलस्य वृष्टिवपरायिनी पायातीकेराप्रहणसङ्गुलस्य
परां परिणमति' ।) इत्यनेन धीप्रमेव पक्षोन्मुसतयासिप्यत इत्याद्येपः ।

पत्तानि दारता गर्भजाति प्रारथयाप्रवर्तिस्त्वेनोपनिबन्धनीकानि । एषा च अन्वे-

ऽभूताहरणमार्गतोदकाधिबलात्प्राणा प्राधान्यम् इतरेषां यथासम्भव प्रयोग इति साज्ञो गर्भसंधिरुक्त ।

जहाँ गर्भ एव बीज, अथवा गर्भ के बीज का उद्भेद हो, जहाँ बीज को विशेष रूप से प्रकट किया जाय, वहाँ आक्षेप कहलाता है। जैसे रत्नावली में राधा की निम्न उक्ति से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टिकारिणी प्राप्ति वासवदत्ता की प्रसन्नता पर ही भाषित है। इसके द्वारा उदयन गर्भ बीज को प्रकट कर देता है, अतः यहाँ आक्षेप है।

‘राजा—मित्र, अब देवी वासवदत्ता की मनाने के अलम्बा मुझे कोई उपाय नजर नहीं आता। × × × देवी के प्रसन्न होने के बारे में हमें बिल्कुल आशा नहीं रही है × × × तो वहाँ रुके रहने से क्या फायदा। जाकर महादेवी को ही क्यों न प्रसन्न करूँ।

और जैसे वैष्णोसंहार में, सुन्दरक की निम्न उक्ति के द्वारा बीज की पलोन्मुखता का आक्षेप कर उसे प्रकट कर दिया गया है—‘अथवा मैं ईश्वर को क्यों दीप हूँ। यह तो उसी षड्यन्त्र रूपी विषवृक्ष का फल पक रहा है, जिसका बीज विदुर के बचनों की अवहेलना करना था, जिसका अंजुर भीष्मपितामह के द्रोणपदेश का तिरस्कार था, जो शकुनि के प्रोत्साहन की वजह से टिका था एवं जिसका फूल द्रौपदी के बालों की पसीरना था।’

ये गर्भसंधि के बारहों अर्थ प्राप्त्याद्या के पोषक तथा प्रदुर्गक के रूप में निबद्ध होने चाहिए। इनमें अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल तथा आक्षेप प्रमुख हैं, बाकी का यथासम्भव प्रयोग हो सकता है। यहाँ तब गर्भसंधि के अर्थों का वर्णन किया गया।

अपावमर्श—

क्रोधेनाधमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।

गर्भनिर्मिन्नवीजार्थः ‘सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥ ४३ ॥

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचन तथा क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा ‘भविष्यव्यमनेनार्थेन’ इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसंयुद्धिष्वकीर्णार्थसंबन्धो विमर्शोऽवमर्शः, यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्कमिन्द्रवचनान्तो वासवदत्ताप्रसन्नतया निरपाय रत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः । यथा च वैष्णोसंहारे हुयंघोचनधिराक्षमीमत्ते भागमपर्यन्त —

‘तीर्थं भोष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निवृत्ते

कृष्णोऽशिवभोगिनि प्रशामिते शल्येऽपि याते द्विवम् ।

भीमेन प्रियसाहसेन रमसादृशपावशेषे अथ

घर्षे औचित्यशय्ये अथममी वाचां समारोपिता ॥’

इत्यत्र ‘स्वल्पावशेषे अथे’ इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहारथवधाएव धारितैकान्तविजयभावमर्शानादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शासंधिः ।

जहाँ क्रोध से, व्यसन से वा विलोभन (होम) से जहाँ फल प्राप्ति के विषय में विचार वा पर्यालोचन किया जाय; तथा जहाँ गर्भसंधि के द्वारा बीज को प्रकट कर (फोड़) दिया गया हो, वह अवमर्श संधि कहलाती है।

अवमर्श शब्द की व्युत्पत्ति ‘अव’ उपसर्ग पूर्वक ‘मृन्’ पाठ से ‘अम्’ प्रत्यय से हुई है, जिसका अर्थ बर्त है जो इसके ‘स्युद्’ वाले रूप अवमर्शन का है। दोनों का अर्थ है विचार,

(१) ‘सोऽवमर्शोऽङ्गमह’ इति पाठान्तरम् ।

निवेदन या पर्यालोचन) यह फलप्राप्ति की पर्यालोचना क्रोध, व्यसन या विलोमन के द्वारा हो सकती है। 'यद् बीज अस्त्र दोगी' इस प्रकार फलप्राप्ति के निश्चय का निर्धारण वर्द्ध पाया जाय तथा गर्भसन्धि के द्वारा प्रकटित बीज से वर्द्ध सम्बन्ध पाया जाता है, वह पर्यालोचन (विमर्श) अन्वयार्थ कहलाता है। जैसे रत्नावली के पीछे अंक में वासवदत्ता की प्रसन्नता से रत्नावली की प्राप्ति बिना किसी विघ्न के समभव है, इस विमर्श की अथवा अग्निदाह तथा वसते लोगों से भाव्यर करने के वर्णन तक ही गई है।

और जैसे वेणोर्ध्वार में, दुर्योधन के खून से लपपथ होकर भीमसेन आता है, उस वर्णन तक विमर्श (अन्वयार्थ) सम्पन्न है। यदा युधिष्ठिर नीचे के पक्ष में 'जीव वदुत धीवी दधी है' (स्वभाववशेषे जये) के द्वारा, समस्त शत्रुओं, भीष्मादि महारथियों के बध से अथ विजय निश्चित रूप से निर्धारित हो गई है, इस बात की पर्यालोचना करता है, अतः अन्वयार्थन दिखाया गया है—

'किन्ती तरह भीष्मरूपी महासमुद्र की भी पार कर लिया, द्रोणरूपी अग्नि भी कुछ चुका है, वर्ण रूपी अद्रीका साँप भी शान्त हो चुका, और राज्य भी स्वर्ण चला गया। इतना होने पर तथा विजय के बहुत धौड़ा रह जाने पर सादृशी भीमसेन ने शीघ्रता के साथ हम सब की शानी के द्वारा जीवन के सशय से मुक्त बना दिया है।'

उत्साहप्रसङ्गमाह—

तत्रापवादासंफोटो विद्रवद्रवशक्तयः

द्युतिः प्रसङ्गप्रद्वंजनं व्ययसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥

प्ररोचना विचक्षणमादानं च प्रयोदश ।

इस अन्वयार्थ संधि के अर्थों को धर्मेन करते हैं—अपवाद, संफोट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, दृढन, व्ययसाय, विरोधन, प्ररोचना, विषलन और आदान—अन्वयार्थ के ये चेरह अंग होते हैं।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

दोषप्रस्थानपवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम्—'सुवदता—सा तु तवस्तिष्णी भद्रिणीए उच्चर्षिणी शीघ्रदिति पवाद करिअ उचरिबदे अदरसे च प्राणीश्रदि कर्षिणि नीदिति । ('सा खलु तपस्विनी भद्रिण्योच्चरिणी नीवत इति प्रसादं कृत्वापस्विपतेऽर्धरात्रे न हायते कुशारि नीदिति ।) 'विद्रवक—(सोद्रेणम्) अदिनिर्घणं कृत कदं देवीए । ('अतिनिर्घणं खलु कृतं देव्या ।) पुन —'भो ययस्व ! मा तु अण्णभा संभावेदि सा तु देवीए उच्चर्षिणी पेरिवा अदो अण्णिअं ति कहिदम् । ('भो ययस्व ! मा खल्वण्णया समापय सा खलु देव्योच्चरिण्या प्रेरिता अतोऽभियमिति कथितम्) राजा—अदो निरजुरोधा मयि देवा ! 'इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रस्थापनादपवादः ।

यथा च वेणोर्ध्वारे—'युधिष्ठिर—पाथात्तक ! कश्चिदावादिता तस्य दुष्टात्मनः कोपारणस्य पदवी ! पाथात्तक—न येयत् पदवीं स एव दुरात्मनः देवीकेशपादास्यर्धपातकप्रधानहेतुफलन्वय ।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रस्थापनादपवाद इति ।

अहां किन्ती पात्र के दोषों का वर्णन किया जाय, वर्द्ध अपवाद होता है। जैसे रत्नावली में राजा सागरिका के प्रति वासवदत्ताहून स्वभाव को धुनकर मानवदत्ता के दोष का वर्णन करता है, अथवा वर्द्ध अपवाद है।

*सुसंपत्ता—उन्हें उज्जैन ले जाया जा रहा है इस तरह की अफवाह उठा कर देवी वासवदत्ता के द्वारा आषी रात के समय वहां नहीं वह बेचारी (सागरिका) कहा ले जाई गई ।'

विदूषक (धनराकर)—देवी ने बड़ी कड़ीरता की है । X X X दे मित्र, कोई दूसरी रात न सागरना, वह तो सचमुच देवी ने उज्जविनी भेज दी है, इस छिपे वह समाचार अप्रिय है ऐसा हमने कहा है ।

राजा—भरे, देवी वासव'ता मेरे प्रति बड़ी निष्कलण है ।'

और जेते बेनीसहार में निम्न वातालाप में दुर्वोधन के दोनों का वर्णन है, अतः अफवाह नामक अवगर्थाय है ।

*सुभिद्विर—पांचालक, क्या उस नीच कौरव-दुर्वोधन के मार्ग का पता चला ।

पांचालक—उसका मार्ग ही नहीं देवी द्रौपदी के केशपाश के हृद्य रूपी पाप का प्रधान कारण वह दुष्ट स्वयं भी पा लिया गया है ।

अथ संकेत—

—संकेतो रोपभाषणम् ।

यथा बेनीसहारे—भो कौरवराज ! कृतं व'पुनाशदर्शनमन्युना मैथ विवाद कृया—पर्याप्त पाण्डवा समरायाऽहमसहाय इति ।

पदानां म'यसेऽस्माकं य सुयोध सुयोधन ।

दशितस्यात्तराक्षस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सव ॥

इत्थं श्रुत्वाऽप्यारिभर्ता निश्चिप्य कुमारयोर्दंष्टिमुष्णसाधार्तराष्ट्र —

कर्णदुःशासनवधात्सत्यावेव दुर्वा, मम ।

रा — अभिमोक्षपि प्रियो योदु त्वमेव प्रियसाहस ॥

'इत्युत्थाय च परस्परमोधाधिदेषपरपनाकलहप्रस्तारितयोरसकप्रामौ—'इत्यनेन भीमदुर्वोधनयोरन्योन्यरोपसंभाषणाद्विजयवीजान्वयेन संकेत इति ।

रोप से युक्त वातपीत (रोपभाषण) संकेत नामक विमर्शाङ्ग है । जैसे बेनीसहार में निम्न उक्तियों में भीमसेन तथा दुर्वोधन के रोप संभाषण के कारण संकेत है । यह रोपसंभाषण पाण्डवों की भावी विजय से अन्वित है ।

*भीम—ए कौरवराज, मार्ग के नाश के कारण उत्पन्न शोक व्यर्थ है । इस तरह शोक मन करो कि पाण्डव युद्ध में सुख है और मैं असहाय हू ।

'हे दुर्वोधन, हम पांचों में से जित्त किसी की तुम अच्छा लड़ाका समझो, क्वच कारण किये हुए तथा अच्छी से शुक वसी के साथ दुन्दारा द'द युद्ध रूपी उत्सव हो जाय' ।

(इसे सुनकर दुर्वोधन भीम व अर्जुन दोनों की ओर अघृणाभरी दृष्टि डाल कर (भीम से) कबता है—)

'जैसे तो कर्ण तथा दुःशासन दोनों के मारने के कारण तुम दोनों मेरे लिए बराबर (निश्चिकारी) हो । जैसे तुम बड़े अप्रिय हो किन्तु फिर भी लड़ने के लिए तुम्हीं प्रिय हो, क्योंकि तुम प्रिय साहस हो ।' (इस तरह उठ कर एक दूसरे के प्रति गुस्से से, परहण शब्दों का प्रयोग करते हुए तथा घोर संग्राम की विस्तारित करते हुए भीम व- दुर्वोधन (गदायुद्ध में मञ्च, हो गये) ।

अथ विद्वेष—

विद्वेषो वचनघादिः—

यथा छलितरामे—

'गिनाइत्य सुखानि काम पटसामरयन्तागारितं'
 यालये वेन हस्ताशसुनवलेप्रप्रयपणे प्रीवितम् ।
 गुप्ताकं हृदय स एष विशिखैरपूरितासस्यलो
 मूर्च्छापोरतमप्रवेशविपरी चङ्गा लवो नोयते ॥'

यथा च रत्नावल्याम्—

'दम्ब्याणां हेमश्चक्रश्रियमित्य शिखरैरुन्निषामादधान'
 साप्रोधानगुमाप्रगलपनविशुनिनात्यन्ततीवामिताप ।
 कुर्वन्नीत्सामदीपं सभजजलधरस्यामलं धूमपातै—
 रेष लोपार्तवोपिक्कन हृह सटसैवोत्थितोऽन्त पुरेऽस्मि ॥'

हरयादि, पुन । 'कासवदत्ता—अश्रवत । ण क्खु अहं भ्रतणो वीरणादो भवाभि
 एसा भए गिगिधजहिअभाए सज्जा सापरिथा विवधदि ।' ('आर्यपुत्र] न सख्यह-
 मालमन करणाशुभाणि एया ममा निर्घृणहृदयया संवता सागरिदा विपश्यते ।) इत्यनेन
 सागरिकावचनभासिनिर्दिष्ट इति ।

किसी पात्र का मारा जाना, बँध जाना (बन्दी हो जाना), खादि (अर्थात् भय
 से पछायन आदि करना) विद्वय कहलाता है । जैसे छलितराम नाटक में—

'जित रूप मे नचपन में सामवेद पढ़ते हुए तुम्हारे मुँह को बन्द करके बहुत तकलीफ दी
 थी, जिसने अक्षयजो की माला को छिपाकर फिर से वापस देकर खेल किया था, वह तुम्हारा
 हृदय—यह लज, जिसका वह रसक तीरों से निभ गया है और जो मूर्च्छा के अन्धकार के कारण
 बेवस हो गया है, बोल कर ले जाया जा रहा है ।'

और जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका के कल्पना, मरण की आर्षेज, तथा अन्निरूप
 मय के वर्णन के कारण निम्न स्थल में विद्वय भावक विवर्णित है ।

जो अपनी लफटों के किनारों से जैसे महलों की छीने के बँसुरों की शीमा की धारण कर
 रहा है, जो अपने तीव्र ताप की खजना पने पाप के पेटों के अम माव को झुल्ला कर दे रहा
 है; ऐसा अग्नि अक्षय अत पुर में फैल गया है । इसके पुर से कीटापर्वत पानी से घरे
 बादलों के समान काला हो गया है, तथा इसके ताप से अन्न पुर की खिरी मयभीत हो घड़ी है ।'

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, मैं अपने शिप नहीं कहती, निष्करण मेरे द्वारा बन्दी बनाई हुई
 यह सागरिका मर रही है (जल रही है) ।'

अथ द्वय —

—द्वयो मुखतिरस्कृतिं ॥ ४४ ॥

यथोत्तरवरिते—

'पृदास्ते न विचारणीयचरित्तास्तिष्ठन्तु तुं वसंते
 मुन्दधीदपनेऽप्यस्यवदशसो लोके महान्तो हि ते ।
 कानि त्रीभ्यकुतोमुत्तान्यपि पदान्वासन्तरापोधने
 वशा कौशलमिन्द्रसुदमने तथाप्यग्निषो जन ॥'

१. यह नाटक अद्वयकल्प है । कवि का नाम माण्डवत था ।

इत्यनेन लघो रामस्य गुरोस्तिरस्कार कृतवानिति द्रव । --

यथा च वेणीसहारे—'युधिष्ठिर'—भगवान् कृष्णाम्ब सुभद्राभाते ।

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो

रूढ सद्यः तदपि गणितं नानुजस्वार्जुनेन ।

गुरव्यं कामं भवतु भवतु शिष्ययो स्नेहबन्ध' ५

कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभागे मयीत्यम् ॥'

इत्यादिना यत्तुभद्र गुरु युधिष्ठिररितासकृतवानिति द्रव ।

जहाँ वैसे व्यक्तियों (गुरुओं) का तिरस्कार हो, वहाँ प्रव नामक विमर्शोंग होता है—
जैसे उच्छरामचरित में निम्न पद्य में लव पूज्य रामचन्द्र का तिरस्कार करता है अतः द्रव है—

'वे बड़े लोग हैं अतः उनके चरित्र की चर्चा करना ठीक नहीं । जैसे भी हों रहने दो ।
ताड़का (सुन्द की की) के मारने पर भी अल्पवयस्य बालक वे लोग मदान् हैं । खर के
साथ युद्ध करते समय मुँह को बिना फेरे ही जो पीछे तीन कदम रखे गये और बालि
(इन्द्रधनु) के बंध के समय जो कौशल बताया गया, उसे भी सभी लोग जानते हैं ।'

और जैसे वेणीसंहार में, युधिष्ठिर पूज्य बलभद्र का तिरस्कार करता है, अतः द्रव है—

'भगवन् कृष्णाम्ब, सुभद्रा के भार, बलराम न तो तुमने आति की प्रीति का ही विचार
किया, न क्षत्रियधर्म ही का विचार किया । तुम्हारे छोटे भार कृष्ण का अर्जुन के साथ जो
प्रेम है, जो मित्रता है उसका भी कोई खयाल नहीं किया । ठीक है, पर तुम्हारा दोनों दिव्यों
(भीम व दुर्योधन) के साथ समान रवैह होना चाहिए । फिर यह कौन सा बर्तन है कि तुम
मुझ मन्दभागे के प्रति इस तरह नाराज हो ।'

अथ शक्तिः—

विरोधशमनं शक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—

स'शजे' शपथे' प्रियेण वचसा विसालु हृत्प्राधिक

वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्ये सञ्जीनी मुहुः ।

प्रवाससिमुपागत नदि तथा देवो हृत्वा यथा

प्रभास्यैव तथैव धाम्पसद्विनै' कोपोऽपनीत' स्वयम् ॥'

इत्यनेन साम्प्रदायिकविरोधिसवदत्ताद्योपोपरामनाच्छक्तिः ।

यथा चोत्तरचरिते लवः प्राह—

'विरोधो विश्रान्त प्रसरति रसो निर्भूतिघन-

स्तदीदरय वापि मजति विनय प्रदयति माम् । --

मृदित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परधानस्मि यदि वा

महापस्तीर्यानामिह हि महता कोऽप्यतिशुभ ॥

विरोध का शान्त हो जाना शक्ति कहलाता है । जैसे रत्नावली में निम्न पद्य में
साम्प्रदायिक का विरोध करने वाली वासुदेवा के क्रोध को शान्ति का सकल मिलना है,
अथ यह श्लोक है ।

'मृदी शपथों से, प्यारे वचन से, अधिक प्रेम के बर्तन से, अत्यधिक लज्जा से, वैरो पर गिरने

से तथा बार बार सक्षियों के बचनों से देवी वासवदत्ता वैसी प्रसन्न न हो सकी जैसा अपने हृदय की रीकर अपने बाँह के पानी से धोकर ही मोक्ष को निकाल दिया ।

और जैसे उत्तर रामचरित में राम को देखकर सब कहता है—

‘मैरा विरोध धान्त हो गया है, एक शांत सपन इस जैसे हृदय में फैल रहा है, वह बदलता पता नहीं कहाँ चली गई है, कितनपता मुझे झुका रही है । यदि ईश्वर देखते हो मैं एक दम पराधीन हो गया हूँ तो बड़े व्यक्तियों का प्रभाव इतनी तरफ महान्वय तथा महत्वपूर्ण होता है, जैसे पवित्र स्थानों का ।’

अथ पुति —

—तर्जनीवेजने पुतिः ।

यथा वेणीसंहारे—एतद्य वचनमुपभ्रंस्य रामसुन्दर्य सकलानिकुप्रपूरितासातिरिक्त-
सुदुर्दान्तसतिलचरशतसंकुल प्रासोदुस्सनवप्राहमालोभ्य रार सलिलै भौरवं च यजित्वा
कुमारपुत्रोदरेणाभिहितम्—

जन्मोन्दोरमले कुले ध्यवदिशस्त्रयापि धत्ते यदा

मां वुशासनकोष्णशोषितसुराक्षीय रिपु भाषसे

द्वर्षान्मो मशुकैटमद्विपि द्दरावप्युदात्त चेतसे

ममोष्ठान्पुशो विहाय समरं पट्टेऽपुना लीयसे ॥

इत्यादिना ‘स्यक्तोत्थित’ ‘सरभसम्’ इत्यनेन दुर्वचनव्रतान्जलोचनाभ्यां दुर्वोचन-
तर्जनीद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवधिनयासुकूलदुर्वोचनोरथापनहेतुभ्या भीमस्य पुतिवशा ।

किसी पात्र का तर्जन तथा उद्वेजन करना पुति कहलाता है । जैसे वेणीसंहार में भीमसेन दुर्वचन तथा जलानलीहण (सरोवर के पानी के गंधने) से दुर्वोचन को मयभीत (तन्निव तथा उद्वेजित) करता है, तथा ये तर्जन व उद्वेजन एक ओर दुर्वोचन के पानी से बाहर निकलने के तथा पाण्डव विभव के कारण है । अत यहाँ पुति है । बसको सकेत इस वक्ति में है—

‘कृष्ण के इस वचन की सनकर सारे निकुंज से गरी दिशाओं के विरे सरोवर के पानी को दिलाकर, जो वरे हुए सैकड़ों जलजन्तुओं से लुका था, तथा जिसके मगर और यद्विपाल वर से दूबने-उतराते थे,—तथा जोर से गर्बना करके कुमार भीमसेन ने कहा—

अपने भापकी चन्द्रमा के निर्मल कुल में उत्पन्न करना है, तथा अभी भी गदा धारण किये है, दुःधासन के गरम लून की शरार से मस्त मुझे झपु कइता है, पाण्ड से आधा होकर मशुकैटम के लानु कृष्ण के प्रति भी बड़त व्यवहार करता है, (और) है नीच मानव, मेरे वर से मुद्वन्मि को छोड़कर भर को पद में छिपता है ।’

अथ प्रसङ्ग —

शुककीर्तनं प्रसङ्गः—

यथा रत्नावल्याम्—‘देव यातो सिंहलोधरेण स्वपुदिता रत्नावली यामादुध्वती
पाण्डवर्षा हरमासुपसुस्य देवाय पूर्वप्रापिता यती प्रतिदत्ता ।’ इत्यनेन रत्नावल्या
सामलपुत्राभिजनप्रकारिणा प्रसङ्गाद्दक्षकीर्तनेन प्रसङ्ग ।

यथा पुराणविक्रियाम्—‘वाशालक —एव जागतदसदस शुभो भवविगमदसदस
सत् पाण्डुदत्तो वाशालक वरप्रदाण जीमदि एदेण किञ्च गविमा वसन्तयेना शुभव-
७ ६०

लोभेण चावादिह सि ।' ('एष सागरदत्तस्य पुत्र आर्यविन्ददत्तस्य नत्ता चावदत्तो व्यापादयितुं मय्यस्थानं नीयते एतेन किं गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति ।')

चारदत्त—

मखशतपरिपूतं गोप्रमुद्गावितं यत्

सदसि निविड्चैत्यम्राधोषैः पुरस्तात् ।

मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-

स्तदसदशमनुष्यैर्गुण्यते घोषणायाम् ॥'

इत्यनेन चारदत्तधाम्बुदयासुकुलं प्रसङ्गादुरुक्षीर्तनमिति प्रसङ्ग ।

जहाँ पूज्य व्यक्तियों (गुरुओं), मातापिता आदि का संकीर्तन हो, वहाँ प्रसंग नामक विमर्शात् होता है । (अथवा जहाँ महारवपूर्ण (गुरु) वस्तु की चर्चा हो वहाँ प्रसंग होता है) । जैसे रत्नावली नाटिका में दोग्धरायण निम्न उक्ति के द्वारा प्रसंग से गुरु (पूज्य, सिंहलेश्वर) का संकीर्तन करता है (अथवा राजा के प्रति महारवपूर्ण समाचार को बहता है), इस 'गुरु कीर्तन' के द्वारा रत्नावली के काम के अनुकूल सम्बन्धियों का प्रकाशन किया गया है, अतः यह प्रसंग है—'स्वामिन्, देवी वासवदत्ता को बला बुधा सुनकर पहले से ही प्रापित ओ रत्नावली नामक पुत्री सिंहलेश्वर से स्वामी को खी रे, " (वही बंद रे) ।'

और जैसे मृच्छकटिक में, जब चाण्डाल चारदत्त की वसन्तसेना के बध के दण्ड के लिए मारने से चारदत्त है, तब उनकी घोषणा सुनकर चारदत्त अपने कुल, शील, तथा अम्बुदय का स्मरण कर प्रसंग से उनकी कीर्तन करता है, अतः गुरुकीर्तन होने के कारण निम्न स्थल में वहाँ भी प्रसंग नामक अवमर्शात् है ।

'चाण्डाल—यह सागरदत्त का पुत्र, आर्य विन्ददत्त का पौत्र, चारदत्त बध' के लिये बन्धस्थान ले आया जा रहा है । इससे सोने के लोभ से गणिका वसन्तसेना को मार दिया है ।

चारदत्त—ओ मेरा गोत्र (कुल) चैत्यों के मध्यधोषों के द्वारा समा में सैकड़ों हवनों से पवित्र तथा देवीभ्यमान होता था, वही आज मेरे शत्रु की अवस्था में वर्तमान होने पर (चाण्डालों जैसे) नीच तथा पापी (अयोग्य) मनुष्यों के द्वारा घोषणा के रूप में घोषित किया जा रहा है ।

अथ छलनम्—

—छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अहो निरनुरोधा मयि देवी ।' इत्यनेन वासवदत्तये-
छासंपादनाद्दत्तस्यराज्यावमाननाच्छलनम् । यथा च रामाभ्युदये सीताया परिव्रामेनाऽ
वमाननाच्छलनमिति ।

जहाँ कोई पात्र किसी दूसरे की अवज्ञा (अवमान) करे, वह छलन कहा जाता है । जैसे रत्नावली में वासवदत्ता रत्नावली समागम में विश्व उपस्थित करती है, इस प्रकार यह वासवराज की ईप्सित वस्तु का सम्पारन नहीं करने के कारण अवज्ञा अवज्ञा करती है, अतः अवमान के कारण वहाँ छलन नामक अवमर्शात् है । इसकी स्पष्टता राजा की इस उक्ति से होती है—

१. 'गुरुकीर्तन' की श्रुत्यति, गुरुणा कीर्तनं मो ही सहस्री है, गुरु येन कीर्तनं भी हो सकती है । अतः हमने कीटक में गुरुकीर्तन के कर्मधारय वाले अर्थ को भी राट कर दिया है । जैसे उदाहरणों को देखते हुए दोनों श्रुत्यति ठीक वैसी हैं ।

'अरे, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति बड़ी निष्कलण है।' अथवा जैसे रामानुजय नामक नाटक में सीता को खींच कर वृंक्षनी अवस्था (अवसान) की गई है, अतः धूलन है।

अथ व्यवसाय—

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः—

यथा रत्नावल्याम्—'ऐन्द्रजातिक—

किं परणीए मित्रहो आधाते नदिहरो जले कलणो ।

मज्जकहम्मि पञ्चोसो दाविणजठ देहि आणत्तिम् ॥

अथवा किं बहुशा जन्पिएण—

मज्जक पदण्णा एता भणामि हिअएण ज महसि ददुहम् ।

तं ते दायेमि कुचं शुक्को मन्तप्पहावेण ॥'

(' किं परणीयां मृगाक आकारो महीधरो जले जलन ।

मन्थाहे प्रकोपो ददर्यतां देहाङ्गमिम् ॥

अथवा किं बहुना जल्पितेन ।

मम प्रतिद्वेषा भणामि हृदयेन यदाच्छसि इहम् ।

तते दृश्यामि स्फुट पुरोर्मेन्द्रप्रगाथेण ॥'

इत्यनेनेन्द्रजातिको निष्पामिसंभ्रमोत्थापनेन धत्तराजस्य हृदयस्यसागरिकादर्शनात्पुंस्तुलां स्वशक्तिमाविष्कृतवात् ।

यथा च वेणीसंहारे—

'मूल तेनाथ वीरेण प्रतिज्ञानन्दमोदण ।

बन्धते केशपाशस्ते स चास्याकर्मणे क्षम ॥'

इत्यनेन युधिष्ठिर स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

जहाँ कोई पात्र अपने सामर्थ्य के विषय में कहे, (जहाँ स्वशक्त्युक्ति पाई जाय), वहाँ व्यवसाय नामक अवसरार्थ होता है। जैसे रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में ऐन्द्रजातिक हूरी आग फेला कर धत्तराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अत्रुक्ल अपनी शक्ति की प्रकट करता है। इसकी ध्वनि इतनी शक्तिशाली है, ऐन्द्रजातिक की शक्तियों है—

'आधा देविये, क्या मैं अपनी पर चन्द्रमा, आकाश में धरती, मल में आग, और मेघपाठ के सम्य धरोप (पति का मारम्भ) दिखाई है। अपना मैं जपारा हीन वषों मारुँ। मेरी प्रतिषा यह है, मैं हृदय से कह रहा हूँ, आप को कुछ देखना चाहते हैं, शुकुकी के मन्त्र के प्रभाव के कारण मैं वही आपको दिखा सकता हूँ ।'

और जैसे वेणीसंहार के निम्न पद्य में, युधिष्ठिर भीम की वीरता का वर्णन करते हुए अपनी दण्डशक्ति की प्रकट कर रहे हैं—

'प्रतिष्ठा के पूर्ण न होने के कारण मैंने भीम भीमसेन के द्वारा आज तुम्हारा यह नृदा (केशपाश) धरकर शोभा जावेगा । और यह इसके पूर्ण करने में पूर्णता शक्त है ।'

१. यहाँ मूल में 'बन्धते' पाठ है, किन्तु यहाँ वर्तमान का प्रयोग निकटवर्ती भविष्य के अर्थ में हुआ है—'वर्तमानशान्तिमे वर्तमानवदा ।'

अथ विरोधनम्—

—सरग्धानां विरोधनम् ।

यथा वेचीसंहारे—‘राजा—रे रे मरुतनय किमेव वृद्धस्य राह पुरतो निहितस्य
मात्मकर्म श्लाघते ! अपि च—

कृष्टा वेशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राहस्तयोर्वा
! प्रयस्य भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृत तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाहोर्बाय्यातिसारद्रविणशुभमद मामन्विष्वैव दर्प ॥

(भीम क्रोध जाटयति) अर्जुन —आर्य प्रसीद किमत्र क्रोधेन !

अत्रियानि करोत्येष धावा शक्तो न कर्मणा ।

इतन्मातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥

भीम —अरे भारतकुलकलह ।

अथैव किं न विसृजेयमहं भवत

! दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।

विघ्न शुक्ल न कुरुतो यदि मरुकराम-

निर्मियमानरणितास्थिति ते शरीरे ॥

अन्यथ मूढ ।

शोक स्त्रीवन्नयमसलिलैर्येस्परित्याजितोऽसि

भातुर्पक्ष स्थलविबलने यथ साक्षीकृतोऽसि ।

आसीदेतत्तत्र कृतपते कारण जीवितस्य

मुद्धे पुष्पकण्ठकमलिनीकृपरे भीमवेने ॥ ५

राजा—दुरात्मन् भारतकुलापसद पाण्डवपशो ! नाह भवानिव विक्रमनाप्रयत्नम् ।

किन्तु—

इद्वन्ति अविरासुप्त बाघवास्त्वा रणाङ्गणे ॥

मद्गदामिजवधोऽस्थिवेगिच्छामहर्षीवणम् ॥'

इत्यादिना सरन्वयोर्भोमदुर्बोधनयो स्वशक्त्युक्तिविरोधनमिति ।

अहाँ क्रुद्ध पात्रों के द्वारा परस्पर स्वशक्ति का प्रकटीकरण हो, वहाँ विरोधन नामक अवमर्जाङ्ग होता है । (वहाँ मूल के संरग्धानां के साथ ५७ वीं कारिका के प्रथम चरण का स्वशक्त्युक्ति पद अनुवर्तित हो जाता है ।) वेत्ते वेणीसंहार में निम्न स्थल में क्रुद्ध भीम व दुर्बोधन दोनों अपनी-अपनी शक्ति की वचनों द्वारा प्रकट करते हैं, अतः विरोधन है ।

‘राजा (दुर्बोधन)—रे बाण के पुत्र इस तरह बड़े राजा (धृतराष्ट्र) के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशंसा क्यों करता है ? और भी—

उसी तुझ पक्ष की, उस राजा (दुर्बोधन) की और उस दोनों की स्त्री को, उस दुर्प में जीती दुर्ग दासी (द्रौपदी) को, लोक के स्वामी मेरी आज्ञा से राजाओं के सामने बालों

से सँचा गया। इस वर में क्या तो सही उन राजाओं ने तेरा क्या विगलना था, जो बुद्ध में मारे गये। दोनों भुजाओं के अतिशय बलरूपी धन के भारी मर बाधे मुझे जाते बिना ही (रतना) घमण्ड !

(भीम गुप्तो का अभिनय करता है) अर्जुन—आर्य, प्रसन्न हो, क्षीय करना व्यर्थ है।

यह दुर्वोधन बाणो से हमारा अभिय (दुरा) कर रहा है, कर्म से दुरा करने में यह असक्त है। सौ भारवों के मरने के कारण यह दुखी है, इसके प्रलय से हमें कोई दुःख (भीम) नहीं।

भीम—भरे भरतकुलवल्लभ ! दे कद्रुप्रलापिन्, क्या मैं तुझे आज ही दुःशासन के अनुवसन के लिए न भिजा दूँ (मैं तुझे आज ही अवश्य मार दालूँ)। काश, मेरे दावों के सम्प्रभाव के द्वारा तोमो जाने वाली शब्द करती हुई इन्द्रियों वाले तेरे शरीर में पूज्य धृतराष्ट्र व गांधारी विभ्र न करते होते। और भी मूर्ख, तुम्हारे कुलरूपी कमलिनी की मूढ करने वाले हाथी, भीमसेन के क्रुद्ध होने पर (भी) तुस दुष्ट राजा के नीवित रहने का कारण यह है, कि दूरे मार के वक्र स्थलको कष्टसे समय साक्षां हीकर देला और औरतों को तरद अङ्गुली के द्वारा शोक का'त्याय कर दिया।

राजा—दुष्ट भरतकुलवत्सद भीम पाण्डव, अरे तेरी तरह मैं वीर मारने वाला नहीं हूँ, किन्तु—तेरे बाल्यव अरु अस्त्री ही मुझे बुद्धभूमि में सोया हुआ देखेगे। तेरा वक्र-स्थल, व इन्द्रियों का बोँचा तेरी यदा से दूटा हुआ होगा और वक्र दशा में नू ब्रह्म भीषण प्रतीत होगा।

अथ प्ररोचना—

सिद्धामन्त्रणतो भाविर्दर्शिकां स्यात्प्ररोचना ॥ ७७ ॥

यथा वेणीसंहारे—'पायालक -थद च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कुतं सदेहेन-

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा। राज्याभिवेकाय ते

कृष्णाऽत्यन्तपिरोजिगते च कवरीसन्धे करोतु क्षणम् ।

रामे शासकृष्णरमासुकरे अत्रदुमोच्छेदिनि

कोधान्धे च वृकोदरे परिपताय। जी कुल संशय ॥'

इत्यादिना महत्त्वानि कर्तुमाहापयति देवो बुधिविष्टिर' इत्यन्तेन श्रौपदीकेशवयम-
* बुधिविष्टिराद्यभिवेकयोर्भावितोरपि सिद्धमेव दर्शिका प्ररोचनेति ।

अहाँ कोई सिद्ध व्यक्ति अपने यत्नों के द्वारा मायी बटना की सूचना इस तरह दे, जैसे वह सिद्ध हो, यदा प्ररोचना नामक अयनसङ्घ होता है। जैसे वेणीसंहार में पायालक (दूत) बुधिविष्टर के पास आकर मगवान् कृष्ण का वचन सुनाता है कि भीम की विजय में कोई संदेह नहीं, और बाद में सेवकों की आशा देता है कि महाराज बुधिविष्टर के वच के उपलक्ष में मंगल कार्यों के करने की आशा दी है। इसके द्वारा श्रौपदी के केशवयम रूप तथा बुधिविष्टर के राज्याभिवेक रूप दो मायी बटनाओं की सूचना सिद्ध रूप में ही गई है। अतः यहाँ प्ररोचना है। पायालक की उक्ति का निम्न अंश इसकी सूचना देता है—

'चक्रपाणि मगवान् कृष्ण ने मुझे आज्ञा दी है X X सन्देश की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे राज्याभिवेक के लिए रत्नकलश कुल से पूर्ण हों। श्रौपदी वरु दिनों से छूटे हुए केशों के सँभले के लिए उत्सव मनाये। शीघ्र परशु के द्वारा अत्यन्त हाव वाले, दक्षिणरूपी वृक्ष को घनायने वाले, परशुराम तथा क्षीय से अन्धे भीमसेन के मुक्र (मैं उठरने पर सन्देश की पुंभापण ही नहीं)'

अथ विचलनम्—

विकरथना विचलनम्—

यथा वेणोसंहारे—'भीम—तात ! अम्ब !

सकलरिपुत्रयाशा यत्र यदा स्तुतेस्ते

तृणमिष परिभूतो यस्य गर्वेण लोक ।

रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य

प्रणमति पितरौ वा मप्यम' पाण्डवोऽयम् ॥

अपि च तात !

चूर्णितारोषक्षीरव्य क्षीबो दुःशासनाद्यजा ।

भङ्गा सुयोधनस्वोर्वोर्मीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ॥'

इत्यनेन विषयवीजानुगतस्वगुणाविष्करणद्विवचनमिति ।

यथा च रतनावल्याम्—'यौगन्धरायण —

देव्या मद्रचनाशयाऽभ्युपगत' पत्सुर्वियोगस्तदा

सा देवस्य कलत्रसघटनया दुःख मया स्थापिता ।

तस्या' प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वताम' प्रभो

सत्य दर्शयितुं तथापि षट्पदं शक्नोमि नो लब्धया ॥'

इत्यनेना'यपरेषापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुष'णो कन्यातामो' वत्स राजस्य कृत ।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विवचनमिति ।

जहाँ कोई पात्र आत्मरक्षाया करे तथा हींग मारे, वहाँ विचलन नामक विमर्शोग होता है। जैसे वेणोसंहार में भीम अपने गुणों का आविष्करण करके हींग मारता है, अतः यहाँ विचलन है।

भीम—तात, माता, जिस कर्ण में, तुम्हारे पुत्रों की समस्त शत्रुओं को जीत लेने की आशा वैधी हुई थी, जिसके घमण्ड के द्वारा सारा संसार तिनके ही तरह कुछ समझा गया था, उसी राधा के पुत्र वर्ष की बुद्धभूमि में मारने वाला, यह मध्यम पाण्डव (अर्जुन) आप दोनों (धृतराष्ट्र व गांधारी) माता पिताओं को प्रणाम कर रहा है।

और भी तात, जिसने चारे कौरवों को चूर्णित कर दिया है, जो दुर्वोधन के खून से मल्ट हो रहा है, तथा जो सुयोधन की आँखों को (जन्दी ही) तोड़ने वाला है, यह भीम शिर के द्वारा तुम्हारी पूजा करता है (कुर्से प्रणाम करता है)।'

और जैसे रतनावली में, यौगन्धरायण निम्न उक्ति में, बत्सराज के प्रति वैरा कितना उपकार है, इस बात की स्मरण कराते हुए अपने गुणों का कीर्तन करता है, अतः विचलन, नामक विमर्शोग है।

'मेरे बचन में विश्वास कर देवी वासुदेव्या मे पति के वियोग को प्राप्त किया, और फिर महाराज को (नई) पत्नी दिलाकर मैंने उसे दुःखित बना दिया। फिर भी कुछ भी हो, स्वामी बत्सराज की जगत्-स्वामित्व प्राप्ति उसे अवश्य प्रसन्न करेगी, यह सच है; फिर भी लब्धा के कारण मैं उसे (देवी को) अपना मुल नहीं दिखा सकता।' X X X 'मैंने बत्सराज के लिय देसा कन्या ल म कराया जो संसार के स्वामित्व को दिलाने वाला है।'

अपादानम्—

—आदानं कार्यसंप्रदाहः ।

यथा वेणोसंहारे—‘भीम —ननु भी समन्तपञ्चकर्मचारिणः ।

रक्षो नाहं न भूतं रिपुक्षयिणस्तान्नापिकाश्च प्रथमं

निस्तीर्णोऽप्रतिप्लव्यन्निविशान् क्रीडन क्षत्रियोऽस्मि ।

भो भी राज-संधीरा समरशिखिनिचादम्परोषा कुतं प-

क्षातेननेम लीनैर्दंतकरिदुरगान्गर्हितैरास्वते यद् ॥’

इत्यनेन समस्तदिपुत्रधर्मात्म्यं चक्षुहोतृत्वावसानम् ।

यथा च रत्नलम्बाम्—‘सागरिका—(दिशोऽनलोऽयं) दिक्षिष्या समन्तारो
पञ्चसिद्धो भङ्गन हुम्भवहो अय्य करिस्त्रिदि दुःखायक्षणम् ।’ (दिक्षया समन्तारप्र-
फलितो भगवान्कृतपरोऽयं करिभक्ति दुःखायक्षणम् ।) इत्यनेनान्तरपरेणापि दुःखा-
यक्षणकार्यस्य समीक्षादानम् । यथा च—‘अनारस्तामित्यन्तम प्रभो’ इति दक्षित
येवम् । इत्येतापि प्रयोद्देशावमर्शाश्चिन्ते तन्नैतद्यथावदशक्तिव्यवसायप्रयोजनवादान्नि
प्रधानानीति ।

यद्यपि सादृश्यकार्य उपसंहार की ओर बढ़ने की कामना से ताटक या रूपक की वस्तु
के कार्य को सखुदित करता है अर्थात् समेटने की चेष्टा करता है, तो वह अयमर्थोक्त
वादान कष्टवता है ।

और वेणोसंहार में दुर्बोध को मारकर खोटा इका भीम निम्न अति के डार/सफल
घटनों के बंधकरी कार्य का समाहार करता है अतः अपादान है ।

‘और है समस्तपञ्चकर्म में पूजने वाले, मैं च तो राक्षस हूँ, न भूत ही । मैं तो वह गोपी
सखि है, जिसके अंग शत्रु के शून्यकरी अल मैं धराधोर ही चुके हैं और जो महती महिमा
के समुद्र को धार कर चुका है । हे युद्धकरी अग्नि को ज्वाल में जलने से बचे हुए बोर
राकाभो, तुम्हारा यद् मय स्वर्भ है, जिससे तुम मेरे हुए क्षत्री य गोर्षो की आद में धिय कर
बैठे हुए हो ।’

और जैसे रत्नलम्बी में दुर्गा सागरिका जलती अग्न को देखकर यह समझती है कि चुके
इसका अवेधान हो जायगा । वही दुःखायक्षणरूप कार्य पर समर है —‘अच्छा है, फाटो
और जले हुये अग्नि देवता आज मेरे दुःख का अन्त कर देंगे ।’ और जैसे योग-परायण की
अति निरन्तर को अन्तस्त्वमित्य प्राप्त होया ।

। अगमर्ष के ये २३ अंग हैं । रत्नमे से अन्वय, अति, व्यवसाय, प्रतीचना व आदान के
पौर अंग प्रपुत्र हैं । 4-10-56

अय निर्बन्धवधि—

यीजयन्तो मुरादर्या धिप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥

येकार्यमुपनीयन्ते यथ निर्बन्धो हि तम् ।

यथा वेणोसंहारि—‘अनुभुक्तो—(उदरव्यय सर्वयम्) महाराज ! वर्षसे वर्षसे, अय
पत्तु उपारपीमसेन हुषोपनभ्रतजावनीकृतवफलाशरीरो दुर्लभप्यक्ति ।’ इत्यादिना
श्रीपद्मेकेतार्थसमादादिगुणव्युत्पादितोत्राज्ञानो निबन्धितव्यातोपशिताननेकर्मतया योजनम् ।

यथा च राजलम्बा सागरिचारातापतीवदुर्मुक्तिवाप्रप्यादीनामर्षानो मुक्तत्वमादिपु

प्रकीर्णानां वस्तराजैककार्यार्थत्वम् । 'वसुभूति — (सागरिकां निर्दण्ड्यापचार्यं) बाभ्रव्यं सुसहस्रोयं राजपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्बहणसधिः ।

रूपक की कथावस्तु के सीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अथ एक एक इधर उधर बिखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते हैं, तो वह निर्बहण सधि होती है ।

जैसे बेगीसंहार में कसुकी इस वृत्ति के द्वारा द्रौपदी के वेश संवमन, दुर्वोधन वध आदि मुखसधि आदि के बीचों-बीच जो अरतक नाटक में अपनी अपनी जगह दिखते पड़े थे, एक एह्य की वृत्ति से एकत्रित करता है—

(आगे बढ़कर सुशी से) महाराज की विजय हो, सुवीधन के लून से लाल शरीर वाले ये कुमार, भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आ रहे हैं ।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि के कार्यों (अर्थों) का जो मुखसधि आदि में खर-खर खिटेके पड़े थे वस्तराज के ही कार्य के लिए समाहार होता है । इसकी ध्वना वसुभूति की इस वृत्ति के द्वारा दी जाती है—(सागरिका को देख कर, एक ओर) बाभ्रव्य, यह ती राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखारं पढ़ती है ।'

अथ तदज्ञानि—

सधिविरोधो प्रथम निर्णयः परिमाणम् ॥ ४६ ॥

प्रसादानन्दसमयाः कृतिमापोपगूहनाः । —

पूर्वमाधोपसहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ४७ ॥

इस निर्बहण सधि के १४ अंग हैं—सधि, विरोध, प्रथम, निर्णय, परिमाण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वमाध, उपसहार तथा प्रशस्ति ।

यथोद्देश लक्षणमाह—

सधिविरोधोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति—बाभ्रव्य ! सुसहस्रोयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्य—ममापोवेमेव प्रतिमति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्सधिरिति ।

यथा च बेगीसंहारे—'भीम—भवति यद्वेदिसभवे । स्मरति भवती यत्तमयोक्तम्—

बभ्रुव्यप्रमितवण्डगदाभिपात

सचूर्णितोरुधुगलस्य सुवीधनस्य ।

स्त्यानावनदपनरोणितरोषपाणि

रुत्तसन्निप्यति क्वास्तव देवि भीम ॥'

जब सीज की उद्भावना की जाती है, तो वह सधि मामक निर्बहणांग होता है । जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं । यहाँ नायिका का बीज की उद्भावना की गई है, अतः सधि है । वसुभूति तथा बाभ्रव्य की यह भाषा ही इसकी ध्वनक है—

'वसुभूति—बाभ्रव्य, यह ती राजकुमारी (रत्नावली) के सह्य है ।

बाभ्रव्य—मुझे भी देता ही मालूम पड़ता है ।'

और जैसे बेगीसंहार में भीमसेन दुर्वोधन के लून से रंगे हाथों द्रौपदी का वेश संवमन करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिष्ठा वार दिलाता है । यहाँ भीम की निम्न वृत्ति के द्वारा मुखसधि में उपलब्ध बीज की फिर से उद्भावना किया गया है, अतः सधि नामक निर्बहणाङ्ग है ।

'यज्ञेदी से उत्पन्न श्रौचि ! मैंने जो कहा था, वह तुम्हें पार है ।

बच्चल हाथों से धुआँ गंध गंधा' के प्रहारों से दूरी जाँचो वाके दुर्घोषन के पने चिकने खून से रंगे हाथों काका भोग तुम्हारे मालों को सँभरेगा ।'

अथ विवोधः—

—विवोधा कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूतिः—(निरूप्य) देव कुन इयं कन्युका । राजा-देवी जानाति । वासवदत्ता—अव्यक्त । एषा सागरासो पाविष्मति भगिभ्र अमघसोगन्ध-समरौण मम हृदये निदिहा अदो श्रेव सागरिष्मति सदावीश्रदि । ('आर्यपुत्र । एषा सागराश्रमेति भगिवाऽभारमकौगंधरायणेन मम हस्ते निदिता अत एव सागरिदेति शक्यते । ') राजा—(आरमगतम्) कौमन्धरायणेन न्यस्ता, कषणसी ममानिवेष करिष्मति ।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणधर्मन्येषणाद्विवोचः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—मुषट्टु मुषट्टु मामार्गः क्षणिकम् । सुषिष्ठिरः—किमपरमं वशिष्ठम् ? भीमः—मुषट्टु वशिष्ठम्, संशमज्जमि तावदनेन इ शासनयो-चितोक्षितेन पाणिना पायासया दुःशासनवत्कर्म केयदुस्तम् । सुषिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अतुमवतु तपस्विनीं वेणीसंहारम् ।' इत्यनेन केशसंपन्नकर्मस्त्वान्येषणाद्विवोचः इति ।

जहाँ भावक अथ तक द्विपे हुए अपने कार्य की फिर से प्रोज करने लगवा है, उसे विवोध कहते हैं । जैसे रत्नावली के चतुर्थ अंश में वसुभूति व राजन्य सागरिका को पदचान कर वसुके विषय में वदवन से पूछते हैं, वहाँ निम्न चार्तालाप के द्वारा रत्नावलीरूप कार्य की फिर से खोज होने के कारण विवोध नामक निर्वहणात्त हैः—

'वसुभूति—(देव कर) देव, वह कन्या कहां से आई है ?

राजा—देवी वासवदत्ता जानती है ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, वह कन्या समुद्र से आई गई है, रत्ना कह कर आगत्य कौमन्धरायण ने मेरे हाथों सीर दो है, वहीलिये इनका नाम सागरिका दिया गया है (इसे सागरिका कहा जाता है) ।

राजा—(स्वगत) कौमन्धरायण ने सीपी, वह मुझसे निवेदन किने दिना कैसे करेगा (कैसे सीप सजता है) ।

और जैसे वेणीसंहार में, भीम के द्वारा श्रौचरी के केशसंपन्न रूप कार्य का अन्वेषण किया जा रहा है, अतः वक्ष अंक के निम्न स्थल में विवोध है ।

'भीम—भार्गव मुझे क्षण भर के लिए छोड़ दें ।

सुषिष्ठिर—फिर क्या बच गया है ?

भीम—समस्तें बड़ी बीज रद्द गई है, मैं दुःशासन के खून से रंगे हाथों दुःशासन के द्वारा पकड़ा गया श्रौचरी का पट्टा ही बच है ।

सुषिष्ठिर—भाव जाइये, तपस्विनी श्रौचरी केशसंपन्न का अनुभव करें ।

अथ प्रथमम्—

प्रथमं तदुपलेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'कौमन्धरायणः—देव । अन्मतां गद्वेददानिवेष मयैतदु-त्तम् ।' इत्यनेन वद्वेदराजस्य रत्नावलीप्रापणधर्मोपलक्षणाद्विषयम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पायाति । न सखु मयि जीवति संदर्शना दुःशा-

प्रकीर्णानां वासराजैकधर्मावत्वम् । 'वसुभूति — (सागरिकां निर्वर्ण्यार्णवार्णव) बाभ्रव्य
सुसहशीयं राजपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसधि ।

रूपक की कथावस्तु के धीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो भव तत्र इधर उधर
बिखरे पड़े हैं, अब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते
हैं, तो वह निर्वहण सधि होती है ।

जैसे बेगोसहार में कञ्चुकी इस उक्ति के द्वारा शीपरी के केश संयमन, दुर्घोषन वध आदि
मुखसधि आदि के बीजों को, जो अरतक नाटक में अपनी अपनी अगह बिखरे पड़े थे, एक लक्ष्य
की दृष्टि से एकत्रित करता है—

'(आगे बढ़कर सुशी से) महाराज की विजय हो, दुर्घोषन के खून से लाल शरीर वाले
वे कुमार, भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आ रहे हैं ।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि के कार्यों (अर्थों)
का जो मुखसधि आदि में इधर-उधर छिटके पड़े थे वसराज के ही कार्य के लिए समाहार
होता है । इसकी ध्वजा वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा दी जाती है—'(सागरिका को
देख कर, एक और) बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है ।'

अथ सदज्ञानि—

सधिविगोघो प्रथम निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४१ ॥

प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगृहणाः ।

पूर्वभावोपसहारौ प्रशस्तितश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस निर्वहण सधि के १४ अंग हैं—सधि, विशेष, प्रथम, निर्णय, परिभाषण,
प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगृहण, पूर्वभाव, उपसहार तथा प्रशस्ति ।

यथोद्देशा लक्षणमाह—

सधिविजोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति—बाभ्रव्य ! सुसहशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्य—
धमाग्नेवमेव प्रतिभति ।' इत्यनेन नायिकाबीभोपगमत्सधिरिति ।

यथा च बेगोसहारे—'भीम—भवति यद्भवेद्विषमवे । स्मरति भवती वसुभूति—

वसुभूतिप्रमितवन्द्यदाभिधात

संचूर्णितोरुपुगलस्य दुर्घोषनस्य ।

स्यानावनद्धधनशोणितशोणपाणि

हस्तसम्पत्ति कर्वास्तव देवि भीम ॥'

जब धीज की उद्भावना की जाती है, तो वह सधि नामक निर्वहणांग होता है ।
जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा बाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं ।
यहाँ नायिका रूप बीज की उद्भावना की गई है, अतः सधि है । वसुभूति तथा बाभ्रव्य की
यह बातचीत इसकी ध्वजा है—

'वसुभूति—बाभ्रव्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सहचर है ।

बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है ।'

और जैसे बेगोसहार में भीमसेन दुर्घोषन के खून से रंगे हाथों शीपरी का केश संयमन
करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिभा याद दिखाना है । यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा
मुखसधि में उपहित भीम को फिर से उद्भावित किया गया है, अतः सधि नामक निर्वहणांग है ।

9/7/57

'यस्येशी से परगन श्रौपदि ! मैंने जो कहा था, वह तुम्हें पार है !

चञ्चल हाथों से पुगारं गरं गरा के प्रदारी से दूरी जाँचीं बाँधे दुर्घोषन के घने दिक्ते लून से रंगे हाथों वाला भीम तुम्हारे बालों की संवारेगा !'

शय विबोधः—

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति'—(निष्कम्प) देव कुन इयं कन्यका ! राजा-देवी जानाति । वासवदत्ता—अजठत । एषा सागरादो पाविभसि भगिष्य अमघजोगन्ध-एअणोण मम हृदये गिदिदिश अदो ज्वेव सागरिभसि सखतोमदि । ('आर्यपुत्र ! एषा सागरराज्यान्नेति भगित्वाऽमात्ययौगंधरायणोण मम हस्ते निदिता अत एव सागरिवेति शक्यते । ') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणोण न्यस्ता, कपमघौ ममानिवेय करिष्याति । इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्विषणद्विवोधः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—सुभद्रा सुभद्रा मामार्थं क्षणमेकम् । सुषिष्ठिरः—किनपरमवशिष्टम् ! भीमः—सुभद्रावशिष्टम्, संयमयाभि तावदनेन दुःशासनस्यो-पितोक्षितेन पाणिना पायालया दुःशासनवागुष्टं केशहस्ताम् । सुषिष्ठिरः—यच्छुद्र भवान्, अतुमवद्दु तपस्विनी वेणीसंहारम् ।' इत्यनेन देशसंयमनकार्यस्यान्विषणद्विवोधः इति ।

जहाँ नायक अथ तक द्विपे हुए अपने कार्य की फिर से श्रद्धा करने लगता है, उसे विबोध कहते हैं। जैसे रत्नावली के चतुर्थ अंक में वसुभूति व वासव-सागरिका को पहचान कर उसके विषय में उदयन से पूछते हैं, वहीं निम्न काव्यांश के द्वारा रत्नावलीरूप कार्य की फिर से श्रद्धा होने के कारण विबोध नामक निर्वहणा है—

'वसुभूति—(देख कर) देव, यह कन्या वहाँ से आई है !

राजा—देवी वासवदत्ता जानती है ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यह कन्या समुद्र से पारं गई है, इतना कह कर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे हाथों सौंन दी है, इतीकिये वनका नाम सागरिका दिया गया है (इसे सागरिका कहा जाता है) ।

राजा—(स्वगत) यौगन्धरायण ने सौंपी, वह मुझसे निवेदन शिवे दिना कैसे करेगा (कैसे सौंप सकता है) ।'

भीर जैसे वेणीसंहार में, भीम के द्वारा श्रौपरी के केशसंयमन रूप कार्य का अन्विषण किम या रहा है, अतः यह अंक के निम्न स्थल में विबोध है ।

'भीम—आर्यं हुये क्षण भर के छिद्र छोड़ दें ।

सुषिष्ठिर—फिर क्या बच गया है ?

भीम—सबसे बढ़ी चीज रह गई है, मैं दुःशासन के लून से रंगे हाथ से दुःशासन के द्वारा पकड़ा गया श्रौपरी का जूड़ा ही बाँधूँ ।

सुषिष्ठिर—आप आर्य, तपस्विनी श्रौपरी केशसंयमन का अनुभव करें !'

अथ प्रथमम्—

प्रथमं चतुष्टयेपो—

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायणः—देव ! क्षमतां यदेवस्यानिवेय मयैतरु-तम् ।' इत्यनेन वरहराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपल्लेपाह्वयनम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—पापाति ! न खलु मयि शीवति संद्वर्त्त्या दुःशा-

प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्पत्वम् । 'वसुभूति'—(सागरिकां निर्वर्ण्यार्पणम्) वाभ्रम्य
सुसहस्रायं रात्रपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः ।

रूपक की कथावस्तु के बीच से कुछ मुख आदि अर्थ जो अथ एक हृषर, उधर
विखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते
हैं, तो यह निर्वहण संधि होती है ।

जैसे बेगोसंहार में कञ्जकी इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी के केश संवमन, दुर्योधन वध आदि
मुखसंधि आदि के बीजों को, जो अतक नाटक में अपनी अपनी जगह बिखरे पड़े थे, एक उद्घ
की दृष्टि से एकत्रित करता है—

'(आगे बढ़कर सुशी से) महाराज की विजय हो, सुयोधन के खून से छाल शरीर वाले
ये कुमार, भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आ रहे हैं ।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, वाभ्रम्य आदि के काव्यों (अर्थों)
का जो मुखसंधि आदि में अथ-उधर छिटके पड़े थे वत्सराज के ही नायक के लिए समाहार
होता है । इसकी सूचना वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा दी जाती है—'(सागरिका को
देख कर, एक ओर) वाभ्रम्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है ।'

अथ तदज्ञानि—

संधिविरोधो प्रथमं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४६ ॥

प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूढनाः ।

पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तित्थ चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस निर्वहण संधि के १४ अंग हैं:—संधि, विरोध, प्रथम, निर्णय, परिभाषण,
प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति ।

ययोरोशं लक्षणमाह—

संधिविरोधोपगमनम्—

ॐ. ०. १. १. १.

१/१

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति'—वाभ्रम्य ! सुसहस्रायं रात्रपुत्र्या । वाभ्रम्य—
धमात्पेमेव प्रतिमिति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्संधिरिति ।

यथा च बेगोसंहारे—'भीम—भवति यद्वेदिसंभवे । स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चलजभ्रमितचण्डगदाभिघात-

संचूर्णितोऽशुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणवनि-

हरसंविद्यति कर्वास्तव देवि भीम' ॥'

अब बीच की उद्भावना की जाती है, तो यह संधि नामक निर्वहणांग होता है ।
जैसे रत्नावली नायिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा वाभ्रम्य सागरिका को पहचान लेते हैं ।
यहाँ नायिका रूप बीच की उद्भावना की गई है, अतः संधि है । वसुभूति-तथा वाभ्रम्य की
यह बातचीत इसकी सूचना है:—

'वसुभूति—वाभ्रम्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सङ्घ है ।

वाभ्रम्य—सुसे भी ऐसा ही मालूम पड़ना है ।'

और जैसे बेगोसंहार में भीमसेन दुर्योधन के खून से रंगे हाथों द्रौपदी का केश संवमन
करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिष्ठा वाद दिखाना है । यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा
मुखसंधि में उपस्थित बीजको फिर से उद्भावित किया गया है, अतः संधि नामक निर्वहणांग है ।

'वन्देदी से वाग्दत्त द्रौपदि ! मैंने जो कहा था, वह तुम्हें वार है !

बच्चल दासों से घुमाई गईं वरा के पहारों से टूटी भाँपों वाले दुर्वाधन के घने बिल्वे वृक्ष से रंगे दासों वाला भीम दुन्दारे वालों से संवारेण !'

अथ विवोधः—

—विवोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति —(निरुन्म) देव कुत्र इयं कन्यका । राजा-देवी जानाति । वासुदत्ता—अन्ववत् । एषा सावराज्ञो पाविभ्रति भविष्य छमप्यजोगन्ध-राश्रयेण मम हृदये निहिदा ध्वरो ज्वेव सागरिकसि सप्तसौभदि । ('कार्यपुत्र । एषा सागरराप्रोति भगिरवाऽपारमयौगपरायणेन मम हस्ते निहिता अत एव सागरिकेति शब्दते ।') राजा-(ध्यातमगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता, कथमसौ ममानिवेद करिष्यति ।' इत्यनेन रत्नावलीरुपकार्यान्वेषणाद्विवोधः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम —सुवृत्त सुवृत्त मामार्थं क्षयनेकम् । सुषिष्ठिर — किमवर्मवसिष्ठम् । भीम —गुनहृदवसिष्ठम्, सवमयामि तावदनेन दुःशासनशो-चितोक्षितेन पाणिना पापशुभा दुःशासनावष्ट्यं केशहस्तम् । सुषिष्ठिर —गच्छतु भवान्, अमुमवत् तपस्विनी वेणीसंहारम् ।' इत्यनेन उश्रतममनकार्यत्याग्येषणाद्विवोध इति ।

जहाँ नायक अथ तक छिपे हुए अपने कार्य की फिर से खोज करने लगता है, उसे विवोध कहते हैं। जैसे रत्नावली के चतुर्थ अंक में वसुभूति व वाग्दत्त द्वारा द्रौपदी को खोजने पर वराके विषय में वदयन से पूछते हैं, वहीं निम्न कर्तालाप के द्वारा रत्नावलीका कार्य की फिर से खोज होने के कारण विवोध नामक निर्वेदनात् है —

'वसुभूति—(देख कर) देव, यह कन्या कहाँ से आई है ?

राजा—देवी वाग्दत्ता जानती है ।

वासुदत्ता—आर्यपुत्र, यह कन्या समुद्र से आई गई है, इतना कह कर अमाल्य यौगन्धरायण ने मेरे दासों को भी भेजा है, इसीलिए इनका नाम सागरिका दिया गया है (इसे सागरिका कहा जाता है) ।

राजा—(स्वगत) यौगन्धरायण ने सीपी, वह मुझसे निवेदन किये बिना कैसे परेगा (जैसे सीप सकता है) ।

भीम जैसे वेणीसंहार में, भीम के द्वारा द्रौपदी के केशसंयमन रूप कार्य का अन्वेषण किया गया है, अतः यह अंक के निम्न स्थल में विवोध है ।

'भीम—आर्य मुझे क्षण भर के लिए छोड़ दें ।

सुषिष्ठिर—फिर क्या बच गया है ?

भीम—आर्यो बड़ी भीम रह गई है, मैं दुःशासन के वृक्ष से रंगे दास से दुःशासन के द्वारा पकवा गया द्रौपदी का लूटा तो भीप हूँ ।

सुषिष्ठिर—आव जाइये, तपस्विनी द्रौपदी के उदयमन का अनुमन करे ।'

अथ प्रथमम्—

प्रथमं तनुपल्लेपो— ॐ १०८

यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण —देव । क्षम्यतां वदेवस्वामिवेद मयैवसिष्ठ-तम् ।' इत्यनेन पत्न्यराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपल्लेपाद्व्यथनम् ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम —पायाति । न सखु मयि धीयति सर्द्वत्या दुःशा-

प्रकीर्णानां वरसराजैश्चर्यावर्षत्वम् । 'वसुभूति — (सागरिकां निर्वर्ण्यार्षार्य) वाभ्रव्य
सुसहशीर्षं रात्रपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसधि ।

रूपक की कथावस्तु के बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अथ तक इधर उधर
बिखरे पड़े हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं, या एकत्रित किये जाते
हैं, तो वह निर्वहण सधि होती है ।

जैसे बेगीसदार में कञ्चुकी इस उक्ति के द्वारा द्रौपदी के केश संवमन, दुर्वाधन वष आदि
मुखसधि आदि के बीजों को, जो अत्रतत्र नाटक में अपनी अपनी जगह बिखरे पड़े थे, एक रूप
की दृष्टि से एकत्रित करता है—

'(आगे बढ़कर सुशी से) महाराज की विजय हो, सुवोधन के खून से लाल शरीर वाले
वे कुमार, भीमसेन हैं, जो पहचान में नहीं आ रहे हैं ।'

और जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, वाभ्रव्य आदि के कार्यों (अर्थों)
का जो मुखसधि आदि में इधर-उधर बिखरे पड़े थे वरसराज के दो कार्य के लिए समाहार
होता है । इसकी छवना वसुभूति की इस उक्ति के द्वारा ही जाती है—'(सागरिका को
देख कर, एक ओर) वाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री (रत्नावली) जैसी दिखाई पड़ती है ।'

अथ तदज्ञानि—

सधिविचोघो प्रथनं निर्णयः परिमाणम् ॥ ४६ ॥

प्रसादानन्दसमया. कृतिभाषोपगूहनाः ।

पूर्वभावोपसहारौ प्रशस्तित्व चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस निर्वहण सधि के १४ अंग हैं —सधि, विचोघ, प्रथन, निर्णय, परिमाण,
प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसहार तथा प्रशस्ति ।

ययोद्देश लक्षणमाह—

सधिविचोपगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति—वाभ्रव्य । सुसहशीयं रात्रपुत्र्या । वाभ्रव्य—
ममापोषमेव प्रतिभति ।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्सधिरिति ।

यथा च बेगीसदारे—'भीम—भवति यज्ञवेदिसभवे । स्मरति भवती यत्तमयोक्म्—

सध्वङ्गजप्रमितचण्डगदाभिघात

संचूर्णितोरुयुगलस्य सुवोधनस्य ।

स्त्यानावनदधनशोभितरोगपाणि

हस्तस्यिष्यति कचास्तव देवि भीम ॥'

जब बीज की उद्भावना की जाती है, तो वह सधि नामक निर्वहणांग होता है ।
जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में वसुभूति तथा वाभ्रव्य सागरिका को पहचान लेते हैं ।
यहाँ नायिका रूप बीज की उद्भावना की गई है, अत्र सधि है । वसुभूति तथा वाभ्रव्य को
पहचानने के लिये उक्त है—

'वसुभूति—वाभ्रव्य, यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सहाय है ।

वाभ्रव्य—मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ता है ।'

और जैसे बेगीसदार में भीमसेन दुर्वाधन के खून से रंगे हाथों द्रौपदी का केश संवमन
करते हुए उसे अपनी पिछली प्रतिष्ठा वाद दिखाता है । यहाँ भीम की निम्न उक्ति के द्वारा
मुखसधि में उपस्थित भीम की किर से उद्भावित किया गया है, अत्र सधि नामक निर्वहणांग है ।

'मीम—देव अजातशत्रु, अथ भी नीच दुर्वर्षित वर्द्धो दे, मीने वस दुष्ट दुर्वर्षित के शरीर को जमीन पर पेंस दिया और अपने शरीर पर चन्दन के समान वह गूँन लगा किया। चारों मनुष्यों के अल वी सीमा वादी दुःखी के साथ राजवन्दनी को आर्य में प्रतिष्ठापित कर दिया। इस युद्ध की आग में गौडर, मित्र, पौंड्रा, यहाँ तक कि सारा कुक्कुल अल गया है। दे राजन्, अथ भी दुर्वर्षित का केवल नाम भर क्या है, जिसे आप बोल रहे है।' 6/1/56

अथ परिभाषणम्—

परिभाषा मित्यो जल्पः—

यथा रत्नावल्याम्—'रत्नावली—(आत्मगतम्) कश्चात्तदा देवीए पर एकदुष्कामि सुहृं संशिक्षुम् । (कृत्वापराधा देव्यै न शक्नोमि सुखं दर्शयितुम्)' वासवदत्ता—(सारं पुनर्वर्द्धि प्रसार्य) एहि अग्नि जिद्धुरे । इदागो पि मनुषिणेहं दंसेही । (अपघार्य) अन्वउत्त । सत्त्वामि कपु अहं इमिणा नितंसत्तायेन ता अहं अयणेहि से मन्वयम् । ('एहि अग्नि निष्ठुरे । इदागोमपि मनुष्येहं दर्शय । आर्यपुत्र । अग्रे खरवहचनेन नृशंकरेन तस्यध्वपनयास्या मन्वयम् । ') राजा—यथाह देवो । (धनघनमपनयति) वासवदत्ता—(वल्लभृति निर्दिश्य) अज्ज । अमधमोगन्धरायणेण सुव्वमीकद्धि पैय क्खन्तेण पि पायकिस्सदम् । ('आर्य ! अमात्ययौगन्धरामणेन सुर्व्वमीकृतास्मि येन जालत्तापि नाचरितम् । ') इत्यनेनान्योन्यवचनपरिभाषणम् ।

यथा च वेणीसहारे—'मीम—कृष्टा मेनासि राजा सदसि वृषशुभा, तेन दुःशासननेन ।' इत्यादिना 'कासौ भातुमती योपहसति पाण्डवक्षारान् ।' इत्यन्तेन भाषणात्परिभाषणम् ।

जहाँ पात्रों में परस्पर जल्प पाया जाय, उसे परिभाषा कहते हैं। (यहाँ यह परस्पर जल्प—आयस की बानसोत्त—कार्य की सिद्धि के विषय में पाई जायगी) जैसे रत्नावली में इस स्थल पर अन्योन्य वचन के कारण परिभाषण नामक निर्वर्णन है।

'रत्नावली—(रत्नवत्) मीने देवी वासवदत्ता या अपराध किया है, इसलिये उसे मुँह नहीं दिखा सकती ।'

वासवदत्ता (आद्य भरकर फिर से दाव, पैदाकर) इष्ट आ, ओ निष्ठुर, अथ भी वृद्धस्नेह को प्रकट कर है । (एक और) आर्यपुत्र, मैं इस प्रकार के कठोर ध्वनदार के कारण लज्जित हूँ, इसलिये अरा इसका चन्दन तो छोड़ दो ।

राजा—मैसा देवी कहे । (बंधन खोल्हा है) ।

वासवदत्ता (वल्लभृति की ओर) आर्य, अमात्य यौगन्धरायण ने मुझे बुरा बना दिया है, किन्तु मैं जानते हुए भी इस बात की नहीं कहूँ ।

और जैसे वेणीसहारे में मीम स्वर्ष ही बार बार अपने कार्य के विषय में जल्पन करता है, अथ भीम की निम्न उक्ति में भी परिभाषा नामक निर्वर्णन है ।

'भीम—शिव नीच मनुष्य दु शासन ने मुझे राजाओं को सभा में पसीदा । X X X X वह भातुमती कहाँ है, ओ पाण्डवों की परती की हँसी उजाती है ।'

अथ प्रस्ता—

—प्रस्तादः पर्युपासनम् ।

यथा रत्नावल्याम्—'देव । अन्वयत्तम् ।' इत्यादि दर्शितम् ।

सनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना । तिष्ठतु तिष्ठतु । स्वयमेवाहं संहरामि ।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंगमनकार्यस्योपशोपाद्रूपनम् ।

उस कार्य का उपसंहार (उपशेष) करना अर्थन कहलाता है । 'प्रथम' के अर्जन नाटककार अपने समस्त कार्य को एक रचान-पर समाप्त कर देता है । जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण की निम्न उक्ति कत्तराज के कार्य रत्नावली-राम का उपसंहार कर देती है:— 'स्वामिन्, मैंने यह कार्य आपसे निवेदन किये बिना ही किया, अतः क्षमा करें ।'

और जैसे वेणीसंहार में, निम्न उक्ति के द्वारा भीम द्रौपदी के वेणीसंहार रूप कार्य का समाहार करता है, अतः यहाँ भी अर्थन नामक निर्वहणम् है ।

'पाञ्चालि, मेरे दोबे हुए (जीवित रहते हुए) कुशासन के द्वारा बिसरार्य गई वेणी का अपने हाथ से संवारना ठीक नहीं । ठहरो, ठहरो । मैं सुद हसे संवारता हूँ ।'

अथ निर्णय—

—ऽनुभूताण्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥

यथा रत्नावल्यम्—'यौगन्धरायणः—(कृताञ्जलि) देव भूयतान् इयं सिंहलेश्वर-दुहिता सिद्धादेशोपदिशा—योऽस्या पाणिं महीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति, तदप्रत्ययादस्मामिन् स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानाणि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चि-संश्लेषं परिहरता यदा न क्षता तथा लावणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिसुत्याय तदन्तिकं वाश्रम्यः प्रहितः ।' इत्यनेन यौगन्धरायण स्वातन्त्र्यमर्थं स्थापितवानिति निर्णयः ।

यथा च वेणीसंहारे—'भीमः—देव देव अजातराशो । कायापि दुर्योधनहतकं मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमस्य कचन्दनामं निजाग्रे

सदमीरायें निषिञ्ज चतुस्रदधिपम् सीमया सार्धमुर्म्या ।

मृत्या मित्राणि योषां कृषकृन्मखिलं दग्धमेतद्रणामौ

सामैकं यद्मवीथि सितिप शदधुना धातंराष्ट्रस्य शेषम् ॥'

इत्यनेन स्वातन्त्र्यार्थकपनासिर्णय इति ।

अथ भायकादि अपने द्वारा विचारित या संपादित (अनुगत) कार्य के विषय में अर्जन करते हैं, तो यह निर्णय कहलाता है । जैसे रत्नावली नाटिका में यौगन्धरायण निम्न उक्ति के द्वारा कार्य से संबद्ध अपने अनुभवों को, या कार्यसंबद्ध अपने कर्षों को राजा से बर्णित करता है, अतः यहाँ निर्णय है ।

- 'यौगन्धरायण—(हाथ बाँधकर) देव, क्षमिये सिद्ध स्वकि ने इन सिंहलेश्वर पुत्री रत्नावली के बारे में यह कहा था कि जो कोई हमका पाणिग्रहण करेगा, वह सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा बनेगा । उस निष्ठादेश के विरहात् के कारण आपके लिए हमने बड़े बार उसकी माँय सिंहलेश्वर से की, लेकिन सिंहलेश्वर ने यह हमलिय न दी कि ऐसा करने से वासवदत्ता के विषय ही कुछ होगा । तब हमने ठहरे ही यह सवर जेना ही कि देवी वासवदत्ता लावाणक (बन) में गए और फिर वाश्रम्य को सिंहलेश्वर के समीप (रत्नावली की माँयने के प्रस्ताव के साथ) भेजा ।'

और जैसे वेणीसंहार में भीम की निम्न उक्ति में उसके द्वारा अनुभूत अर्थ का अर्थन हुआ है, अतः निर्णय है:—

'भीम—देव अनातशुभ, जब भी नीच दुर्वोधन कहां है, मैंने उस दुष्ट दुर्वोधन के शरीर को जमीन पर फेंक दिया और अपने शरीर पर चन्दन के समान यह धून लगा लिया। चारों समुद्रों के जल की सीमा वाली पृथ्वी के साथ राजवल्गमी को आर्य में प्रतिष्ठापित कर दिया। इस दुष्ट की भाग में नौकर, मित्र, योद्धा, यहाँ तक कि सारा कुटकुल बल गया है। दे राजन्, अब तो दुर्वोधन वा केवल नाम भर क्या है, जिसे आप बोल रहे हैं।' — ६१/१५८

अथ परिभाषणम्—

परिभाषा मिथो जल्पः—

यथा रत्नावल्याम्—'रत्नावली—(आत्मगतम्) कश्चादराहा देशीए ण सकुण्णोमि सुद दंसिदुम् ((कृतापरया देव्यै न शक्नोमि सुख दर्शयितुम्)' वासवदत्ता—(साधं पुनर्वाहं प्रसार्य) एहि श्रियि जिह्दुरे । इदानीं पि बन्धुसिण्णोहं दंसेही। (अपवार्य) अन्नडत्त। लज्जामि क्खु अहं इमिणा मिंसंसत्तणेण ता लहुं अवणोहि से वण्णणम् । ('एहि श्रियि निहुरे । इदानीमपि बन्धुसिहं दर्शय । आर्यपुत्र । अग्ने खल्वहमनेन नृसंसत्त्वेन तस्यध्वपमयास्या वन्धनम् ।') राजा—यथाह देवी । (वन्धनगपनयति) वासवदत्ता—(वसुभूति निर्दिश्य) अन्न । अमन्वजोगन्धरायणेण दुग्गणीकदक्षि जेण ज्ञानन्तेण विणावकिशदम् । ('आर्य । अमास्ययोगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन ज्ञानतापि नाचभितम् ।') इत्यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम् ।

यथा च बेनीसहारे—'भीम—कृपा येनास्ति राक्षी सदसि नृपशुना, तेन दुःशासननेन ।' इत्यादिना 'कावी भासुमती योपहसति पाण्डवदारान् ।' इत्यन्तेन भाषणाल्परिभाषणम् ।

जहाँ पात्रों में परस्पर जलप पाया जाय, उसे परिभाषा कहते हैं। (यहाँ यह परस्पर जल्प-अपवाद की शान्चीत-कार्य की लिखि के विषय में पारं जायगी) जैसे रत्नावली में इस स्थल पर अन्योन्य वचन के कारण परिभाषण नामक निर्वाहनांग है।

'रत्नावली—(वनय) मैंने देवी वासवदत्ता का अपवाद किया है, इसलिए उसे मुँह नहीं दिया सवती ।'

वासवदत्ता (आद्य भरवर फिर से बाप जैलर) इधर आ, ओ निहुर, अब भी बन्धुसिहं की प्रकट कर दे । (एक ओर) आर्यपुत्र, मैं इस प्रकार के बहोर व्यवहार के कारण छिजित हूँ, इसलिए जरा इसका वन्धन तो छोड़ दो ।

राजा—हीसा देवी करे । (वचन छोड़ता है) ।

वासवदत्ता (वसुभूति की ओर) आर्य, अमास्य योगपरायण के सुखे उरा बना दिया है, जिन्होंने जानते हुए भी इस बात को नहीं कहा ।

और जैसे बेनीसहार में भीम स्वयं ही बार बार अपने कार्य के विषय में जल्पन करता है, अतः भीम की निम्न लजि में भी परिभाषा नामक निर्वाहनांग है ।

'भीम—जिस नीच मनुष्य दुःशासन ने मुझे राजाओं की समा में पसीरा । × × × × × भासुमती कहाँ है, जो पाण्डवों की पत्नी की हँसी उड़ानी है ।'

स द्विविधः, शुद्धः सङ्कीर्णोऽथवाह—

एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ।

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रयुगपत्प्रयोजितः सङ्कीर्ण इति ।

एक अधवा अधिक (दो) मध्यम श्रेणी के पात्रों वाला विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है, मध्यम श्रेणी के तथा अधम श्रेणी के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक सङ्कीर्ण (या मिश्र) कहलाता है ।

(ध्यान रखिये विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्रों का होना जरूरी है । मिश्र (सङ्कीर्ण) विष्कम्भक में कम से कम एक मध्यम श्रेणी के पात्र का होना शर्त विष्कम्भक बनाता है यदि दोनों ही पात्र अधम होंगे, तो वह विष्कम्भक न रहेगा, प्रवेशक नामक अर्धोपश्लेषक हो जायगा ।)

(यद्यपि ५९ वीं कारिका में प्रवेशक की गणना अन्त में है, किन्तु विष्कम्भक से भेद बताने के कारण तथा दूसरे महत्वपूर्ण अर्धोपश्लेषक होने के कारण, इसका वर्णन चूल्हिकादि से पूर्व किया जा रहा है ।)

अथ प्रवेशक—

तद्देवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥

प्रवेशोऽङ्गद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

तद्देवेति भूतभविष्यदर्शनापकत्वमतिदिश्यते, अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रैः प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवादः, अङ्गद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्गे प्रतिषेध इति ।

प्रवेशक भी उसी तरह (विष्कम्भक की तरह) अतीत और भावी कथाओं का सूचक है । इसमें प्रयुक्त उक्ति उदात्त नहीं होती, (इसकी भाषा सदा प्राकृत होगी, तथा यह प्राकृत भी शिष्ट (शौरसेनी) प्राकृत न होकर मागधी, शकरी आदि अशिष्ट प्राकृत होगी); तथा इसमें नीच पात्रों का प्रयोग होता है । प्रवेशक की योजना सदा दो अङ्गों के बीच ही की जाती है, तथा यह भी दोष अर्थों (कथाओं) का सूचक है ।

(यहाँ विष्कम्भक तथा प्रवेशक का भेद बताना आवश्यक होगा, अतः इसे नीचे बताया जा रहा है :—

चूल्हना व भेद

विश्लेषक

१. यह अतीत व भावी कथाओं का सूचक है ।

२. इसमें एक मध्यम पात्र या दो मध्यम पात्रों का प्रयोग होता है ।

३ इसकी भाषा संस्कृत व शौरसेनी प्राकृत होगी ।

प्रवेशक

१. यह भी अतीत व भावी कथाओं का सूचक है ।

२. इसमें शौर, माग, (पद्म, या यो) नीच कोटि के होते हैं ।

३. इसकी भाषा संस्कृत कभी नहीं होगी । प्राकृत भी निम्न कोटि की होगी यथा मागधी, शकरी, आभीरी, चाण्दाली, पैशाची आदि ।

विषयम्

४. इसका प्रयोग नाटक (रूपक) के प्रथम अंक के पहले भी हो सकता है (जैसे आलतीमाधव नाटक में बुद्ध तापसी की चर्चा वाला विषयम्), दो अंकों के बीच में भी (जैसे शाकुन्तल के चतुर्थ अंक के पहले)।
५. उदाहरण—जैसे शाकुन्तल का चतुर्थ अंक या विषयम्।

प्रेक्षिका

४. इसका प्रयोग सदा दो अंकों के बीच में होगा। रूपक के आदि में इसका प्रयोग कभी हो नहीं होगा। इसका प्रथम अंक में कभी भी प्रयोग नहीं होगा। (अंकद्वय स्थान्त इति प्रथमाके प्रतिषेध इति)।
५. उदाहरण—जैसे शाकुन्तल के प्रथम अंक के पहले का प्रवेशक।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

नेपथ्यपात्रैर्भाष्यसूचनं चूलिका, यद्योत्तरचरिते द्वितीयाद्वस्वादी—(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना) इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिक्याऽऽत्रे-
यीरूचनाचूलिका ।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाद्वस्वादी—(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः ! प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां महालाभि—

कृशादान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः
सहस्रांशोभैशे जयति विश्वि सप्तमधुना ।
विनेता क्षत्रार्जयदभयदानवतघरः
शरभ्यो लोकानां दिनकरङ्गलेन्दुविजयते ॥'

इयम् नेपथ्यपात्रैर्देवैः 'रामेण परशुरामो जितः' इति सूचनाचूलिका ।

जहाँ अर्थ (कथावस्तु) की सूचना चूलिका के उस ओर अन्दर बैठे पात्रों के द्वारा दी जाय, यहाँ चूलिका नामक अर्थोपप्रेषक होता है।

नेपथ्य पात्र के द्वारा अर्थ ही सूचना चूलिका कहलाती है, जैसे उत्तररामचरित के दूसरे अंक के शुरु में आश्रयी के आगमन पर वनदेवी नेपथ्य से उसका स्वागत करती है—(नेपथ्य में) तपोधना महावती या स्वागत हो। (तब तपोधना रंग पर प्रवेश करती है)। इस प्रकार नेपथ्यपात्र नासन्ती के द्वारा आश्रयी के आगमन की सूचना दी गई है, अतः यह चूलिका है।

अथवा जैसे भवभूति के दूसरे नाटक वीरचरित (महावीरचरित) के चतुर्थ अंक के आरम्भ में नेपथ्यस्थित देवता स्वभाव की सूचना देते हैं कि क्षत्ररथि राम ने परशुराम की जीत लिया है। (नेपथ्य से) हे देवताओं, मगल काव्यों का आरम्भ करो, आरम्भ करो।

कृशास्व के शिष्य भगवान् श्वि दिश्वामिष की जय हो। यहाँ के वच में अब भी विजयी श्विष (श्व) विद्यमान है, उसकी जय हो। क्षत्रियों के शत्रु, परशुराम की जीतने वाले (ठीक करने वाले) समस्त संसार की अभयदान देने का जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसे लोगों के शरण, धर्मवच के अन्तर्मा (भगवान् रामचन्द्र) की जय हो।

१. यद्यपि मूल पाठ में यहाँ 'जयति' तथा 'दिनयोः' पदों का वर्तमाने शब्द का प्रयोग है, किन्तु द्वितीय अनुवाद में अन्तरता काये के लिए हमने यहाँ 'जय हो' यह अनुवाद किया है, जैसे धार्मिक अनुवाद 'जय है' होगा।

अथाद्वात्यम्—

अद्धान्तपात्रैरद्वात्यं द्विशाङ्कस्यार्थसूचनान् ।

अद्धान्त एव पात्रमद्धान्तपात्रं तेन विहितस्योत्तराद्भवस्य सूचनं तद्वरोन्नीतगद्वा-
पतातोऽद्वात्यमिति, यथा वीरवरिते द्वितीयाद्वात्यतारोऽद्वात्यमिति, यथा वीरचरिते द्विती-
याद्धान्ते—(प्रविरय) सुमन्त्रः—भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः समार्गवानाह-
यत । इतरे—क भगवन्तौ ? । सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके । इतरे—तदनु-
रोधात्तरेव गच्छाम् । इत्यद्वासमासौ (ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः)
इत्यत्र पूर्वाद्धान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनकद्वयार्थविच्छेदे उत्तराद्भव-
सूचनादद्वात्यमिति ।

जहाँ एक अंक की समाप्ति के समय उस अंक में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा कितनी छूटे हुए
अर्थ की सूचना दी जाय, वहाँ अंकास्य कहलाता है ।

अंक के अन्त के पात्र अंकात्तपात्र कहलाते हैं, जहाँ रस प्रकार के पात्र के द्वारा विहित
कथावरणु की, जिसका वर्णन अगले अंक में आदना सूचना दी जाय वहाँ उत्तराद्वात्य
कहलाता है । जैसे वीरचरित के दूसरे अंक के अन्त में सुमन्त्र (पात्र) आकर शतानन्द तथा
जनक की कथा का विच्छेद कर, भावी अंक के आरम्भ की सूचना देता है, अतः यहाँ
अंकास्य है । जैसे—

(प्रवेश कर) सुमन्त्र—पूज्य वशिष्ठ तथा विश्वामित्र, आपकी मार्गव (शतानन्द) के साथ
दुला रहे हैं ।

दूसरे—वे कहाँ हैं ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास ।

दूसरे—उनके अनुरोध से नहीं आरते हैं ? (अंक वा अंत)

(इसके बाद अगला अंक—तत्र वशिष्ठ विश्वामित्र तथा परशुराम बैठे हुए प्रवेश करते
हैं—रस प्रकार आरम्भ होता है ।)

अथाद्वात्यम्—

अद्वात्यतारस्त्वद्धान्ते पातोऽद्वात्यविभागतः ॥ ६२ ॥

एभिः संसूचयेत्सूच्यं त्रयमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

अत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाद्वातिच्छेदार्थतयैवाद्धान्तरमापत्ति प्रवेशकविक-
म्भकादिराम्भं सोऽद्वात्यतारः, यथा मातृवकाग्निनिम्ने प्रथमाद्धान्ते विदूषकः—तेन हि दुवेवि
देवीए पेस्तागेहं गदुअ सश्रीदीवधरणं करिअ ततयभवदी दुं विसण्जेय अयवा मुद-
जसरो ज्जेव णं उरपावयिस्सदि । ('तेन हि ज्ञापयि देव्या प्रेशागेहं गत्वा सश्रीतकोप-
करणं कृत्वा तत्रभवतो दुर्गं विमर्शयतम्, अथवा एषदृष्टन्द एवैनमुत्पपमिष्यति ।)
इत्युपक्रमे एदृशरान्दधवणादनन्तरं सर्वाभ्येव पात्राणि प्रथमाद्वात्यतारपात्रसंक्रान्तिवर्षनं
द्वितीयाद्वात्यापरमन्त इति प्रथमाद्वात्यविच्छेदेऽथैव द्वितीयाद्वात्यतारपात्राद्वात्यतार इति ।

जहाँ प्रथम अङ्क की घातु का विच्छेद किये बिना दूसरे अङ्क की घातु बले, वहाँ
अद्वात्यतार होता है । सूच्य घातु की सूचना इन (अर्थोपपेयकों) के द्वारा देनी चाहिये,
हरणों (हरय अर्थों) का मञ्ज पर अङ्कों के द्वारा मर्पान करे ।

जब प्रथम अंक के पात्र किसी बात की रचना दें, तथा वे ही पात्र उसी अंकार्थ (कथावस्तु) को लेकर उसे बिना विच्छिन्न किये ही दूसरे अंक में प्रवेश करें, तो यहाँ प्रवेशक व विष्कम्भक आदि नहीं होता, यह अंकावतार है। जैसे गालिकाभिगिभ में प्रथम अंक के अन्त में विदूषक इस भाग्य के द्वारा माती अंक को वस्तु की रचना देता है—

‘तो तुम दोनों देवी के नाट्यगृह में जाकर संगीत की सज-सजा ठीक कर पूज्य भिन्न के पास दूत भेज देना, अथवा दर्शन का शब्द ही उन्हें यहाँ से उठा देगा।’

इसके बाद मुरंग उम्ब के गुनने के बाद दूसरे अंक के आरंभ में सारे ही पात्र प्रथम अंक में वर्णित पात्रों (हरदत्त तथा गणदास) के शिष्यशिक्षाक्रम का दर्शन करते हैं। इस तरह पहले अंक की कथा अधिच्छिन्न रूप में ही द्वितीय अंक में अवतरित हुई है, अतः अंकावतार है।

२. धनंजय के इस अंकावतार तथा अंकारण के बारे में हमें उसका मत विन्य दिया है देता है। धनिक भी वृत्ति में धनंजय की ही बात कहते हैं। साथ ही वृत्ति में दिये दोनों के उदाहरण में हमें कोई भेद नहीं दिखाई देता। दोनों ही धनंजय की अंकावतार वाली परिभाषा में आ जाते हैं। यस्तुतः धनंजय व धनिक दोनों ने अंकारण को स्पष्ट करने में कसर रजती है। भारत के नाट्यशास्त्र में प्रथम अर्थोपश्लेषक अंकारण नहीं कहा गया है। वे इसे अंकमुख कहते हैं। यद्यपि दोनों का अर्थ एक ही है, पर परिभाषा में भेद है। भारत के मतानुसार ‘अंकमुख’ यहाँ होता है, जहाँ किसी को वा वृत्त के द्वारा अंक की कथा का संक्षेप आरम्भ में ही कर दिया जाय।

‘विच्छिन्नमुख मंकरण शिवा वा पुरुषेण वा। यत्र संक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखं विन्यते ॥ (ना. शा. २१. ११६)

विद्वनाथ के साहित्यदर्पण में प्रथम अर्थोपश्लेषक के रूप में पहले ‘अंकमुख’ का ही वर्णन किया गया है। विद्वनाथ के मतानुसार जहाँ एक ही अंक में (दूसरे) अंकों की सारी कथा की रचना हो, वह अंकमुख है। यह नाटकीय कथावस्तु के बीच का खूबक है।

यत्र स्याद्दृष्ट एतन्निर्गमनां रचनाऽखिला।

तदङ्कमुखं मित्याद्वा बीजाथक्यापकं च तत्र ॥ (सा. द. ६-५१)

साहित्यदर्पण की यह परिभाषा भारत पर ही आभूत होने पर भी विशेष स्पष्ट है। सा. द. में इसका उदाहरण मालतीमाधव के प्रथम अंक का आरंभ दिया गया है, जहाँ कामन्दकी व अवछेकिता मालती तथा माधव के अनुसारा की रचना प्रसंगपर दे देती है। सा. द. का यह उद्योग व उदाहरण, साथ ही इसे अंकमुख कहना ठीक जैसा है।

साहित्यदर्पणकार ने अंकारण की भी धनंजय-व धनिक वाली परिभाषा देकर यहाँ उदाहरण दिया है। अंकमुख के बाद वे अर्थोपश्लेषक का धनंजय समस्त यह पदार्थ भेद भी करते हैं। पर वे धनंजय के मत से सहमत नहीं दिखाई देते। ऊपर की कारिका के आगे के ही कारिकाार्थ की वृत्ति में वे लिखते हैं—एतन्म धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु ‘अङ्गावतारेणो-वेदं गताथं’ इत्याहुः। विद्वनाथ को स्वयं को भी यह धनिक विरोधी मत ही पसन्द है। पर वे अपने मते न मद्दकर ‘अन्ये’ शब्द का प्रयोग कर, देते हैं। यस्तुतः धनिक, जाला मत अवैधानिक ही है। धनंजय तथा धनिक यहाँ भरत का अनुसरण करते दिखाई, नहीं देते। धन्यथा यह मुद्रि न हो पाती।

यहाँ यह भी संकेत कर दिया जाय कि भारत अंकमुख का वर्णन अंकावतार के बाद करते हैं। ठीक यही विद्वनाथ ने किया है। धनंजय ने पहले अंकारण को लिया है, बाद में अंकावतार की।

पुनर्लिखा वस्तुविभागमाह—

नाट्यधर्ममपेक्षैतत्पुनर्घस्तु त्रिधेय्यते ॥ ६३ ॥

वस्तु फिर तीन तरह की होती है। नाटक (रूपक, नाट्य) की प्रकृति का निरीक्षण करके क्यावस्तु फिर से तीन तरह की मानी जाती है।

येन प्रकारेण त्रैधं तदाह—

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमेधाव्यमेष च ।

तीन प्रकार की किस तरह, इसे कहते हैं—कुछ सयके लिए सुनने लायक (सर्व-धाव्य) होता है, कुछ परिमित लोगों (नियत लोगों) के लिए सुनने लायक (नियतधाव्य) होता है, कुछ किसी भी पात्र के सुनने लायक नहीं (अधाव्य) होता।

तत्र—

सर्वश्राव्य प्रकाश स्यादश्राव्य स्वगत मतम् ॥ ६४ ॥

सर्वधाव्य यद्गस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते। यत् सर्वस्याश्राव्य तस्वगतमितिशब्दाभिधेयम्।

सर्वधाव्य को प्रकाश तथा अधाव्य को स्वगत कहते हैं।

सर्वश्राव्य वस्तु—सर्वधाव्य कथनोपकथन प्रकाश कहलाता है, जो सर्वधाव्य (कथनोपकथन) नहीं होता वह स्वगत कहलाता है।

नियतधाव्यमाह—

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्य जनान्तमपवारितम्।

अन्यत्तु नियतधाव्य द्विप्रकार जनान्तिकापवारितमेवेन।

दूसरा नाट्यधर्म—नियत धाव्य वस्तु—दो तरह का होता है जनान्त (जनान्तिक), तथा अपवारित।

तत्र जनान्तिकमाह—

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥

अन्योन्यामन्त्रणं यस्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।

यस्य न धाव्य तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुल वक्रानामिकत्रिपताकालक्षण कर कृत्वाऽन्येन सह मन्मन्थ्यते तज्जनान्तिकमिति।

जहाँ (मन्त्र पर) दूसरे पात्रों के विद्यमान होते हुए भी दो पात्र आपस में इस तरह मन्त्रणा करें कि उसे दूसरों को न सुनाना अभीष्ट हो, तथा दूसरे पात्रों की ओर 'त्रिपताकाकर' के द्वारा हाथ से संकेत कर (दर्शकों को) इस बात की सूचना दी जाय कि उनका धारण किया जा रहा है, यहाँ जनान्तिक नामक नियतधाव्य (कथनोपकथन) होता है।

जिस पात्र को कोई बात नहीं सुनानी है, उसकी ओर हाथ की सारी अङ्गुलियों के बीच कर जनान्तिका अङ्गुली को देना रखना त्रिपताका कहलाता है, ऐसे ढंग से हाथ धरना 'त्रिपताकाकर' का लक्षण है। इस ढंग से अन्य पात्रों का अपकारण कर बातचीत करना जनान्तिक है।

अपवारितम्—

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

परावृत्त्यान्यस्य रहस्यरूपनमपवारितमिति ।

जहाँ कुछ को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की ओर धात कहता है, उसे अपवारित कहते हैं ।

नाट्यरंग के ही प्रसंग में आकाशमापित का वर्णन करते हैं ।

नाट्यवर्मप्रसङ्गादाकाशमापितमाह—

किं प्रचीर्येषमित्यादि विना पात्रं प्रवोति यत् ।

द्युत्प्रेषानुत्तमप्रेकस्तस्यादाकाशमापितम् ॥ ६७ ॥

स्पष्टार्थः ।

जहाँ कोई पात्र 'क्या कहते हो' इस तरह कहता हुआ दूसरे पात्र के विना ही बातचीत करे, तथा उसके कथन के कई विना भी मुनकर कथनोपकथन करे, वह आकाशमापित होता है ।

(एक पात्र वाले रूपक-माण-में इस आकाशमापित का प्रयोग बहुत पाया जाता है । शून्य के व्याख्यान (Mono-acting) में भी इसका अस्तित्व है ।)

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि भेदिवुदाहृतानि तेषामगारतीयत्याभाम-
मालाप्रसिद्धानां केषांविदेशमापारम्पर्यानाट्यवर्मत्वाभावात्क्षणं नोक्तमित्युपसंहरति—

कुछ लोगों ने प्रथम रूप आदि और नाट्यधर्मों को भी माना है, वे भारत नाट्यशास्त्र के गानुसार नहीं हैं, तथा उनका केवल नाम ही प्रसिद्ध है, तथा कुछ देशमात्र में प्रयुक्त होते हैं, अतः नाट्यधर्म नहीं हैं, इसलिए उनका उल्लेख नहीं दिया है । अब इस नाटक की कथावस्तु का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इत्याद्यशेषमिह धस्तुचिमेवजातं

रामायणादि च विभाव्य गृहत्कर्यां च ।

श्राव्यप्रयेत्तद्वेत्ते नेतुरखानुगुण्या-

चित्रां कथानुचितचारुचमपञ्चै ॥ ६८ ॥

इति धनप्रयुक्तदशरूपकस्य प्रथमः प्रकारः समाप्तः ।

१. श्रुतिकार (अवलोककार) धनिक 'भेदिवुदाहृतानि' के द्वारा इनके पूर्ववर्ती नाट्यधर्मों का उल्लेख करते हैं, जो प्रथम रूप आदि अन्य नाट्यधर्मों को मानते हैं । यह मत भारत के बाद के नाट्यशास्त्रियों का है, किन्तु भारत-सम्मत नहीं है तथा संकेत भी नहीं मिलता है । 'उदाहृतानि' पर स्पष्ट बताया है कि इस मत के प्रवर्तकों के नाट्यशास्त्र पर धर्म भी रहे होंगे । वे कौन थे, इनके अन्य कौन से थे, वे वाले जमी अन्धकार में ही पड़े हैं । संभवतः भारत के नाट्यशास्त्र के श्रुतिकारों में से ही किन्हीं के मत हों ।

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु = वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदा । रामायणादि
 बृहत्कथा च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य आनोच्य । तदनु = एतदुत्तरम् । नेत्रिति—नेता
 वक्ष्यमाणलक्षणं, रसाद्य तेषामानुगुण्याच्चित्राम् = चित्ररूपां, कथाम् = आख्यायिकांम् ।
 चांरुणि यानि ब्रवीसि तेषां प्रपञ्चविस्तरैरासुप्रयेदनुप्रयेत् । तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—

‘चाणक्यनाम्ना सेनाय शकटालयहे रह’ ।

कृत्या विधाय सहसा सपुत्रो निहतो वृष’ ॥

योगानन्दयशशेये पूर्वमन्दसुतस्तत’ ।

चन्द्रपुत्रः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ॥’

इति बृहत्कथायां सूचितम्, धीरामायणोक्तं रामकथादि जैबम् ।

॥ इति धीविष्णुसूनुर्धनिकस्य कृती दशरूपावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ॥



(कवि) इस तरह कथावस्तु के समस्त भेदों का पर्यालोचन कर तथा रामायण
 (महाभारत, पुराण) आदि पुरं बृहत्कथा का अनुशीलन कर नेता (नायक) तथा
 रस के अनुरूप सुन्दर कथा की उपयुक्त तथा सुन्दर कथनोपकथन के द्वारा निदध करे।

(नाट्यारि रूपकों की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर ही नहीं होगी, वे लौकिक
 कथाओं तथा ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भी हो सकती है, इमीलिय गुणाढ्य की बृहत्कथा
 की भी रूपक की कथा का धीतोमूल माना है ।) जैसे मुद्राराक्षसनाटक का मूल बृहत्कथा ही है—

‘रुकवर् के पर में छिपकर उस चाणक्य ने कृत्या (काकिली) को पैदा कर रामाद्य पुत्रों
 सहित एक दम मार डाला । योगानन्द के वीरि के शेष रह जाने पर (मर जाने पर), पूर्वमन्द
 का पुत्र, चन्द्रपुत्र उस महापराक्रमी चाणक्य के द्वारा राजा बना दिया गया ।’ इस प्रकार का
 शकेत बृहत्कथा में मिलता है । रामकथा रामायण में कही गई है ।

अथ द्वितीयः प्रकाशः ।

रूपकाणामन्योन्यं भेदविद्यये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते—

नेता विनीतो मधुरस्व्यागो वक्षः प्रियवदः ।

रत्नलोकः शुचिवाग्मी रुक्मिणः स्थितो युवा ॥ १ ॥

युद्धयुत्साहस्मृतिप्रसाफलात्मानसमन्वितः ।

शूरो हृद्दृढ्य तेजस्वी शास्त्रचक्षुध्व धार्मिकः ॥ २ ॥

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतो यथा वीर्यरहिते—

‘यद्भ्रमवादिभिरुपासितवन्धवादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।

वैवाकृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्धयगशक्तिंस्ते ॥’

रूपको में (नाटक, प्रकरण आदि वक्ष्यमाण रूपक-भेदों में) परस्पर भेद का कारण वस्तु नेता तथा रस का भेद है, (नेता तथा रस का भेद है—वस्तु नेता रसार्थों के भेदः) अतः इनके भेद बताने के लिए वस्तु, नेता तथा रस के प्रकारभेदों का निर्देश आवश्यक ही जाता है। प्रथम प्रकाश में वस्तुभेद का प्रतिपादन किया गया, अब नायकभेद का प्रतिपादन करते हैं । (१)

नायक विनय, मधुर, श्यामी, चतुर (वृत्त), मिय बोलने वाला (प्रियवद), लोको को खुश करने वाला (रत्नलोक), पवित्र मनवाला (शुचि), बलवती करने में कुशल (वाग्मी), कुलीन घंटा में उरवत् (रुक्मिण), मन आदि से स्थिर, युद्ध अवस्था वाला होता है। यह बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रसा, फला तथा मान से युक्त होता है, शूर, वृद्ध, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता तथा धार्मिक होता है ।

नेता अर्थात् नायक विनयता आदि गुणों से भूषित रहता है । (गुणिकार पत्रिक इन्हीं गुणों को क्रमशः उदाहरत करता है ।)

(२) नायक विनय ही, जैसे अर्धभूति के महावीर्यरहित में रामचन्द्र विनय है । उनकी विनयता को अभिनयिक रूप पथ के द्वारा बुद्धि दे—

३. भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक (रूपक) के अर्थ, नेता तथा रस के तीन तत्त्व माने जाते हैं, इन्हीं के आधार पर किसी रूपक की पर्यालोचना की जाती है। पाश्चात्य पद्धति कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथनोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य इन छः तत्त्वों की मानती है, तथा उसके साथ ‘रंगमंच’ (अभिनेयता) नायक सार्वत्रिक रूप में समावेश करती है । भारतीय पद्धति के इन तीनों तत्त्वों में पाश्चात्य पद्धति के ये सभी तत्त्व अन्तर्भूत ही जाते हैं । चरित्रचित्रण का समावेश नेता के साथ किया जा सकता है—यह दूसरी बात है कि भारतीय नाट्यों व नाटकों के रसपरक होने से केवल चरित्रचित्रण या शैलीविषय मात्र नहीं नाटककार का लक्ष्य नहीं रहा है । ‘नेता’ शब्द में भारतीय नाट्यशास्त्री नायक के अतिरिक्त नायिका, वीरभद्र आदि सभी पात्रों को अन्तर्भावित करते हैं, यह स्पष्ट है । कथनोपकथन का समावेश भारतीय पद्धति वस्तु के ही अन्तर्गत करती है, किन्तु यह रस का अर्थक होने के कारण उसका भी अर्थ माना जा सकता है । देशकाल, शैली व उद्देश्य तीनों का समावेश रसमें ही जाता है । अभिनेयता ही नाटक की साक्ष पद्धति है—अतः उसे अलग से तत्त्व मानना पुनर्वक्ति दीव्य शैली—फिर नायक, नायिका, आचार्य तथा सांस्कृतिक अभिनय के द्वारा जनका भी उपादान भारतीय नाट्य पद्धति में किया ही है ।

मङ्गलों के द्वारा जिनके पवित्र चरणों की उपासना (लोगों के द्वारा) की गई है, जो विद्या एवं तप के निधि है, तथा तपस्वियों में भेड़ हैं ऐसे आपके प्रति मैंने सौभाग्यजन्य नमस्कार खादि विनयापचार किया है। हे भगवन् आप प्रसन्न हों, आपकी सेवा वह नमस्कार है।

मधुर-प्रियदर्शन । यथा तत्रैव—

‘राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशी समुद्रहन् ।

अप्रतकथ्येगुणरामणीयकः सर्वयैव हृदयहमोऽसि मे ॥’

(२) नायक मधुर अर्थात् प्रियदर्शन (सुन्दर) होना चाहिए, जैसे वहीं महावीरचरित में रामचन्द्र के माधुर्य का ब्यपनिकथन किया गया है —

हे सुन्दर राम, हृदय के समान, नेत्रों को अच्छी लगनेवाली, सुन्दरता की धारण करनेवाले तुम सर्वथा मेरे हृदयजन्य हो (तुमने मेरे हृदय में स्थान पा लिया है)। तुम्हारे गुणों की तर्कना तथा विचार बुद्धि से परे है (तुममें अनेकानेक गुण हैं), अतः एव तुम सुन्दर (शांत होते) हो।

त्यागी-सर्वस्वदायक । यथा—

(‘त्वच कर्णं शिविर्मांस जीव जीमूतवाहन ।

ददौ दधोच्चिरस्वीनि नास्त्यदेय महात्मनाम् ॥’

(३) नायक त्यागी अर्थात् समस्त वस्तुओं (धन, मन, धन) की देने वाला हो, किसी भी सांसारिक वस्तु के प्रति उसका अनुचित मोह न हो। महात्माओं की रसो त्यागशीलता का उदाहरण नीचे त्याग गुण की स्पष्ट करने के लिए देते हैं —

‘कर्णं मे त्वचा, शिविने मांस, जीमूतवाहन मे जीवन (जीव), तथा दधोच्चि मे हृदयों को दे दिया। महात्मा लोगों के लिए कोई भी चीज अदेय नहीं।

दक्ष-प्रियकारी । यथा वीरचरिते—

‘सुभद्रासहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यप्रतो

रामस्य त्रिपुरातकृद्विनिपदां तेजोभिरिदध धनु ।

शुम्भार कलभेन यद्ददच्छले वत्सेन दोर्दम्बक-

स्तस्मिन्नाहित एव गञ्जितशुण कृष्ट च भय च तत ॥

(४) नायक दक्ष होना चाहिए। दक्ष से तात्पर्य किसी भी कार्य की प्रकृतम पूर्ती से करने (शिपकारिता) से है। नायक युद्ध और दीर्घकाली न होकर शिपकारी होना चाहिए। इसका उदाहरण महावीरचरित से रामचन्द्र के विषय में दिया जाना है —

समस्त देवताओं के तैज से समिद्ध, त्रिपुर नामक दैत्य का अन्त करनेवाला, शिव का पिनाक धनुष को मनो हजारों कदवृक्षों के कडोर बरों से बना हुआ है—राम के सामने प्रकटित होता है (राम के सामने पड़ा है)। वस्तु राम ने उस अवल धनुष पर इतनी तरह अपना हाथ रखा, जैसे हाथी का बन्धा बँझ रखता है, और सशब्द प्रत्यक्षा थाके उस धनुष को खैवा तथा तोड़ बाका।

‘प्रियवद’=प्रियभाषी । यथा तत्रैव—

‘उरतिर्जमदमित स भगवान्देव पिनाकी गुरु-

वीर्यं यत् न तद्विरां पयि ननु व्यक्त हि तत्कर्मभिः ।

त्यागं सप्तसमुद्रमुद्रितमहोनिर्व्याजदानावधि

सत्यप्रकृतपोनिषेर्भगवत किं वा न लोकोत्तरम् ॥’

(५) नायक प्रियवद अर्थात् प्रियवचनों को बोलने वाला होता है। जैसे वही महावीर चरित में रामचन्द्र परशुराम से बात करते समय अपनी प्रियवदता का परिचय देते हैं —

आपकी वरपति महर्षि जमदग्नि से है (महर्षि जमदग्नि आपके पिता हैं), वे मगवान् शिव आपके गुण हैं। आपकी वीरता कार्यों से ही प्रकटित है, उसे बाणी के द्वारा नहीं बढ़ाया सकता (वह बाणी के मार्ग में नहीं आ सकती)। शत्रु सज्जनों के द्वारा सीमित पृथ्वी को बिना किसी स्वान के दान देना आपके स्वान का ध्वजक है। सत्य, मद्रा तथा तप के निधि (सत्यनिष्ठ, मद्रानिष्ठ तथा तपोनिष्ठ) आपकी ऐसी कौन बहुत है, जो अलौकिक न हो।

रफालोक । यथा तत्रैव—

‘द्रव्यादाता यस्तवायं तन्मूल-

स्तेनायैव स्वामिनस्ते प्रसादात् । ॥

राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा

। कल्पचेमा पूर्णकामाधराम ॥’

(६) नायक रक्तहीन होना चाहिए अर्थात् सभी लोग वसते हुए रहें। जैसे महावीर चरित में राम के आचरण से लोग वसते हुए हैं, उनमें अनुरक्त हैं, इसकी ध्वजा इस पत्र के द्वारा ही गई है।

मरने महाराज आपकी कृपा से, हम लोग आपके इस पुत्र [रामचन्द्र के द्वारा राजा वाले होकर कुशलता प्राप्त कर, समस्त स्वप्नों को पूर्ण कर (आनन्द से) रह रहे हैं। आपका यह पुत्र तीनों वेदों की रक्षा करने वाला है।

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्यम् । तत्र शौचं नाम मनोर्नैर्मल्यदिना कामाद्यनभिभूतत्वम् । यथा रघौ—

‘वा त्व शुभे वस्य परिश्रमे वा किं वा मदभ्यागमकारणं वै ।

आचक्ष्य मत्वा वशिना रघुणां मन परस्त्रीविमुक्तप्रवृत्ति ॥’

(७) इती परिवादी से नायक के अन्य गुणों-शौचादि-वा भी उदाहरण दिया जा सकता है। शौच का तात्पर्य मन की निर्मलता है, जिससे मन काम आदि दोषों से मुक्त न हो सके। जैसे रघुवंश के पीठश सत्र में कुछ अपनी शुचिता का प्रकाशन करते कहता है—

हे शूभे, हम कौन हों, किसकी पत्नी हों, गुम्हारे मेरे पास जाने का क्या कारण है ? वही मन वाले जितेन्द्रिय रघुवंशियों के मन की परस्त्री विमुक्त समझ कर इन बातों का उत्तर दो।

वाग्मी । यथा हनुमन्काण्डके—

‘वाटोर्वलं न चिदितं न च कामुकस्य

त्रैपम्यकस्य तनिमा तत एव दोष ।

सचापलं परशुराम मन कमस्त ।

विन्मस्य दुर्वितसितानि मुदे शुकाम् ॥’

(८) नायक वाचनीय करने में कुशल होना चाहिए जैसे रामचन्द्र । निम्न हनुमन्काण्ड के पद्य में परशुराम की प्रत्युत्तर देते हुए राम अपनी वाग्मिता का परिचय देते हैं।

हे परशुराम, न तो मुझे अपने हाथों के बल का ही पता था, न शिकवी के रंस धनुष की कमजोरी का ही। इसलिये यह गलती हुई। अब मेरी चपलता को क्षमा करें। वही की चपल नेटार्य बड़े लोगों की प्रसन्न हो करती है।

‘हृदयंशो यया—’

यि चत्वारो दिनकरकुलशत्रुसन्तानमहो

मालाम्लानस्तयकमधुपा जज्ञिरे रात्रपुना ।

रामस्तोपामचरमभवस्तादृकाकालरात्रि-

प्रत्युपोऽय सुचरितकयाक-दलीमूलकन्द ॥’

(९) नायक उच्च वंश में उत्पन्न हो, जैसे रामचन्द्र की कुलीनता का व्यञ्जक विष्णु पद्य है —
‘सूर्यवंश’ में उत्पन्न क्षत्रिय सत्तानों की मालतीमाला (अथवा वचनवृक्ष की कलियों की माला)
के स्वरूप के अनुरागी भँवरे, जो चार राजकुमार उत्पन्न हुए, उन चारों में सबसे बड़े रामचन्द्र
हैं, जो हाडकारूपी कालरात्रि के प्रातःकाल हैं, तथा वह मूलकन्द है, जिससे सुन्दर चरित्र वाली
यशसायाओं की कन्दलियों पैदा हुई हैं ।

स्थिरो वाह्येन-त्रियाभिरचञ्चल । यया वीरचरिते—

‘प्रायश्चित्त चरिष्यामि पूजयानां यो व्यतिव्रमात् ।

न त्वेव दूषयिष्यामि शक्यमहमहामतम् ॥’

‘यया’ वा मर्तुहरिशतके—

‘प्रारभ्यते न खलु विप्रमभयेन नीचे-

प्रारभ्य विप्रविहता निर्मात मध्या ।

विप्रैः पुन पुनरपि प्रतिहयमाना-

प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवाद्बहन्ति ॥’

(१०) भायंक स्थिर होना चाहिय अर्थात् वह बाणी, मत्त तथा शरीर से चञ्चल न हो
जैसे महावीर चरित में ही—

मैने आप पूज्य लोगों का उल्लेखन किया है, इसलिय मैं प्रायश्चित्त का आचरण करूँगा ।

इस तरह मैं शक्यमरण करने के बड़े प्रण को दूषित नहीं करूँगा ।

अथवा जैसे मर्तुहरिशतक में,—

नीच कोटि के व्यक्ति केवल विप्रों के घर के ही कारण कोई काम नहीं करते । मध्यमकोटि
के व्यक्ति काम तो शुरू करते हैं, पर विप्रों से पराभूत होकर उन्हें बन्द कर देते हैं । पुन
जैसे उत्तमगुण (उच्चकोटि के) व्यक्ति विप्रों से बार-बार पराभूत होने पर भी प्रारंभ किये
हुए कार्य का बहन करते रहते हैं ।

युवा प्रसिद्धः । बुद्धिर्हानम् । प्रदीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यया गालविकाप्रिमित्रे—

‘यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।

तसद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीति मे माला ॥’

स्पष्टमन्यत् ।

नायक के इन उक्तियों युवों को निर्दिष्ट कर बानी युवों के उदाहरण देना वृत्तिकार
आवश्यक नहीं समझता । नायक का सुवक्त होना भी आवश्यक गुण है, विशेष कर शृंगार
रस वरक लोकादि से यह सर्वथा अनोखिज है । साथ ही औरतारि गुण भी युवावस्था में ही
चरमरूप में विकसित पाये जाते हैं । नायक के शिष्य में प्रयुक्त ‘युवा’ विशेषण स्पष्ट ही है ।

नायक में बुद्धि, प्रज्ञा आदि का भी अस्तित्व होना चाहिय, इसे कारिकाकार धर्मवच
ब्रह्मवे हैं । आमतौर पर बुद्धि व प्रज्ञा का एक अर्थ समझ जाने से एक साथ दोनों के प्रयोग
पर पुनरुक्ति दोष की आशंका की जा सकती है । इस का निराकरण करने के लिए वृत्तिकार
दोनों के भेद को बनाते हुए कहते हैं कि बुद्धि का अर्थ दान भर्वात् शान सामान्य है । प्रज्ञा

विशेष ध्यान की उपपन्न करने वाली है, क्योंकि किसी गृहीत ध्यान में अपनी ओर कुछ निकालकर उसे विशिष्ट रूप देने वाली बात शक्ति या नाम प्रकाश है। जैसे मालविकाग्नि मित्र में— 'नृत्यकला के प्रयोग में भेजे जो जो दंभ (भाविय) उसे बताये हैं, वह बाल्य कवकी विशिष्ट बना बनाकर ऐसा प्रयोग करती है मानो मुझे फिर से सिखा रही है।' और बाकी सब स्पष्ट है।^१

नेतृविशेषानाह—

मेदैध्वतुर्था ललितशान्तोदात्तोद्धतरयम् ।

अथ नायकों के भेदों का वर्णन करते हैं—यह नायक ललित, शान्त, उदात्त तथा उद्धत इस प्रकार के भेदों के कारण चार तरह का होता है।

(यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि भारतीय नायकों के नायक में धीरता (वीर्य) का होना परमावश्यक है, प्रत्येक प्रकार के नायक में धीरता होनी ही चाहिए, यही कारण है कि नायकों के सभी भेदों के साथ 'धीर' विशेषण जरूर लगाया जाता है। इस तरह नायक-भेद ४ तरह का माना जाता है—धीरललित, धीरशान्त, धीरउदात्त तथा धीरउद्धत)

ययोद्देश लक्षणमाह—

निश्चिन्तो धीरललितः फलासक्तः सुखी मृदुः ॥ ३ ॥

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्याचिन्तारहित इत्यप्य गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च भ्रष्टाप्रधानत्वान्न सुकुमारसत्त्वाचारो सुदुरिति ललित ।

यथा रत्नावल्याम्—

'राज्य निर्मितशशु योग्यसचिवे न्यस्त समस्तो भर

धाम्यपालनकालिका प्रशमितारोपेपसर्गा प्रजा ।

प्रयोतस्य युवा वसन्तासमयस्त्य चेति मात्रा पूर्ति

प्रथम काममुपैलय मम पुनर्मन्ये महागुरस्य ॥'

क्रम से इनका लक्षण नामसहित बताते हैं—धीरललित यह नायक है जो सर्वथा निश्चिन्त रहता है। यह कोमल स्वभाव का होता है, सुखी रहता है तथा फलासक्तों (चुल्यगीतादि) में आसक्त रहता है।

धीरललित नायक के योगक्षेम की चिन्ता उसके मन की भाँति के द्वारा की जाती है, अतः

१ बुद्धिभार ने नायक के सभी गुणों की उदाहरण करना विस्तार के मय से ठीक नहीं समझा है। दो एक के उदाहरण हम यों ले सकते हैं—

(१) युवा जैसे—विमशुकचंद्रचिरः सपञ्चयो मयन् प्रियान् जितमीनकेतन ।

अमवलसार्दित्तुरी महोत्सव प्रमेदाब्जिनस्य स चिराय माधव ॥

(२) शूद्र जैसे—शुभ्र विररा मृग मुजंगम चारवैनां स्व कूर्मराज लदिदं दित्य दधीया ।

दिवकुंभरा कुकल सम्प्रति संरिपीपी देव करोति हरकामुक मातज्वन् ॥

(३) वत्साही जैसे—किं कगिभ्यति निष्ठेव नामनी यावदित्य मद्सप्त दानवा ।

तावदस्य श मयी नमस्तडे लपिताकंशुमण्डल क्रम ॥

(४) तेजस्वी जैसे—यं समेल च ललाटेरेलवा विभ्रत सपदि शम्भुविभ्रन् ।

अण्डमाशतयिन प्रदीपयन्पेदिपस्य निरवादिहोचनन् ॥

इसी तरह बाकी गुणों के उदाहरण महाकाव्यों व नायकों से दूँटे जा सकते हैं।

२ ओं वस्तु अपनी तक नहीं मिली है उसका निकलना योग्य तथा मिली हुई चीज की रक्षा करना हीम कहलगा है—(अप्राप्तव्य प्राप्तियोग, प्राप्तस्य परिरक्षणं हीम) —

वह इस प्रकार की चिन्ताओं से रहित रहता है। इस चिन्तारहिता के कारण वह गीनादिकलाओं का प्रती तथा भोगविलास में प्रवण रहता है। उसमें शृंगाररस की प्रधानता होने के कारण वह सुकुमार आचरणवाला तथा कोमल स्वभाव वाला होता है। जैसे रत्नावली नाटिका का नायक कस्तूरज उपवन रही थीरललित कोटि का नायक है।

‘राम्य के सारे शत्रु जीते जा चुके हैं, अब कोई भी शत्रु ऐसा नहीं जो राव में विश्व उपस्थित करे। राम्य शासन का सारा भार सुयोग्य मंत्री शौगंधरायण की सौंप दिया है। प्रजाओं को अच्छी तरह से छालित व पालित किया गया है, उनके सारे दुःख-उपसर्ग— (अकाल आदि रैनियाँ) शांत हो चुके हैं। मेरे हृदय को प्रसन्न करने के लिए प्रसोत की पुत्री वासवदत्ता मौजूद है, और तुम मौजूद हो। इन सब वस्तुओं के नाम से ही काम (रुच्रा) धैर्य को प्राप्त हो। अथवा इन सब वस्तुओं के विद्यमान होने पर कामदेव मजे से आर्ये, मैं तो यह समझता हूँ, कि मेरे लिए यह बहुत बड़े उत्सव का अवसर उपस्थित हुआ है। मैं कामदेव के उत्सव का स्वागत करने की प्रस्तुत हूँ।’ 30/11/56

अथ शान्त—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिकसचिवादीनां प्रशरणनेतृणामुपलक्षणं निवृत्तं चैतन्, तेन नैविकत्यादिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्य, यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकदौ माधववारुदत्तादि ।

‘तत उदयगिरेरिर्विक एव

— स्फुरितगुणयुतिमुन्दर कलवार ।

इह जयति महोत्सवस्य हेतु-

— नयनवतामुदियाय बालचन्द्र॥’

इत्यादि । यथा वा—

‘मन्त्रशतपरिपूत गोत्रमुद्गासित यत्

सदसि निविडवैत्यत्रङ्गधोपै पुरस्तात् ।

मम निघनदशायां धर्तमानस्य पापे

’स्तदसदशमनुष्यैर्युष्यते घोषणायाम्’ (इत्यादि) ।

धीरशान्त (धीरप्रशान्त) यह नायक है जिसमें सामान्य प्रकार से उपर्युक्त माधव कर्णों का समावेश है। यह ब्राह्मण, वैश्य या मन्त्रिपुत्र आदि होता है।

विनय आदि नायकगुणों का सामान्यकर जिसमें पाया जाय, जो ब्राह्मण, वैश्य, मन्त्रिपुत्र आदि (द्विजादिक) हो वह धीरशान्त नायक कहलाता है। धीरशान्तता प्रकरण (रूपक का एक भेद) के नायक का लक्षण है। यह बात कहना आवश्यक है कि प्रकरण रूपक के नायक में पाहे उपर्युक्त निश्चिन्ततादि (विनयका समावेश थीरललित की परिभाषा में किया गया है) पाये जायें, फिर भी ब्राह्मणादि जाति के नायकों में शान्तता माननी ही होगी। यद्यपि प्रकरण

१ यहाँ यह सकेत करना अनुचित न होगा कि नाटिका के नायक सभी धीरललित होते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्र आदि कुछ नाटकों के नायक भी इस कोटि में आ सकते हैं। उन्हें कुछ लोग धीरोराज मानना पसन्द करेंगे। विक्रमोर्वशीय का पुत्रवा धीरोराज ही माना जाना चाहिए।

के नायक निश्चित बलाधिक्य आदि होते हैं, फिर भी वे ललित क्रीडि के नहीं माने जाते चाहिये, उन्हें शांत ही मानना होगा, क्योंकि मण्डलादि की प्रकृति ही शान्त होती है। मालतीमाधव का माधव, मृच्छकटिक, चारुदत्त आदि (यथा मेरे मन्दारवतीमण्डप प्रकरण का मण्डरुच) ये सभी शांत क्रीडि के हैं। इसकी अभिव्यञ्जना इन एवों से होती है —

(भगवती माधव का परिचय देते हुए कहती है)

नेत्रबाहे लीनों को प्रसन्न करने वाला, फलपूर्ण, शान्ति से युक्त बालचन्द्रमा जिस तरह उदयभिरि से उदित होता है, वही तरह देवीध्यमान गुणों की शान्ति से मनोहर, फलानों में पारंगत यह अथेजा माधव, संसार के नेत्रधारियों के लिए महान् उत्सव (प्रसन्नता) का कारण बनकर लक्ष कुल में उत्पन्न हुआ है।

अथवा जैसे, (मृच्छकटिक में चारुदत्त स्वयं अपना परिचय देता है —) जो मेरा कुल समाजों में चैत्यों के सघन वेदधोषों से ध्वजित होता था, तथा छेत्रकों हवन बरों के द्वारा पवित्र रहता था, वही आज मेरी गुरुकु के समीप होने पर ऐसे नीच मनुष्यों (वाण्डालों) के द्वारा धोषणा में घोषित किया जाएगा है।^१

अथ धीरोदात्त —

महासहस्रोऽतिगम्भीरः क्षमायानविकल्पिनः ॥ ४ ॥

स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढमत्तः ।

महासहस्र = शौर्यशोभायानभिभूतान्त'यत्न', अतिगम्भीर = अनात्मछापन, निगूढाहङ्कार = विनयच्छायावलेप, दृढमत्त = अहीकृतनिर्वाहिक, धीरोदात्त = यथा नागानन्दे—
'जीमूतवाहन —

शिरानुल्लै स्वदत्त एव रफमयापि देहे मन भासमस्ति ।

सुति न पर्यामि शयैव तापयिक् भङ्गभात्त्व विरतो गदतमन् ॥'

यथा च राम प्रति—

'आहूतस्याग्निदेवान विष्टस्य धनाय च ।

म मया लङ्कितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥'

यद्य केचनचित्स्वैर्वादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणैः कवित्व-कृतिर्न एतेषां सन्नविषयप्रतिपादनायम् ।

मनु च यद्य जीमूतवाहनदिनांगन दादातुदात्त इयुष्यते १ औदास्य हि नाम सर्वोत्तमैः श्रुति, तद्य किमिनीपुत्र एवोपपद्यते जीमूतवाहनस्तु निर्मिनीपुत्रस्यै कविना प्रतिपादित । यथा—

लिङ्गमाति पितु पुरो भुवि यथा सिंहासने किं ह्यथा

यत्सवाहयस मुल हि चरणी शतस्य किं राज्यत ।

१ अथवा जैसे मेरे मन्दारवतीमण्डप प्रकरण का मण्डरुच —

वेगान् केचिन्नतकंमयनवदिलितान् यामव वाशकेचिद

केचिद सास्यं च वेदान्ति मिद च गणित, पाणिनीय पठन्त ।

साहस्य चूतकम्भपुरसम्भुर केचिदास्वावयन्त

शिराग्रस्यमदृष्टेभ्यश्च विमलमतवी बालधिम्याः सुरेण ॥ (प्रथम अंक)

किं भुक्ते भुवनप्रये धृतिरपौ भुक्तोऽभिमते वा गुरो-

रायास' खलु राज्यमुज्जितपुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्रुणः ॥'

इत्यनेन ।

'पित्रोर्विधातुं शुभ्रूपां त्यक्तवैश्वर्यं वमागतम् ।

वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः ॥'

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्तरममरुणित्वाच्च वीतरागवच्छान्तता । अन्यथात्रायुक्तं यतथाभूतं राज्यसुखदादौ निरभिलष्यर्ष नायकसुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यथोक्तम्—'सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्तः' इति । तदपि पारिभाषिकत्वाद्वास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-युधिष्ठिर-जीमूतवाहनादिभ्याद्वारा शान्ततामाविर्भावयन्ति ।

अनोच्यते—यथावदुक्तं सनोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ परिहीयते । न ह्येकहृषैव विजिगीषुता य' केनापि शौर्यत्यागद्वयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषु, न य' परापकारेणार्थप्रकादिप्रवृत्त, तथात्वे च मार्गदूषकदेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः । रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादि लाभः । जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद्विश्वमप्यतिशेते इत्युदात्ततमः । यथोक्तम्—'तिष्ठन्भाति' इत्यादिना विषयसुखपराम्भुषतेति तत् सत्यम्—कार्पण्यहेतुषु स्वसुखेनृणां निरभिलाषा एव जिगीषव, तदुक्तम्—

'स्वसुखनिरभिलाष' छिद्यसे लोकहेतो

प्रतिदिनमथवा ते धृतिरेवंविधैव ।

अनुभवति हि मूर्खां पादपस्तीत्रमुष्णं

शमयति परितापं छायायोपाधितानाम् ॥' इत्यादिना ।

मलयवत्यनुरागोपवर्णनं त्वरान्तरसाश्रयं शान्तनायकतां प्रत्युत निषेधति । शान्तत्वं चानर्हकृतत्वं, तच्च विप्रदेरीचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्वा विप्रदेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकृपणत्वादिघर्मत्वाद्भेदः । अतो जीमूतवाहनादर्धोदात्तत्वमिति ।

धीरोदात्तकोटि का नायक महासख, अत्यन्त गंभीर, समशील, अविकल्पन, स्थिर (अचंचल मन वाला), निगूढ अहकार वाला, तथा दृढव्रत होता है ।

महासख का अर्थ यह है, कि धीरोदात्त नायक का अन्तःकरण (अन्तःसत्तर) कोप, शोक आदि विकारों से अभिभूत नहीं होना चाहिये । अविकल्पन का अर्थ यह है कि वह अपनी ही प्रशंसा करने वाला न हो । निगूढअहकार का तात्पर्य यह है कि उसमें अहकार के रसानिर्माण अभाव हो, किन्तु वह दिनप्रता के द्वारा दशावा हुआ तथा धिपाया हुआ हो । दृढव्रत से तात्पर्य यह है, कि उसने जिस बात का प्रण कर लिया है, उसका मन्त्र तक निर्वाह करने वाला हो । धीरोदात्त नायक का उदाहरण हम नागानन्द के नायक जीमूतवाहन के रूप में ले सकते हैं—

१ ध्यान रखिये विकल्पन होना जहाँ धीरोदात्त के लिए दोष है (गुण नहीं), वहाँ धीरोदात्त नायक के लिए दोष नहीं है ।

‘हे गुरु, अभी भी मेरी नसों के किनारों से खून टपक रहा है, अभी भी मेरे शरीर में मांस बका हुआ है, गुण भी अभी छूट नहीं हुए हैं। पिता मेरा अन्दाजा है। फिर क्या कारण है कि गुण (सुते) खाने से रुक गये हों ?’ अथवा जैसे राम के विषय में (उनकी धीरोदात्ता के विषय में) यह उक्ति है:—

जब उन्हें अभिषेक के लिए बुलाया तब और जब उन्हें वन के लिए विदा दी गई तब, दोनों वक्त भी उनके (राम) चेहरे पर कोई भी (बोधा सा भी) विकार नहीं देखा।

‘नायक के धैर्य, दृढ़ता आदि गुणों का वर्णन नायक के सामान्य लक्षण में किया जा चुका है, अतः उनका धीरोदात्त के लक्षण में पुनः वर्णन पुनरुक्ति दीप है।’ हम शक्य वा सम्भाव्य करते हुए यहते हैं कि धीरोदात्त में ये सामान्य गुण विशिष्ट रूप में पाये जाने आदि, इस अवधारण के लिए इनकी फिर से वर्णना की गई है। इसका तात्पर्य धीरोदात्त में इन गुणों की अभिव्यक्ति बनाने के लिए है।

धीरोदात्त नायक के उदाहरण के रूप में कृपार विद्याधरराज के पुत्र जीमूतवाहन प्रतिष्ठ स्वाम्नीलौ तथा दानियों में से एक है, तथा उसमें विद्याधर के प्रति सांसारिक जीव की भाँति विद्या न होकर, विरक्ति का भाव पाया जाता है। नागार्जुन के रचयिता हर्षवर्धन ने भी ‘जीमूतवाहन का चित्रण विषय विरक्त के रूप में किया है। इन बातों को देखकर पूर्ववर्ती की जीमूतवाहन के धीरोदात्त के विषय में शक्य हो सकती है। इसी का संकेत यहाँ उचितता में किया है।

नागार्जुन आदि नाटकों में जीमूतवाहन आदि नाटकों को धीरोदात्त क्यों कहा जाता है ? धीरोदात्त नायक में उदात्ता प्रधान गुण है। उदात्ता का तात्पर्य उस वृत्ति से है जो सबसे बढ़कर उत्कृष्टता प्रकट करती है अर्थात् अन्य लोगों से उत्कृष्ट होना ही उदात्ता है। यह उदात्ता सभी हो सकती है, जब नायक में दूसरों की जीतने की (उनसे उत्कृष्ट होने की) इच्छा विद्यमान हो। किन्तु जीमूतवाहन में यह विनिर्णीत नहीं पाई जाती। कवि हर्षवर्धन ने उसका चित्रण निरिनिर्णीत रूप में किया है। इसका प्रमाण जीमूतवाहन की यह उक्ति की जा सकती है—

पिता के सामने अमीन पर बैठने से जो श्रेयासी, क्या बैसी सिद्धासन पर बैठने से है; पिता के चरणों की सेवा से जो सुख था, क्या वह राज्यप्राप्ति से हो सकता है ? तीनों लोकों के भोग से भी क्या वह धैर्य (सन्तोष) मिल सकता है, जो पिता के जूठन (मुकोन्धित) से ? पिता से विमुक्त मेरे लिए राज्य की बोधा (मारुतरूप) हो गया है, इसमें भी कोई शुभ ही है ?

‘कमलगत (बंद परम्परा प्राप्त) धैर्य को छोड़कर माता-पिता की सेवा करने के लिए मैं इन में बैठे ही आरहा हूँ, जैसे जीमूतवाहन गया था।’

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जीमूतवाहन में विरक्तता और शक्ति की प्रधानता पाई जाती है, साथ ही यह परमदयालु भी है अतः लक्ष्मी राजा (वीतराज) की भाँति शान्त मानकर धीरोदात्त कीटि का नायक मानना ठीक होगा। इसके अतिरिक्त हर्षवर्धन की पाठनीय कथावस्तु में कुछ दीप भी नजर आता है। इस तरह के शान्त तथा विद्याधीन प्रकृति वाले नायक को केकर, जो राजसुख आदि से सर्वथा उदासीन है, भागे आकर मलयवती के साथ उसके अनुसारा का वर्णन करना अनुचित मनीव होता है। इसके साथ ही धीरोदात्त की परिभाषा—‘सामान्यगुणों से शुद्ध आकाशादि धीरोदात्त कीटि का नायक है’—भी सिद्धा है। क्योंकि सामान्य गुण—शौर्य, दक्षता, उत्साह कलाविद्या आदि शान्त तथा वीरग्य व्यक्ति में

१. भाँति शब्द से भाँतिरिनिर्वेद, आदि नाटकों का भी समावेश किया जा सकता है।

नहीं चाहे जा सकते। अतः यह परिभाषा ठीक तरह से भीरुशान्त की विशेषता को व्यक्त नहीं कर पाती, तथा उसे अन्य भीरोदात्तादि से अलग करने में समर्थ नहीं जान पड़ती है। अमल में वास्तविक स्थिति यह है कि बुद्ध, सुधिधिर, जीमूतवाहन आदि के नाम तथा इनके वृत्तान्त शान्त रस का आविर्भाव करते हैं। अतः उन्हें शान्त कोटि में ही मानना ठीक होगा।

(समाधान)

इस शंका का उत्तर देते हैं — उदात्ता का तात्पर्य तुम सर्वोत्कर्ष दृष्टि मानते हो, ठीक है। सब लोगों से उत्कृष्ट होने की इस दृष्टि का जीमूतवाहन आदि में अभाव नहीं है। नहीं तब दूसरों को जीतने की इच्छा के होने का प्रसंग है, विजिगीषुता एक ही तरह की तो होती नहीं। विजिगीषु उसे माना जाता है, जो शीघ्र, स्वाग, दया आदि गुणों से दूसरों को जीत लेता है, उनसे बढ़ जाता है। विजिगीषु हम उसे नहीं मान सकते, जो दूसरों का नुकसान करने या धन छीनने में प्रवृत्त है। ऐसा मानने पर तो साकुओं को भीरोदात्त मानने का दोष उपस्थित होगा। यह ठीक नहीं। राम आदि भीरोदात्त नायकों में संसार के पालन करने का गुण पाया जाता है, क्योंकि वे दुष्टों को दण्ड देने में प्रवृत्त हैं। वेदों प्रसंगवश उन्हें राज्य आदि का भी लाभ ही जाता है। जब दुष्टों का संहार कर संसार का पालन करने वाले राम उदात्त हैं, तो जीमूतवाहन तो प्राणों की देकर भी परीपकार में व्यस्त रहना है, वह सारे संसार को अपने परीपकार से जीत लेता है, अतः वह उदात्त ही नहीं, उदात्ततम है। पूर्वपक्षी ने ऊपर के दो पक्षों (तिष्ठन् मानि०) को देखकर जीमूतवाहन की विषयपरालम्बिता प्रकट की है, वह ठीक है। असल में संसार को अपने धर्मों से जीतने की इच्छावाले उदात्त नायक कृपणता भी उत्पन्न करनेवाली अपने मुख की इच्छाओं से उदासीन तथा विरक्त (निरमिच्छा) ही रहते हैं। ऐसा कि साकुन्तल के नायक दुष्यन्त के लिए कहा गया है —

अपने सुखों के प्रति निरमिच्छा होते हुए भी तुम प्रजा के लिए तकलीफ सहा करती हो। अथवा यह तो तुम्हारी दैनिक क्रिया-प्रक्रिया ही है। वृक्ष अपने तिर से तीम भावप को सहता है, किन्तु गरम में आये लोगों के ताप को छाया द्वारा शान्त कर देता है।

पूर्वपक्षी ने जीमूतवाहन तथा मन्थवती के अनुराग के निबन्धन को दोष माना है। इसका उत्तर देते हुए दृष्टिकार (सिक्कान्ता) कहते हैं कि मन्थवती के अनुराग का वर्णन भी शान्तरस के उपयुक्त नहीं है, इस बात का शीतक है कि नायक शान्त नहीं है, बरिच वह जीमूतवाहन ही भीरुशान्तता का निषेध करता है। शान्त का जो पारिभाषिक अर्थ हम लोग लेते हैं, वह है अहंकार का न होना, यह आत्मत्याग में उचित है। इसलिए वास्तविक दृष्टि से आत्मत्याग में शान्तता पारं जाता है, यही नहीं कि कोरी परिभाषा से ही वे भीरुशान्त मान लिये गये हों।

बुद्ध की बरहणा तथा जीमूतवाहन की करुणा में भी भेद है, एक की करुणा निष्काम है, दूसरे की सद्गम। अतः इन दोनों में भेद है। इसलिए जीमूतवाहनादि भीरोदात्त ही हैं।

१. भीरुशान्त नायक के ऊपर के दो उदाहरण (माधव व चालुक्य) शृङ्गार रस वाले हैं। यहाँ मेरे 'दधीपिच्छन' से भीरुशान्त नायक का परीपकार वाला रूप दिया जा सकता है, जो जीमूतवाहन व दधीपि के वमश' भीरोदात्त व भीरुशान्तत्व को स्पष्ट कर देगा।

८१] असह्य दिरःपीर भूषद्भिदा कृन् मथिना,
; वनम दमलं मार्गं विदा शूरदुष्कया ।
स्व मलयकरोद् देह भीमाल् मुखेन च शक्तिनी
; वर मथ भवान् प्रापच्छभी परार्थपट्ट 'त' ॥

अथ धीरोद्धत —

दुर्षमात्सर्यभृविष्टो मायाच्छुभपरायणः ॥ ५ ॥

धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चतुर्धण्डो विकल्पितः ।

दुर्ष = शौर्यादिमद, मात्सर्यम् = असहनता, मन्त्रवलेनाविद्यमानवस्तुप्रकारानं माया, छुभ = वरनामात्रम्, चतुर्धण्ड = धनवस्थित, षण्ड = रौद्र, स्वगुणरासी = दिक्वचनो धीरोद्धतो भवति, यथा जामदग्न्य- 'किलसोदारस्तारत्रिभुवनविजय-' इत्यादि । यथा च रावण- 'प्रैलोक्यैर्धर्म्यकर्मोद्दहरणसह पाह्वो रावणस्य ॥' इत्यादि ।

धीरोद्धतश्चादिशब्दात् यथोपगुणसमारोपित्वास्मादिगणितः, परस्परममहोद्दत- दिव्य जात्या मधिद्वयस्थितरूपो रल्लितादिरस्ति, तदा हि महाव्रत्रिभुवनेषु विरुद्धानेक- रूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्, जातेरेवभावित्वान्, तथा च भ्रमभूतिनैक एव आमदग्न्य —

✓ 'म्राद्वणप्रतिप्रमात्यागो भवतामेष भूतये ।

जामदग्न्यश्च यो मिनमन्यथा दुर्मनायते ॥'

इत्यादिना रावण प्रति धीरोद्धतत्वेन 'कैलगोदारस्तार-' इत्यादिभिश्च रामादीन्प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन, पुन - 'पुण्यं म्राद्वणजाति' इत्यादिभिश्च धीरोद्धतत्वेनोपपन्नितं, न चारस्थान्तराभिधानमनुचितम्, अङ्गलनायताना नायतान्तरापेक्षया महासत्त्वावैरव्य- यस्थितत्वात् । अतिवस्तु रामादेरेक्यन्योपात्तान् प्रत्येकत्वादात्मनोपात्तत्वात्तदस्त्व- स्थान्तरोपादानमन्याष्य, यथोदात्तःशमितस्य रामस्य छमेना धात्विवशाद्महासत्त्वतया स्तावस्थापरिस्थाप इति ।

पक्ष्यमाण च इक्षिणाद्यस्त्यानाम्, 'पूर्वा प्रत्यन्दयाहृत' इति नियमापेक्षत्वेनावि- भावादुपात्तान्स्थातोऽस्त्यान्तराभिधानमङ्गलिनोरप्यविरुद्धम् ।

धीरोद्धत नायक षण्ड (दुर्ष) और दुर्ष्या (मात्सर्य) से भरा हुआ, माया और कपट से युक्त, षण्डो, चञ्चल, क्रोधी तथा धात्मरक्षणी होता है ।)

दुर्ष का तात्पर्य शौर्य आदि का षण्ड है, मात्सर्य का तात्पर्य दूसरों की असहनता है । म म क से छड़ी वस्तुओं को प्रकट करना माया कहलाता है, दूसरों की उगता छल कहलाता है । चञ्चल से मतलब है, जो स्थिर न हो । इन गुणों के अलावा धीरोद्धत क्रोधी और अपनी छुट्ट की शैल मारने वाला होता है । जैसे वीरचरित के परशुराम को अपने आपको 'कैलाश के उठाने तथा दोनों लोकों के बीचने में' समर्थ मानते हैं, तथा रावण जितकी मुनार्य तीनों लोकों के ऐश्वर्य की छद्मी की इत से ऊपरह करने में समर्थ हैं ।'

नायक के धीरोद्धत, धीरोद्धत, धीरोद्धत तथा धीरोद्धत कोटि के होने के विषय में एक भाति हो सकती है कि नायक का दूर जीवन-चित्रण एक ही कोटि का होया । इस तरह ती दुर्षणादि धीरोद्धत नायकों में जो कलाप्रियता तथा रागमयता बतारं परं है, तथा जो धीरोद्धत का गुण है—ठीक नहीं बैठेगी । वस्तु ऐसा मानना ठीक नहीं । इति बात को स्पष्ट करते हुए बुचिन्तार बताता है कि धीरोद्धत जादि पारिभाषिक शब्द : उपकरण से वर्णित शृणो से समारोपित अवस्था के अनिर्वाचक है । इस तरह एक ही नायक में) कमी उल्लिख बाकी अवस्था, कमी ज्ञान्त बाकी अवस्था, कमी उदात्त बाकी अवस्था और कमी कष्टता बाकी अवस्था परं जा सकती है । (यह दूसरी बात है कि 'म्राधायेन व्यवस्था 'भवन्ति' इस नाम के आधार पर उसकी धीरोद्धतादि संज्ञा गिती एक गुण की विधिगता के कारण

की जाती है।) जैसे बेल (गौ) को हम विभिन्न अवस्थाओं में बछटा, बेल और चाँद इन नामों से पुकारते हैं, ठीक उसी तरह नायक के विषय में भी कहा जा सकता है। उदात्त, ललित आदि जाति (उदात्तत्व या ललितत्व) के रूप में नायक में स्थित नहीं है। जिस तरह गौ में बसल्लादि जाति न होकर गोत्व जानी है, वरस, वृषभ, महोद्य केवल बेल के गुण हैं, वैसे ही नायक में नायकत्व जाति है, उदात्त, ललित आदि उसके गुण हैं।^१ अगर ललित आदि को ललितत्वादि जाति मानकर तच्छास्त्रोक्ति के नायक में अविनाभावेन स्थित माना जाय तो फिर एक ही नायक में अनेक तरह के रूपों (ललित, उदात्त आदि) का निरूपण अनुचित होगा। महाकवियों ने अपने कालों व नाटकों में एक ही नायक को कई रूपों से युक्त निरूपित किया, जो परस्पर विरुद्ध है—किन्तु यह विरोधि-समागम असङ्गत रसलक्षि नहीं लगता कि ये ललित्वादि गुण हैं, तथा एक ही व्यक्ति में विभिन्न समयों (अवस्थाओं) पर विभिन्न गुणों की स्थिति पार्स जा सकती है। लेकिन अगर ललित आदि को जाति मान लिया जाय, तो जाति अविनाशी है, अतः वहाँ ललितत्व जाति का अस्तित्व है, वहाँ उदात्तत्व जाति कैसे पार्स जायगी। (जब कि गुण विनाशी तथा क्षणिक है अतः परस्पर विरोधी गुणों का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक ही नायक में पाया जाता अनुचित तथा असङ्गत नहीं है।)

उदाहरण के लिए मङ्गलूति के महावीरचरित से परशुराम के पात्र को ले लीजिये। मङ्गलूति के परशुराम में कई गुणों का समावेश पाया जाता है। एक ओर रावण के प्रति निम्न संदेश भेजते हुए परशुराम का धीरोदात्तत्व प्रकट किया है—'म्राक्षणों के अपमान को छोड़ देना तुम्हारे ही कल्याण के लिए है। परशुराम वैसे तुम्हारा मित्र है, लेकिन (म्राक्षणों का अपमान करने पर) वह क्रुद्ध होता है।' दूसरी ओर राम के प्रति 'केलासोद्धारसार—'जादि उक्ति का प्रयोग करते उसका धीरोद्भूत-रूप प्रकट किया गया है। तीसरी ओर फिर 'म्राक्षणजाति पवित्र है' इस प्रकार धीरज्ञात के रूप में उनका विषय हुआ है।^२ इस तरह अलग अलग अवस्थाओं में परशुराम का चित्रण अनुचित नहीं है। यहाँ परशुराम प्रधान नायक न होकर महावीरचरित के प्रधान नायक राम के अङ्गभूत नायक है। अङ्गभूत नायकों में महासत्त्वादि गुण प्रधाननायक की अपेक्षा मन्द तथा अल्पव्यवस्थित ही होते हैं। अतः ऐसे अङ्गभूत नायकों का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का चित्रण सर्वथा उचित जान पड़ता है। लेकिन जहाँ तक प्रधान नायक का प्रश्न है, उसके बारे में ऐसा करना ठीक नहीं होगा। जैसे मान लीजिये किसी प्रबन्ध (काव्य या नाटक) में रामादि को प्रधान नायक निबद्ध किया गया। ऐसे रस पर प्रबन्ध के अन्य पात्रों के प्रति प्रधान नायक की जो अवस्था आरम्भ में कवि ने गृहीत की है, उसी का निर्बाध अन्त तक होना ठीक है, दूसरी अवस्था का ग्रहण यहाँ ठीक

१ कृतिकार का भाव यह है कि घरे से घरे जाति घृण्य नहीं की जा सकती, क्योंकि व्यक्ति तथा जाति का अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु गुण के विषय में ऐसा नहीं है पद्म, काला, लाल, नीला वहाँ तरह का हो सकता है। घरे में क्षणिक रसत्व आदि जाति मानना ठीक नहीं होगा महाभाष्यकार भी गुण को जाति नहीं मानते—'चतुष्टयी शब्दानां प्रकृतिः। गौश्चतुष्टयकोक्तिय इति। नायक में अविनाभाव सम्बन्ध से नायकत्व की ही स्थिति है ललित्वादि गुणों की नहीं। अतः ललित्वादि गुण तो केवल तच्छास्त्र के रूपक हैं।

(अर्थ मान वया मद्यनैषट्त्वादिजाति वस्तुविधत्वाऽविनाभावेन विवृति, किन्तु शुद्धादि-गुणस्तु अवस्थाविशिष्ट एव, तथैव नायक नायकत्वजाति अविनाभावेन विवृति, ललित्वादिगुणास्तु अवस्थानिरूपका एवेति दिक्।)

२ जैसे परशुराम माङ्गलूति की शक्ति से धीरप्रज्ञात पात्र है।

नहीं लेंगे। जैसे राम जैसे भीरोदात्त नायक के प्रबन्ध में कण्ठ से कालि का नप करना उनके महासूत्र में रोम उत्पन्न कर देगा और ये अपनी अवस्था छोड़ देंगे (क्योंकि ब्रह्मादि का आशय भीरोदात्त नायक का गुण है), (अतः ऐसे अवसरों पर कुशल कवि प्रबन्ध में कविण हेर फेर कर ऐसे स्थल को नायक की भीरोदात्त प्रकृति के अनुरूप बना लेते हैं ।)^१

लेकिन आगे वर्णित दक्षिण, छठ, छूट इन नायक भेदों का एक ही नायक में मिश्र-मिश्र अवस्थाओं में विचित्र अनुचित नहीं है, चाहे वह नायक प्रधान नायक ही या अङ्गभूत नायक ही। इस प्रकार के भेदों का आशय एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था के लिए रियाज सकता है। इसका कारण यह है कि ये अवधारणें एक दूसरी की अपेक्षा राशनी हैं, परस्पर सापेक्षिक हैं। जैसे एक ही नायक पहले ज्येष्ठा नायिका के प्रति सद्दृश्य रहता है, अतः दक्षिण नायक रहता है। वही कभी द्विप-द्विप कर कनिष्ठा से शृङ्गार पोशा करता है, अतः छठ ही जाता है। बाद में जब उसकी चालाकी साफ तौर पर अपेक्षा के द्वारा एकदो जाती है, तो वह छूट नायक की छोटि में आ जाता है। अतः दक्षिण्य आदि गुणों का अवस्थाभेद से प्रधान नायक में भी समावेश करना अनुचित तथा विरुद्ध नहीं है।

अथ शृङ्गारोपवस्था—

स दक्षिणः शठो घृष्टः पूर्वा प्रत्यन्यया हतः ॥ ६ ॥

नायकप्रकरणात्पूर्वा नायिका प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकायाऽपहतचित्तस्वभावस्यो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरस्रस्यः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरस्रस्वत्वेन पोशया नायकः ।

जब नायक किसी नवीन (कनिष्ठा) नायिका के द्वारा हतचित्त हो जाता है, तो वह पूर्वा (ज्येष्ठा) नायिका के प्रति दक्षिण, शठ या छूट (प्रकृति का) होता है।

यहाँ नायक के प्रकरण में मूल कारिका में प्रयुक्त 'पूर्वा' तथा 'अन्यया' इन विशेषणों से इनके विशेष्य 'नायिका' का अन्वयार्थ बर रखा पड़ेगा। यह नायक जब किसी नवीन नायिका के प्रेम में फँस जाता है, तो पहली नायिका के प्रति शक्य व्यवहार कर प्रकट या हो सकता है। इसी व्यवहार के आधार पर शृङ्गारी नायक के दक्षिण, छठ तथा छूट ये भेद किये गये हैं। कुछ ऐसे भी नायक (अनुकूल) होते हैं, जो एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहते हैं (जैसे ऊपररामचरित के रामचन्द्र), इस भेद का वर्णन भी आगे किया जा रहा है। इस पर नायिका के प्रति व्यवहार की दृष्टि से नायक को चार तरह का माना जा सकता है। ऊपर भीर उक्तिवादि चार प्रकार के नायकों के भेद बताये। प्रत्येक प्रकार का नायक दक्षिण, छठ, छूट या अनुकूल हो सकता है, इस तरह (४ × ४ = १६) नायक के भेद १६ तरह के हो जाते हैं।

तत्र—

दक्षिणोऽस्यां सद्दृश्यः— ।

१. प्रतिनायक (अङ्गभूत नायक) का विचित्र मिश्र-मिश्र अवस्था में करना उचित है, इसका स्पष्टीकरण भेदे 'शृङ्गारोपवस्था' महाकाव्य से दिया जा सकता है:—

(१) भीरोदात्तः—वस्य प्रयाणसमये प्रतिभृष्टां तत्र कीर्तिप्रकाण्डमनुक दिनरश्मिगौरम् ।

अन्वयः पत्नीवर्षारिप्राणनासल्ललावाकाशिमोदरशरीरमिनीवले स्म ॥

(२) भीरुकथितः—रम्भापि उद्धर्षेनमिच्छुटमेव सत्यो रोमानिताम कुबचनसुल्लब्धकल्पैः ।

किन्वागिपल्लवविलासमदै रिमस्य वामुष्म भो दितिस्तत्रय नहार चेनः ॥

(३) भीरोदात्तः—भीतो वदीयस्वरस्यैकशामिथाता यातानवं यमुपिकान्तिपुषि स्पृष्टन्तो ।

कम्पनुरसर्गणमैवगतस्वरी किं जगौ न देवमिषजावपि देवकथौ ॥

योऽस्यां ज्येष्ठार्या हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः । यया ममैव—

प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो

रतिमोहा कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः ।

सविश्रम्भः कथित्वथयति य विचिरपरिजगो

न चाहं प्रत्येभि प्रियसत्ति किमप्यस्य विवृतिम् ॥

यया वा—

‘उचितः प्रणयो धरं विहन्तुं बहवः सख्यनहेतवो हि दृष्टाः ।

उपचारविधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिज्ञेऽपि भावगून्यः ॥’

दक्षिण नायक वह है जो नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्वा नायिका के प्रति अपने व्यवहार में कोई कमी नहीं आने देता, तथा उसे इस धात का अनुभव नहीं होने देता, कि वह उससे कुछ उदासीन हो गया है। सख्य में वह पूर्वा नायिका के प्रति सहृदय रहता है, ज्येष्ठा नायिका के प्रति भी हृदय से व्यवहार करता है।

दक्षिण नायक के उदाहरण के रूप में श्रुतिकार धनिक अपने ही बनाये हुए पद्य को रखते हैं। सखियों किसी नायक की अभ्याशक्ति के बारे में बार बार, आ आकर ज्येष्ठा नायिका को चेतावनी दे जाती हैं। इधर नायक का व्यवहार ज्येष्ठा के प्रति इतना सहृदयता-पूर्ण है कि उसे इस बात का विश्वास ही नहीं हो पाता कि उसका प्रेमी अब किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त हो गया है। इसी बात की नायिका स्वयं अपनी एकसखी से कह रही है।

वह मुझे देखते ही मुग्न हो जाता है, तथा नाना प्रकार से (यया यया) रविक्रीडाएँ किया करता है, जो प्रेम से भरी रहती हैं। उसनी विनम्रता प्रतिदिन अपूर्व रूप लेकर आती है। हर रोज वह एक नये प्रेम, नई सुशी, नई तदजीव के साथ मुझसे मिलना है। लेकिन दूसरी ओर मेरे विश्वासपात्र कोरें सेवक (सखियों भी) कुछ दूसरी ही बात कहते हैं। विश्वासपात्र सेवकों से मुझे यह पता चला है कि अब वे कहीं दूसरी जगह आसक्त हो गये हैं। चूंकि सेवक विश्वासपात्र हैं, इसलिये मैं ऐसा भी नहीं मान सकती कि वे झूठ बोलते हैं। और इधर वे सखि, मैं स्वयं उसके विचार तथा परिवर्तन का विश्वास नहीं कर पाती हूँ।

अथवा,

प्रेम की मने से खत्म किया जा सकता है। एक से प्रेम होने पर किसी दूसरी प्रेयसी के प्रेम की उत्तम करना उचित है। इस तरह प्रेम की समाप्ति के, प्रेम के खण्डन के, बरं कारण हम लोगों ने देखे हैं। लेकिन कुछ कुशल लोग ऐसा न कर पढ़ले की प्रेयसी के प्रति पढ़ले से भी ज्यादा प्रेम दिखाते हैं। मानिनी प्रेयसियों के लिए नायक की यह उपचारविधि, नायक का यह व्यवहार, चाहे पढ़ले से ज्यादा हो, फिर भी भाव दना प्रेम से शून्य होता है।

अथ शठ—

—गूढविप्रियरुच्छ्रुतः ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहतचित्ततया विप्रियकारित्वाविरोधेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः, यया—

‘शठान्यस्या काशीमणिरणितमाकर्म्मसहसा

यदाश्रियत्तेव, प्रशियित्भुजप्रन्धिरभवः ।

तदेतत्काचचे घृतमधुपयत्वद्बहुवचो—

विषेणापूर्णन्ती किमपि न सती मे गणयति ॥’

सब नायक वह है, जो ज्येष्ठा नायिका का सुरा तो करता है किन्तु द्विप-द्विप कर करता है। नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर राठकोटि का नायक पदवी नायिका से दर दर कर द्विपी शृंगारचौपाई किया करता है।

प्रथम नायिका की अभिय बात तो सब और दक्षिण दोनों तरह के नायक समान रूप से करते हैं। प्रथम नायिका सब बात को पसन्द नहीं करेगी कि जतना नायक किसी दूसरी नायिका से प्रेम करे, चाहे उसका बचपन सहृदयतापूर्ण ही क्यों न हो। इस तरह दोनों में विधिवकारितर समान रूप से पाया जाता है, फिर भी दक्षिण में सहृदयता पाया जाता है, वह हृदय से ज्येष्ठा नायिका का दिल दुलाना नहीं चाहता, जब कि सब चाहे बाहर से भीठी भीठी बातें भले ही कर लेता हो, दिल से साथ नहीं होता। इस प्रकार दक्षिण व सब नायक में परस्पर भेद पाया जाता है।

सब नायक का उदाहरण यह दिया जा सकता है। नायक बड़ा, बालक है। ज्येष्ठा का आलिंगन करते समय ही वह कनिष्ठा की करपनी की आवाज सुनकर ऊपर उन्मुख होने के कारण आलिंगन को शिथिल कर देता है। पर वहीं ज्येष्ठा इस बात को नज नुं छाव, इसलिये वह भीठी-भीठी बातों में उसे उन्हा देता है। ज्येष्ठा की एक सखी इस बात को ताड़ जाती है, और किसी दूसरे भोके पर वह नायक को चालाकी या परीकाय करती नायक से बड़ रही है।

अरे दुष्ट, तू मेरी सखी के सामने अनुकूल नायक बनने का बोंग रचा करता है, लेकिन असल में तू सब है। उस दिन एवम् दूसरी नायिका की करपनी की सखियों की आवाज सुनकर मेरी सखी का आलिंगन करते करते ही तूने अपने बाहुपाद को डोला कर लिया। मैं इन बातों को क्या कहूँ। तू बड़ा पूर्ण है, तेरे स्नेह और मिठास मेरे बचन जैसे थी और शब्द का मिश्रण है। जिस तरह थी और शब्द को गिलावर आरंभ पर व्यक्ति घुंलिन होने लगता है, क्योंकि उचिन मात्रा में न लेने पर उनका मिश्रण विप हो जाता है और आठने वाले व्यक्ति को निश्चैनन बना देता है, जैसे ही तेरे (सूडे) स्नेह तथा प्रेम के मिश्रण का आस्वाद कर मेरी सखी मदमत्त हो जाती है, और उस मस्ती में अपनी बदसोहा हो जाती है कि तेरी इन आलापियों के बारे में भी कुछ नहीं जान पायी।

अथ घृष्ट—

व्यक्ताङ्गयैवृत्तो घृष्टो—

मयाऽमरुतावे—

‘लाशालक्ष्म ललाटपद्मभित्तं येयूरमुद्रा गले’

पदमे वक्षरनास्त्रिमा नयनयोस्ताम्बूळरापोऽपर’ ।

हृष्ट्या शोपविधायि मण्डनमिद प्राप्तविर प्रेयसो

स्त्रीमताभारसौन्दरे सुगहश श्वासा समार्ति भता ॥’

कभी नायक द्विप-द्विप कर कनिष्ठा नायिका के साथ शृङ्गारचौपाई करता है, और उसकी इन चोखाओं का निशान उसके शरीर पर लगा रहता है।—ज्येष्ठा, नायिका के सामने जब उसके ये अङ्गविकार प्रकट हो जाते हैं और उसे नायक की द्विप कर की गई मारी चोखाओं का आन हो जाता है, तो नायक घृष्ट कहलता है। (घृष्ट नायक इतना डीठ है कि वह इस तरह अङ्गविकारसुकु होकर भी ज्येष्ठा के सामने जाने से नहीं हिचकिचाता।)

घृष्ट नायक का उदाहरण अवसकजक से दिया गया है। कनिष्ठा के साथ रतिमोच कर भीला के भिड़ों से शोभित हो, नायक ज्येष्ठा के समीप आया है। उसे देखकर राग में भी गई नायक की सारी इरकतें ज्येष्ठा की मालता हो गईं हैं। ज्येष्ठा के मन में बते देखकर क्या

भाव उठते हैं, उनकी अभिव्यञ्जना इस पद्य में ज्येष्ठा के अनुभावों तथा सात्त्विक भावों के द्वारा की गई है ।

रान की रतिक्रीडा करते समय कनिष्ठा नायिका के रुठने पर नायक ने उसके चरणों पर सिर रखकर उसे मनाया था, इसलिए उसके ललाटतट पर नायिका के चरणों के अलङ्कार का निशान हो गया था । रतिक्रीडा के समय नायिका के बाजू पर गला रखाकर वह सोया था इसलिए उसके गले में अङ्गद (बाजूबन्द) का चिह्न हो गया था । उसने नायिका के नेत्रों का चुम्बन किया था, इसलिए मुख में कज्जल की कालिमा लगी हुई थी और उसके नेत्रों का चुम्बन नायिका ने किया था, इसलिए उसके नेत्रों पर ताम्बूल की लछाईं लगी थी । सुबह जब नायक कनिष्ठा के पास से ज्येष्ठा नायिका के पास छोटा तो वह ऐसी साब-सज्जा से विभूषित था जो ज्येष्ठा को क्रुद्ध कर देने वाली थी । प्रिय के इस मण्डन को देखकर दिन के समान चञ्चल नेत्र वाली नायिका के श्वास लीला कमल तक जाकर रुक गये, अथवा नायिका के श्वास लीलाकमल के समान मुख के अन्दर ही अन्दर समाप्त हो गये, वह पूरी तरह सौत भी न ले सकी ।

भेदान्तरमाह—

—'ऽनुकूलस्त्वैकनायिकः ॥ ७ ॥

यथा—

'श्रद्धैर्तं मुखदुःखवोत्सुगतं सर्वास्ववस्थामु यद्-
विधामो हृदयस्य यत्र जरसा भस्मिन्नहायो रस' ।
कालेनावरणगत्ययात्परिणते यत्स्रेहसारे स्थित ।
भद्रं तस्य मुमानुपस्य वयनेष्येक हि तत्राप्यते ॥'

किमवस्थ- पुनरेषा वत्सरराजदिर्नाटिकानायक- स्यात् ? इत्युच्यते-पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूल, परतस्तु दक्षिण । ननु च गूढविप्रियकरित्वाद्दपकतरविप्रियत्वाच्च शास्त्रघाटयैऽपि कस्माच्च भवत, न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सरराजादेराप्रबन्ध-समाप्तेर्ज्येष्ठां नायिका प्रति सद्दयत्वाद्दक्षिणत्वैव, न शोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, श्वविरोधान् । महाकविप्रबन्धेषु च—

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेधरमुत्त वारोऽङ्गराजस्वसु-
धृते रात्रिरियं किटा कमलया देवी प्रसापाय च ।
इत्यन्त-पुरमुन्दरी प्रति मया विहाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्विप्रा स्थितं नाटिका ॥'

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकायु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् ।
तथा च भारत—

'मधुरस्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वरामेति ।
अवमानितस्य भार्या विदुष्येत स तु भवेज्ज्येष्ठ' ॥

इत्यत्र 'न रागं याति न मदनस्य वरामेति' इत्यनेनासाधारण एतस्यां स्नेहे निविद्धो दक्षिणस्येति, अतो वत्सरराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यमिति । षोडशानामपि प्रत्येक ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाद्य-अन्वार्त्तिधायकभेदा भवन्ति ।

जो नायक एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है, (स्वयं में भी दूसरी नायिका के प्रेम की बात नहीं सोचता), वह अनुकूल नायक है ।

जैसे उषारामचरित के रामचन्द्र अनुकूल वोटि के नायक है । इसका उदाहरण उषारामचरित का यह पद्य दिया जा सकता है — सीता का प्रेम सुख तथा दुःख दोनों ही अन्वेषणों में एक सा है, उसमें कोई भी पक्ष नहीं आता; यह हर वस्तु में एक-सा रहा है । सीता का यह प्रेम हृदय की शान्ति देने वाला है, तथा श्रौणवृक्षा (वृद्धारणा) के आने पर भी उसकी सरसता में कमी नहीं पड़ी है । अच्छे स्वयं का ऐसा अच्छा कर्वाणकारी प्रेम, जो समय के स्वतंत्र होने पर, परिष्कृत स्नेह में स्थित है, क्योंकि समय ने बीच में पड़े को हटा दिया है, किसी तरह ही प्राप्त किया जा सकता है ?

द्वितीय नायकों के भेदोपभेद की गणना ही जाने पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि नायिका (उपरूपक) के विषय बरसेराज उद्यम आदि की किस कोटि का भागना होगा ? (बरसेराज में कभी दक्षिणार्णव) कभी शहर और कभी धृतराज पाया जाता है, इसलिए एक ही नायक में मिश्र अस्वभावों के पाये जाने से योदिनिर्धारण के विषय में शङ्का उपस्थित होना सम्भव है ।, इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्णकार धर्मिक कहता है ।

रत्नावलीनायिका आदि के नायक, बरसेराज आदि का जब तक किसी दूसरी नायिका से प्रेम नहीं हो पाता तब तक उसे अनुकूल ही मानना होगा— (जैसे कामदेवपूजा तक बरसेराज अनुकूल वोटि का नायक है) उसके बाद दूसरी नायिका से प्रेम हो जाने पर वह दक्षिण भव जाता है । इस पर पूर्वपक्षी यह शङ्का कर सकता है, कि बरसेराज विष-विष कर वासवदत्ता का विधेय करता है, तथा इसका पण वासवदत्ता को प्राप्त जाता है बरसेराज को चाकाकी प्रणय हो ही जाती है, इसलिए वह शक तथा शङ्क क्यों नहीं है ? इसीका उत्तर देते हुए कृष्णकार कहता है कि बरसेराज को शक या शङ्क नहीं माना जा सकता । यद्यपि बरसेराज रत्नावली (सागरिका) से प्रेम करके वासवदत्ता का अपराध करता है, फिर भी सम्पूर्ण नायिका में बरसेराज का स्वभाव अपनी ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता के प्रति सहृदयतापूर्ण ही रहा है, इसलिए वह दक्षिण वोटि का ही नायक है । यदि इस विषय में पूर्वपक्षी की यह आपत्ति हो कि ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों के प्रति नायक का स्नेह हीन ठीक नहीं (क्योंकि नायक का वास्तविक स्नेह एक ही ही थापता है) तो ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि दोनों से स्नेह करने में कोई विरोध नहीं दिखाई देता साथ ही महाकवियों ने अपने काव्य में सभी नायिकाओं के साथ दक्षिण नायक के एक-से वैभवावस्था में प्रेम का चित्रण किया है । इसकी उदाहरण यह पद्य दिया जा सकता है —

किसी राजा के अस्तुर का कस्तुरी राजा से अस्तुर अस्तुर की रत्तियों की स्थिति बर्णन करता है, तथा राजा किस राजा के पुराँ रात विचारों, इस विषय में आदेश आह्वय है । राजा नीचे की बात सुन कर दो तीन पद्यों तक किसी बात का निर्णय नहीं कर पाता, क्योंकि यह दक्षिण प्रकृति का है, तथा उसका बर्णन सभी रत्तियों के साथ सहृदयतापूर्ण है ।

कुन्तकेस्य की दुःखी रजोदर्रीन के बाद आज शुक दुई है, अब राजा का यहाँ जाना धर्मोत्तुक्त है । बरसेराज की यद्विना की आज बारी है कि आप उसके यहाँ राति बितायें । कमला ने आज की रात दुई में जीत ली है और अन्नसन्न महारानी (देवी) को भी आज सुख करना है । अब कनन की सारी बातें जानकर मैंने अस्तुर की रत्तियों के विषय में राजा से यह अर्थ लिया तो वे विकृतस्वामिपूजे हीकर दो तीन पद्यों तक सुख से बैठे रहे ।

राज्याचार्यभरत ने भी ज्येष्ठ (दक्षिण) नायक की परिभाषा यों निबद्ध की है— ज्येष्ठ नायक मरुत तथा स्थानी होता है, यह राज (विषय) में आसक्त नहीं होता, न कामदेव के

बधीभूत ही होता है और अमान (निरस्तार) धरने पर वह नारी (ज्येष्ठा नायिका) से विरक्त हो जाता है ।^१

इस परिभाषा में 'वद् राग में आसक्त नहीं होता, न कामदेव के वश में ही होता है' इसके द्वारा एक नायिका में दक्षिण नायक का असाधारण स्नेह का होना निषिद्ध किया गया है । इसलिये बरहराम उदयन पूरे काव्य (रत्नावली) में दक्षिण कौटिक का नायक है । नायक पहले सोरुह तरह के बताये गये । ये फिर ज्येष्ठ (उत्तम), मध्यम तथा अपम कौटिक के भी हो सकते हैं अतः इनके ४८ भेद हो जाते हैं ।

सहायानाह—

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।

तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिद्गुणैश्च तद्गुणैः ॥ ८ ॥

। प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताक्य तथायक पीठमर्दः प्रयानेतिवृत्तनायकत्वं सहायः, यथा मातृतीमाश्रये भक्तुरन्दः, रामायणे सुग्रीवः ।

काव्य में नायक के कई साथी व सहायक उपनिबद्ध किये जाते हैं । इनमें प्रधान पताकानायक होता है । इसे पीठमर्द भी कहते हैं । पताकानायक चतुर तथा बुद्धिमान् होता है तथा प्रधान नायक का अनुचर तथा भक्त होता है । यह प्रधाननायक की अपेक्षा कुछ ही गुणों में कम होता है ।

कथावस्तु के भेद का वर्णन करते समय आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक दो तरह की वस्तु बताई गई है । इसमें आधिकारिक का नायक प्रधान नायक होता है । प्रासङ्गिक के दो भेद हैं—पताका व प्रकरी । इसी पताका नामक प्रासङ्गिक कथावस्तु का नायक पीठमर्द कहलगा है तथा वह प्रधान नायक का सहायक होता है । जैसे मातृतीमाश्रय का मरुत्तन्द तथा रामायण का सुग्रीव, श्री कृष्ण माधव व राम के सहायक हैं, तथा इनसे गुणों की दृष्टि से कुछ ही कम हैं ।

सहायान्तरमाह—

एकविद्यो विद्वान्यो, हास्यरुचिश्च विदूषकः ।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विट, हास्यकारी विदूषकः, हास्य विद्वताकारवेपादित्व हास्यकारित्वेनैव लभ्यते । यथा शोखरको नागानन्दे विटः, विदूषकः प्रसिद्ध एव ।

नायक के दूसरे भी सहायक होते हैं, इनमें विट यह है, जो किसी एक विद्या में निपुण होता है, और विदूषक नाटक का मजाकिया पात्र होता है ।

नायक के लिए उपयोगी गीत, नृत्य आदि विचारों में से किसी एक विद्या का बानने वाला विट तथा हास्यकारी पात्र विदूषक होता है । विदूषक के अजीब तरह के आकार व वैचित्र्य हास्य के पैदा करने वाले हैं । नागानन्द नाटक का शोखरक विट है, विदूषक तो प्रसिद्ध है ही ।^१

१ मृच्छकटिकमें शंकर का साथी विट है (जो वस्तुतः शंकर के खिलाफ बसन्तसेना की सहायता करता है), तथा पारदत्त का साथी मैत्रेय विदूषक है । अथवा जैसे भेरे मन्दारवती मरुत्तन्द में विदूषक — 'वद् ह ग वेङ्गरामो । हरिर्दं वस्तु मर—

। सुष्ठमलीविजुर्दं ग लोण अम्हार्णं सम्बरीभाग ।

मातृभक्तसम्पन्नं गच्छद् वभण वस्तु वेङ्गरामरसः ॥)

अथ प्रतिनायकः—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्भयसनी रिपुः ॥ ६ ॥

तस्य नायकस्येत्यर्थः भूतः प्रतिपक्षनायको भवति, यथा रामबुधिशिरयो रावणदुर्वोचनौ । नायक की फलप्राप्ति में विघ्न करने वाला, नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है । यह प्रतिनायक लोभी, धीरोद्धत, घमण्डी, पापी तथा भयसनी होता है ।
एक नायक का शत्रु प्रतिनायक इन विशेषणों से युक्त होता है । जैसे राम तथा बुधिशिर के शत्रु क्रमशः रावण तथा दुर्वोचन हैं ।^१

अथ सात्विक नायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्वैर्यतेजसि ।

खलितौदार्यमित्यष्टौ सौचिक्याः पौक्या गुणाः ॥ १० ॥

नायक में पुरुषात्पुष्क आठ सात्विक गुणों का होना आवश्यक है । ये आठ सात्विक गुण हैंः—शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्वैर्य, तेज, खलित तथा औदार्य ।

तत्र (शोभा यथा)—

नीचे घुणाधिके स्वर्था शोभायां शौर्यदत्तते ।

नीचे घुणा यथा वीर्यरिते—

‘उत्ताकतावकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः ।

नियुक्तस्तत्रमाथाय वीर्येण विचिकित्सति ॥’

गुणाधिकैः स्वर्था यथा—

‘एतां परमं पुरुः स्थल्येमिह किल शीघ्रकिरातो हर

कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे तावितः ।

श्याकर्यं कथाद्भवं हिमनिधायदौ सुमद्रापते-

मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥’

शौर्यशोभा यथा धनैव—

‘अन्तैः स्वैरपि सन्वताप्रचरणौ मूच्छाविरामक्षणे

स्वाधीनमणिताङ्गराक्षनिधितो रोमेषुर्मं धर्मयन् ।

भामानुद्भलपभिजान्परभटान्सन्तर्जयक्षिपुर्न

धन्तो घाम जयश्रियं वृष्टुरणस्तन्मे पताक्यते ॥’

दशशोभा यथा धीरचरिते—

‘सृष्टैर्द्वजसहस्रनिर्मितमिष आदुर्भयस्वप्रतो

रामस्य त्रिपुरान्तकुरिधियत्तां तेजोभिरिदं धनुः ।

१. [जैसे प्रतिनायक शुम्भ देव (जेरे ‘शुम्भवन’ महाकाव्य में) इसी प्रकार को विशेषणों से युक्त हैः—

भक्त्यावपुत्तरदिशा मन्त्रधिमस्या

मत्तुं जिगाय समरे त महेन्द्रकण्ठम् ।

यको कुनीयकुन्दनः करणेश यत्ने

रापाटितान् पट्टवरः सुरते व तासात् ॥]

(२) ‘धैर्यं’ इति पाठान्तरम् । (३) ‘सत्त्व्याः’ इति पाठान्तरम् ।

शुद्धार कर्मभेन यद्वदन्ते पत्नेन दोर्दण्ड-

। ३ स्तस्मिन्नाहित एव गणितगुण कृष्टं च भेद च तत् ॥^१

शोभा नामक सात्विक गुण यहाँ होता है, जहाँ नायक में शीर्ष तथा दक्षता पाई जावे तथा भीष व्यक्ति के प्रति घृणा एवं स्वयं से अधिष्ठित व्यक्ति के प्रति स्पर्धा पाई जाती हो।^१

जैसे महावीर चरित के नायक रामचन्द्र में नीच के प्रति घृणा पाई जाती है।

ताड के पेड़ के समान ऊँची ताड़का के छत्तात को देख कर भी रामचन्द्र क्षणित व भयभीत न हुए। फिर भी उसे मारने के लिए नियुक्त होने पर ताडका के खी होने के कारण वे कुछ विचार करने लगे हैं।

दूसरे के अधिक गुणों की देखकर उसके प्रति स्पर्धा होना भी नायक का शोभा नामक सात्विक गुण है। दशहरण के रूप में यहाँ महादेव के, अर्जुन के गुणों से प्रभावित होकर उसके स्पर्धा करने से सम्बन्ध निम्न पद्य दिया जा सकता है।

‘इस सामने की स्थली को जरा गौर से देखो। यही वह जगह है, जहाँ अर्जुन (चिरीटी) ने धनुष के द्वारा लीला से भील बने हुए महादेव के सिर को तेजी से खोद पहुँचाई थी।’ हिमालय में इस प्रकार की—मुमद्रा के पति अर्जुन की अर्धमुन कथा सुनकर जिन महादेव ने अपनी दोनों भुजाओं को धीरे धीरे मण्डलाकार करके सहलाया—(उनकी जय हो)।

जहाँ नायक में अतिशय वीरता पाई जाय वहाँ शीर्षशोभा होती, जैसे वृत्तिकार धनिक का स्वयं वा यह पद्य। नायक रणस्थल में दुरी तरह घाविल होकर गिर पड़ा है तथा मूर्च्छित हो गया है। किन्तु मूर्च्छा के समाप्त होते ही वह फिर से रणस्थल में आ जाता है, इसी विषय का पद्य है।

यद्यपि उस वीर के पैरों के अग्रभाग अपनी ही अङ्गुलियों से बँध गये हैं, फिर भी मूर्च्छा के समाप्त होते ही वह उठ खड़ा होता है। उसका शरीर माँस से तथा उनमें लगे शक्तों से परिपूर्ण है। वीरता का सञ्चार होने के कारण उसके रोगों खड़े हो गये हैं, जैसे उसने रोमी का कवच धारण कर लिया है। हारे हुए अपने सैनिकों को वह फिर से जीव्य दिला रहा है, तथा शत्रु-सैनिकों को निष्ठुरतापूर्वक फटकार रहा है। वह जयलक्ष्मी का निवासस्थान (अथवा जयलक्ष्मी का रोज-रत्नरूप) उल्लास वीर पद्य है, जो उस महान् युद्धस्थल के सम्म पर पताका के समान फहरा रहा है।^१

नायक में वसुधा का पाया जाना भी एक सात्विक गुण है तथा इसका समावेश भी शोभा में ही होता है। दशशोभा जैसे वीरचरित के राम में—

समस्त देवताओं के तेज से समिद्ध, त्रिपुर नामक दैत्य का भन्त करने वाला, शिव का पिताक धनुष—जो मानों हजारों बडकड़ाते बडोर बज्रों से बना हुआ है—राम के सामने प्रकटित होता है (राम के सामने पड़ा है)। वस्तु राम ने उस अचल धनुष पर इसी तरह अपना हाथ रखा, जैसे हाथी का बन्धा खँड रखा है, और सशब्द प्रत्यक्षा धाके उस धनुष की खैचा तथा तोड़ डाला।

अथ विलास—

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे स्तस्मित धव. ॥ ११ ॥

१ दशरूपककार धनञ्जय व उनके भाई वृत्तिकार धनिक दोनों धारापीथ मुञ्ज के समा पण्डित थे। सम्भवतः धनिक ने इस पद्य में मुञ्ज को ही वीरता का वर्णन किया हो।

यथा—

•दृष्टिस्तुणीदृतजगत्प्रयत्नसात्
धीरोदता नमयती गतिर्धरिणीम् ।

कौमारनेऽपि गिरिवद्गुदतां दधानो

श्रीधरे रतः किममेत्युत दर्प एव ॥

नायक का दूसरा सात्विक गुण विहास है। विहास नामक सात्विक गुण यह है, जब नायक में धैर्यगुण दृष्टि तथा धैर्यगुण गति पाई जाय, पूर्व उल्टी पाणी तिमि से युक्त हो।

उत्तरात्मचरित में चन्द्रसेतु छव को देखाकर उल्टो गति तथा दृष्टि के विषय में वर्णन करता कहता है:—

जब यह देखा देतो देता जान पटत है जैसे इसकी नजर ने नीनों छवों की बीरता को गुण्य समझ लम्बा है। इसकी धीर और वल्ल पाल जैसे पृथ्वी को भी मुका देती है। जैसे तो यह कुमारारव्या में हो है, तिर भी पहाड़ के समान ग्रहण भाषण विधे हुए है। रहे, देस कर पैसा सन्देश होना है कि यह खचं कीर रज्ज ही आ रहा है, या खच मूर्तिमान् दर्प ही।

अथ माधुर्यम्—

शत्रुणो विकारो माधुर्यं संज्ञोमे सुमहत्त्वपि ।

महत्त्वपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम् । यथा—

‘अपौले जलप्रयाः करिबलमदन्तवृत्तिसुधि ॥ १ ॥

स्मरस्मेरं गण्डोद्दुहमारपुलकं वक्रजकमलम् ।

सुधुः पश्यच्छृण्वन्नरनिचरयेनावलरलं

अदाश्रुर्मन्यि द्रव्यति रघुणा परिशुभ ॥’

नायक का तीसरा सात्विक गुण माधुर्य है। जब बहुत बड़े शोभ के होने पर भी मामूली सा विकार नायक में पाया जाय, तो यह माधुर्य कहलाता है।

जैसे गीधे के बच में उरदृष्य के सुदार्य उपलिन होने पर नी रागचन्द्र में बहुत ज्यादा विकार नहीं पाया जाता। उनमें बहुत बीदा विचार हुआ है, यह इस पत्र के द्वारा ध्वनित होता है।

एचकुल के नायक रामचन्द्र कापी के बचने के बोलत हीत की पानित भांछे, जानकी के कपोल में, सुलकारते हुए तथा। तीकधिन गण्डोदक भांछे धरने सुशकमिल को रार बार देखते हुए बना राखल की सेना के कोलदल को सुनते हुए; अपनी जटाओं के खड़े की ब्रज कर रहे हैं।

अथ गाम्भीर्यम्—

गाम्भीर्यं यत्प्रभायेन विकारो नोपलक्षयते ॥ १२ ॥

शुद्धविकारोपलम्भाद्विकारानुपलब्धिर्न्येति माधुर्यादन्यद्गाम्भीर्यम् ।

यथा—

‘आदृतस्याभिवेक्ष्य विशुद्धस्य वनाय चरा ॥ १ ॥

‘न नया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम ॥’

गाम्भीर्यं नायक का यह सात्विक गुण है, जब विकार के सदान् हेतु के होने पर भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जब कुछ भी विकार दिखाई नहीं पड़ता।

माधुर्य तथा गाम्भीर्य दोनों गुण एक दूसरे से भिन्न हैं। माधुर्य गुण में विकार अवश्य पाया जाता है, यह दूसरी बात है कि वह बड़ा कोमल होता है। गाम्भीर्य गुण में विकार का सर्वथा अभाव होता है। गाम्भीर्य गुण के उदाहरण के रूप में रामचन्द्र के दिग्घ में कहा गया यह श्लोक दिया जा सकता है।

अब उन्हें अभिप्रेत के लिए डुलाया गया तब और जब उन्हें वन के लिए बिदा किया गया तब, दोनों वक्त मैंने उनके (राम के) चेहरे पर कोई भी (बोहा सा भी) विकार नहीं देखा।

अथ स्थैर्यम्—

व्यघसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि ।

यथा घोरचरिते—

‘प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो ब्यतिक्रमात् ।

न त्वेषं दूषयिष्यामि शत्रुप्रहमहामतम् ॥’

स्थैर्य वह सात्त्विक गुण है, जब नायक अनेकों विघनों के होने पर भी उनसे चञ्चल नहीं होता हो, वह अपने व्यवसाय (मार्ग) से कभी भी विचलित नहीं होता हो।

जैसे महावीर चरित का यह पद्य स्थैर्य का अर्थ है। मैंने आप जैसे पुरुष लोगों की अवहेलना की है, अतः मैं प्रायश्चित्त करूँगा। मैं शत्रुघ्नपक्ष के रहे तब भी इस तरह दूषित नहीं करूँगा।

अथ तेज—

अधिनोपाद्यसहजं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥ १३ ॥

यथा—

‘भूत नूतनकृष्णाङ्गफलानां के भवन्त्यमी ।

अहलीदर्शनायेन न जीवन्ति मनस्विनः ॥’

तेज नामक सात्त्विक गुण वह है, जब नायक तिरस्कार आदि को मरते दम तक नहीं सहे।

जैसे, बगामो तो सही कितने लोग ऐसे हैं, जो नये कुम्हड़े के फलों को तरह हैं। मनस्वी व्यक्ति दूसरे लोगों के अंगुलीदर्शन आदि शर्तों पर नहीं जीते हैं।

अथ ललितम्—

शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।

स्वामयिक शृङ्गारो मृदु, तथाविष्ठा शृङ्गारचेष्टा च ललितम् ।

यथा ममेव—

‘लावभ्यमन्मयविलासविजृम्भितेन

स्वामयिकेन मुकुमारमनोहरेण ।

किंवा ममेव सति योऽपि ममोपदेशः ।

सत्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥’

स्वामयिक कोमलता से युक्त शृङ्गारपरक चेष्टाओं का नायक में पाया जाना, ललित नायक सात्त्विक गुण कहलाता है।

स्वामयिक शृङ्गार कोमल होता है, स्वामयिक शृङ्गारो चेष्टा ही ललित नायक सात्त्विक गुण है। जैसे वृष्टिकार का स्वर्ण का निम्नोक्त पद्य नायक के ललित नामक गुण का अभिप्रेत है।

दे सधि, पुन्दरता तथा कामविश्रास से युक्त, स्वाभाविक हृङ्गारता तथा मनोहरता वाले उल नायक के द्वारा मेरे ही क्या सुखी उपदेश देने वाले के भी हृदय में विषम ताप नहीं किया जा सकता है क्या ? अर्थात् बसका छात्रव्य, हृङ्गारता तथा मनोहरता ऐसी है, कि वह मेरे ही कामव्य ताप उपलब्ध नहीं करता, बल्कि किसी भी देखने वाली रमणी के इसी प्रकार का ताप कर सकता है ।

अथौदार्यम्—

प्रियोक्त्याऽऽजीविताहानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥ १४ ॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीवितावधेदानमौदार्यं सतासुपग्रह्य । यथा नागानन्दे—

‘शिरमुच्चैः स्पन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।

एति न परमामि शयैव तावत्किं भक्षणार्थं विरतो गच्छन् ॥’

सदुपग्रहो यथा—

‘एते कथनमौ दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।

मृत येनात्र नः कार्यमनास्या दास्यन्सुतु ॥’

जहाँ नायक प्रिय वचनों के द्वारा प्राण तक देने की प्रस्तुत हो, तथा सम्जन व्यक्तियों को अपने आचरण से अनुकूल बना ले, वहाँ उसमें औदार्य साधक गुण माना जाता है ।

इसका उदाहरण नागानन्द नाटक से जीमूतवाहन के रूप में दिया जा सकता है । जीमूतवाहन के औदार्य श्री स्वयंभवा इत पक्ष से ही रही है—

‘हे परब, अभी भी मेरी गर्मों के किनारों से खूब टपक ही रहा है, अभी भी मेरे शरीर में मांस क्या हुआ है, तुम भी अभी खूब नहीं हुए हो, येता मेरा भन्दाजा है । फिर क्या कारण है कि तुम (मुझे) खाने से रुक गये हो ।’

सकर्मों के अपने अनुकूल बनाने का (सदुपग्रह का) उदाहरण यों दिया जा सकता है ।

ये हम, यह हमारी पत्नी और हमारे कुल का प्राण यह सड़की, दम सगी, बाझ बस्तुनों के प्रति विरक्त है (बाझ बस्तुनों में कोई आस्था नहीं रखते), जिस किन्हीं से तुम्हारा काम हो, वह करो ।

नायक के कर्ण के साथ ही साथ नायिका का कर्ण भी प्रमनोपास है, अतः उसका विवेचन करते हैं :—

अथ नायिका—

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुण्य नायिका त्रिधा ।

तद्गुण्येति । यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोविनी नायिकेति, स्वकी, परकी

साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ।

नायिका नायक के ही सामान्य गुणों से युक्त होती है । यह तीन तरह की होती है—स्वकीया, अन्यया (परकीया), तथा साधारण स्त्री ।

(स्वीया जैसे उत्तराप्रचरित की सीता; साधारण की जैसे मुच्यकटिक की वसन्तसेना, परकीया का कर्ण काव्यो व नाटकों में अंगोरस के आत्मजन के रूप में नहीं किया जाता ।

जैसे संस्कृत के कई मुक्तक कवियों में इसका विषय पाया जाता है । जैसे,

धानीरकुञ्जोद्गीनशकुभिकीलादलं मृगवन्ध्याः ।

मृगमन्ध्यास्तथाः बभवाः सीधन्ति भंगमि ॥)

तत्र—

मुग्धा नववयःकामा रतौ घाना मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतादृश्यमन्मया रमणे वामशीला मुखोपगप्रसादना मुग्धनायिका ।

मुग्धानायिका अवरथा तथा वामबाहवना शोनों में नई रहती है, रति से यह घाम रहती है अर्थात् रति से कतराती है तथा नायक से मानादि में क्रोध करने में भी कोमल होती है ।

मुग्धानायिका यह है जिसमें यौवन तथा काम दोनों का पहला आविर्भाव पाया जाता है, जो सुरतबोधा से भरती है तथा बड़े सरल दृष्ट से क्षुब्ध भी जा सकती है ।

तत्र यथोमुग्धा यथा—

'विस्तारी स्तनभार एव गमितो न स्योचितामुषर्ति

रेजोद्भासित्वं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिष्प्रेषतम् ।

मप्येऽस्या ऋजुरायतापेक्षिणा रोमावधी निर्मिता

रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिधं यवो वर्तते ॥'

यथोमुग्धा का उदाहरण यों दिया जा सकता है । नायिका वय सन्धि की अवस्था में है । इसी वय सन्धि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि नायिका की यौवन तथा शैशव के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न अवरथा यही सुन्दर है । इसका स्तनभार बड़ रहा है, किन्तु अभी अपनी उचित उर्ध्वति को नहीं प्राप्त हुआ है । रोजाओं के द्वारा प्रकाशित निम्नोक्त वे तीन रोजाएँ (विवलि) अभी स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ रही हैं । इनके मध्यभाग में लम्बी तथा मोपी भूरी कोमल रोमवाली बन गई है । इन सब बातों से स्पष्ट है कि नायिका इस समय वय सन्धि में वर्तमान है ।

यथा च ममैव—

'उच्चुसन्मण्डलप्रान्तरेऽसमापद्धकुम्भलम् ।

ध्वपर्याप्तसुरो मृद्वेऽसत्यस्या स्तनद्वयम् ॥'

यथोमुग्धा वा दूसरा उदाहरण वृत्तिकार धनिक स्वयं अपना पद्य देता है—

'इस नायिका के स्तनों की प्रान्तरेरा गोलार्ध के फूलने से स्पष्ट दिखाई पड़ रही है, तथा वे कली के समान भरे हुए एवं बंधे हुए हैं । स्तनों की यह अपर्याप्त अवस्था इस नायिका की उर स्थल वृद्धि की सजना देती है ।'

घानमुग्धा यथा—

'दृष्टि सालताता विभक्तिं न शिशुवीजानु वद्वदरा

श्रोत्रे प्रेष्यति प्रवर्तितसलीसम्भोगशतोस्वपि ।

पुंसामङ्गपेतशङ्कमधुना नारोदति प्राग्वया

याता नूतनयौवनव्यतिकरतवष्टभ्यमाना शनै ॥'

(काममुग्धा)

मुग्धा नायिका कामवासना एवं कामसम्बन्धी विचारों के विषय में भी सुन्दर (अगमिज-सी, मोली) रहती है । जैसे निम्न पद्य में नायिका धीरे-धीरे यौवन में परापूर्ण कर रही है । अब यह वचन की चेलाओं को छोड़ रही है । नायिका की इस वय सन्धिमाय अवस्था में होने वाले मनोविचारों का कवि ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है ।

इसकी मजद पढ़ने कड़ी चञ्चल थी, लेकिन अब वह अलसार्ध-सी मजद आती है (उसकी

दृष्टि ने अलसता धारण कर रक्की है)। पहले बचपन में, वह छोटे बच्चों के खेलों से आनन्द प्राप्त करती थी, लेकिन अब छोटे बच्चों के खेलों में वह कोई दिलचस्पी नहीं लेती। बदस्क स्त्रियों को बात सुनने में पहले उसे कोई मजा नहीं आता था, लेकिन अब अपनी सखियों की सम्भोग की बात करते सुन कर वह अपने कान उन बातों की ओर लगाती है। सम्भोग की बातों को सुनने में अब उसे कुछ-कुछ दिलचस्पी होने लग गई है। बची होने पर वह बिना किसी रिश्क के पुरुषों की गोद में बैठ जाया करती थी, लेकिन अब पहले की तरह पुरुषों की गोद में नहीं बैठती। नि मन्देह यह बाला धीरे-धीरे नवीन जीवन के आविर्भाव से युक्त हो रही है।

रतवामा यथा—

‘व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छद्वलम्बिताशुभम् ।
सेवते स्म शयन पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिन ॥’

(रतवामा)

मुग्धा नायिका शुरुतवीर्या से बरी बरती है। यही कारण है कि वह शुरुत के समय सदा वामवृत्ति का आचरण करती है। इसका उदाहरण वृत्तिकार पणिक ने कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग से, शङ्करपार्वती सम्भोग वर्णन से दिया है।

अब शङ्कर उससे कुछ कहते थे, तो पार्वती कोई भी जवाब नहीं देती थी। जब वे उसे बिठाने की या आशङ्कन करने की उस्तवा बख पकड़ लेते थे, तो वह जाने की कोशिश करती थी। शङ्कर के साथ एक ही उस्तवा पर सोने पर भी वह दूसरी ओर मुड़ करके सोती थी। इस प्रकार वामवृत्ति का आचरण करने पर भी पार्वती शङ्कर को अच्छी ही लगती थी तथा उनमें रति की वृद्धि ही करती थी।

मृदु कोपे यथा—

‘प्रथमनिते बाला मन्यौ विकारमज्ञानती
वितवचरितेनासज्याङ्गे विनम्रमुजैव सा ।
वियुक्तमलिक चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमभिभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योषे रुदन्त्यपि चुम्बिता ॥’

(कोपमृदु)

मुग्धा नायिका पति के अपराध करने पर भी उस पर गुस्सा करना नहीं जानती और अगर कोई वह गुस्सा करनी भी है, तो उसके गुस्सा बदा हल्का होना है, उसे आसानी से सुझा किया जा सकता है। मुग्धा को इसी विशेषता को स्पष्ट करते हुए निम्न उदाहरण दिया जा सकता है—

नायक ने किसी दूसरी नायिका के पाम जाकर अपराध किया है। अपराध करके वह प्रथम नायिका के पास आया है, जो मुग्धा नायिका है। इस वजह इस नायिका को नायक पर गुस्सा तो आ रहा है, लेकिन इस गुस्से के पहले पहल जाने के कारण वह यह नहीं जानती, कि इस गुस्से को किन विकारों से प्रकट किया जाय। यह नायिका इतनी थोड़ी है, कि कलह तथा गान के जम्बों का प्रयोग करना उसने अभी सीखा ही नहीं है। इतर नायक को इनका तो पता चल गया है, कि नायिका ने उसको इन हरकतों को पुरा समझा है, उसके दिश में कुछ कुछ गुस्सा भी है। इस गुस्से को खतम करने के लिए वह पूर्ण नायक, बड़ा नम्र होकर उसे धीरे में बैठा लेता है, तथा उसकी उड़ती और बालों को ऊँचा कर लेता है और

उस स्वभाविक विलास यानी रोती हुई नायिका के आशुओं से भोगे हुए शर भौड़ को पूरा करता है ।

एवमन्वेऽपि लम्बासंज्ञानुरागनिबन्धना सुधाव्यवहारा नियन्धनोपा, यथा— ।

न मय्ये संस्कारं कुसुममभि वाञ्छा विद्यते

न नि प्राप्तं सुभूर्जनवति तरङ्गव्यतिकरम् ।

नवोद्य पश्यन्ती लिखितागिव भर्तुं प्रतिमुखां

प्रवेष्ट्रोमाया न विद्यति न पात्र चल्पति ॥^१

इसके अलावा गुप्ता की दूसरी गृहारी चेष्टाएँ, जो उसके लज्जा से दँके हुए अनुराग को बोलक दे, कवियों के द्वारा बर्णित भी जानी चाहिये ।

यहाँ लज्जा के कारण आवृत्त अनुराग की अभिव्यजना सुग्धा नायिका के द्वारा... कित्त तरह की जा रही है, इसका वर्णन एक कवि ने किया है । नायिका नशोवा है, अभी अभी विवाद के बाद नायक के घर आई है । एक ओर वह राग के कारण पति को देखना चाहती है, दूसरी ओर लज्जा के कारण अपनी उलझता को छिपाती है । इसीका वर्णन यहाँ किया गया है । नायिका किसी पात्र से पानी पी रही है, (अन्ध झीझुपान कर रही है), समीपस्थ नायक के मुख की परछाई उस पात्र पर पड़ रही है तथा पत्रार्थ में उसका प्रतिबिम्ब दिखाने दे रहा है । नायिका उसे पकड़व देलगी है । ऊपर नायक भी नायिका के समीपस्थ होने के कारण अनुरागवश स्तब्ध हो रहा है, अतः उसका प्रतिबिम्ब ऐसा प्रतीत होता है जैसे चित्रित हो भौति पञ्चलताहीन हो । नायिका में राग की भावना उद्वृत्त होने के कारण उसके रोमांच रूठे हो गये हैं, तथा नायक के प्रतिबिम्ब को देखने में वह इतनी उत्कलन है कि बीच में फूल जैसे छोटी सी वस्तु के बिन्दु की भी पर्याप्त नहीं कर सकती । उसके सौँत फूट गये हैं, वह नि श्वासी के द्वारा लहरों को शोभा की छवि भी नहीं कर पाती है, क्योंकि नायिका में सम्म नामक सार्विक भाव की उत्पत्ति हो गई है । पत्रार्थ के पीने या पानपात्र के रिलाने टुलाने से नायक के मुख के प्रतिबिम्ब का ओशल ही जाना चलता है, इसलिये वह न तो पीती हो है, न पात्र को ही रिलती है^१ ।

अथ मध्या—

मधयोद्यधीधनान्ना मोहान्तरसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

सम्प्रातताम्यकामा मोहान्तरतयोन्या मध्या ।

तत्र यौवनवती यथा—

श्यालपान्शुविलासो विरल्पति लसद्वाहुविशितियातं

नीवीर्मन्यि प्रवित्रा प्रतनयति मनाह्मन्ध्वनिशो नितम्

उत्पुष्पवामधूमूर्च्छाक्षुचिधरमुरो नूनमन्त स्मरेण

सृष्टा बोद्धदपोव्या हरिणशिमुदशो दृश्यते यौवनश्री ॥^१

रवीया नायिका का दूसरा भेद मध्या है । मध्या में यौवन कामवासना प्राप्त हो चुकी होती है, वह यौवनव कामवासना दोनों की दृष्टि से पूर्ण रहती है; तथा सुरतमध्या को यह मोह के अन्त तक सहन कर सकती है ।

१. ठीक इसी से निकला तुलना भाव तुलसी ने भी कवितावली में निबद्ध किया है—

‘राम-की रूप निर्दोषता कालक कचनके मन की परछाई ।

या ते तने एहि भूलि गई कर देखि रही बल तरत नारी ॥’

(यौवनवती मध्या)

कामदेव ने सचमुच ही अपने धनुष के किनारे से रम हिरन के बच्चे के समान झँसवाली नायिका के यौवन की काँति को छू दिया है, ऐसा माधुर्य पड़ता है। पहल यह बड़ी बातें बनाती थी, पर अब इसकी बातें कम हो गई हैं, जैसे इसके भीड़ों के विलास ने इसके आलाप-प्रलाप को कम कर दिया है। जब यह पछाती है, तो इसकी चाल सुन्दर ढंग से हाथ के मटकाने से सुशोभित रहती है। इसकी कमर (मध्यभाग) बड़ी पतली है और इसके पुट्टे (निगम) बड़े भारी) वे नितम्ब अपने भारीपन के कारण नीचीकी ग्रन्थि को बड़ा पतला बना देते हैं। इसके मोटे भारी नितम्बों के आगे नीची की ग्रन्थि बड़ी पतली नजर आती है। इसके षष्ठ स्थल के दोनों किनारे (दिन व दिन) पुष्पित होते जा रहे, अर्थात् इसका उर एचल दोनों ओर से बढ़ता जा रहा है, तथा उसमें कुचों की अभिवृद्धि हो रही है। नायिका को इस दृष्टा को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि कामदेव ने अपने धनुष से इसकी यौवन की काँति छू दिया है। इससे यह भी व्यंग्य प्रवर्धित होता है, कि नायिका को देखते ही कामोत्पन्न हो जाता है।

यौवनवती यथा—

‘स्मरत्सवनदीपूरेणोडा पुनर्गुणसेतुभि-

र्यदपि विभृतास्तिहृन्नयारादपूर्णमनोरथा ।

तदपि लिखितप्रयैरुचै परस्परसुन्द्या

नयननलिनोनालाकृष्ट विवन्ति रस म्रिया ॥’

(कामवती मध्या)

यौवनवती मध्या नायिकाओं में कामसम्बन्धी विभिन्न प्रकार के मनोरथ उत्पन्न हो रहे हैं। ये अपूर्ण मनोरथ कामदेव की मरीचक नदी के चढ़ाव आने के कारण उस चढ़ाव के द्वारा झुबते उतरते दृष्टिगोचर होते हैं। नायिका लज्जा अदि बड़े प्रकार के बड़े बड़े सेतुओं के द्वारा कामदेव की नदी के प्रवाह को रोक कर इन मनोरथों को बँध के द्वारा नियमित कर देती हैं। इस प्रकार नियमित किये जाने पर भी ये मनोरथ नहीं मानते, और मध्या नायिका की चेष्टाओं में इसकी व्यञ्जना ही ही आती है, कि वे कामवासना से युक्त हैं। ये नायिकाएँ जैसे लज्जादि के द्वारा मरीचकों को नियमित कर देती हैं, फिर भी स्वप्न (चित्रलितन से) अपने अहों के द्वारा एक दूसरे की ओर उन्मुख होकर (नायक का दर्शन करती हुई) नायक दर्शनरूप रस का पान शती तरह करती हैं, मानो नेत्ररूपी कमल के चालों से उसके रस को खींचकर पी रही हैं।

(हंसिनी नलिनीनाल के रस का पान किया करती है, मध्या नायिकाएँ नजरो से प्रीतम के दर्शन रूपी रस का पान करती हैं, इस प्रकार यहाँ हंसिनी व नायिकाओं का उपमानोपमेय भाव भी व्यंग्य है ।)

मध्यासम्भोगो यथा—

‘ताव विभ्र रसमए महिलान विन्ममा विराजन्ति ।

जाव ष कुदलयदलसच्छद्दाद् मउलेति षञ्जनाद् ॥’

(‘तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।

यावत् कुदलयदलस्वच्छामानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥’)

एव धीरायानधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।

(मोहान्तसुरतद्वयमा मध्या)

रति के समान खिचों की शृङ्खलारेण्ये तभी तक सुजोमित होती है, जब तक कि कमलों के समान स्वप्न काँत वाले उनके नेत्र मुकुलित नहीं हो पाते ।

इसी तरह मध्या के क्षीप सम्बन्धी उदाहरण दिये जा सकते हैं । क्षीप के समान मध्या के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा ये तीन रूप पाये जाते हैं । (ध्यान रखिये 'क्षीपेष्टु' तथा 'स्रजो पावपसादना' होने के कारण मध्या नायिका में इत उक्त के कोई नेद नहीं पाये जाते ।)

अथास्या मानवृत्ति—

धीरा सोत्प्रासवकोक्त्या, मध्या साधु कृतागसम् ।

खेदयेद्द्वयितं क्षीपावधीरा परुपाक्षरम् ॥ १७ ॥

नायक के अपराध करने पर (अन्य नायिका से प्रेम करने पर) धीरा मध्या ताने सुनाकर उसका दिल दुखाती है, धीराधीरा मध्या रोती भी है, साथ ही तानें भी सुनाती है । तीसरी कोटि की अधीरा मध्या रोती है तथा नायक को फट्टे पचन सुनाती है ।

मध्याधीरा कृतापरार्थं प्रिय सोत्प्रासवकोक्त्या खेदयेत्, यथा माधे—

'न सल्लु ववममुष्य दानयोग्या

पिबति च पाति च यासकौ रहत्वाम् ।

मज विदपमसु ददस्य तस्यै

भवतु यत सदशोदिराय योग ॥'

(मध्याधीरा)

मध्याधीरा कृतापरार्थं प्रिय को ताने मारती है । जैसे शिशुपालवध के सातवें सर्ग का निम्न पद्य । 'किसी नायक ने अन्य नायिका से प्रेम करके तथा उसके पास राधियापन करके अपराध किया है । वहाँ से लौटते पर ज्येष्ठा नायिका के पास आकर यह उसे सुख करने के लिए पछव (किसी कृष्ट का कोमल पत्ता) उसके प्रसाधनार्थ देना चाइता है । नायिका उसे ताना मारती हुई कहती है — 'मार्ग नीजिये, हम इस पछवदान के उपयुक्त पात्र नहीं हैं । 'जो कोई दुन्दारी दिया हो, जो पक्षान्त में दुन्दारा पान (जुम्बन) करती हो, मया (प्रेम करके) दुन्दारी रक्षा करती हो, जारये, उसे हो यह पछव (विदप), जगया' यह शृङ्गारी रतिक धी वियों की रक्षा करता है—सौपिये । ताकि वम से वम दोनों समान गुण योंकों का योग हमेशाके लिए हो जाय । यह दुन्दारी दिया हुन जैसे वियों का पान करती है तथा रक्षा करती है, इसलिये 'विदप' है, और शपर यह पछव भी 'विदप' है तो मयों न दोनों विदपों का योग करा देते हो । (यहाँ 'विदप' शब्द में दलेष है—जिसका अर्थ पछव, तथा यामो रतिक भक्ति (विला) दोनों होता है ।)

धीराधीरा साधु सोत्प्रासवकोक्त्या खेदयेत्, यथाऽमरशतके—

'बाले नाय विमुष्टं मानिनि रूप रोषामया किं कृतं

खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्दर्पेऽपराधा मवि ।

तत्किं रोदिपि गद्वदेन घचसा फस्याप्रतो ह्यते

नन्वेतानमम वा तद्वहिस दमिता नास्मीत्यतो ह्यते ॥'

(धीराधीरा मध्या)

धीराधीरा मध्या एक ही रोती है, साथ ही नायक के दिल को तानें सुनाकर भी सुनाती है । जैसे अमरकशतक का यह पदिक पद्य—

नायक अथ नायिका से प्रेम करने के कारण अपराधी सिद्ध हो चुका है। जब वह पर पर आता है तो ज्येष्ठा नायिका को मान व रोष से मुक्त पाता है। उसे मनाने के लिये वह कुछ कहना चाहता है इसलिए उसे बेवक सम्बोधित करता है 'बाले'। इसके पहले कि वह कुछ कह पावे नायिका—नया कहना चाहते हैं—इस बात की शयना करता है दुष्ट केवल 'नाथ' इस प्रकार जवाब देती है। यहाँ यह भी व्यंग्य है कि अब आप मुझसे प्यार नहीं करते हैं इसलिए मैं आपको 'प्रिय' कहते कुछ दिक्किचा रही हूँ। हाँ मैं आपकी दासी हूँ और आप मेरे स्वामी। इस पर नायक दहता है—'मानिनि, रोष को छोड़ दो।' 'रोष नरके मेंने क्या किया है—व्यग्य है इससे तुम्हारा क्या बिगडा है।' 'तुम्हारे रोष करने से हमें दुःख हो रहा है।' 'आपने मेरा कोई अपराध, नहीं किया है, सारे अपराध मैंने ही तो किये हैं।' अब नायक कुछ उत्तर नहीं दे पाता, तो कहता है—'तो फिर तुम गद्गद वचनों से क्यों रोती हो।' 'मैं किसके आगे रो रही हूँ।' 'यह मेरे समने रो रही हो ना।' 'मैं तुम्हारी क्या हूँ।' 'प्रिया' 'नहीं, मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ। इसीलिये तो रो रही हूँ।'।

अधीरा साशु परुषाक्षरम्, यथा—

'यत्तु यातु किम्नेन तिष्ठता सुखं मुग्धं सखि मादरं कृया ।
खण्डिताधरकलङ्कित प्रियं शननुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥'

(अधीरा मध्या)

अधीरा मध्या एक ओर रोगी है, दूसरी ओर अपराधी नायक को वदृष्टि भी सुनाती है। जैसे निम्न पद्य में—

नायक अपराध करके नायिका के पास लौटा है और आकर नायिका को प्रकृषित देखता है। उसे मनाने के लिए बड़ी कोशिश करता है, पर वह प्रसन्न नहीं होगी। अन्त में, लाचार होकर वह वापस झूट रहा है। इधर नायिका की सखियों दोनों में समझौता कराना चाहती है। वे झोटे दुर्ग नायक से रुझने के लिए मित्रता करती हैं। नायिका ऐसे मौके पर सखियों से कह रही है। इसे जाने दो। इसके ठहरने से क्या फायदा है। हे सखि इसे छोड़ क्यों नहीं देती। इससे ज्यादा मित्रता मत करो। जो प्रिय दूसरी नायिका के दन्तखन शरसे कलङ्कित हो चुका है, उसे हम आँसों से देखने में असमर्थ है—उसे हम देख भी नहीं सकती, प्रेमालाप व रतिकोड़ा करना तो दूर रहा।

एवमपरेऽपि ग्रीडलुपहिता स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहार भवन्ति, यथा—

'स्वेदाम्भ-कणिकावितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विभ्रम्भेऽपि गुरी पयोधरमरोत्कम्पेऽपि वृद्धिं गते ।

दुर्वारस्मरनिर्गरेऽपि हृदये नैवाभियुक्त-प्रिय-

स्तन्वद्गता हृदयैःशर्कर्यणपनाश्रुपागृते लुब्धया ।

स्वतोऽनभियोजकत्वं हृदयैःशर्कर्यणपनाश्रुपागृते लुब्धयेऽस्तुप्रेक्षाप्रतीति ।

मध्या नायिका के इस तरह के कई व्यवहार काव्य में उपनिबद्ध होते हैं। वे व्यवहार लज्जा आदि से शिथिल नहीं रहते (क्योंकि यह बात मध्या में पारं जाती है); तथा उनके द्वारा नायिका स्वयं नायक को अपनी ओर मग्न करती है ।^१

१. स्वयमनभियोगकारिणो = मुरतेस्वकीय- (मध्या) प्रपूरकप्रवोक्ता, प्रिय, स्वयमेव मुरते प्रवर्तितान् समीहते मध्याणि भाव । (सुःशंभाचार्य प्रमा टीका)

मर्या नायिका के इन व्यवहारों में से एक विश्व उपस्थित किया जाया है। नायिका के सम्मुख नायक मौजूद है। नायक के समीपस्थ होने के कारण कामवासना तीव्र रूप से उसे सता रही है। पर वह यह चाहती है, कि नायक स्वयं रतिक्रीड़ा में प्रवृत्त हो। इतलिये स्वयं प्रिय के प्रति कोई श्रद्धा नहीं करती। कामोद्दीपन के कारण नायिका के मुख पर पंखीने की बूँदें शकल धारण हैं, तथा उसके रीचटें उड़ने लगे हैं। उसे बहुत ज्यादा शर्म हो रहा है, तथा उसके रसनों की केंचकपी और बढ़ गई है। नायिका के हृदय में काम का वेग इतना बढ़ गया है, कि अब रोकें भी नहीं सक पाता। इतना सब होने पर भी तन्वही नायिका ने प्रिय को इतिक्रिये आलित्व न किया, कि वह उस आनन्द की इच्छुक थी, जो नायक के द्वारा हठपूर्वक बालों को फटने और जोर से आदलेष करने से मिल सकता था। कवि कल्पना (कल्पेक्षा) करता है मानों वह हठ-केन्द्रकर्मण तथा धनादलेष रूपी अमृत की आर्त्थाधिक इच्छुक (सुम्धा) भी। इस कल्पेक्षा के द्वारा नायिका का साथ छोड़ा में प्रवृत्त न होना स्पष्टित है।

अथ प्रगल्भा—

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा वयिताङ्गके ।

विलीयमानेयानन्दात्प्रतारमेऽप्यचेतना ॥ १८ ॥

प्रगल्भा नायिका में यौवन का ह्वना प्रगाह होता है, कि वह मानों अन्वी सी हो जाती है। कामसम्बन्धी भाव भी उसमें इतने अधिक रहते हैं, कि जैसे वह उनमें ही पागल हो गई हो। वह बड़ी बौद्ध (प्रगल्भा)—लज्जारहित होती है। रतिक्रीड़ा के समय वह प्रिय के अङ्ग में ऐसी विपकसी है, जैसे उसमें विद्येन हो जायगी, और रतिक्रीड़ा में उसे इतना आनन्द आता है, कि सुरतक्रीड़ा की आरम्भिक अवस्था में ही वह अचेतन—सी हो जाती है।

(इसी नायिका की अन्य अलङ्कारशास्त्री व नाट्यशास्त्री मौख भी कहते हैं।)

गाढयौवना यथा गर्भे—

‘अभ्युज्ज्वस्तनमुरो नयने च दीर्घे

भक्ते ध्रुवावतितरां पचनं ततोऽपि ।

मथ्योऽधिकं तनुरतीव मुहुर्नितम्बो

मन्दा गतिः किमपि न्यहृतयौवनायाः ॥’

(गाढयौवना या यौवनान्धा प्रौढ़ा)

इस नायिका के वरगण्डल में रसत नद्वय ज्यादा बड़े हुए हैं, जिन कानों तक फैले हुए

(लम्बे) व टेढ़े हैं; इसकी नाँदे बड़ी टेढ़ी है, और इसके वचन बतले भी ज्यादा टेढ़े (व्यंग्यवस्तु) हैं। इसकी कमर बड़ी पतली है, तथा निम्न बद्धत ज्यादा भारी है। इस अद्भुत यौवन वाली नायिका को बाल कुछ भीषी (मन्धर) दिखाई देती है।

यथा च—

‘स्तनसदमिदमुत्तुर्न जिज्ञो मथ्यः समुज्ज्वतं जपनम् ।’

विषमे शृंगरावाहया यपुपि गये क इय न स्पलति ॥’

नायिका के यौवनान्धत्व का दूसरा उदाहरण यह भी दिया जा सकता है। इस नायिका के स्तन कँचे हैं, कपूर नीची (पतली) है, और जपनस्थल फिर उठता हुआ है। इस तरह इसका शरीर विषम—ऊँचा सीधा है। हिरन के समान वेप्रवाही इस नायिका के इस विषम

तथा नवीन शरीर में कौन नहीं किसलना है। अर्थात् जो भी इसे देखता है वही कामासक्त हो जाता है। विषमस्थली में कोई भी व्यक्ति चलते समय किसल सकता है, हमकी भी व्यंग्य रूप में प्रतीति हो रही है।

भावप्रगल्भा यथा—

‘न जाने सम्मुह्यताते प्रियाणि वदति प्रिये ।

सर्वाभ्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥’

(भावप्रगल्भा या स्मरोन्मत्ता प्रौढा)

नायक के समीपस्थित होने या उसकी याद आने पर प्रौढा अत्यधिक भावग्रस्त पारं जाती है। इसका उदाहरण यह है—

कोई प्रौढा नायिका अपने नायक के समीपस्थ होने के विषय में सखियों को बताते हुए कहती है—जब प्रिय मेरे सम्मुख आकर प्यारी बातें कहा करते हैं, तो मुझे उन्हें देखने और उनकी बातों सुनने के अलावा कुछ नहीं छूटता। क्या मेरे सारे ही अङ्ग उस समय झोंसे या नेत्र हो जाते हैं।

रतप्रगल्भा यथा—

‘कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं यचना

दासः प्रच्छयनेपलागुणधृत किञ्चिन्मितम्बे स्थितम् ।

एतावत्सखि वेप्रि केवलमह तस्याङ्गसङ्गे पुनः

श्रेयसौ फास्ति रतं तु किं कथमिति स्वह्वापि मे न स्मृति ॥’

(रतप्रगल्भा, जैसे)

बिन्सी प्रौढा नायिका से उसकी सखियाँ नायक के साथ उसकी सुरतकीड़ा के बारे में पूछती हैं। नायिका उसका उत्तर देते हुए कहती है। हे सखि क्या बताऊँ, जब प्रिय शय्या पर सुरतकीड़ा के लिये आते हैं, तो मेरी नीवी का बन्धन अपने आप ही खुल जाता है। मेरा अधोवस्त्र बिन्सी तरह कुम्हार करधनी के बोरे से रुक कर निम्न में छदर जाता है। हे सखि, इस में इतना भर जाननी है। उसके बाद तो मैं उसके अङ्गों के स्पर्श से आनन्द में इतनी विभोर हो जाती हूँ, कि मैं बौन हूँ, वह कौन है, सुरतकीड़ा क्या है, कैसे है, इन सारी बातों का जरा सा भी खयाल मुझे नहीं रहता।

एवमन्येऽपि परित्यक्ताहीनभ्रणा वैदग्ध्यप्राया प्रगल्भाव्यवहारो वेदितव्या । यथा—

‘कनित्ताम्बूलाकः क्वचिद्वरुणद्वाद्मलिनः

क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्षकरदः ।

धलीभङ्गभोपैरलक्षपतितै शीर्णकुमुदै

खिदाः सर्वानस्थ कथयति रतः प्रच्छुदपटः ॥’

प्रगल्भा के दो व्यवहार लज्जा से सर्वथा रहित होते हैं, तथा उनमें अत्यधिक चतुरता (विदग्धता) पाई जाती है। इस तरह के प्रौढा व्यवहारों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जैसे—

किसी नायिका ने, रात्रि में नायक के साथ विभिन्न प्रकार की कामशास्त्रोक्त विधियों (भासनादि) से रतिक्रीड़ा की है। प्रातः काल उसकी शय्या के चारों ओर देखने से इन सारी विधियों का पता लग जाता है। इसी विषय में कवि कहता है, कि शय्या का चार (प्रच्छुदपट) ही (नायिका) के विभिन्न प्रकार के छुरल की खचना दे रहा है। चारों ओर देखी तो ताम्बूल का निशान बना है, तो वह कहीं अणु के भङ्गान्-वद् (जो इतनी पर

संगता जाता है) से मिलन हो रहा है। वही उस पर नायिका के लज्जतन्त्र पर लगाया हुआ पूर्ण बिलार गया है, जो वही मद्यार का पैर विद्धित है। दूसरी जगह कादर पर नायिका की शिवली के कारण सिलवटें पड़ी हैं और वहीं उसके बालों से गिरे हुए हुए फूल पड़े हैं। इस तरह ये सारे चिह्न नायिका की माना प्रकार की सुरतशीला की व्यवस्था कर रहे हैं।

(इस पद्य में बतखवाचनोक्त विभिन्न रतिविधियों—भेदुक, विपरीत आदि—की व्यवस्था करा कर नायिका का प्रौढत्व प्रकटित किया गया है। मुग्धा या मध्या सुरत में इस प्रकार का सहयोग नहीं दे सकते, यह सहज ही जानते ही होंगे।)

अथास्या कोपचेष्टा—

सावहित्वाद्गदरोदास्ते रतो, धीरेतरा क्रुधा ।

सन्तर्ज्य ताडयेत्, मध्या मध्याधीरेच तं घवेत् ॥ १६ ॥

रहावहित्त्वेन = आश्रमारेणोनादरेण च = उपनाशधिन्येन वर्तते सा सावहि
त्वाद्वा, रतामुदासीना मुग्धा-कोपेन भवति ।

नायक के अपराध करने पर प्रौढ़ा या प्रगल्भा नायिका जिस प्रकार से कोप करती है, उसके आधार पर उसके धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा ये तीन भेद किये जा सकते हैं। धीरा प्रगल्भा अपना कोप दो तरह से प्रकटित कर सकती है, या तो वह नायक का लज्जत से ज्यादा शादर कर उभे उज्जित करे, या फिर सुरत के प्रति उदासीनता दिखा कर रतिशीला में नायक को सहयोग न दे। अधीरा प्रगल्भा सुरत में होकर नायक को पीटती है तथा तिरस्करी है, धीराधीरा प्रगल्भा का व्यवहार मध्या अंसा ही होता है, अर्थात् वह सामंसार कर नायक को फटकारती है।

सावहित्वाद्गदरा धीरा प्रगल्भा वह नायिका है जो कोप दो दशा में अपनी स्थिति की दिशा कर नायक के प्रति और आदर दिखाती है, दूसरे प्रकार की धीरा रति में उदासीन रहती है।

सावहित्वाद्गदरा मयाऽमरुशतके—

‘एकत्रासनसन्धिर्न परिहृता प्रसुहभाद्दूरत

स्ताम्भूलादरण्यच्छलेन भगवाञ्छेपोऽपि संविभ्रित ।

आत्माषोऽपि न मिथित परिजन व्यापारस्य स्थाऽन्तिके

कासं प्रसुपचारतथातुरया कोप कुतर्भीकृत ॥’

(सावहित्वाद्गदरा) जैसे अमरकशतक के निम्न पद्य में—

नायक आरण्य कर के नायिका के पास होता है। नायिका अपने कोप को इस गदुरता से बताती है, कि नायक को पता तो लग जाय, पर कोप साफ़ तौर से नजर न आवे। जब नायक आया, तो उसे दूर से ही देख कर बहुआदर करने के लिए उठ खड़ी हुई, और उस तरह नायक के साथ एक ही आसन पर बैठने से पहले अपने आप को बचा दिया। नायक के साथ एक साथ न बैठ कर वह कोप की व्यवस्था कर रही है, पर बैठने के आदर के बहाने वह उसे दिया भी रही है। नायक उसे आश्रित करना चाहता है, लेकिन एक दम ताम्बूल खाने के बहाने से बचता कर, उसने आश्रित में भी विष डाल दिया। नायक के सेवा-शुभूषा के लिए वह बार-बार भीकरी को पास में बुलानी ही रही, और इस तरह पहले नायक से शत्रुता ही न की। इन प्रकार माना प्रकार से नायक को मुग्धा आदि बरके जटुर नायिका ने मनों कोर को सरल बना दिया।

रताबुदासीना यथा—

‘श्रायस्ता कलहं पुरेव कुरते न संसने वाससो
भ्रमभ्रूगतिखञ्जमानमधरं धत्ते न केशप्रदे ।
अज्ञान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हृदलिङ्गने
तन्व्या शिशित एष सम्प्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः ॥’

(रति में उदासीन-रताबुदासीन) जैसे निम्न पद्य में—

अपराधी नायक घर आकर नायिका को प्रसन्न करने के लिए रतिक्रीडा में प्रवृत्त होता है । पर नायिका कोप के कारण झरतक्रीडा में नायक का सहयोग न देकर उदासीन वृत्ति से स्थित रहती है । पहले रतिक्रीडा के लिए नायक के पकड़ने पर तथा बख को पीला करने पर कलह करती थी, पर अब वह उस तरह से कलह नहीं करती है । जब नायक रतिक्रीडा के समय केशप्रद करना था, तो वह भी टिप्पणी करके उसके अधर को दौनों से काटा करती थी, पर अब ऐसा भी नहीं करती । अब नायक के द्वारा हृद से आलिङ्गन करने पर वह अपने अङ्गों को स्वयं नायक को सौंप देती है, पहले भी तरह उसका विरोध नहीं करती । इस तन्वो नायिका से यह नये बह का कोप, पता नहीं, कहीं से सीख लिया है ।

इतरा स्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती सन्तर्ज्यं ताडयति । यथाऽमरकशतके—

‘कोपात्कोमललोलाहुलतिकापाशेन बद्धा हृदं
मीत्वा केलिनिकेतनं द्युतितया सायं सखीना पुरः ।
भूयोऽप्येवमिति स्वलत्कलगिरा संसूच्य दुःखेष्टितं
धन्यो हन्वत एष निहृतिपरः प्रेयान्कदन्त्या हृसन् ॥’

(अधीरा प्रगल्भा)

अधीरा प्रगल्भा अपराधी नायक को गुस्ते से फटकारती है और पीटती है । जैसे अमरकशतक में—

अपराधी नायक के घर पर आने पर शाम के वक्त नायिका उसे कौमल्य व चञ्चल बाहुओं की लताओं के पाश से, गुस्ते के कारण मजबूती से बाँधकर भीरागृह में ले जाती है । वहाँ पर सखियों के सामने लड़किली वाणी के द्वारा उससे कहती है—‘ऐसा फिर करोगे, और इस तरह उसके अपराध को सूचित करती है । रोती हुई नायिका के द्वारा लज्जित तथा हंसता हुआ यह धन्य नायक पीटा जा रहा है ।

धीराधीरप्रगल्भा मय्याधीरेव तं वदति द्योत्प्रासवयोक्त्या । यथा तत्रैव—

‘कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निप्रहो यत्र मौन
यत्रान्योन्यस्मितमनुजयो दृशिपावः प्रसादः ।
तस्य प्रेम्णास्तदिदमधुना वैशसं परयं जानं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षं खलायाः ॥’

(धीराधीरा प्रगल्भा)

धीराधीरा प्रगल्भा उसे मय्याधीरा की तरह जानें मारती है । जैसे अमरकशतक का ही निम्न पद्य—

अपराधी नायक नायिका को प्रसन्न करने के लिए बड़ी मित्रता करता है । उसी का उत्तर देते हुए नायिका कहती है—‘हे नाय, देखो, अब उस प्रेम का अन्त हो चुका है, जिस प्रेम में

कीर्ण, मोड़ों को बँटा करना, मिम्रद तथा मोम का व्यवहार होता था, तथा यह कीर्ण एक दूसरे की ओर हँसकर अनुनय करने व देखने भर से समाप्त हो जाता था। अब तो वह प्रेम ही समाप्त हो चुका है, (फलतः) हम मुझे प्रसन्न करने के लिए पैरों में लोट रहे हैं, और मुझ दुष्ट का दुस्ता शान्त ही नहीं होता।

पुनश्च—

द्वेषा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठास्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति । मुग्धा स्वेकहृष्यैव । ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरशतके—

‘दृष्ट्यैकारानसंस्थिते प्रियतमे पद्मादुपेत्यादरा—

देकस्या नयने निर्मात्य विहितक्रीडातुयन्धच्छुक्तः ।

ईयद्ववितकन्धरः सतुलकः प्रेमोद्यतम्मानसा—

मन्तर्हारात्सत्कपोलकलशं धूर्तौऽपरां धुम्बति ॥’

न चानयोर्दाशिष्यप्रेमभ्यामेव व्यवहारः, अपि तु प्रेम्णापि यथा चैतत्सयोक्तं दक्षिण-लक्षणावसारे । एषां च धीरमध्या-अधीरमध्या-धीराधीरमध्या-धीरप्रगल्भा-अधीर-प्रगल्भा-धीराधीरप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदाद्द्वादशानां वासयदसा-रत्नान-लौवटप्रबन्धनाविधानामुदाहरणानि महाकविप्रदग्धेयमुसर्त्तव्यानि ।

मुग्धा के अलावा दूसरी नायिकाएँ—तीन तरह की मध्या तथा तीन तरह की प्रगल्भा—ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा इस प्रकार दो तरह की होती हैं—इस तरह सब मिलाकर ये १२ प्रकार की होती हैं ।

(ध्यान रखिये ये भेद मुग्धा के नहीं होते, यह केवल एक ही तरह की होती है ।)

ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा का उदाहरण अमरशतक का यह पद्य दिया जा सकता है—

नायक ने देखा कि उसकी ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा दोनों नायिकाएँ एक ही आसन पर बैठी हैं । इसलिये यह आदर के साथ (कुछ मग से) धीरे धीरे पीछे से वहाँ पहुँचता है । वहाँ आकर वह खींचा करने के ढोंग से ज्येष्ठा नायिका के गैरों को दोनों हाथों से बन्द कर देता है । इसके बाद वह पूर्ण नायक अपनी गर्दन को गिरा देता करके, रोमाञ्चित होकर वहाँ कनिष्ठा नायिका को घूम लेता है, जिसका मन प्रेम के कारण उल्लसित हो रहा है, तथा जिसके कपोल-फलक आन्दरिक हँसी के कारण झुगुमिच हो रहे हैं ।

नायक का ज्येष्ठा के प्रति वैचल्य दाक्षिण्य व्यवहार (सहृदयतापूर्ण व्यवहार) पाया जाना ही और प्रेम कनिष्ठा के प्रति ही हो, ऐसा मरनना ठीक नहीं है न ऐसा होता ही है । वस्तुतः नायक का ज्येष्ठा के प्रति भी प्रेम पाया जाता है । क्योंकि दक्षिण नायक के लक्षण के समय वह शक्य बताया गया है कि उसका प्रेम सभी ही हो सकता है ।^१ इस प्रकार धीरमध्या, अधीरमध्या, धीराधीरमध्या, धीरप्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा, धीराधीरप्रगल्भा इन छः प्रकार की नायिकाओं के पुनः ज्येष्ठा व कनिष्ठा इन दो भेदों के अनुसार बारह भेद होते हैं । इन १२ भेदों के उदाहरण महाकवियों की रचनाओं में बारहवटा रत्नानापी आदि के रूप में पाये जा सकते हैं ।

१. देखिये—‘रत्नाना निष्ठकि कुन्तलेषासुता शरीरराजसुतः’ इत्यादि उदाहरण पद्य का प्रदत्तन ।

प्रथम्यस्त्री—

अन्यस्त्री कन्यकोटा च नान्योटाऽङ्गिरसे क्वचित् ॥ २० ॥

कन्यापुरागमिच्छात् क्षुर्याङ्गाङ्गिसश्रयम् ।

नायिका का दूसरा भेद अथ्य स्त्री (परकीया) होता है । यह अथ्य स्त्री दो तरह की हो सकती हैं—किसी की अविवाहित पुत्री (कन्या) तथा किसी दूसरे व्यक्ति की परिणीता स्त्री । नाटकादि में अङ्गी (प्रधान) रस के आलम्बन के रूप में अन्योटा (अन्य परिणीता) परकीया का वर्णन कभी भी नहीं करना चाहिए । कन्या के प्रति अनुराग अङ्गीरस का भी अङ्ग हो सकता है, अङ्गीरस का भी । अतः कन्या के अनुराग वर्णन में कोई दोष नहीं है ।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्वादा यथा—

दृष्टिं हे प्रनिवशिनि क्षणमिदृष्यस्मिन्प्रेहे दास्यसि

। प्रायेणस्य शिशो पिता न विरगा कौपीरप पास्यति ।

एकाकिन्यपि यामि तद्वरमिदं शोतस्तनालकुट

नीरभास्तनुमालिनं तु जरठच्छेदानल्पन्यय ॥

(नायकान्तर सम्बन्धिनी परकीया)

(कभी कोई परिणीता स्त्री भी किसी उपनायक से प्रेम करने लगती है । शौचिक व शास्त्रीय मर्यादा की दृष्टि से यह अनुचित भले ही हो, पर ऐसा लोक में देना अवश्य जाना है रस लिए रस शास्त्र में इसका दृष्टान्त देना जरूरी हो जाता है । संस्कृत के कई मुक्तक पद्य इन परकीयाओं की चेष्टाओं पर मिल सकते हैं । ही अङ्गीरस में इनका निबन्धन इसलिए अनुचित माना गया है कि इस प्रकार का प्रेम नैतिकता के विरुद्ध है । यहाँ इसी का एक उदाहरण देते हैं —

कोई परकीया नायिका उपपति के साथ रतिक्रीडा करने के लिए सहेदे की ओर आ रही है । अपनी वास्तविकता को छिपाने के लिए वह दूर के शरने से पानी छाने का बहाना बना रही है । अपनी बात को पक्का करने के लिए वह पहले से ही एक पद्योक्ति से इस तरह से कहती है, कि प्रायेण व्यक्ति उसके कथन के वाच्यार्थ पर विश्वास कर ले । हे पद्योक्ति, जरा हमारे रस घर पर भी नजर डालनी रहना । इस लड़के के पिता प्रायः कुएँवा खारा पानी नहीं पीते हैं (खारा पानी नहीं पीवेंगे ।) इसलिये मैं अकेली ही दूर के छत शरने से पानी छाने जा रही हूँ, जो तमाल के पेड़ों से आशुत है । पत्रोंद नहीं, एक दूसरे से बने छटे हुए पुराने नल की प्रशिक्षों मेरे शरीर को खरोंच उल्ले ।

यहाँ परकीया की इस उक्ति से पद प्रकटित होता है कि नायिका उपनायक से ही जाने वाली रतिक्रीडा के समय के दशमच्छत व नलच्छत की छिपाने के लिए पहले से ही अपनी पृष्ठभूमि तैयार कर रही है । साथ ही अपने परिणीता पति के लिए किये गये 'अल्प शिशो पिता' रस प्रयोग से कोई कोई सहज्य वह भाव भी प्रकटित होता मानते हैं कि वह मेरा 'पिय' नहीं है ।

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न अविनिवर्णवर्णयति न प्रपथिता । कन्यका तु पित्राद्या यत्तत्त्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते तस्यां पित्रादिभ्योऽलम्ब्यमानायां मुलभ्यामपि परोपरोधस्वकमन्ताभयारप्रच्छन्न कामित्व प्रवर्तते, यथा मालत्यां माघवस्य सागरिकाया च वत्सराजस्येति । तदपुरागद्य स्वेच्छया प्रभानाप्रभारससमाश्रयो निवर्धनीय । यथा रत्नानलीनागानन्दयो मगरिका मलयवरयपुराग इति ।

इस परकीया नायिका का प्रभाव रस में निबन्धन रहना उचित नहीं, इसलिये विस्तार से वर्णन नहीं किया गया है ।^१

कन्यका की अन्य स्त्री (परकीया) इसलिये कहा जाता है कि वह शादी न होने के पहले पिता आदि के आधीन होती है । उस कन्या को पिता आदि के द्वारा निगृहीत होने के कारण यद्यपि प्राप्त नहीं किया जा सकता, फिर भी वह हलम है, कलतः नायक छिप छिप कर उससे प्रेम करता है, क्योंकि वह नायिका दूसरे स्त्रियों के वश में होती है, या फिर नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका (स्वकान्ता) से डरता है । जैसे एक दंग का छिपा प्रेम मालतीमाधव में माधव का मालती के प्रति है, दूसरे दंग का रत्नावली नायिका में सागरिका के प्रति बत्सुराज उदयन का है । एक स्थान पर 'परोपरोध' तथा दूसरे स्थान पर 'स्वकान्तामय' छिपे प्रेम के कारण हैं । कवि इस प्रकार के प्रेम को अपनी दृष्टि से प्रधान या अप्रधान दोनों प्रकार के रसों में निबद्ध कर सकता है । जैसे रत्नावली व नागानन्द में कामरूप सागरिका तथा मलयवती का प्रेम । रत्नावली नायिका में सागरिका का प्रेम प्रधान रस में निबद्ध है, जब कि नागानन्द में मलयवती व जीमूतवाहन का प्रेम प्रधान रस में निबद्ध नहीं हुआ है, क्योंकि वहाँ प्रधान रस जीमूतवाहन की दयावीरता का अभिव्यञ्जक वीर रस है ।^२

साधारणस्त्री नायिका कलाप्रान्तलयधौर्त्ययुक् ॥ २१ ॥

सौसरी धेनोकी नायिका साधारण स्त्री है, यह गणिका होती है, जो कलाचतुर, प्रसन्नता तथा धूर्त होती है ।

तथ्यद्वारो विस्तरतः शास्त्रान्तरे निर्दिशितः । दिग्ज्ञानं तु—

छुन्नकामसुखायार्थस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् ।

रत्नेव रत्नयेदात्वादिःस्थान्मान्ना विधासयेत् ॥ २२ ॥

इसका अर्थवहार दूसरे शब्द (कालस्यावनादि) में विस्तार से दिखाया गया है । वहाँ उसका सहैत भर दिया जाता है ।

जो लोग छिपकर कामरूपि करना चाहते हैं, जिनसे यकी सरलता से पैसा भँटा जा सकता है, जो वैधरुक (मूर्ख) हैं, भाजाद हैं, घमण्डी हैं, या नपुंसक हैं, ऐसे लोगों से गणिका ठीक इसी तरह व्यवहार करती है, जैसे वह उन्हें सचमुच प्रेम करती हो, किन्तु उसी पक्ष, तक जब तक कि उनके पास पैसा है । जब वह पैसा लेती है, कि वे शीघ्र (नि र्व) हो गये हैं, तो वह उन्हें अपनी मा के द्वारा घर से निकलवा देती है ।

दुर्धनं ये कामयन्ते ते छुन्नकामाः धोत्रियवगिमिलिप्रश्रुताय, सुखार्थं अप्रयासात्वा-
त्पुनः सुखयोजनो वा, अज्ञो मूर्ख स्वतन्त्रो निरङ्कुशः, अहङ्करहृत्, पण्डित्यं वातपण्यादिः,

१. वार के एक भक्तिवारी रसशाली रूपगीरवामी ने कृष्णभक्तिरूप साधुप्रेरस में अनेक रस में ही परकीया का उपादान उचित माना है, पर वह गोपिकाव कृष्ण के प्रेम तक ही सीमित है—
मेघ यद्विनि रसे कविभिः परोदा, तद्गोकुलाजुबद्धया कुलमन्तरेण ।
आर्जुनया रतिविधे रवतारिताना कंसारिणा रतिकमण्डलधेरेण ॥

(अञ्जलीकविति में उद्धृत, पृ. ११)

२. प्रभा के निबद्धा सुखार्थनायिका इस सम्बन्ध में—मलयचतुरविधाऽवधानरस—(ग्रहण) समाप्त-भीमूतवाहनस्य तत्परवनावहस्य माधव-वेन दान्तरसनायकत्वविरति विवेकः—यह कहना पित्त है । क्योंकि भवदय व धनिक दोनों के मन के यह विरक्त बचना है, जो दान्तरस की नहीं रस नहीं मानते । (दे० प्रकाश ४, का. ३५) वे नागानन्द का रस 'वीर मानते हैं—
अनेकवानीतोत्साह रीत सवराचलितके रीत गृह्याररवत्त-वेन चक्रवर्तिनाकाष्ठे प्रकल्पकेतिरोधाय ।

एतान्यहुवितान् रक्षेव रक्षयेदर्थायम्-तत्प्रधानत्वात्तदुपृते, शहीतार्यान्कुटिन्वादिना निष्कासयेत् पुनः प्रतिसन्धानाय । इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम् ।

जो लोग धिक् धिक् कर कामवृत्ति करते हैं या प्रेम करते हैं, जैसे वेदपाठी योक्त्रिय, बनिये, सन्धासी या दूसरे लोग; जिनसे मुख से बिना किसी प्रवास के घन प्राप्त हो सकता है, जो मूर्ख हैं; स्वल्प अर्थात् निरङ्कुश हैं, अद्भ्यु अर्थात् अद्भुत हैं, पण्डक अर्थात् वानपण्डारि लोगों से पीडित (नपुंसक) हैं, इनके पास बहुत पैसा होने पर गणिका उनके प्रति अनुरक्त-सी होकर उन्हें प्रसन्न करती रहती है । अब उनसे सात पैसा रेंट लिया जाता है, तो वह उन्हें मा (कुटिनी) के द्वारा घर से निकलवा देती है । यह उनका सामान्य (औत्सर्गिक) लक्षण है ।

रूपकेषु तु—

(१) रक्षेव त्वप्रहसने, नैया दिव्यनृपाधये ।

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्षेवैवा विधेया । यथा मृच्छकटिकायां वसन्तसेना चारुदत्तस्य । प्रहसने त्वरणापि हास्यहेतुत्वात् । नाटक्यादौ तु दिव्यवृत्तनायके नैव विधेया ।

प्रहसन से भिन्न रूपक में गणिकाको नायकके प्रति अनुरक्त रूपमें ही चित्रित करना चाहिए (चाहे प्रहसन में उसका अननुरागी रूप हो सकता है) । नायकके दिव्यकोटि के होने पर या राजा होने पर रूपक में गणिका का निबन्ध नहीं होना चाहिए ।

प्रहसन से भिन्न प्रकरण आदि रूपकों में रक्षका अनुरागी रूप ही निबन्ध किया जाना चाहिए । जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना गणिका चारुदत्त के प्रति अनुरक्त है । प्रहसन में रक्षको अनुरक्त भी बनाया जा सकता है, क्योंकि वहाँ वह हास्यरस का अवलम्बन है । दिव्यनायक तथा नृपनायक वाले नाटक्यादि में रक्षका समावेश उचित नहीं ।

अथ भेदान्तराणि—

आसामष्टायवस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ २३ ॥

स्वाधीनपतिका वासकसम्बन्धा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः । नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय । अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः ।

ये सभी तरह की नायिकाएँ अवस्था भेद से आठ ही तरह की होती हैं— स्वाधीनपतिका, वासकसम्बन्धा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया, तथा अभिसारिका ।

जैसे तो नायिकाओं में नायिकात्व आदि (आदि से मुग्धा, यथा आदि का समावेश होगा) भी इनको अवस्था के चोत्र ही नहीं है, फिर भी इन दूसरे ढंग की अवस्थाओं का प्रतिपादन शक्यवै किया गया है, कि पहली अवस्थाओं को धर्म माना गया है, इन अवस्थाओं को धर्म । जिस प्रकार धर्म व धर्म, शुभी व शुष्ण, विशेष्य व विशेष्य ही भिन्न नायों का प्रतिपादन करते हैं, वैसे ही मुग्धादि अवस्थाएँ विशेष्य हैं; स्वाधीनमर्त्यादि अवस्थाएँ विशेष्य । ये अवस्थाएँ आठ ही हैं, न ययादा, न कम इस पर जोर देने के लिए 'अष्टावैव' इस अवधारण का प्रयोग हुआ है । इसी को आगे स्पष्ट करते हैं कि ये अवस्थाएँ आठ ही कम नहीं हो सकती, क्योंकि इनमें से किसी का भी एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

न च वासकसम्बन्धैः स्वाधीनपतिकादावन्तर्भावः, अनासन्नप्रियत्वाद्वासकसम्बन्धान न

(१) 'रूपके त्वनुरक्षेव अर्थात् प्रहसनेतरे' इति पाठान्तरम् ।

स्वाधीनपतिप्राप्तम् । यदि वैष्यप्रियापि स्वाधीनपतिवत् प्रोषितप्रियापि न पृथगात्म्या,
न चेतता व्यवधानेनावृत्तिरिति नियन्तुं शक्यम् । न चाभिविदितप्रियव्यलीलायां सण्डि-
तात्वम् । नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छाया प्रोषितप्रियात्वम् । स्वयमगमनात्मकं प्रत्यप्रयोज-
यत्वाभानिसारिकात्वम् । एवमुक्तकण्डिताप्यन्यैव पूर्वान्य । शौचित्यप्राप्तप्रियागमनसमया-
तिवृत्तिविधुरा न वासकसञ्जा, तथा विप्रलम्बापि वासकसञ्जायदन्वयै पूर्वान्य, — उक्त्या
नायत इति प्रतारणाधिक्याश्च वासकसञ्ज्योत्कण्डितायो पृथक् । वल्लहान्तरिता तु यद्यपि
विदितव्यलीला तथाप्युद्गीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रराशितप्रसादा पृथगेव खण्डिताया ।
तत् स्थितमेतदष्टाववस्था इति ।

वासकसञ्जादि नायिका-कोटि का अन्तर्भाव स्वाधीनपतिवत् दूरी कोटि में नहीं किया
जा सकता । वासकसञ्जा और स्वाधीनपतिवत् एक नहीं मानी जा सकती (स्वाधीनपतिवत्
की स्थिति वासकसञ्जा में नहीं पाई जा सकती), क्योंकि स्वाधीनपतिवत् का पति उसके
समीपस्थ होता है, जब कि वासकसञ्जा का पति (प्रिय) आसन्न वा नायिका के समीपस्थ
नहीं होता । वासकसञ्जा नायिका का बंधु भेद है, जब कि नायक आने वाला है और उसकी
प्रतीक्षा में वह साज-सज्जा से विभूषित हो रही है, इस प्रकार वासकसञ्जा एष्यप्रिया
(मित्रका पति आने वाला है) है । अगर इस एष्यप्रिया को भी स्वाधीनपतिवत् मान लिया
जायगा, तो फिर प्रोषितप्रिया को भी अलग से मानने की क्या आवश्यकता है । देखा जाय तो
एष्यप्रियावत् वसमें भी पाया जाता है । यदि इसका उल्टा बंधु दिया जाय, कि वासकसञ्जा
तथा उसके प्रिय के बीच का देण्डकाल का व्यवधान कम है, तथा प्रोषितप्रिया तथा उसके प्रिय
के बीच का देशकाल का व्यवधान कम है, तो हम इस व्यवधान की कोई निश्चित सीमा नहीं
बताने के लिए यहाँ तक समीपता (आसन्न) मानी जायगी और उसके बाद दूरी ।
हमारे पास व्यवधान के कोटिनिर्धारण की कोई तराजू तो नहीं है । चाय ही खण्डिता जैसे
भेद को भी मजबूत मानना ही होगा, क्योंकि खण्डिता बड़ी है जिसे प्रिय के अपराध का
पता लग जाता है । जिसे प्रिय के अपराध का पता नहीं चलता (अविदितप्रियव्यलीला), वह
खण्डितावत् से युक्त नहीं हो सकती । जो नायिका किसी नायक के साथ रतिक्रीडा में प्रवृत्त है
वा रति की रम्या से युक्त है, उसे प्रोषितप्रिया नहीं माना जा सकता । साथ ही ऐसी नायिका
की अमिताकारिका भी नहीं बताना जा सकता, क्योंकि वह सुन्दर नायक के पास नहीं जाती, तथा
उसमें नायक के प्रति प्रयोजकत्व नहीं पाया जाता । अमिताकारिका में नायक ही अपने पास
हुनने का वा स्वयं उसके पास जाने का धर्म पाया जाता है । इस तरह उत्पण्डिता
(विद्विष्यण्डिता) भी उपयुक्त स्वाधीनपतिवत्, वासकसञ्जा, प्रोषितप्रिया, खण्डिता वा
अमिताकारिका से भिन्न है । जो नायिका नायक के भाले के उचित समय के स्थान पर ही जाने पर
उसके न आने से व्याकुल रहती है, वह वासकसञ्जा नहीं मानी जा सकती, इसे विद्वि-
ष्यण्डिता ही मानना होगा । इसी तरह विप्रलम्बा भी वासकसञ्जा की तरह दूरी व्यवधान
वाली नायिकाओं से भिन्न ही है । विप्रलम्बा का प्रिय आने का वादा करने की नहीं आया है
इस प्रकार बड़ी प्रणाल्या (शल) की अचिकटा पाई जाती है, इसलिए विप्रलम्बा वासकसञ्जा
तथा उत्पण्डिता दोनों से भिन्न है । खण्डिता नायिका अपने प्रिय के परमासीतम्योप रूप
अपराध को जान जाती है, अमिताकारिका में भी बंधु बंधु तो खण्डिता के समान ही पाई
जाती है, किन्तु वह नायक के अनुनय विनय करने पर भी नहीं मानती, तथा प्रयत्न नहीं
होगी, बाद में जब नायक बचना जाता है तो पश्चात्ताप के कारण प्रसन्न हो जाती है । इस

प्रकार कलहान्तरिता रण्डिता से भिन्न सिद्ध होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया, कि नायिकाओं में आठ ही भवस्थायी हैं।

तत्र—

आसन्नयत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका ।

यथा—

‘मा गर्वमुद्बुद्ध कपोलकले चक्रस्ति

कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।

अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां

वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तराय ॥’

जिस नायिका का प्रिय समीप में रहता है तथा उसके आधीन होता है, तथा जो नायक की समीपता के कारण प्रसन्न रहती है, वह स्वाधीनभर्तृका कहलाती है। जैसे,

कोई सखी किसी स्वाधीनभर्तृका के गर्व को देखकर उससे कह रही है। मेरे कपोलकल पर प्रिय के स्वयं के हाथों से चित्रित पत्रावली (मञ्जरी) विद्यमान है—यह समझ कर घमण्ड न करो। हे सखि, अगर कान्त के समीपस्थ होने तथा उसके स्पर्श से जनित कम्प शत्रु बन कर विभ्र न करे, तो क्या कोई दूसरी नायिका ऐसी ही पत्रावलियों का पात्र नहीं बन सकती। दूसरी नायिका भी कान्त के अपने हाथ से चित्रित पत्रावली से युक्त हो सकती है, शत्रु कान्त के स्पर्श के कारण उनमें हटना कम्प हो जाता है, कि कान्त पत्रावली नहीं लिख पाता।

(अर्थ है—वहो घमण्ड करती हो, पति के समीपस्थ होने पर भी तुम किसी प्रकार के कम्पादि सात्त्विक भाव का अनुभव नहीं करती, दुश्चारी सदृशत्वशून्यता है। सच्चे राग को तुम क्या जानो।)

यथा वासकसञ्जा—

मुद्रा वासकसञ्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २४ ॥

स्वमात्मानं धेरम च हृषेण भूपयत्येष्यति प्रिये वासकसञ्जा । यथा—

‘निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितै ।

क्षपरा परीक्ष्य शनैर्मुमुदे मुह्यवासमास्यकमलधसनै ॥’

वासकसञ्जा यह नायिका है, जो प्रिय के आने के समय दर्प से अपने आपको सजाती है।

वासकसञ्जा प्रिय के आने के समय को सनीच होने पर अपने आपको व अपने पर भी चुली से सजाती है। इसका ब्याकरण शिष्टपाठवध के भावम सगे का यह पद्य दिया जा सकता है:—

कोई नायिका अपने हाथ लगी पल्लव के किनारे से रखटिन होने के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उबे हुए मूल-कमल के वायु (मुखवास) के द्वारा भीरे से अपने मुँह की धुगन्धि की परीक्षा करके प्रसन्न हो रही थी।

अथ विरहोत्कण्ठिता—

विरयत्यच्यलौफे तु विर(१)दोत्कण्ठितोन्मनाः ।

यथा—

‘सखि स विजितो वीणावाद्यैः कथाप्यपरक्रिया
पणितमभवत्साम्या तत्र क्षपाळकितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेरालीपु स्वळळकुमुमास्त्वपि
प्ररारति कभौमज्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ॥’

प्रिय (पति) के अपराधी न होने पर भी देर करने पर जो नायिका उत्कण्ठित मन से उसकी प्रतीक्षा करती है, वह विरहोत्कण्ठिता है ।

किसी नायिका के प्रिय के आने का समय न्यतीत हो चुका है । अभी रात होने को आई, पर वह अभी तक नहीं आया है । इससे नायिका बड़ी उत्कण्ठित होकर अपनी सखी से कह रही है । हे सखि, ऐसा जान पड़ता है किभी दूसरी स्त्री ने वीणा आदि वाद्यों के द्वारा उसे जीत लिया है । सबमुच ही उन दोनों में रात भर ब्रीडा करने को शर्ण हो चुकी है । अगर ऐसा नहीं होता, तो हरसिंहार के फूल के छत्र आने पर भी भीरु चन्द्रमा के आकाश के बीच में आ जाने पर भी, मेरा प्रिय क्यों देर कर रहा है ।

अथ खण्डिता—

घातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेप्यारूपायिता ॥ २५ ॥ °

यथा—

‘नवनारापदमङ्गं गोपयत्यशुभेन
स्वगयसि पुनरोष्ठ प्राणिना वन्दयष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशरी विसर्पन्
नवपरिमलगन्ध केन शक्यो वरीतुम् ॥’

जब नायिका को किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने का नायक का अपराध पता हो जाय, तथा इस अपराध के कारण वह ईर्ष्या से वन्दुषित हो उठे, तो वह खण्डिता कहलाती है ।

जैसे विशुपाल के स्वारहर्षे सर्प का निम्न पद्य ।

वहाँ नायक अपराध करके नायिका के पास लौटा है । वह अन्य नायिकाएँ करने मरुध्न्य व दन्तध्न्य को उत्तरीय आदि से छिपा रहा है । नायिका पर सब समझनी हुई कहती है । हम अपने उत्तरीय से नवीन मरुध्न्य के चिह्न से तुक अङ्ग को छिपा रहे हो । अन्य स्त्री के दौनों से काठे हुए ओष्ठ (अपरोष्ठ) को हाथ से दँक रहे हो । ऐशिम चारों दिशाओं में फैला हुआ, अन्य स्त्री के सम्भोग की ध्वजा देने वाला यह नवीन परिमलगन्ध (सुगन्धि) जिसके द्वारा शिपाया या सवना है । तुम मरुध्न्य व दन्तध्न्य को छाय दिशाओं, तुम्हरी देह से आने वाली यह नई सुगन्ध ही किसी दूसरी स्त्री के साथ ही हुई रतिक्रीडा की ध्वजा दे रही है ।

अथ बलहान्तरिता—

कालदान्तरिताऽमर्षाद्भिधूतेऽनुशयातिःसुकु ।

यथा—

निःशक्ता वदनं दहन्ति हृदय निर्गूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न हरयते प्रियमुत्तं नर्तदियं हरयते ।
मङ्गं शोषमुपैति पादपदितः प्रेयास्तपोनेशितः
हरयं कं गुणमाहृत्य दयिते मान वयं कारिता ॥’

कलहान्तरिता नायिका वह है, जो नायक के अपराध करने पर क्रोध से उसका तिरस्कार करती है, बाद में अपने व्यवहार के विषय में पश्चात्ताप करती है।

जिसे नायिका ने अपराधी नायक के प्रति मान दिया है। बाद में अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करती हुई नायिका अपनी सखियों से कह रही है। प्रियतम के अपमान के पश्चात्ताप के कारण जनिन निःश्वस जैसे सारे सुख की जग रह रहे हैं, हृदय जैसे जड़ से हिल रहा है— उमथिन हो रहा है, रात में नींद भी नहीं आती, प्रियतम का मुँह भी दिस्तार्ड नहीं देता, (क्योंकि वह रुठ खोरर लौट गया है) रात दिन रोने के सिवा कुछ नहीं करना। हमारा शरीर खराब गया है, इधर हमने पैरों पर गिर कर अपराध की क्षमा माँगते हुए प्रिय का भी तिरस्कार कर दिया। हे सखियों, वनाभों तो सही, तुमने किस गुण को सोच कर हमने प्रिय के प्रति मान बरबाद था।

अथ विप्रलब्धा—

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिथिमानिता ॥ २६ ॥

यथा—

‘उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायात’ ।

यास्त परमपि जीवेष्वीवितनाथो भवेत्तस्या ॥’

प्रिय के दसमकेत समय पर उपस्थित न होने पर जो नायिका अपने आपको अत्यधिक अपमानित समझती है, वह विप्रलब्धा कहलाती है।

नायिका सक्केरस्थल (महेट) पर बड़ी देर से दलमडून नायक की प्रतीक्षा कर रही है। उसके न आने पर झुंघला कर वह अपनी सखी (दूती) से कह रही है। हे दूति, अब ज़टो अधिक देर तक इन्जार करना बन्द है। चलो चलें। एक पहर इन्जार में बीन गया पर फिर भी वह नहीं आया। जो नायिका इसके बाद भी भिन्दी रह सके, उसी का वह प्रिय (जीवितनाथ) हो सकता है।

अथ प्रोषितप्रिया—

दूरदेशान्तरस्यै तु फार्यतः प्रोषितप्रिया ।

यथाऽमहासातके—

‘आहृष्टिप्रसरतिप्रियस्य पदवीमुद्रीक्ष्य निर्विषणया

विभ्रान्तेषु पथिष्वह परिणती घ्वान्ते समुत्सर्पति ।

दस्वैक सशुभा गृह प्रति पद पान्थस्त्रियास्मिन्शरो

माभूदागत इत्यमन्दवञ्चितप्रीव पुनर्वीक्षितम् ॥’

जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूर देश में स्थित होता है, वह प्रोषितप्रिया (प्रोषितमनुष्या) कहलाती है।

जैसे अमरकेशक में—

किसी नायिका का प्रिय किसी देश में है। वह कई दिनों से उसकी प्रतीक्षा कर रही है। उसकी उत्सुकता इतनी बढ़ गई है कि वह प्रिय के आने के रास्तों की ओर खड़ी होकर मजद खाना करती है। जहाँ तक उसकी मजद जाती है, वहाँ तक वह प्रियतम के मार्ग (पदवी) का डुपरी होकर खोजीकन किया करती है। जब शाम पड़ जाती है, चारों ओर अंधेरा फैलने लगता है, सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं (राहगीरों का चमना बन्द हो जाय है), तो वह डोक से अपने एक पैर की बर की ओर बसती है, लेकिन इसी क्षण वह प्रोषितप्रिया पान्थवपू वह

सोधकर कि कहीं वह आ न गया हो, अपनी गरदन को जरा टेढ़ी करके फिर पीछे (रास्ते) की ओर देख लेती है।

अथ अभिसारिणः—

कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका ॥ २७ ॥

यथाऽमस्तके—

‘उरसि निहितस्तारो हार’ कृता जघने पने

कलकलयती कायो पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।

प्रियमभितारस्वयेवं सुमधे त्वमाहृतडिण्डिमा

यदि किमपिकनासोत्कम्पं दिश’ समुदोक्षसे ॥’

यथा च—

‘न च मेऽवगच्छति यथा लघुता कृष्णा यथा च कुम्भो स मयि ।

निगुण तथैनमुपगम्य घटैरभिपूति सं प्राचिदिति संदिदिशे ॥’

जो नायिका कामपीडित होकर या तो स्वयं नायक के पास अभिसरण करे, या नायक को अपने पास बुलावे, यह अभिसारिका कहलाती है।

जैसे अमरकवचक में—

अपनी सम्पूर्ण सज्ज-सज्जा से निभूषित होकर कोई नायिका प्रिय के पास अभिसरणार्थ जा रही है। वर के गारे वह बर-उपर कोंपली गजर से देख लेती है कि कहीं कोई देख ली नहीं रहा है। नायिका की इसी दृष्टा को देख कर कवि उससे कह रहा है। हे भोली रमणी, तुम बड़े ठाट बाद से प्रिय से मिलने जा रही है। तुमने उर स्थल पर सुन्दर हार पहन रक्खा है, घने अपनखल पर सशब्द कटपनी पहन रखी है और तुम्हारे पैरों में मणिनूपुर धारणशायमान हो रहे हैं। इस प्रकार तुम्हारे हार, कटपनी व नूपुरों का कलकल तुम्हारे जाने की छचना लोगों को दे रहा है। हे भोली, जब तुम इस तरह किसीरा पीठती हुई (मुझे आग) प्रिय के पास अभिसरणार्थ जा रही हो, तो फिर वर के गारे कोंपली घुँघराँ और बर्षाँ देख रही हो।

(यहाँ प्रथम उदाहरण में नायिका का वह रूप बताया गया जब वह स्वयं अभिसरण कर रही है। अब दूसरा उदाहरण शिशुपाल वध के नाम सर्ग से दिया जा रहा है, जहाँ नायिका नायक को अपने पास बुलाने के लिए दूती भेज रही है।) और जैसे—

‘हे सखी, तुम उस के समीप जाकर इस दृष्ट से इस कुदालता से बातचीत करना कि वह अपने आपकी लज्जा का अनुभव न करे तथा मेरे प्रति दया का भाव करते।’ कोई नायिका अपनी दूती को इस तरह सदेश दे रही थी।^१

तत्र—

चिन्तानिःश्वासरोदाश्रुवैवर्ण्यलान्यभूपर्योः ।

युक्ताः पङ्क्त्या द्वे चापे भ्रातृदौऽज्यल्पप्रहृषितौ ॥ २८ ॥

परस्त्रियौ तु कन्ययोदे सपेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पथाद्विदूतघ्नदिना राहाभितर-

१. अत्रोत्तरकार पत्रिक हत पत्र की नायिका को अभिसारिका मानते हैं, यह स्पष्ट ही है। रूप के दोहाकार मल्लिनाथ इसी पत्र की टीका में नायिका की बह्वान्वरिता स्वीकार करते हैंः—‘नायिका तु बह्वान्वरिता।’ ‘योगलान्तं परानुप पथात्प्राप्तमन्विता’ इति पद्यार’ (१५६) हमारे मतानुसार इसे अभिसारिका ही मानना हीन होगा।

न्यायभित्तारिके कुनोऽपि सकेतस्यानमप्राप्ते नाराके विप्रलम्भे इति व्यवस्था व्यवस्थित-
वाऽनयोरिति—अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।

यत्तु मालविकाभिनिनादौ 'योऽप्येव धीर' सोऽपि दृष्टो देव्या पुरतः' इति मालवि-
कावचनानन्तरम् 'राजा—

दाक्षिण्यं नाम विम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।

तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिवन्धना ॥'

इत्यादि, तत्र खण्डितानुनयाभिप्रायेण, अपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य
निराशा मा भूदिति वन्याविभ्रमणायेति ।

तथाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरन्यवधानेऽप्युत्कृष्टतात्व मेवेति न प्रीति-
तप्रियात्वम् अनायत्तप्रियत्वादेवेति ।

इस सम्बन्ध में इन धातों नायिकाओं के सामान्य भूषणों का उल्लेख करना
आवश्यक है। इनमें अन्तिम छ' (विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलम्भा,
प्रोषितप्रिया तथा अभित्तारिका) नायिकाओं में चिन्ता, निश्वास, रोद, अध, वैकर्ण्य
तथा ग्लानि ये अभूषण (हीनताजनक विद्म) पाये जाते हैं। आरम्भिक दो नायिकाओं
स्वाधीनपतिका तथा वासकसञ्जा में प्रीति, उल्लसलता तथा हर्ष विद्यमान रहते हैं।

स्त्रीया नायिका के आठ प्रकार बनाने के बाद यहाँ परबीया का इस प्रकार रूप बताना
जहूरी है। कन्या तथा परोदरूप परबीया नायिका सकेतस्थल पर प्रिय से मित्र के पूर्व
विरहोत्कण्ठिता वी तथा बाद में विदूषक, दूरी, सती आदि के साथ प्रिय के पास विपकर
जाने के कारण अभित्तारिका वी कोटि में आती है। कभी नायक सकेतस्थल पर नहीं आ
पाता, वी वह विप्रलम्भा हो जाती है। इस तरह परबीया नायिका को तीन ही अवस्थाएँ
होनी हैं (आठ अवस्थाएँ नहीं), क्योंकि इनका प्रिय स्वाधीन न होने के कारण दूसरी अवस्थाएँ
इनमें नहीं पाई जा सकतीं।

मालविकाभिनिमित्र नाटक में एक स्थान पर मालविका के यह कहने पर कि 'तुम इतने
धीर हो, पर देवी (महारानी) के आगे तुम्हारी हालत क्या थी, यह हम देख चुके हैं,' राजा
अभिनिमित्र मालविका को मनाते तथा विश्वास दिलाते हुए कहता है — 'दे विम्र के समान ओठ
धाली मालविके, उच्चकोटि के नायको का कुलव्रत दक्षिणरहना (सब नायिकाओं के साथ सद्द
पत्रापूर्ण बर्ताव करना) है। हे रङ्गी भौलों वालो, मेरे प्राण तो तुम्हारी ही आशा से निबद्ध हैं।'

इस स्थल पर मालविका में खण्डितत्व की भांति करना अनुचित होगा। वह कभी नहीं
सोचना चाहिए कि यहाँ मालविका राजा के देवी के प्रति प्रेम के कारण ईर्ष्यान्तु होकर खण्डिता
हो गई है। यह स्थल तो बचि ने रसलिय सत्रिषिट किया है, कि राजा मालविका को वह
विरवास दिला देना चाहता है, कि मैं देवी के निकुल अधीन हूँ, ऐसी आशङ्का करके
निराश मन होना।

परबीया नायिका के प्रिय के समागम न होने के पूर्व ही प्रिय के दूर देखे स्व होने पर उसे
प्रोषितप्रिया नहीं माना जायगा, क्योंकि वहाँ उसका उल्लखित रूप ही है, अतः वह उल्लखिता
ही मानी जायगी, क्योंकि अभी तक प्रिय उसे प्राप्त नहीं हो सका है, तथा उसके अधीन नहीं है।
अपानां सहायिन्य —

दूष्यो दासी सखी कारूपाप्रिया प्रतिवेदिता ।

सिद्धिनी शिल्पिनी स्व च नेत्रमिप्रगुणान्यनाः ॥ २६ ॥

दासी = परिचारिका । सखी = स्नेहनिपट्टा । फारू = राजकीयशक्तिः । पापेयी = उपमात्सुता । प्रतिवेशिका = प्रतिशुद्धिणी । विद्विनी = मिथुन्यादिका । शिल्पिणी = विप्र-
 कारादित्री । स्वयं चेति दूतीविशेषा नायकमित्राणां पीठमदादीनां निवृत्तार्थत्वादिना
 गुणेन युक्ताः । तथा च मालतीमापवे जगन्मन्दी प्रति—

‘शास्त्रेषु निष्ठा सहजवध वीथः प्रायत्न्यमभ्यस्तगुणा च वाणी ।

कालहरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणा पापदुषाः नियासु ॥’

इन नायिकाओं का नायक के साथ समागम कराने वाले सहायक में छोरा हैं—
 दूतियाँ, दासी, सखी, नीच जाति की औरतें, पाय की घेरी, पक्षोत्थिन, सन्धासिनी,
 शिशिपनी, स्वयं नायिका ही (स्वयं दूती के रूप में), ये सभी दूतियाँ आदि नायक
 के मित्र—पीठमर्द, विट, विदूषकादि के गुणों से युक्त होती हैं ।

इसी के उदाहरण रूप में प्रथम उदाहरण मालतामापव से कामन्दकी (विद्विनी-सपस्विनी)
 का दिया गया है जो मापव के प्रति मालती को आकृष्ट करने का प्रयत्न करती है—

शालों में निष्ठा होना, सद्बल ज्ञान, प्रगल्भता, गुणवती वाणी, समझ के अतुल्य प्रतिभा
 का होना, ये गुण सभी किशोरों में इन्द्रानुसार सफलता दिलाने वाले होते हैं । (यहाँ
 मगवती कामन्दकी मापव के गुणों का वर्णन सामान्य उक्ति के द्वारा कर रही है ।)

तत्र सखी यथा—

‘मृगशिशुदशस्तस्यास्तारुं कर्म कथयामि ते

दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नदि वैधवी ।

इति तु विदितं नारीरूपः स कोवदृशां सुवा

तत्र शठतया शिल्पोत्सर्षो विधेर्भिषद्विप्यते ॥’

वहीं मालतीमापव में सखी दूती रूप में मापव के पास जाकर मालती को विरहजनित
 अवस्था का वर्णन कर रही है । हे मापव, उस दिन के शूद्रक के समान ओझों वाली मालती
 के विरहताप को कौी कहूँ, उसका वर्णन करने के लिए मेरी बात कोई शब्द ही नहीं । अगर
 वहीं मैंने चन्द्रमा की मूर्ति को आग में पड़ी देखा होता, तो मैं बता पाती, पर मैंने वैभवो
 मूर्ति (चन्द्रकला) को कभी भक्ति में पड़ी देखा नहीं । हाँ मैं शनैः भर जानगी हूँ, कि मालती
 बड़ी सुन्दर है, मालती का वह रमणीय रूप सारे ससार की दृष्टि के लिए अमृत के समान है,
 पर ऐसा मालूम पड़ता है, कि तेरी दुष्टता के कारण माला भी वह सबसे सुन्दर कलाकृति योही
 बरबाद हो जावगी ।

यथा च—

‘उर्षं जानइ ददुं सरिसम्मि जणम्मि छुम्पए राओ ।

मरुत्त ण तुम्मं मणिस्सं मरणं पि सल्लाहनिर्णं से ॥’

(‘सत्त्वं जानाति द्रष्टुं महतो जने सुजयते रागः ।

म्रियतां न त्वां मधिष्यामि मरणमपि स्थावनीयमस्याः ॥’)

और जैसे—कोई दूती (सखी) नायक के पास आकर नायिका विरहजनित दशा
 का वर्णन करती है—वह बात देखने में ठीक है, कि योग्य व्यक्ति के प्रति प्रेम करना बलिन
 है (सहजे योग्य व्यक्ति के प्रति प्रेम किया, यह अच्छा है) । अगर वह मर जाय, तो मर
 जाय, मैं तुम्हें कुछ न कहूँगी । क्योंकि योग्य व्यक्ति से प्रेम मरके बलके विरह में उसका मर
 जाना भी प्रसन्नार्थ ही होगा ।

स्वयं दूती यथा—

‘भद्र एहि किं निवालञ्च हरति गिर्यं पाठ जइ वि मे सिचयम् ।
साहेमि वस्स सुन्दर दूरे गामो अहं एका’
(‘सुहुरेहि किं निवारक हरसि निजं वायो यद्यपि मे सिचयम् ।
साधयामि वस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका ॥’)

हत्यायुद्धम् ।

स्वयं दूती जैसे—बोई नायिका किमी पाण्यादिके साथ उपभोगकी इच्छासे उसे मुनाकर रह रही है। हे निगोठे वासु, तुम बार बार आते हो, मेरे वल को (आंचल को) क्यों हर रहे हो। यद्यपि तुम मेरे आंचल को हर रहे हो, फिर भी हे सुन्दर मैं कितने प्रसन्न वरूँ, गाँव तो दूर है, और वहाँ मैं बिल्कुल अकेली हूँ।

(इस दृश्य स्थल में पान्थ के साथ की गई रतिक्रीडा को बोई न देख पावगा, इस बात की व्यञ्जना स्वयं दूती की उक्ति कर रही है। आंचल को हिलाकर वह थोड़ा से भी पान्थ को आमन्त्रित कर रही है—यह सद्दयःदृश्यसर्वेषु तत्त्व है।)

अथ योयिदलद्वारा —

यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विरातिः ।

यौवने सत्त्वोद्भूता विरातिरलङ्कारा स्त्रीणां भवन्ति ।

तत्र—

भावो हावश्च हेला च प्रयस्तत्र शरीरजाः ॥ ३० ॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।

औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावाः अयलजाः ॥ ३१ ॥

तत्र भावदानहेलास्रयोऽङ्गजा, शोभा कान्तिदीप्तिर्माधुर्यं प्रगल्भ्यमौदार्यं धैर्यमित्य-
यलजा सप्त ।

लीला विलासो विच्छित्तिविधमः किलकिञ्चित्तम् ।

मोहायितं फुट्टमितं विव्योको ललितं तथा ॥ ३२ ॥

विहतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।

तानेव निर्दिशति—

निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यधिक्रिया ॥ ३३ ॥

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकारं सत्त्वं यथा कुमारसम्भवे—

‘श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्दर’ प्रसङ्गानपरो वभूव ।

आत्मेध्वरणां नहि जातु विप्राः समापिभेदप्रभवो भवन्ति ॥’

स्त्रियों में यौवनावस्था में सत्त्वज (स्वाभाविक) बीस अलङ्कार माने जाते हैं—
भाव, हाव, हेला ये तीन शरीरज (शारीरिक) अलङ्कार हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य ये सात सत्त्वज भाव से अलङ्कार हैं, जो स्त्रियों में अवरण रूप से पाये जाते हैं, अर्थात् इन्हें प्रकटित करने में नायिकाओं को कोई धरन नहीं करना पड़ता। लीला, विलास, विच्छित्ति, विधम, किलकिञ्चित्त, मोहायित, फुट्ट-मित, विव्योक, ललित, विहत ये दस भाव स्वभावज भाव हैं, अर्थात् स्वभाव से ही

क्षियों में स्थित रहते हैं। इन्हीं का आगे एक एक को लेकर लक्षण व उदाहरण दिया जाता है।

निर्विकारतमक शब्द से जब विकार का सर्वप्रथम विस्फुरण पाया जाता है, तो इसी प्रकार के प्रथम स्फुरण को 'भाव' कहते हैं।

मानवमूर्ति में सत्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण माने जाते हैं। इन गुणों में से सत्व की यह विशेषता है, कि विकार की उत्पत्ति करने वाले कारण के विद्यमान होने पर भी विकार नहीं हो पाता (विकारहेतु सति विहिते तेषां न चेत्सति त एव धोराः)। इसी को पहले नायक के गुणों में 'गाम्भीर्य' कहा गया है। इस सत्व का उदाहरण कुमारसम्भन का यह पद्य दिया जा सकता है—

अपराधो के सङ्गीत को सुनकर भी महादेव लखी क्षण समाधि में स्थित हो गये। जितेन्द्रिय तथा जितात्मा व्यक्तियों की समाधि की कीर्त भी निम्न भङ्ग नहीं कर सकते।

तस्माद्विकाररूपात्सत्वात् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्धिपरिवर्तौ वीजस्योच्छ्रन्तौ स

भावः । यथा—

'दृष्टिः सालसतां विभर्ति न शिशुकीजसु बद्धादरा
 श्रेत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीराम्मोगवार्तास्त्वधि।
 पुंसामद्धमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राययथा
 याला नूतनगोषनव्यस्तिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥'

इस प्रकार सत्व यह अवस्था है, जब कि व्यक्ति सर्वथा निर्विकार रहता है। इस अवस्था के बाद विकार की जो सर्वप्रथम अवस्था पार्स जाती है, जिसमें विकार बड़ा अस्फुट रूप से रहता है 'भाव' कहलाती है। यह विकार शरीर के अन्तर्ग में ही क्षिप्त रहता है, और उसकी प्रकृता बीज की उत्पन्नता से की जा सकती है। जिस तरह पानी, मिट्टी आदि तदीय से अङ्कुरित होने के पहले बीज कुछ उच्छून हो जाता है; इस समय बीज में विकार ही होता है, पर वह विकार बीज के अन्तर्ग में ही होता है, इसी प्रकार नायिका के अन्तर्ग में पाया जाने वाला (शुद्धार) विकार 'भाव' नाम से अभिहित होता है।

इस 'भाव' नामक शारीरिक अलङ्कार का उदाहरण यों दिया जा सकता है। मुग्धा नायिका में सर्वप्रथम विकार का स्फुरण हो रहा है। कवि उसी का वर्णन कर रहा है। इसकी नजर पहले बड़ी पच्छल थी, लेकिन अब वह अलङ्कार-मयी नजर आती है (उसकी दृष्टि ने अलसता धारण कर ली है)। पहले बचपन में, वह छोटे बच्चों के खेलों से आनन्द प्राप्त करती थी, लेकिन अब छोटे बच्चों के खेलों में वह कोई दिलचस्पी नहीं लेती। बचक क्षियों की बात सुनते में, पहले उसे कोई मना नहीं माना था, लेकिन अब अपनी स्थितियों की सम्मोह की बात करते सुन कर वह अपने कान उस बातों की ओर लगाती है। सम्मोह की बातों को सुनने में अब उसको कुछ कुछ दिलचस्पी होने लग गई है। बच्चों होने पर वह बिना किसी हिक के पुरखों की गोद में बैठ जावा करती थी, लेकिन अब पहले की तरह पुरखों की गोद में नहीं बैठती। निःसन्देह यह बात भीरे भीरे नवीन जीवन के आदिर्भाव से मुक्त हो रही है। अथवा वह नायिका नवीन जीवन के द्वारा अवलम्बित या अवन्द (अवष्टम्भित) हो रही है।

यथा वा कुमारसम्भवे—

'हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तपर्यधन्दोदयारम्भ द्यमान्तराशिः ।
 उमामुग्धे विम्बलक्षधरोष्ठे स्यात्पारयासास विलोचनानि ॥'

जबवा जैसे कुमारसम्भव में महादेव में विकार का प्रथम स्वरण पाया जाता है। इसी का वर्णन कालिदास ने यों किया है —

हामदेव के बाण मारने पर महादेव का धैर्य कुछ कुछ उसी तरह कुछ ही गया, जैसे चन्द्रोदय की आरम्भिक दशा में समुद्र की तरह महादेव का मन चञ्चल ही उठा। उन्होंने बिम्बाफल के समान अफरोड वाले सुन्दर पार्वती के मुख की ओर अपने नेत्रों की टाण।

यथा वा ममैव—

‘तं धियं वध्मण ते श्रेय लोभये लोव्वण पि त श्रेय ।

अण्णा अण्णलच्छी अण्ण धियं किं पि साहेइ ॥’

(‘तदयं वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव ।

अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति ॥’)

अथवा जैसे धनिक की बनारस हुई निम्न प्राकृत गाथा में भी नायिका के ‘भाव’ नामक शरीरज अलङ्कार का वर्णन है —

उस नायिका की बातचीत (वचन) भी वही है, नेत्र भी वही है, यौवन भी वही है, इनमें कोई भी परिवर्तन दिखाई नहीं देता। लेकिन उसके शरीर में भिन्न प्रकार की काम-शोभा दिखाई पड़ती है, जो दूसरे ही उद्ग का प्रभाव (लोगों पर) डालती है।

अथ हाव —

अत्पालाप. सशृङ्गारो हावोऽस्तिभ्रुषिकारकम् ।

प्रतिनिवृत्ताविकारकारी शृङ्गार स्वभावविरोधो हाव यथा ममैव—

‘अ किं पि पेण्णमाण भणमाण रे जहातइचेय्य ।

निजभाअण्ण ऐहमुद वअस्स मुद णिअच्छेइ ॥’

(‘यत्किमपि प्रेक्षमाणं भणमाणं रे यथातथैव ।

निर्घ्याय स्नेहमुग्धा वयस्य मुग्धा परस्य ॥’)

नायिका में घातशील बन करने की अवस्था का होना तथा शृङ्गार का होना ‘हाव’ कहलाता है। यह ‘हाव’ अँल, भँहि आदि में विकार उत्पन्न करता है।

निश्चित अङ्गों में विकार करने वाला शृङ्गार ‘हाव’ कहनाता है, यह ‘हाव’ स्वभाविक तथा शरीरज अलङ्कार है। जैसे धनिक की ही यह गाथा नायिका के ‘हाव’ की व्यञ्जना करती है —

हे मित्र, उस नायिका के देखते हुए वा बोलते हुए, दोनों का जो कुछ असर होता है, वह एक-सा ही होता है। या तो तुम स्नेहमुग्धा भौली नायिका को इष्टिपान करती देखो, या बोलती देखो, एक सा अनुभव होगा। वहाँ नायिका का इष्टिपान भी आहारदायक है इस प्रकार हममें ‘हाव’ की स्थिति ध्वनि की गई है।

अथ हेला—

स एव हेला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका ॥ ३५ ॥

हाव एव स्पष्टभ्रुषोविकारत्वात्सुव्यक्तशृङ्गाररससूचको हेला । यथा ममैव—

‘तह मत्ति से पअत्ता एव्वज्ज विन्भमा यणुब्भेए ।

संसइअवालभावा होइ चिर जह सहीण पि ॥’

(‘तथा मत्तित्यस्या प्रवृत्ता सर्वात्त विभ्रमा स्तनोद्धेदे ।

सशयितपालभावा भवति चिर यथा सखीनामपि ॥’)

यही 'हाव' जब शब्दर रस को प्रकट रूप में अच्छी तरह अभिव्यक्त करने लगे, तो 'हेला' नामक शरीरज अलङ्कार बन जायगा। 'हेला' में नायिका के विकार स्पष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं, तथा प्रकट रूप में शब्दर चेष्टा के चोतक होते हैं।

जैसे धनिक की रत्न की इस गाथा में—

क्योंही उसके रत्न वस्त्र होने लगे, त्योही इस नायिका के सारे कर्णों में इस वह से विकास व विभ्रम प्रकट होने लगा, कि इसकी सखियों भी एक बारगी इसके बालबाल के बारे में संशय करने लग गईं।

15/11/57

अपयत्नजाः सतः । सतः शोभा—

रूपोपमोगतारुण्यैः शोभाद्गानां विभूषणम् ।

यथा कुमारसम्भवे—

'तो प्राङ्मुखी तत्र निवेद्य बालां क्षणं ब्यालम्बन्त पुरो निदग्ण

भूतार्थशोभाहियमाणभेजाः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥'

इत्यादि । यथा च शाकुन्तले—

'अनागतं पुष्पं किमलयमलूनं करुहै-

रनाविद्धं रत्न मधु नयमनास्वादितरसम् ।

अस्रष्टं पुष्पानां फलमिव च तद्रूपमनघं

न जाने मोक्षारं कमिह ससुपस्यास्वति निधिः ॥'

अयसज अलङ्कार सात माने गये हैं। इनमें प्रसङ्गगत शोभा अलङ्कार का वर्णन पहले किया जा रहा है। रूप, विलास तथा यौवन के कारण जब नायिका के अङ्ग विभूषित हो उठते हैं, तो उस अलङ्कार को 'शोभा' नामक अपलज अलङ्कार कहते हैं।

कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग में पार्वती को विवाद के लिए सजाया जा रहा है। उसी का वर्णन करते समय कवि कुल्लुह वस्त्रिगत करते हैं—

इस रात्ना पार्वती को पूर्ण दिशा की ओर मुंह करके बिठा कर भयं सखियों उसके सामने बैठ कर एक क्षण के लिए ठिठक सी गई—पार्वती का प्रसाधन करने से रुक सी गई। पार्वती की नैसर्गिक शोभा को देख कर वे स्तम्भ-हो गई, इनके चेहरे लज्जित हो गए कि इस नैसर्गिक सौन्दर्य के लिए इन रात्ना प्रसाधनों की क्या जरूरत ! और इस तरह प्रसाधन सामग्री के समीप रहने पर भी वे एक क्षण के लिए पार्वती का प्रसाधन न कर सकीं।

और जैसे शकुन्तला के रवामाविक सौन्दर्य रूप शोभा अलङ्कार का वर्णन करते हुए—

इस सम्मुख स्थित बाला की शोभा देख कर ऐसा कहा जा सकता है, कि यह वह भूल है, जिससे अब तक किसी ने नहीं रोंडा है, यह वह कोमल किमलय है जिससे किसी के नलों ने नहीं तोड़ा है—नहीं सरोचा है, यह वह रान है जिसको अभी देखा भी नहीं गया है, तथा यह यह क्या शब्द है, जिसके रस की किसी ने नहीं चखा है। इसका यह अकल्प रूप—अनन्य सौन्दर्य—जैसे पुष्पो का अरण्य पल है। क्या नहीं मना इस कल का वपमोका जिसे बनावेगा ?

मय फान्ति—

मन्मथाथापितच्छाया सैव फान्तिरिति स्मृता ॥ ३५ ॥

१. 'मन्मथाप्यापित' इति पाठान्तम् ।

शोभैव रागावतारणनीकृता कान्ति । यथा—

‘उन्मीलद्धदने दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं

। भिन्न पीनकुवस्यलस्य च हवा हस्तप्रनाभिर्द्वितम् ।

एतस्या फलविद्धकण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका

दप्रसाद्गुलुह दयेव सहसा केशेषु लग्न तम ॥’

यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टवाणस्य ।

शोभा में नायिका में कामविकार नहीं होता । जब कामादिर्भाव के बाद इसकी कान्ति और अधिक बढ़ जाती है, तो यही शोभा राग (काम) के उत्पन्न होने से सघन होने के कारण कान्ति नामक अलङ्कार होती है ।

जैसे निम्न पद्य में नायिका में सम्भव का अवतरण होने से उसकी गतीहारिता और सघन हो गई है । उसकी इस कान्ति को देख कर मानव या चेतन प्राणी तो क्या अश्वकार भी उसके अङ्गों के स्पर्शश्रुत को प्राप्त करना चाहता है । लेकिन नायिका उसे अपने पास भी नहीं फटकने देती । वह अपने प्रफुल्लित मुख रूपी चन्द्रमा की प्रकाश-किरणों से उसे (अधारे को) दूर भगा देती है उसे अपने मोटे मारी बघोजों की कान्ति से फोट देती है, और हाथ की कान्ति से खूब पीटती है । इस तरह वह अपने अङ्गों का मुख प्राप्त करने वाले कामुक अश्वकार को दूर से मार भगानी है । उरुण्ड कामी की भाँति चोट खाने पर भी अश्वकार पीछे नहीं हटता, वह एक बार नायिका के अङ्गस्पर्श का मुख पाना ही चाहता है, और इस बार वह क्रोध से नायिका के पीछे पड़ ही ती जाता है । मला एक बार तो उसका अपमान करने वाली नायिका को मजा चखा ही दिया जाय । इसलिए कलविद्ध पक्षी के कण्ठ के समान सघन काला अश्वकार, कौतुक के साथ एक दिन उस नायिका के बालों में भाकर मानों रोष से चिपट गया है ।

भाव यह है, कि उस नायिका का मुख अपूर्वकान्ति से युक्त है जैसे पूर्ण चन्द्रमा ही, उसके बघोज पूर्णतः उन्नत है, उसके हाथ भी सुन्दर हैं, तथा उसके केश अश्वकार के समान घने काले हैं ।^१

कान्ति का दूसरा उदाहरण हम बाण की कादम्बरी के महाश्वेतावर्णन में देख सकते हैं ।

अथ माधुर्यम्—

अनुश्वणत्वं माधुर्यम्—

यथा शाकुन्तले—

‘सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्यं

मलिनमपि दिर्माशौर्लक्ष्य सङ्गी तनोति ।

इयमधिकमनोहा वल्कलेनापि तन्वी

किमिव हि मपुराणा मण्डनं नाकृतीनाम् ॥’

नायिका में अनुश्वणता या रमणीयता का होना माधुर्य नामक भाव कहलाता है ।

जैसे शाकुन्तला के वर्णन में शाकुन्तल नाटक में—

शैवल से युक्त होने पर भी कमल सुन्दर ही लगता है । चन्द्रमा का काला कलहू भी

१ जब कोई व्यक्ति अदृश्यता पीछे पड़ता है, तो भगाने की कोशिश की जाती है, मोटी चीज पत्थर, लोहे आदि से उसे फोड़ा जाता है, और हाथों में मारा-पीटा जाता है, नायिका ठीक यही बर्ताव अश्वकार के साथ करती है, यह स्पष्ट है ।

ससयी शोभा ही बढाता है। यह (शकुन्तला) बरकल पहनने पर भी बरौ सुन्दर लग रही है। मधुर आकृतियों के लिए कुछ भी गणदन बन जाता है। (१)

अथ दीप्ति—

—दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

द्विधा पसिध्णिः अन्तस्तु सुहससिजोष्णाविलुप्ततमणिवदे ।

अद्विसारिभ्रान्तं दिग्मं करोसि भ्रण्णाने वि ह्यथासे ॥

(प्रसीद परम निर्वर्तल्य सुखराशिज्योत्स्नाविलुप्ततमणिवदे ।

अभिसारिकार्या विप्रं करोष्यन्यायामपि ह्यतारो ॥)

कान्ति नामक भाव का विस्तार—उसका विशेष पाया जाना; दीप्ति नामक भाव कहलाता है। जैसे

दे रमणो, सुश हो जाभी, देखी तो दुन्दारे मुख रुपी बन्दरमा की व्योत्सा से भ्रंषकार नष्ट हो रहा है। छोट चलो, दे मूर्त (दृगारे), तुम दूसरी अभिसारिकार्यो—भ्रंषकार में पिय का अभिसरण करती हुई कृपाभिसारिकार्यो—के भी प्रियाभिसरण में निर्वर्त पयों कर रही हो ?

अथ प्रागल्भ्यम्—

निस्ताप्यसत्यं प्रागल्भ्यम्—

मन शोमपूर्वकोऽज्ञात् प्राग्वत्तं तदभावः प्रागल्भ्यम्, यथा ममैव—

‘तया मीमादिपियेयामि तथा सुग्धापि सुन्दरी ।

कृतप्रयोगचातुर्यं समस्ताचार्यकं गता ॥’

मन के शोभादि का न पाया जाना प्रागल्भ्य नामक भाव कहलाता है।

जैसे पतिक का स्वयं का यह पद—

यद्यपि यह सुन्दरी उतनी अधिक उज्ज्वल तथा मीठी है, फिर भी सभा में कृपाप्रयोग की चतुरता का प्रदर्शन करते समय आचार्यल को प्राप्त हो गई।

अपीदार्यम्—

—अपीदार्यं प्रथमः सदा ॥ ३६ ॥

यथा—

‘दिवसं च बुभिसाशाए सफलं काज्जल गेहपापारम् ।’

गहपि मन्नुदुपते भरिमो पाभ्रन्तस्तसत्स ॥’

(‘दिवसं चतु बुभिसाशा’ सफलं कृत्वा गेहपापारम् ।

गुहप्यपि मन्नुदुपते भरिमो पादान्ते सुप्तस्य ॥’

यथा वा—‘भ्रूते सदसोऽज्ञा’ इत्यादि ।

सदा प्रेम से मुक्त रहना; नायक के प्रति अनुकूल रहना; अपीदार्य कहलाता है। जैसे दिन भर भर का कामकाज करके बरौ हुई, नायिका के भाँटी कोष व हुँते पिय के पालनविधि होने पर खान्त हो गये ।

अथवा जैसे ‘भ्रूते सदसोऽज्ञा’ (भीरे देदी होते हुए बट रही हुई) इत्यादि उदाहरण में।

अथ धैर्यम्—

चापलाऽविद्वता धैर्यं चिहृत्तिरधिकतथना ।

चापलानुपद्वता मनोश्चिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति यथा माक्रीमाधवे—

‘ज्वलन्तु गगने राशौ रात्रावत्स्रज्ज्वलन् राशौ

दहतु मदनं किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।

मम तु दयितं स्थाप्यस्तातो जनन्यमलान्वया

‘कुठममलिन म स्वेवाय जनो न च जीवितम् ॥’

खल्लता से रहित, तथा अपने स्वयं के गुणों की प्रशंसा से रहित मनोवृत्ति को धैर्य नामक भाव कहते हैं ।

जैसे मालतीभाष्य की मालती में धैर्य भाव पाया जाता है—

‘इह रात्र आकाश में पूर्ण चांद्रमा प्रकाशित होकर मुझे अलाया करे (अला करे) । रामदेव (मुझे) अलाया करे, यह मृत्यु से बढ़कर अधिक क्या बिगाड़ सकता है ! मुझे तो अपना प्रिय, अपने पिता, पति वगैरे में कल्पना अपनी माता तथा अपना निर्मूल कुल अभीष्ट है, यह जन (अपने भाव) तथा यह अपना जीवन प्रिय नहीं है ।

अथ स्वाभाविका दश, सप्त—

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गचिचेष्टितै ॥ ३७ ॥

प्रियकृतानां वाग्देवचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिलुकरणं लीला ।

यथा ममैव—

‘तह दिटठ तह भणिस ताए णिअद तहा त्हासोणम् ।

अवल्लोइअ सङ्गह सविअम जह सवत्तीहि ॥’

(‘तथा एष्ट तथा भणित तथा नियत तथा तपासीनम् ।

। अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः ॥)

अथ दश स्वाभाविक भावों का उल्लेख करते हैं । मायिका के मधुर अङ्गों की चेष्टाओं के द्वारा प्रिय (नायक) के वाग्देवचेष्टादि का शृङ्गारिक अनुकरण करना लीला नामक भाव कहलाता है ।

जैसे धनिक को स्वयं की हस गाथा में—

उक्त नायिका का प्रेक्षण, बोलचाल निदन्वण, तथा बैठना हस दंग का है, कि उसकी सीते विलास व गुणा के साथ उसे देखनी है ।

यथा वा—‘तेन दित वदति याति तथा यथाऽघी’ इत्यादि ।

अथवा जैसे, ‘जैसे यह बोलता है, जैसे ही यह बोलती है, तथा जैसे यह चलता है, जैसे ही वह चलती है ।’ आदि ।

अथ विलस—

तात्कालिको विशेषस्तु धिलासोऽङ्गक्रियोत्सु ।

द्वितावलोकनादिक्रमेऽङ्ग क्रियायां वचने च सातिशयविरोधोत्पत्तिर्विलसः । यथा माक्रीमाधवे—

‘अत्रान्तरे किमपि वापिभवातिज्ञत

धैरिभ्रमुक्तासितविभ्रममायताक्षवा ।

तद्गुरिसात्त्रिभुविकारविरोधरम्य-

माचार्यकं विजयि मान्मयमाविरासीत् ॥

३ प्रिय के दर्शनादि के समय नायिका की अङ्ग-चेष्टाओं तथा बोलचाल में, जो विशेष प्रकार का सांस्कृतिक विकास पाया जाता है, उसे विकास कहते हैं।

जैसे मालवीमाधव में—

इसी बीच में, लम्बी बाँहों वाली मालवी का कामदेव सम्पूर्ण विजयी आचार्यत्व प्रकट हुआ, जिसकी विचित्रता कागिबलास से बढ़ गई थी, जो बिलास व विजय से युक्त था, तथा जो आधुनिक सांस्कृतिक मार्गों के कारण विशेष रमणीय हो गया था।

अप्य विचिच्छति—

ध्यावात्परचनाऽवपापि विचिच्छतिः कान्तिपोषकत् ॥ ३६ ॥

स्तोत्रोऽपि येषो यदुत्तरकमनोयताकारी विचिच्छति । यथा कुमारसम्भवे—

‘कर्णापिंतो रोध्रकप्रयस्फुले गोरोचनाभेदनितान्तगौरै ।

तस्या कपोले परभागलाभाद्दयन्त्य शशुपि यवप्ररोह ॥’

घोड़ी सी घेबभूया व राज-सभा भी जहाँ कान्ति को अधिक पुष्ट करती है, वहाँ विचिच्छति नामक भाव होता है।

जैसे कुमारसंभव में पार्वती के वर्णन में—

प्रसाधन करते समय पार्वती के कान में लगाया गया बब का प्ररोह, लोभ धूर्ण के कारण रुरी तथा गोरोचन की पत्नीवशी से अत्यधिक गोरोचनके कपोल-पर विशेष सुन्दरता प्राप्त कर (जोगों की) दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था।

अप्य विभ्रम—

विभ्रमस्त्वरया काले भूपास्थानधिपर्ययः ।

यथा—

‘अभ्युत्सते शशिनि पेरालक्ष्मन्तादती-

सन्धपसंवलितलोचनमार्गिणी ।

अमाद्भि मण्डनविधिर्विपरीतभूया-

विन्यासशसितसस्त्रीजनमहनाभि ॥’

यथा वा समवेद—

‘श्रुत्वाऽऽयातं महिः शान्तमेतामार्गिर्भूषया ।

भासेऽग्रं दरोर्लाशा कपोले तिलकं कृतं ॥’

अश्री के कारण समय पर आभूषणों का उलट-पलट पहन लेना विभ्रम कहा जाता है। जैसे—

यद्यदा के उदय होने पर, प्रिय नायक की दृष्टियों के सुन्दर बचनों से उत्कृष्टित नेत्र व मन वाली नायिकाओं ने आभूषण-मण्डन इस ढङ्ग से किया, कि उनके आभूषणों की विपरीत प्रकार से पहना देखकर (उनका विपरीत शिलाउ देखकर) सजियाँ हँस पयीं।

अथवा जैसे पत्रिक का तपस का यह रूप—

प्रिय नायक को बाहर आया जान कर, अज्ञात करती हुई नायिका ने, शिखा अक्षरकार्य समाप्त नहीं हुआ था, कलाउ में अञ्जन, ‘बाँहों में आशरस (अंककक) तथा कपोल पर तिलक लगा दिया।

अथ किलकिञ्चितम्—

क्रोधाश्रुहर्षमीत्यादेः सहृदयः किलकिञ्चितम् ॥ ३६ ॥

यथा समैव—

रतिक्रीडाद्युते कथमपि समासात् समय

मया स्वधे तस्या कणितकलकण्ठार्धमधरे ।

कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकृतविलभार्धरहित

स्मितकोभोद्धान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुच्यम् ॥'

नायिका में एक साथ क्रोध, अश्रु, हर्ष तथा भय का साहचर्य पाया जाना किलकिञ्चित कहलाता है ।

जैसे धनिक के रस पत्र में—

रतिक्रीडा के समय मुझी खेलते समय किसी तरह समय पाकर मेरे हाथ उसके अपर को भीत लेने पर, देखी मीठी शब्दी उस नायिका ने कलकल कण्ठ से अर्धश्रुत आवाज करते हुए, लज्जा, रुदन, मुसकराहट तथा क्रोध के अश्रुत मिश्रण से उद्भात मुख को मेरी ओर कर दिया ।

अथ मोहायितम्—

मोहायितं तु तद्भावभावने एकथादिषु ।

श्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तंकरणत्वं

यथा पद्मगुप्तस्य—

'चित्रपतिन्दपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।

वीरार्धवलित चक्रे मुखे दुमवशैव सा ॥'

यथा वा—

'मात क हृदये निपाय मुचिरं रोमाञ्चिताङ्गीं मुहु

र्षम्मान्मन्यरकां झुललितापाङ्गां दधाना दशम् ।

सुप्तवालिक्षितैव शून्यहृदया लेखावशोपीभव

स्यात्मद्रोहिणि किं द्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मर ॥'

यथा वा समैव—

'स्मरदवधुनिमित्त गूढमुत्तेतु मस्या'

सुभग तव कथायां प्रस्तुताया सखिभ ।

भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाप्रा

ततवलयितबाहुर्जम्मितौ साह्रभङ्गौ ॥'

प्रिय की कथादि का अर्थ मननादि करते समय उसके भाव से प्रभावित हो जाना एकतान हो जाना मोहायित कहलाता है ।

१. दादा के लिखित होने पर भी—अन्ते प्रिय को देखते प्रत्यक्ष में राधा के प्रभाव से मुक्त होकर परवश बनी हुई उस नायिका ने अपने मुख रूपी चन्द्रमा को लज्जा के कारण झुक देना कर दिया ।

अथवा,

१. देखा (माँ), प्रमदिते हृदय में बैठकर बड़ी देर से रोमाञ्चित होकर अपनी दृष्टि को जिसकी पुतलियों अंगारों के कारण निश्चल हो गई है, तथा जो अन्दर अपाङ्ग बाजी है—धारण करती

दुर्ग, सोर-सी, चिपित-सी, शय हृदय होकर केवल भूमिगती बन गई हो । हे भाग्यदोहिनि, क्या कामदेव गुप्त रूप से तुम्हें परेशान कर रहा है, उज्जा क्यों करती हो, तुझे बलाभी तो सही ।

अथ जैसे धनिक के इस पद्य में—

दुर्ग दुर्गी या सखी गायक के पास जाकर नायिका की दशा का वर्णन करती दुर्ग कहती है—हे सुन्दर युवक, जब सखियों उस नायिका की कामपीडा के गुप्त कारण को जानने के लिए तुम्हारी बातचीत छेड़ती है, तो वह अपनी पीठ को गरोठ कर पीनसनों को ऊँचा करती दुर्ग, हाथों को फैलाकर रामेदती दुर्ग, अङ्गमङ्ग तथा रँगमरि से युक्त हो जाती है ।

अथ कुटुमितम्—

सानन्दान्तं कुटुमितं पुष्पैकेशाधरप्रद्रे ॥ ४० ॥

यथा—

‘नान्दीपदानि रतिनाटकविघ्नाना-

माङ्गलराणि परमाप्यथवा स्मरस्य ।

दृष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताप्रभाये

सीरुधाराशुष्कदितानि जयन्ति नार्या ॥’

रतिक्रीडा में नायक के द्वारा केश तथा अधर को महत्त्व करने पर द्रिष्ट से प्रसन्न होने पर भी जब नायिका बाह्य से क्रोध करे, तो वह कुटुमित भाव कहता है ।

प्रियतम के द्वारा अपर दशन करने पर दाय को पटकारती नायिका का सीलार से युक्त यह यज्ञ रोना विवधी है (सर्वोत्कृष्ट है), जो रतिक्रीडा के नाटकीय विजातों का नान्दीपद (महालाचरण) है, तथा कामदेव (सुर) के परम आवाह्य-आदेश-है ।

अथ विच्योक —

गर्धाभिमानादिप्रेऽपि विच्योकोऽनादरक्रिया ।

यथा समैव—

‘सव्याज तिलकालकान्निवरल्यल्लोलान्नुति सस्पुसन्

। पारवारसुदधय कुचसुगमोदधिनीलावलम् ।

यद्गुमाङ्गलरञ्जिताभितदशा सावक्षमालोकित

सद्गर्धावधधीरितोऽरिम न पुन कान्ते कुतार्थीकृत ॥’

जय नायिका गर्ध तथा अभिमन के कारण दृष्ट वस्तु के प्रति भी अनारदर दिखाती है, जो उसे विच्योक नामक भाव कहते हैं ।

जैसे धनिक के स्वरचित्र निम्न पद्य में नायिका की इस चेष्टा में —

हे प्रिये, तुम्हारे तिलकालकों का कण्ठ से स्पर्श करते द्रुप, तथा चञ्चल अङ्गुलियों से कुचसुगल पर लठे हुए नौके आङ्गल को बार-बार छूकर उठाते हुए, मेरी ओर तुमने जो देदी नौहो वाली दृष्टि से अवशा के साथ देखा; उस गर्व से तुमने मेरी अवहेलना ही की मुझे सफल न किया । (अथवा, तुमने उस गर्व से मेरी अवहेलना करना चाहा, लेकिन वास्तव में मेरी अवशा न दुर्ग, मरन् तुम्हारे निश्चोक भाव के कारण वर शोभा की देखकर मैं सफल हो गया ।)

अथ अस्त्रितम्—

सुकुमारङ्गधिग्यासो मरुणो ललित भवेत् ॥ ४१ ॥

यथा ममैव—

‘सभ्रूभ्रं करक्विलयावर्तनैरालपन्ती

सा परयन्ती ललितललित लोचनस्याघलेन ।

विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वरयातै-

निस्सङ्गीत प्रथमवयसा नर्तिता पद्मजाती’ ॥

शोमल तथा शिखर प्रकार से अङ्गों का विन्यास ललित नामक भाव कहलाता है ।

जैसे बहिन के ही निम्न पद्य में—

उस कमल-से नेत्रवाली नायिका को जैसे बिना सङ्गीत ही शौचन के प्रथमादिभाव ने नचा दिया है । दूसरा आचार्य तो किसी कलाभिनेत्री को सङ्गीत व ताल पर नाचता है, लेकिन यह नायिका शौचन के आविर्भाव होने पर इस तरहका आचरण कर रही है, जैसे बिना ताल के ही नाच रही हो । वह भौंहे टेढ़ी बरके, हाथ रुसी किसलयों की फैलाती हुई बात करती है, आँसों के अवाह से बड़ी मधुर-मधुर दङ्ग से देखती है, और पहले समय अपने चरणकमलों को बड़ी लीला (भाव) के साथ छटाती है । एक कुशल नर्तकी जैसे ताल व सङ्गीत के आधार पर अङ्ग, अवाह तथा अवाह का विद्येवादि करती है, जैसे ही यह भी कर रही है । उस पर भी बर्दाई यह कि यह नायिका बिना सङ्गीत व ताल के ही मृत्पकण का प्रदर्शन कर रही है ।

अथ विह्वलम्—

प्रातःकालं न यद्द्रव्याद्भीडया विह्वलं हि तत् ।

प्रातावसरस्यापि शक्यस्य लब्धया यदवचने तद्विह्वलम्, यथा—

‘पादाङ्गुष्ठेन भूमिं क्विलयद्यविना सापदेशं लिखन्ती

भ्रूयो भ्रूयः क्षिपन्ती मयि सितरावले लोचने लोभ्यतारे ।

वर्षं हीनघ्नमीपत्स्फुरदधरपुटं शक्यगर्भं दधाना

यन्मा नोवाय किञ्चित्स्पतमपि हृदये मानसं तदुनोति ।’

जहाँ नायिका समय आने पर भी तद्द्रव्यल वाक्य का प्रयोग छडा के कारण नहीं कर पाती, वहाँ विह्वल नामक भाव माना जाता है । जैसे,

शोचक के समान कानि बाके पैर के बँगूडे से पृथ्वी को किसी बराने से कुरेदती हुई और मैरी और बार-बार चञ्चल बनीनिका शकै लफेर व भूरे नेत्रों को फँकती हुई, उस नायिका ने, जिसका मुँह अपने भाप में किसी पचन को छिपाये था, जिसके ओठ कुछ-कुछ फट्टक रहे थे, तथा जो लब्धा से नम्र हो रहा था, मुँह से हृदय में दिव्य बात को भी न करा, यह शान देरे मानस को पीड़ित कर रही है ।

अथ नेत्रुः कर्पाण्डुरमहपानाह—

मन्त्रो र्ध्वं शोभयं चापि स्वया तस्यार्थचिन्तने ॥ ४२ ॥

तस्य नेत्रुर्ध्वचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वाऽऽत्मा शोभय वा महाय ।

वाक्य के मन्त्राती सहायकों का वर्णन किया जा चुका है । जब उसके दूसरों कायों के सहायकों का वर्णन करते हैं—

परि वाचक राजा होता है तो उसके अर्थादि-राजनीति आदि की चिन्ता करने में मन्त्री

या यह स्वयं सहायक होता है। कभी-कभी मन्त्री व नायक स्वयं दोनों ही राज राजनीति सम्बन्धिनी (तन्त्रावाप^१ आदि की) चिन्ता में व्यस्त रहते हैं।

उन विभागमाह—

मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः ।

उत्कृष्टगुणो ललितो नेता, मन्त्र्यायत्तसिद्धिः । शेषा धीरोदात्तादयः अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन योग्येन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति ।

उपर्युक्त धीरोदात्तादि नायकों में धीरललित के समस्त कार्यों की सिद्धि मन्त्री के ही आधीन होती है; अन्य नायकों की सिद्धि मन्त्री तथा स्वयं दोनों पर निर्भर रहती है।

(यहाँ यह स्पष्ट है कि धीरोदात्त के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं हो सकेगी।)

धर्मसहायास्तु—

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मो तपस्विब्रह्मवादिनः ॥ ४३ ॥

ब्रह्म = वेदस्तं बध्न्ति व्याचक्षते वा तच्छ्रील ब्रह्मवादिनः, आत्माह्वानिनो वा । शेषाः प्रतीताः ।

नायक के धर्मचरण में ऋत्विक् (यजमकरों); पुरोहित, तपस्वी तथा ब्रह्मज्ञानी महाराम सहायक बनते हैं।

बुद्धमनं दण्डः । तरसहायास्तु—

सुहृत्कुमारादविका दण्डे सामन्तसैनिकाः ।

स्पष्टम् ।

नायक के राजा होने पर उसकी दण्डविभाग में सहायता करने वाले मित्र (राजा), पुत्रराज, आहविक (घनविभाग के छोड़; अथवा अरण्यनिवासी) सामन्त तथा सैनिक होते हैं।

एक प्रकार नायक की रचना करने वाले कवि को तरसम्बन्ध में उन-उन सहायकों का नियोजन करना उचित है। जैसे कहा गया है—

एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योजयानि, यदाह—

श्रन्तःपुरे वर्षधराः किराता भूकयामनाः ॥ ४४ ॥

श्लेच्छाभीरशकाराथाः स्थस्वकार्योपयोगिनः ।

शकारो राक्षः श्यालो हीनजातिः ।

राजा के रनिवास में वर्षधर (नपुंसक व्यक्ति), किरात, गूँगे तथा चीने व्यक्ति, आदि का सविशेष किया जाना चाहिये। श्लेच्छ, आभीर, शकार (राजा का नीच जाति में उत्पन्न साज) ये सभी अपने-अपने कार्य में राजा के लिए उपयोगी हैं।

१. अपने रामू की चिन्ता 'तन्त्र' तथा पररामू की चिन्ता 'अवाप' कहलाती है। मिजारके माप का यह ५५—

तन्त्रावापविदा योगे मण्डलान्यपिठिता ।

सुनिग्रहा नरेन्द्रेण कथोन्ना इव शत्रवः ॥ (२. ८८)

२. जैसा कि राजावली के अन्तर्गत उदयन के अन्तःपुर का वर्णन है—

नदं वर्षधरेमृतुष्यगणामाबादपास्य प्रया—

मन्तः कश्चिकिञ्चुकस्य विशति प्राप्तादयं वामनः ।

पर्यन्ताश्रमिभिर्निरव सट्टर्ष नाम्नः किरातेः कुलः

कुम्भा नीकतयेव यान्तिश्चनके रामेक्षणा शक्तिनः ॥

विशेषान्तरमाह—

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ॥ ४५ ॥

तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां श्रोत्रमादिता ।

एव प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधममानेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसंज्ञोपचयारचयेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ? ।

इन नायकों के भेद को पुन बताने कहते हैं—ये सभी नायकादि ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम के भेद से तीन तरह के होते हैं। इनमें उपर्युक्त गुणों के तारतम्य के आधार पर ही इनकी यह उत्तमता, मध्यमता या अधमता निर्धारित की जाती है।

इस प्रकार नायक, नायिका, दूत, दूती, मन्त्री पुरोहित आदि सारे ही नाटकीय पात्र उत्तम, मध्यम व अधम रूप से तीन प्रकार के माने जाते हैं। यह उत्तमत्वादि कोटिनिर्धारण गुणों की संख्या की कमी वा अधिकता के कारण न होकर गुणों की विशेषता के तारतम्य के आधार पर स्थित है।

एव नाट्ये विधातव्यो नायकःसर्परिच्छद् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार नायक को इसके परिच्छद् (साथियों—नायिकामन्त्रिदूतादि) के साथ नाटक में संबन्धित करना चाहिए।

उक्तो नायकः तद्व्यापारस्त्वच्यते—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा, तत्र कैशिकी ।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥ ४७ ॥

प्रवृत्तिरूपो नैतद्व्यापारस्वभावो वृत्तिः, सा च कैशिकी-सात्वती आरभटी-भारतीभेदा-श्चतुर्विधा, तासां गीतनृत्यविलासकानोपभोगाद्यपलक्ष्यमाणो मृदुः शृङ्गारी कामफल-वच्छिन्नो व्यापारः कैशिकी । सा तु—

इस प्रकार नायक का वर्णन करने पर नायक के व्यापार तथा तत्सम्बन्धिनी वृत्ति का उल्लेख करना जरूरी है, अतः उते ही बताते हैं।

नायक के व्यापार की चार तरह की वृत्तियाँ पाई जाती हैं—(कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती)। इनमें से कैशिकी वृत्ति गीत, नृत्य, विलास भादि शृङ्गारमयी चेष्टाओं के कारण कोमल होती है।

वृत्ति वा तारतम्य नायक का वह व्यापार या स्वभाव है, जो नायक को कितनी विशेष और प्रवृत्त करता है। वे प्रवृत्तियाँ चार हैं—कैशिकी, सात्वती, आरभटी तथा भारती। इनमें से गीत, नृत्य, विलास, कामक्रीडा आदि से युक्त कोमल तथा शृङ्गारी व्यापार, जिसका कल काम (सुखार्थ) है कैशिकी वृत्ति कहलाता है।

नर्मतस्त्रिफलतत्स्फोटतद्रर्मश्चतुरङ्गिका ।

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परापर्ययते ।

इस कैशिकी वृत्ति के चार अङ्ग माने जाते हैंः—नर्म, नर्मस्फोट, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ ।

कारिका के 'तत्' शब्द से सभी जगह नर्म का अवयव अभीहित है।

तत्र—

चेदभ्यधीहितं नर्मं प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥ ४८ ॥

हास्येनैष सप्रज्ञारभयेन विहितं त्रिधा ।

आत्मोपज्ञेपसम्भोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥ ४९ ॥

शुद्धमङ्गं भय द्वेषा चैधा चाख्येपचेष्टितैः ।

सर्वं सहास्यमित्येध नर्माष्टादशधोदितम् ॥ ५० ॥

अप्राम्य इष्टनानावर्जनरूप परिहातो नर्म, तच्च शुद्धहास्येन सप्रज्ञारहास्येन सभगहास्येन च रचितं त्रिविधम्, शृङ्गारत्वदपि स्वापुराणीवेदा-सम्भोगेच्छाप्रकाशन-कारपरप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव, भयनर्मापि शुद्धरसान्तरापगवाद्द्विविधम्, एव पञ्चविधस्य प्रत्येक चाख्येपचेष्टाम्तिष्ठरेणाष्टादशविधत्वम् ।

त्रिधा नायिका (वा, नायिका पञ्च मं प्रिय) के चित्त को प्रसन्न करने वाला विहासपूर्ण व्यापार 'नर्म' कहलाता है । यह तीन प्रकार का होता है—हास्य से युक्त नर्म, शृङ्गार से युक्त नर्म, तथा भय से युक्त नर्म । इनमें प्रथम भेद हास्य से युक्त होता है; दूसरा शृङ्गारी नर्म तीन प्रकार का होता है, १ आत्मोपज्ञेय-परक, जहाँ नायक या नायिका स्वयं के प्रेम को प्रकट करते हैं; २ सम्भोगपरक, जहाँ सम्भोग की इच्छा प्रकट करी जाय; तथा ३ मानपरक, जहाँ प्रिय के अनिष्ट करने पर नायिका मान करती है । भययुक्त नर्म दो तरह का होता है—शुद्ध तथा अङ्ग । ये छः प्रकार के नर्म याक, वेप तथा चेष्टा के त्रिविध प्रकाशन के अनुसार १८ प्रकार के हो जाते हैं । इन सभी नर्म प्रकारों में हास्य का समावेश हो रहता ही है ।

नर्म वत हँसी बचक (परिहास) की कहते हैं ना प्रियजन की प्रसन्न करने वाला सम्भवापूर्ण (जगाम्य) व्यवहार है । इसका प्रमुख तत्व हास्य है, जत यह हास्य कभी तो केवल रूप में, केवल शृङ्गार से युक्त होकर तथा कभी भय से युक्त होकर पाया जाता है । इस तरह नर्म के तीन प्रकार होते हैं—१ शुद्ध हास्य, २ शृङ्गारी हास्य, ३ भययुक्त हास्य । दूसरे नर्म का शृङ्गारी हास्य—१ स्वापुराणीवेदन, २ सम्भोगेच्छाप्रकाशन, तथा ३ मान वद प्रकार तीन तरह का होता है । भय वाला हास्य भी २ शुद्ध तथा २ रसांतरांग (किसी दूसरे रस वा अङ्गभूत होकर) इस तरह दो तरह का होता है । इस तरह शुद्ध हास्य (१) शृङ्गारी हास्य के तीन भेद (२) व भययुक्त हास्य के दो भेद (२) कुल ६ भेद नर्म के होते पाते हैं । नर्म का प्रकटन करने के लिये चणो, केपूला, म्हा चेष्टा ये तीन तरह के हैं—इस तरह इनके आकार वर नर्म के भेद ३ × ६ = १८ ही जाते हैं ।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा—

'पत्यु शिरश्चक्रकलामनेन स्पृष्टेति सहस्रा परिहासपूर्वम् ।

सा रश्मिस्ता चरणौ, कृत्वासीर्माक्षिणेन तां निर्वचन जगाम ॥'

वेपनर्म नागानन्दे विद्वत्पत्नीवरकव्यतिकरे । विन्यानर्म यथा मालविकाग्निमित्र जस्वगीतयमानस्य विद्वत्कस्तोपरि निपुणिका सर्वत्रभस्वरणं दण्डकाष्ठं पातयति । एव पद्ममाद्येष्वपि चाख्येपचेष्टापरत्वमुदाहार्यम् ।

१. इन गमनेदो में से वचोहास्य रूप नर्म का उदाहरण (कुमारसम्भन के सप्तम सर्ग से) यों दिया जा सकता है ।

चरणों में अलक लगा देने पर जब सखी ने पार्यती से परिहास के साथ यह आशीर्ष

दी कि 'हस पैर से बति के सिर की चन्द्रकला का स्पष्ट करो' तो पार्वती ने कुछ न करते हुए उसे फूल माला से पीट दिया।

वैषणर्म जैसे नागानन्द नाटक में विदूषक तथा शेखरक के सम्बन्ध में। चैटानर्म (त्रियानर्म) जैसे मालविकाग्निमित्र में भीपते हुए विदूषक के ऊपर दण्डकाष्ठ डाल कर निपुणिना सर्प का अम उतपन्न कर देनी है। इनी तरह दूसरे भेदों में भी वाक्, वेष तथा वेदा के उदाहरण दिये जाने चाहिए। (यहाँ मोटे तौर पर छ' ही प्रकार के नर्म के उदाहरण दिये जाते हैं।)

शुभ्रारवदाभोपक्षेपनर्म यथा—

'मध्याह्न गमय स्वज श्रमजठ स्थित्वा पय पीयतां

मा श्लथेति विमुच पान्य विपश शीत प्रपामण्डप' ।

तामेव स्मर घस्मस्मरशरशरतां निजप्रेयसीं

त्वचित्त तु न रञ्जयन्ति पथिक प्राय प्रपापालिका' ॥'

१. आत्मोपक्षेप रूप शुभ्रारी नर्म का उदाहरण—

कोई प्रपापालिका किसी पथिक के प्रति अपना अनुराग निवेदन करती हुई कहती है—
हे राद्गीर, जरा ठररो, धुपहरी काट लो, पसीना तुम्ह लो, और ठरर कर पानी पी लो यह प्यार करने है, यह समझ कर खोब न जाओ। हे पथिक, यहाँ तो बड़ा ठण्डा प्रपामण्डप विद्यमान है। (भरे तुम तो ठहरते ही नहीं) अच्छा, कामदेव के तीक्ष्ण घातक बाणों से बरी अपनी लसी प्रेयसी ही को याद करो। ठीक है, तुम्हारे चित्त को प्रपापालिकाएँ प्रायः प्रसन्न नहीं कर पाती हैं।

सम्भोगनर्म यथा—

'सालोए किञ्च सुरे वरिणी धरसामिश्रस्त चेतूण ।

शेच्छन्तस्म वि पाए पुञ्चद् हसन्ती हसन्तस्त ॥'

('सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा ।

अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसत' ॥')

३. सम्भोगनर्म का उदाहरण—

धर्म के इच्छितोचर रहते हुए भी (दिन में ही) गृहिणी हँसते हुए गृहस्वामी के पैरों को पकड़ कर, उसके हँसना न करते हुए भी हँसती हुई खिल रही है।

माननर्म यथा—

'तद्वितथमवादीर्यन्मम स्व प्रियेति

प्रियजनपरिभुक्त बहुकूल ध्यान' ।

मदधिवसतिमागा कामिनां मण्डनधी-

र्मजति हि सफलत्वं धल्लमालोकनेन ॥'

४. माननर्म का उदाहरण (माय के पञ्चान्ध सर्ग में) जैसे—

अपराधी नायक से नायिका श्यम्य में कह रही है। तुम जो बड़ा करते थे कि मैं तुम्हारी प्यारी हूँ, वह बिलकुल सच है। क्योंकि तुम अपनी प्यारी के द्वारा पहने दुकूल भी पहन कर यहाँ मेरे घर पर आये हो। ठीक है, कामी स्वच्छिनों की बेशर्भा का शत्रुार बल्लभाओं (प्रियानों) के देखने से सफल हो पाया है। यदि मैं तुम्हारी प्यारी न होती, तो तुम यह शत्रुार बल्लभे मोड़े ही आते।

(नायक भूल से दूसरी नायिका के दुःख को पढ़न कर प्रातः काल ज्येष्ठा के पास कोठा दे । यह बड़े मोठे तथा व्यंग्य भरे बहू से मानपूर्वक परिहास कर रही है ।)

मयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनासरे—‘सुसहता—जाणितौ मए एवौ सव्यो सुत्तन्तो रागं चित्तफलपण हा देवीए गियेदइंस्सम्’ (‘तातो मयैय सर्वो-वृत्तान्तः सह चित्तफलपणेन तदेवैव निवेदयिष्यामि ।’) इत्यादि ।

५. मयनर्म, जैसे रत्नावली नाटिका में चित्रदर्शन के अवसर पर सुसहता की यह उक्ति—
‘जच्छा ! मैंने यह सारी बात जान ली है । मैं इस बात की इस चित्रफलक के साथ देवी वासवदत्ता को निवेदित करूँगी ।’

शृङ्गारार्हं मयनर्म यथा मयैय—

‘अभिष्यक्तार्थकः सकलविफलोपायविभव-

धिरं ध्यात्वा सदाः कृतकृतफलांरम्भनिपुणम् ।

इतः पृष्टे पृष्टे किमिदमिति सन्नास्य सदसा

कृतालेपं भूतः स्मितमधुरमालिङ्गिति यधुम्’

६. मयनर्म का दूसरा गेद यह है, जहाँ भय किसी रस का अह नन आया । यहाँ शृङ्गार के अङ्गभूत मयनर्म का उपाहरण धनिक ने स्वरचित पद्य के रूप में दिया है—

नायक का अपराध प्रकट हो गया है, इसलिये नायिका बड़ा मान किये हैं । नायक कर्ष प्रकार से उसे मनाने के उपाय करता है, लेकिन वह असफल ही होता है । इसके बाद वह उसे प्रसन्न करने का कोई तरीका सोचने के लिए बड़ी देर तक सोचविचार करता है, फिर मुक्ति सोच लेने पर एकदम दूठे घर का बड़ी निपुणता से बहाना करके यह ‘यह पीछे गया है, यह हपर पीछे गया है’ इस तरह नायिका को एकदम उरा देता है । इससे घर घर नायिका उसकी ओर झुकती है, यह सुकराहट व मधुरता के साथ आरंभ कर, नायिका का आलिंगन करछेता है ।

अथ नर्मस्किञ्च—

नर्मस्किञ्चः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे ।

यथा मालविकाग्निमित्रे सञ्चेते नायकमभिषेत्तायां नायिकायां नायकः—

‘विद्यज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रथिते प्रणयोनमुखे ।

परिग्रहात् गते सहकारतां त्वमतिमुक्तताचरितं मयि ।’

नर्मस्किञ्च उसे कहते हैं, जहाँ नायक व नायिका को प्रथम समापन के समय पहले से सुख होता है, किन्तु बाद में भय होता है कि कहीं कोई (विपदादि व देव्यादि) उनके भेद को न पा ले ।

जैसे मालविकाग्निमित्र नाटक में सुद्धेनस्थल पर नायक के प्रति अभिसरणाभिषेक द्वारा मालविका से अभिषिप्त कहता है—

‘हे सुन्दरि मालविके, नवसङ्गमसन्निव मय की सोइ दी । बड़ी देर से मैं तुम्हारे प्रेम के प्रति उन्मुरा हूँ । इसलिये सहकार (भाव) नगे हुए मेरे लिए तुम अतिमुक्त लता के सहस्य स्ववहार का आचरण करो । जैसे अतिमुक्त लता आमृतुष का आलिंगन करती है, जैसे ही तुम भी मेरा आलिंगन करो ।’

मालविका—महा देवीए मयेण अराणो वि पिभं कर्त्तं प पाठेमि (‘अतः देव्या मयेनहमनोऽपि प्रियं कर्त्तुं न पाठयामि ।’) इत्यादि ।

— मातृविका—स्वामिन्, महारानी (देवी) के दर से मैं अपने क्रिय भी प्रिय वा नहीं कर पाती हूँ ?

अथ नर्मस्तोत्र—

नर्मस्तोत्रस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लघुः ॥ ५१ ॥

यथा मालतीमाधवे—'मकरन्द'— ।

गमनमलस शून्या दृष्टि शरीरमसौष्ठव

श्रुतितमधिक किं न्वेतस्मारिकमन्यदितोऽपवा ।

भ्रमति भुवने कन्दर्वाणां विचारि च यौवनं ।

ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥'

इत्यत्र गमनादिनिर्भावलेसौमाधवस्य मातृव्यामनुराग स्तोत्र प्रकारमपे ।

नर्मस्तोत्र यह है, जहाँ सात्त्विकादि भावों के लेशमात्र से किञ्चित् मात्र रस की सूचना कर दी जाय ।

जैसे मालतीमाधव में मकरन्द निम्न पत्र के द्वारा माधव के अलस गमनवादि सात्त्विक-भावलेख का वर्णन कर उसके मालतीविषयक अनुराग को सूचित करता है—

इसकी बात अलसाई है, दृष्टि धनी-सी है, शरीर में सुदरता व स्वस्थता नहीं दिखाई पड़ती, सौंदर्य बड़े जोती से चकनी है । इन सब बातों को देखते हुए ऐसा अनुमान होजा है कि क्या यह (कामपीका) कारण ही सकता है, इसके अतिरिक्त और कारण ही ही क्या सकता है ? तारे संसार में कामदेव की भाषा प्रसारित है, फिर यौवनावस्था बड़ी विकासशील होती है । नाना प्रकार के रमणीय व मधुर श्रेयारी भाव युवकों के धैर्य को समाप्त कर ही देते हैं ।

अथ नर्मगर्ग—

सुसनेत्प्रतीचारी नर्मगर्गार्थहेतवे ।

ध्रुवैः सहास्पनिर्हास्यैरभिरैषाऽत्र कैशिकी ॥ ५२ ॥

यथाऽमरुशतके—

'दृष्ट्वैकरसनसस्थिते शिबतमे पश्चाद्गुपेत्यादरा—

देवस्या नयने निनीत्य विहितकौडानुबन्धच्छूल' ।

संप्रदक्षितकन्धरा सुपुलक प्रेमोल्लसन्मानसा—

मन्तर्दासलसत्कपोलकलत्रं धूर्सोऽपरां सुन्दति ॥'

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्गाह्व पस्तराजवैद्यमुसुप्रतास्थाने साक्षात्सुतराजप्रवेश । जहाँ किसी प्रयोजन के लिये नायक क्षिप कर प्रवेश करे, उसे नर्मगर्ग कहते हैं, कैशिकी के ये अङ्ग सहास्य तथा निर्हास्य (हास्यरहित) दोनों वहन के हो सकते हैं ।

जैसे अमरकशतक के इस पद्य में—

नायक ने देखा कि कलकौ जेठा तथा कौनसा दोनों नायिकाएँ एक ही आसन पर बैठी है । इसलिये वह कारर के साथ (वा ऊँच मर्य से) धीरे धीरे पीछे से बहाँ पहुँचता है । वहाँ जाकर वह झीका करने के ढोंग से प्रवेश नायिका के नेत्रों की दोनों धारों से बन्द कर लेता है । उसके बाद वह धूर्त नायक अपनी गर्दन को जग डेरी करके, रोमाञ्चिन होकर, सब बनिहाँ नायिका को धूप लेता है, जिसका नैन प्रेम के कारण उलसित हो रहा है, तथा जिसके कपोलकलक आन्तरिक हँसी के कारण अशोचिन हो रहे हैं ।

अथवा जीवे प्रियदर्शिया (इर्षकृत) नाटिका के भर्माङ्क में वत्सराज के रूप में सुसङ्गता के प्रवेश होने की स्थान पर वत्सराज स्वयं ही रङ्गमङ्गल पर आ जाता है ।

अथ सात्त्वती—

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।

संज्ञापोत्थापकाद्यस्यां साहात्यः परिवर्तकः ॥ ५३ ॥

शोकहीन सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापार सात्त्वती, तदप्रानि च संज्ञापोत्थापकसाहात्यपरिवर्तकान्गमि ।

सात्त्वती वृत्ति यह है, जहाँ-नायक का व्यापार शोकहीन होता है, तथा उसमें सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया, कोमलता, हर्ष आदि भावों की स्थिति होती है । इस सात्त्वती वृत्ति के संज्ञाप, उत्थापक, साहात्य तथा परिवर्तक ये चार अङ्ग होते हैं ।

तत्र—

संज्ञापको गम्भीरोक्तिर्नाभाधरस्ता मिथाः ।

यथा वीरचरिते—‘राम—अथ स य किल उपरिवारवार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नौकमोहितेन परिवस्तरसहजान्तेवाग्निनेत्रुभ्यं भ्रष्टादीकृत परशु ! परशुराम—राम राम दारारथे ! स एवायमाचार्यापादाना प्रिय परशु ।

राजप्रयोगशुक्लीकलहे यथानां

सैन्यैर्ज्ञो विजित एव मया कुमारः ।

एतावतापि परिरम्भ कृतप्रसाद’

प्रसादमुं प्रियशुणो भगवान्शुक्रमै ॥’

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगम्भीरवचसा संज्ञाप इति ।

संज्ञाप (संज्ञापक) सात्त्वती वृत्ति का वह अङ्ग है, जहाँ पात्रों में परस्पर भावाभाव्य औरसयुक्त गम्भीर उक्ति पाई जाती है ।—

जैसे महावीरचरित में राम व परशुराम की परस्पर गम्भीरोक्ति में संज्ञापक पाया जाता है—

राम—समैव स्वागिकार्तिकेय के विजय से प्रभावित भगवान् शङ्कर ने सेकड़ों क्यों तक शिष्य बने आपको जो परशु प्रसाद रूप (पुरस्कार रूप) में दिया है, यह वही परशु है ।

परशुराम—राम, राम, यह वही पूज्य शुक्ल का प्रिय परशु है—

राम प्रयोग की कीटा वा युद्ध करते समय मैंने देवगणों की सेना से युक्त कुमार कार्तिकेय को जोत लिया था । इस विजय से ही प्रसन्न होकर मेरा आरिह्वन कर गुणों से भरा हुआ होने वाले मेरे शर भगवान् शङ्कर ने यह परशु मुझे दिया है ।

अथोत्थापक—

उत्थापकस्तु यद्वादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ॥ ५४ ॥

यथा वीरचरिते—

‘श्रामन्दास च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि तु खाय वा

वैतृण्यं तु कुतोऽय सम्प्रति मम त्वदर्शने सङ्गुप ।

स्वस्ताश्रयशुक्लस्य नास्मि प्रिय’ किं वा यदुभ्याहते-

रस्मिन्विश्रुतमामदन्तुविजये, पादौ धनुर्जन्मूताम् ॥’

जहाँ एक पात्र दूसरे पात्र को युद्ध के लिए उत्तेजित (उत्थापित) करे, वहाँ उत्थापक नामक सारिवकी-अङ्ग होता है।

वही महावीरचरित में परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं —

‘तुम मुझे आनन्द के लिए दिखाई दिये हो, वा विरमय के लिए, वा दुःख के लिए— मैं नहीं कह सकता हूँ। आज तुम्हें देख कर मेरी आँखें लज कैसे हो सकती हैं। तुम्हारी सहति (समागम) के युद्ध का तो मैं विषय नहीं हूँ। अधिक क्या कहूँ। जगदग्नि के पुत्र परशुराम के विजय से प्रसिद्ध हम् (तुम्हारे) दाम में यह धनुष कुम्भित हो।’

अथ साहाय्य—

मन्त्रार्थद्वैषशक्त्यादेः साहाय्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वयुद्धया भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम् । दैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणादिभीषणस्य भेद इत्यादि ।

सद्यु (प्रतिनायक) के सङ्घ का जहाँ मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि के द्वारा भेदन किया जाय, वहाँ साहाय्य नामक सारिवकी-अङ्ग होता है।

(यहाँ नायक या नायक के साथी किन्हीं शक्तियों से प्रतिनायक के साथियों को पोक कर उसकी शक्ति कम कर देते हैं।)

जहाँ मन्त्रणा या बुद्धिबल के आधार पर भेदन हो वह भेदन मन्त्रशक्ति के द्वारा होता है। जैसे मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य अपनी बुद्धि से राक्षस के सहायकों को फोड़ लेता है। अर्थशक्ति के आधार पर अर्थादि (द्रव्यादि) के आधार पर भेदन किया जाता है। जैसे उही नाटक में पर्वतक के आभूषण के राक्षस के शार्थों पहुँचने से मलयकेतु के साथ उसका भेदन हो जाता है। दैवशक्ति, जैसे रामायण में रामचन्द्र की अलौकिक शक्ति (अथवा दैवशक्ति) के कारण ही विभीषण का रावण से भेद हो जाता है।

अथ परिवर्तक—

भारम्भोत्थानकार्यान्यकरणपरिवर्तकः ॥ ५५ ॥

प्रस्तुतस्वोद्योगकार्यस्य परिस्थानेन कार्यान्तरकरण परिवर्तकः । यथा वीरचरिते—

हिरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकमिति

यशो विशाखनिशिखमणलाञ्छन मे ।

रोमाधकवृकितमद्भुतवीरलाभाद्

यत्सत्यमथ परिच्छुमिवेच्छति स्वाम् ॥

जहाँ किसी एक कार्य का आरम्भ किया गया है, किन्तु उस कार्य को छोड़ कर जहाँ दूसरे ही कार्य को किया जाय, वहाँ परिवर्तक नामक अङ्ग होता है।

जैसे महावीरचरित में राम की वीरता से चकित होकर परशुराम उनसे युद्ध न कर सके अतः किन्नर बनना चाहते हैं, वह परिवर्तक ही है —

परशुराम — यह बात रिलजुल सब है, कि गणेशजी के दान रूपी मुमलों के द्वारा विद्विन, तथा कान्तिकेय के अनेकों शार्थों के पारों से युद्ध मेरा बधुम्बल, तुम जैसे अद्भुत वीर के मिलने से रोमाञ्चित होकर तुम्हें अ किन्नर बनना चाहता है ।

राम—भगवन् । परिम्मणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् । इत्यादि ।

राम—‘भगवन्, यह परिमण ही प्रस्तुत विषय से विपरीत है ।’

सात्वतीमुपसंहारभारभटीलक्षणमाह—

परिभ्रष्टैश्चतुर्घेयं सात्त्वाधारभटी पुनः ॥ १७ ॥
 मायेन्द्रजालसग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ ५६ ॥
 संक्षिप्तिका स्यात्संकेटो घस्तूथानावपातने ।

माया = मन्त्रबलेनाविद्यमानस्तुप्रकाशनम्, तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।

अथ सात्वती का उपसंहार करते हुए, भारभटी वृत्ति का लक्षण बताते हैं। इस तरह सात्वती के चार भङ्ग हैं। आरभटी वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाएँ पाई जाती हैं। इसके, संक्षिप्तिका, सम्केट, घस्तूथापन तथा अवपातन ये चार भङ्ग होते हैं।

माया वह है, जहाँ अकारक वस्तु को मन्त्रबल से प्रकाशित किया जाय, यही कार्य जब तन्त्र बल से किया जाय भी वह इन्द्रजाल कहलाता है।

तत्र—

संक्षिप्तघस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥ ५७ ॥
 पूर्वनिवृत्तिवृत्त्याऽन्ये नैग्रन्तरपरिग्रहः ।

सुदंशरालचर्मादिद्रव्ययोगेन घस्तूथापन प्रक्षिप्ति सयोद्यनचरिते क्लिञ्जहस्ति-
 योग । पूर्वनायकावस्थानिद्रुत्थावस्थान्तरपरिग्रहमन्ये संक्षिप्तिका मन्यन्ते । यथा वालिनि-
 द्रुत्या सुभीव, यथा च परशुरामस्यौदत्तनिद्रुत्या शान्तस्वापादनम् 'पुण्या' प्राज्ञान-
 जाति — इत्यादिना ।

संक्षिप्तिका में नाटककार शिष्टर का प्रयोग कर संक्षिप्त वस्तु की रचना करता है। कुछ लोगों के मत से संक्षिप्तिका यही होती है, जहाँ पहला नायक निवृत्त हो जाय तथा दूसरा नायक आवे, या फिर नायक की एक अवस्था छोड़ कर दूसरी अवस्था का ग्रहण किया जाय।

निद्रु, नींद, परोचमके आदि से किसी स्कान आदि वस्तु का निर्माण संक्षिप्त या संक्षिप्ति कहलाता है, जैसे उदयनचरित में क्लिञ्जहस्ति का प्रयोग। कुछ लोग नायक की पृथी अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था का ग्रहण करना संक्षिप्तिका मानते हैं। जैसे वालि की निवृत्ति पर सुभीव नायक के रूप में गृहीत होता है और जैसे परशुराम को उदत्तता की निवृत्ति पर 'प्राज्ञान जाति पवित्र है' इस तरह शान्तत्व का ग्रहण किया जाता है।

अथ संकेट—

संकेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरन्धयोर्ग्रयो ॥ ५८ ॥

यथा माधवाऽधोरधयोर्मात्मीमाधये । इन्द्रजिह्वरुधमयोध रामायणप्रतिवद्वस्तुषु ।
 जहाँ दो क्रुद्ध पाशों का परस्पर समाघात—एक दूसरा का अधिषेप, पाया जाता है,
 वह सम्केट कहलाता है।

श्री गालीमाधव में माधव तथा अधीरपण वा एक दूसरे के प्रति क्रुद्ध होकर अधिषेप करना, और श्री रामायण के आधार पर इन्द्र की कथावस्तुओं में देवदार व लक्ष्मण वा परस्पर अभिषेप सम्केट के अन्तर्गत आता है।

अथ वस्तुस्थापनम्—

मायाद्युत्थापित वस्तु वस्तुस्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे—

‘जीयन्ते जमिनोऽपि सान्द्रतिमिरमातैर्वियम्पामिभि

भास्वन्तः सश्लग रवेरपि ह्य वस्मादवस्मादमी ।

एताद्योप्रकव पर प्रधधिरैराभ्यायमानोदरा

मुखस्थाननकन्दरानलमितस्तीव्राऽऽरवा फेरवा ॥’

इत्यादि ।

मन्त्रबल के द्वारा माया से किसी वस्तु की उस्थापना करना वस्तुस्थापन कहलाता है। जैसे उदात्तराघव के इस वचन में—

यह क्या बात है कि सारे संसार के अन्धकार को धोतने वाली प्रकाशमान सूर्य की, किरणों भी आकाश में व्याप्त होते हुए सपन भ्रमकार समूह से एकत्र म जीत ली गई है, और कब-यों के ऊँचों खिड़ों से निकले खून के पीने से पेट को खूब भरे हुए, जोर से पिछाती हुई वे तियातरनिर्वा एपर अपने मुखचित्र की भाग को छोड़ रही हैं।

अथाऽवपात—

अवपातस्तु निष्कामप्रवेशत्रास्तविद्रघैः ॥ ५६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘कण्ठे कृत्वाऽवरोप कनकमयमथ शृङ्खलादाम कर्पूर

मात्वा द्वाराणि हेलावलचरणवलत्किङ्किणीचक्रवाल’ ।

दत्तातङ्को गनानामतुर्यतघरणि रम्भ्रमादश्वना

प्रम्रष्टोऽय स्रवज्ञ प्रविशति वृपतेर्मन्दिर म-दुरात ॥

नष्ट वर्षवैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा प्रया-

मन्त कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति प्रासादय धामन’ ।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृश नात्र किरातै कृत

कुञ्जा नीचतयैव यान्ति शनकैराल्लेशणाशङ्कि ॥’

किसी भी पात्रादि के रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने से या रङ्गमञ्च से बहे जाने से दूसरे पात्रों में जो भय तथा भगदड़ मचती है वह अवपात कहलाता है ।

जैसे रत्नावली नाटिका में मन्दुरा (शुद्धसाल) से बन्दर के छूटने पर अन्त-पुर के लोगों की भगदड़ का निम्न वचन—

कण्ठ की छोने की मञ्जीर की तोड़ कर, कच्ची हुई जञ्जीर की घसीटवा हुआ अपने पैरों की किङ्किणी की लीला से फेंके हुए पैरों से बजाता हुआ यह बन्दर, वाशिशाला से छूट कर भाग कर कई दारों की पार करता हुआ महाराज के महल की भीर घुस रहा है ! इसे देखकर हाथी आतङ्कित हो गये हैं और भय से बबहाये हुए घोड़ों के सरस (अश्वराल) इसके मार्ग का पीछा कर रहे हैं ।

बन्दर की छूटा देख कर बाँबर (हिंजड़े) लज्जा को छोड़ कर भाग खड़े हुए हैं—उनका लज्जा त्याग कर भग जाना ठीक है क्योंकि उनकी गिटनी मनुष्यों (जो या पुरुष) में नहीं होती । यह मौना बर कर कञ्चुकी के बने जामे (कञ्चुक) में छिप रहा है । एपर-ऊपर कीनी

में आकर छिपे भिरातों ने अपने नाम के अनुकूल कार्य (फिर अतृप्ति, जो बीनों में घूमते हैं) किया है । कुछड़े अपने आपके देखे जाने के डर से नीचे होकर धीरे-धीरे चल रहे हैं ।

यथा च प्रियदर्शनाया (प्रियदर्शिकायाम्) प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्यवरकन्दे ।

और जैसे प्रियदर्शन पदशिका नाटिका के पहले अङ्क में विन्ध्यकेतु के आक्रमण के समय डरे का वर्णन ।

उपसंहरति—

पभिरङ्गैश्चतुर्घणम्, नार्थवृत्तिरतः परा ।

चतुर्थी भारतो सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥ ६० ॥

कैशिकी सात्त्वती चार्थवृत्तिमारभटीमिति ।

पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्गटाः प्रतिजानते ॥ ६१ ॥

सा तु लक्ष्ये कथिदपि न दृश्यते, न चोपपद्यते रसेषु, हास्यादीनां भारस्वात्मकत्वाद्, नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात् । तिस्र एवैता अर्थवृत्तयः । भारती तु शब्दवृत्तिरामु-
साहत्यातत्रैव वाच्या ।

इस प्रकार भारती वृत्ति में चार अङ्ग होते हैं । इन तीन वृत्तियों—कैशिकी, सात्त्वती तथा भारती, के अतिरिक्त और कोई भी अर्थवृत्ति नहीं होती । नाटक के सम्बन्ध में भारती नामक चौथी वृत्ति का भी उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है । उसका उल्लेख नाटक के लक्षण में किया जायगा । वैसे अर्थवृत्तियाँ तीन ही हैं—कैशिकी सात्त्वती, तथा भारती । उद्भट के मतानुषाधी नाट्यशास्त्री एक अलग से पाँचवीं वृत्ति मानते हैं, (यह हमें स्वीकृत नहीं) ।

भारतीवृत्ति का 'अर्थ रूप रस (लक्ष्य) में कहीं भी उल्लेख नहीं होकर, वह रसों में नहीं पाई जाती । हास्यादि भारतीयपरक होते हैं; तथा क्षीर भी काव्यार्थ नीरस नहीं होता । अतः सादे दो काव्यार्थों का समावेश रसपरक कैशिकवादि वृत्तिप्रथ में ही जाता है । भारती में मात्र उत्कृष्टमात्राभाषी होते हैं तथा बीबी आदि उसके नक्ष्यमाण अङ्ग होते हैं । वस्तुतः भारतीयवृत्ति नाटक के आनन्द का अङ्ग है, इसलिए वह लक्षण में पाये जाने के कारण उल्लेखित है । अतः उसका वर्णन मात्र रसपरक अर्थवृत्तियों में न कर नाटक लक्षण के अन्तर्गत पर करना योग्य है । अर्थवृत्तियाँ ती ये तीन ही मानी जा सकती हैं ।

वृत्तिनियममाह—

शृङ्गारे कैशिकी, घोरि सात्त्वत्यारभटी पुनः ।

रसे रीद्रे च घोरस्ते, वृत्तिः सर्जन भारती ॥ ६२ ॥

वृत्ति का सम्बन्ध मायक के व्यापार से है, अतः रसपरक होने के कारण उनका किस किस रस में प्रयोग होता है यह बताना उचित होगा ।

कैशिक का प्रयोग शृङ्गार में, सात्त्वती का घोर में, तथा भारती का रीद्रे एवं बीमल रस में किया जाता है । भारती वृत्ति का (उल्लेख होने के कारण) सभी रसों में प्रयोग होता है ।

[वहाँ शृङ्गार से हास्य; घोर से अद्भुत, रीद्रे से करुण, तथा बीमल से मयानक रस का उल्लेख करने में गलत किया जा सकता है, जो कनक शृङ्गारादि से अनिश्चय सम्भव है ।]

देशभेदभिन्नवेपादिस्तु नायकादिभ्यापारं प्रयतिरित्याह—

देशभाषाक्रियानिपलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।

लोकादेवायगम्येता यथीचिथं प्रयोजयेत् ॥ ६३ ॥

धृति के साथ ही साथ नाटकीय प्रवृत्ति का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। देश तथा काल के अनुसार नायक की भिन्न भिन्न भाषा, भिन्न भिन्न वेप, भिन्न भिन्न क्रिया प्रवृत्ति कहलाती हैं। इनका ज्ञान नाटककार (कवि) छोड़ से हो प्राप्त कर सकता है कि किस देश में कैसी भाषा, कैसा वेप व कैसी क्रिया-वेष्टा पाई जाती है। इसका ज्ञान प्राप्त कर कवि उनका तदनुरूप सन्निवेश अपने नाटक में करे।

तत्र पाठ्यं प्रति विरोधं—

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनन्वानां वृत्तात्मनाम् ।

लिङ्गिनीनां महादेश्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥ ६४ ॥

। ष्विदिति देवीप्रवृत्तीनां सम्बन्धः ।

अहाँ तक उनकी भाषाके नाटक में खोचने (पाठ्य) का मरन है, इस विषय में एक विरोधता यह है कि—नाटक में कुलीन कृतात्मा पुरुषों की भाषा संस्कृत ही होनी चाहिए। तपस्विनीयों, महारानी, मन्त्रिपुत्री तथा वेश्याओं के सम्बन्ध में कहीं कहीं संस्कृत पाठ्य का सन्निवेश किया जा सकता है।

— स्त्रीणां तु प्राकृत प्रायः शौरसेन्यधमेव च ।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम् = प्रकृति संस्कृतं तद्भव तत्समं देशीत्यनेकप्रकारम् । शौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।

स्त्रीपात्रों का पाठ्य प्रायः प्राकृत—शौरसेनी प्राकृत—होता है। और अधम जाति के अनुकूलिणपात्र भी प्राकृत ही बोलते हैं।

महान् धर्मो भ्युत्पत्ति यह है कि जो स्वभाव से जाया हो (प्रकृते रागत), अथवा (सकी दूसरी भ्युत्पत्ति 'प्रकृति अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न' (प्रकृति-संस्कृत तद्भव) है। ये प्राकृत धर्म तद्भव, तत्सम, देशी इस प्रकार अनेक प्रकार के होते हैं। शौरसेनी तथा मागधी अपने अपने देशकालानुसार नाटक में प्रयुक्त होती हैं।

पिशाचान्यन्तर्नान्वादी पैशाचं मागधं तथा ॥ ६५ ॥

यद्देश नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।

कार्यतश्चेत्तमोर्दानो कोयी भाषाव्यतिक्रमः ॥ ६६ ॥

स्पष्टार्थमेतद् ।

पिशाच तथा अत्यन्त अधम पात्रों (चाण्डालादि) की भाषा पैशाचो वा मागधी हो। जो नीचपात्र जिस देश का रहने वाला है, उसी देश की बोली के अनुसार उसकी पाठ्य भाषा नाटक में नियोजित की जाय। वैसे कभी उत्तम आदि पात्रों की भाषा में किसी कारण से व्यतिक्रम भी पाया जा सकता है कि उत्तम पात्र प्राकृत बोलें वा अधम पात्र संस्कृत बोलें, (पर यह सदा नहीं हो सकता।)।

१ 'शौरसेनी' 'शौरसेनी' इत्यपि पाठौ ।

धामन्त्राधामन्त्रपर्याचित्येनामन्त्रणमाह—

भगवन्तो चरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।

विप्रानात्यामजाध्वर्या नटीसूत्रभृता मिथः ॥ ६७ ॥

आर्याविति सम्यन्धः ।

अब हीन पात्र किस पात्र को किस तरह सम्बोधित करे इसे बताते हैं:—

उत्तम पात्रों के द्वारा विद्वान्, देवर्षि तथा तपस्वी पात्र 'भगवन्' इस तरह सम्बोधित किये जाने चाहिये । विप्र, भाम्नाय तथा गुरुजनों या बड़े भाई (भगवन्) को ये 'आर्य' इस तरह सम्बोधित करें । नटी व सूत्रधार आपस में एक दूसरे को 'आर्य' व 'आर्ये' इस तरह सम्बोधित करें ।

रथी सूतेन चायुष्मान्पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः ।

धत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः ॥ ६८ ॥

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्या, सोऽपि तैस्तातेति सुगृहीतनामा चेति ।

सारथी अपने रथी वीर को आयुष्मान् कहे, तथा पूज्य लोग शिष्य, पुत्र या छोटे भाई आदि को भी 'आयुष्मान्' ही कहें, अथवा 'पुत्र' या 'तात' कहें । शिष्य, पुत्र, छोटे भाई आदि पूज्यों को 'तात' या 'सुगृहीतनामा' आदि कह सकते हैं ।

मायोऽनुगेन सूत्री च मार्पेत्येतेन सोऽपि च ।

सूत्रधार पारिषाधिकेन भाव इति वक्तव्य । स च सूत्रिणा मार्प इति ।

पारिषाधिक सूत्रधार को 'भाष' कहे, तथा सूत्रधार पारिषाधिक को 'मार्प' (मारिप) के नाम से सम्बोधित करें ।

देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाध्वर्यैः ॥ ६९ ॥

धामन्त्रणोयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्वार्धमेः शिष्यः ।

विद्वद्देवादिक्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः ।

उत्तम नौकर राजा को 'देव' या 'स्वामी' कहें और अधम नृत्य उसे 'महा' (भर्ता) कहें । स्वयं, मध्यम या अधम पात्र क्रियों को ठीक वही तरह सम्बोधित करें, जैसे उनके पतिवों को ।

विद्वानों, देवराजों आदि वी क्रियों को देवरा आदि उनके पति के अनुरूप सम्बोधित करें । जैसे ऋषि पतिवों, उपरिहरिणों या देवियों को 'भगवति' करें, माण्डणियों या पूज्या क्रियों को 'भार्ये' वहे ।

तत्र क्रियं प्रति विशेष—

समा हस्तेति, मेध्या च हस्ते, येस्याऽनुका तथा ॥ ७० ॥

कुंठिन्यन्वेत्यनुगतैः पूज्या या जरता जनैः ।

चिरूपकेण भधती रामी चैर्ताति शक्यते ॥ ७१ ॥

पूज्या जरता जम्पेति । स्पष्टमन्यत् ।

१. 'कुंठिन्यनुगतैः पूज्या जम्पेतिरने' इति पाठान्तरम् ।

स्त्रियों के सम्बोधन में जो विशेषता पाई जाती है, उसका उल्लेख करते हैं —
 सन्निर्यो एक दुसरे को 'हृद्य' कहें। नौकरानी (प्रेम्णा) 'हृत्' फरे, घेरया को लडुका
 कहा जाय। कुट्टिनी को लोग 'अम्ब' कहें, तथा पूज्य वृद्धा स्त्री को भी 'अम्ब' ही कहें।
 विदूषक रानी व सेविका दोनों को 'भवती' शब्द से सम्बोधित करे।

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभाषा—

नरोपतो नेतृदशाधिभिधान् ।
 कौ धक्तुमीशो भरतो न यो धा ।
 यो धा न देव शशिखण्डमौलिः ॥ ७२ ॥

। दक्षत्र दक्षितमित्यर्थः । चेष्टा लोलाया, गुणा विनयाया, उदाहृतयः सस्कृत
 प्रकृताया उक्तयः, सत्त्व निर्विकारात्मक मनः, भावः सत्त्वस्य प्रथमो विचारस्तेन
 द्वावादयो गुणलक्षिताः ।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीय प्रकाश समाप्तः ॥

नाटक की विभिन्न दशाओं के अनुरूप चेष्टा, गुण, उदाहरण (उक्ति), सत्त्व तथा
 भावों का निशेष वर्णन कौन व्यक्ति कर सकता है, जो नाट्यचार्य महर्षि भरत या देव
 चन्द्रशेखर नहीं। अर्थात् इसका निशेष सर्वोक्त वर्णन करने में तो महर्षि भरत तथा
 देवाधिदेव महादेव ही समर्थ हैं। अतः मेरे जैसा अक्षरबुद्धि से केवल दिग्भ्रम वर्णन
 कर सकता है।

लीलादि चेष्टा, विनयादि गुण, सस्कृत प्राकृत भादि उक्ति, निर्विकारात्मक मन, तथा
 सत्त्व का प्रथम विचार भाव इन नाटक की विशेषताओं के उल्लेख के द्वारा कारिकाकार ने हाव
 भादि दूसरी विशेषताओं का सूचन किया है, जो उपलक्षण से हम प्रसङ्ग में गृहीत होंगे।
 (यहाँ धनञ्जय ने नाटक की इन विशेषताओं का संक्षिप्त (दिग्भ्रम) वर्णन ही किया है।

द्वितीय प्रकाश समाप्त

अथ तृतीयः प्रकाशः

पट्टवक्ष्यतया रसविचारान्तिरङ्गनेन वस्तुनेतुरसानां विभज्य नोटकादिपुपयोगः प्रतिपाद्यते—

प्रकृतित्वादधान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।

सम्पूर्णलक्षणात्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥ १ ॥

उद्दिष्टप्रमेयं हि नाटकमनुद्दिष्टप्रमाणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः शेषं प्रतीतम् ।

प्रथम प्रकाश में नाटकीय कथावस्तु का विवेचन किया । तदनन्तर द्वितीय प्रकाश में दूसरे नाटकीय तत्व 'नेता' (नायक) का तापरिमह वर्णन किया । अब नाटक का तीसरा अङ्ग प्रस्तुत होता है । किन्तु रस के विवेचन में रङ्गरूपकार धनञ्जय को बर्णन करते कहती है । अब विस्तारी विषय होने के कारण वस्तुका उल्लेखन कर वस्तु, नेता तथा रस के भेद के आधार पर नाटकादि रूपकों का वर्णन तथा उनमें इनके विभाग का उपयोग जिस प्रकार होता है, इसका प्रतिपादन किया गया है ।

(यहाँ 'अजीकदार-याग' से रस के विस्तारी विषय को छोड़ कर पहले संक्षिप्त व अन्य विषय का विवेचन आरम्भ किया गया है ।)

यहाँ सर्व प्रथम हम नाटक (रूपकभेद) का विवेचन कर रहे हैं । इसके तीन कारण हैं—पहले तो नाटक ही अन्य रूपकभेदों की प्रकृति अथवा मूल है, उसीमें वस्तु, नेता या रस के परिवर्तन करने से प्रकरणादि रूपकों की सृष्टि हो जाती है । दूसरे, नाटक में रस का परिपोक पूर्ण रूप से तथा अनेक रूप से पाया जाता है—उसमें शब्द या वीर कोई भी रस अङ्गी रस हो सकता है, तथा अन्य सभी रस अङ्ग रूप में सञ्चिष्ट किये जा सकते हैं । तीसरे, वस्तु व नेता के जो लक्षण हम कह चुके हैं, तथा रस के तिन लक्षणों का वर्णन हम आगे करने जा रहे हैं, वे सभी लक्षण नाटक में पाये जाते हैं ।

नाटक के लक्षण का उद्देश हो चुका है, उन्हीं मुक्त नाटक ही उन प्रकरणादि रूपकों का मूल कारण है, जिनका सभी वर्णन नहीं किया गया है । कारिका का शेष अङ्ग स्पष्ट ही है ।

सप्त—

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।

प्रथमय तद्दपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥ २ ॥

शुभं लब्धोऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यदाला तस्वप्रथमप्रयोगस्तुरवापनास्तौ पूर्वरङ्गता तं विनाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्देव वैणवस्थानकादिना प्रथिरयान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत् । स च काव्यार्थस्थापनात् सूत्रनास्थापकः ।

अब सूत्रधार पूर्वरङ्ग का विधान करने के बाद रङ्गमञ्च से खला जाता है, तो उसी की तरह (की वेताभूया वाला) दूसरा नट मञ्च पर प्रवेश कर काव्य की प्रस्थापना करे ।

पूर्वरङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'पूर्वं रञ्जतेऽस्मिन्'—जिसमें तात्पर्यही को पहले आनन्द मिले । इस प्रकार पूर्वरङ्ग का तात्पर्य नाट्यदाला से है । नाट्यदाला में नाटकादि रूपक के आरम्भ में ही औपचारिक क्रियाएँ (प्रयोग, स्तुत्यापनादि)—मङ्गलाचरण, देवतास्तवनादि—की जाती है, उन्हें पूर्वरङ्गता (पूर्वरङ्ग का काम) कहेंगे । इस मङ्गलाचरणों के कर लेने पर अब सूत्रधार खीट जाता है, तो उसी की तरह के वैष्णववेद्य में आकर धीरे दूसरा नट

नाटक्यादि कथावस्तु के काव्यार्थ की स्थापना या सूचना करता है। यह नट काव्यार्थ की स्थापना या सूचना करने के कारण स्थापक कहलाता है।

दिव्यमर्त्यं स तद्रूपो मिथमन्यतरस्तयो ।

सूचयेद्भक्तु धीजं धा मुखं पात्रमथापि धा ॥ ३ ॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मार्त्यरूपो भूत्वा मिथ च दिव्यम-
र्त्ययोरन्यतरौ भूत्वा सूचयेत्—वस्तु भोजं मुखं पात्रं धा ।

यह स्थापक कथावस्तु के अनुरूप ही येशभूषण बना कर प्रवेश करे। यदि वस्तु देवतासम्बन्धी (दिव्य) हो तो वह दिव्य रूप में मञ्च पर प्रवेश करे। यदि वह मानवसम्बन्धी (मर्त्य) हो तो वह नट मर्त्य रूप में आवे। कथावस्तु के मिथ (दिव्यादिव्य) होने पर (जैसे रामादि की कथा में) वह या तो दिव्य रूप में या मर्त्य रूप में आ सकता है। मञ्च पर आकर काव्यार्थ की स्थापना करते समय वह काव्य (रूपक) की कथावस्तु, उसकी धीज नामक व्यर्थप्रकृति, मुख (श्लेष के द्वारा) या प्रमुख पात्र की सूचना दे।

इस प्रकार का-वार्थ की स्थापना छन्द के भेद से ४ प्रकार की हो जाती है। इन्हीं पा-
प्रकारों को वृत्तिकार पत्रिक मित्र २ नाटकों के स्थापना प्रकारों को लेकर उदाहरत करते हैं।

वस्तु यथोदात्तरापवे—

‘दानो मूर्ध्नि निषाय कननमगन्त्याऽग्निवल्गा शुभे—

स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं नात्रा सदैवोत्थितम् ।

सौ सुपीवविभीषणावनुगती नीता परां सपद्

प्रोद्भूता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ता समस्ता दिव ॥’

(१) वस्तुसूचना, जैसे उदात्तरापव नाटक में निम्न पद्य के द्वारा नट नाटक की समस्त कथावस्तु का उचित संकेत देता है —

अपने पिता की वन जाने की आज्ञा को माला की तरह तिर पर धारण कर रामचन्द्र वन के लिए रवाना हो गये। रामचन्द्र की भक्ति के कारण भरत ने माला वैश्वेयी के साथ ही समस्त राज्य का परित्याग कर दिया। रामचन्द्र ने अपने अनुचर सुपीव तथा विभीषण को अनुपम सन्पत्ति से विभूषित कर दिया, तथा रावण आदि समस्त उल्कट शत्रुओं को नष्ट कर दिया।

धीजं यथा रत्नावस्थाम्—

‘द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

ध्यानीयं भ्रष्टिति षट्यति विधिरभिमतमभिसुखीभूतं ॥’

(२) धीजसूचना, जैसे रत्नावली नाटिका में स्थापक पाठकीय कथावस्तु के धीज की सूचना देता है —

अनुकूल होने पर देव अपने अभीष्ट अर्थ को किसी दूसरे द्वीप से, समुद्र के बीच से, या शिवाओं के भय से भी लाकर यशस्व विष्णु देता है।

(यहाँ देव की अनुकूलना के कारण समुद्र में खोई रत्नावली भी योगेश्वरायण को मिल

१ उदात्तरापव नटक अनुपलभ्य है। इसके रचयिता कवि माधुराज थे, इसका पता अनप्य चलता है।

जाती है, इस बीज की ओर सङ्केत किया गया है। इस प्रकार योगन्दरायण के असीष्ट रत्नावली अद्ययन-समागम रूप फल के बीज की रचना यहाँ दी गई है।)

मुखं यथा—

‘आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः

श्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।

उत्थाय गालामरं पनयलमुग्रं

रामो दशास्पमिष सन्मृतयन्धुजीवः ॥’

(३) मुखरचना—दशरूपक के रचयिता या कृतिकार ने यहाँ मुख शब्द की स्पष्ट नहीं किया है। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार मुख में श्लेष के द्वारा वस्तु की रचना दी जाती है (मुखं श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः)। यहाँ दिये गये, उदाहरण से भी विशयाष महापात्र का मत स्पष्ट होता है। मुखरचना में वस्तु का वर्णन श्लेष के द्वारा किया जाता है। यहाँ निम्न पद्य में स्थापक भारतीय कृति में शरत्काल का वर्णन कर रहा है। यह शरत्काल का वर्णन छिद्र शब्दों में हुआ है, जिससे साथ ही रामचन्द्र की तथा उनकी नाटकीय वस्तु की भी रचना होती है।

विशुद्ध तथा शुद्धर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसने बन्धुगीव (दुपहरिया) के फूलों को धारण कर लिया है (जिसमें दुपहरिया के फूल फूलते हैं), रापन अन्धकार वाले प्रचण्ड वर्षाकाल को छोड़ कर ठोक उसी तरह प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से शुद्ध (अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास उद्गम को स्पर्श कर दिया है), विशुद्ध तथा शुद्ध रामचन्द्र, बान्धवों के जीवों को केर से छोटते हुए; अल्पक अदान (धम) वाले, उग्र तथा सपन काले राक्षस रावण को मारकर प्राप्त हुए हैं।

पार्श्वं यथा शाकुन्तले—

‘तस्मिन् गीतरागेण हरिणा प्रसन्नं हृतः ।

एष राजेव दुष्यन्तः सारज्ञेयातिरंहता ॥’

(४) पार्श्वरचना—इसमें स्थापक किसी पार्श्व की (नेता या गन्ध कित्ती पार्श्व की) रचना देते हुए प्रथम अङ्क में उसके भावी प्रवेश का सङ्केत देता है। जैसे शाकुन्तल में, (नट यह रहा है।)

हे नटी, तेरे गीत को शुद्धर राज से मैं ठीक उसी तरह आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे इस तेज बेग वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त आकृष्ट किया गया है।

(शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में इस रचना के बाद रथ पर बैठे दौड़ते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मध्य पर प्रविष्ट होगा है। इस प्रकार स्थापक नट की यह स्थापना-पार्श्व-स्थापना (पार्श्वरचना) बहलायगी।)

रत्नं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।

श्रुतुं फञ्जिदुपादाय भारतीं चृत्तिमाश्रयेत् ॥ ४ ॥

रत्नस्य प्रसस्ति काव्यार्थसूचकैः श्लोकैः कृता

‘श्रीसूत्रेण कृतस्यरा राहुषुवा व्यावर्तमाना द्विया

तैस्तेर्वन्धुमूत्राद्य वचनैर्नीताभिमुग्रं पुनः ।

जाती है, इस बीज की ओर सङ्केत किया गया है। इस प्रकार योग-धरायण के अभीष्ट रत्नावली उदयन-समायम रूप फल के बीज की ध्वजा यहाँ दी गई है।)

मुख यथा—

‘आसादितप्रकृन्निर्मलचन्द्रहास
प्राप्त शरत्समय एव विशुद्धवान्त ।
उत्थाय गालतमस धनवाङ्मुम्रे
रामो दशास्यमिव सम्भृतव-जुजीव ॥’

(३) मुखध्वजा—दशरूपक के रचयिता या घृष्टिकार ने यहाँ मुख शब्द को स्पष्ट नहीं किया है। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार मुख में श्लेष के द्वारा वस्तु की ध्वजा दी जाती है (मुख श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तात्प्रतिपादकी वाग्विशेष)। यहाँ दिये गये वृत्ताङ्कण से श्री विश्वनाथ महापात्र का मत पुष्ट होता है। मुखध्वजा में वस्तु का वर्णन श्लेष के द्वारा किया जाता है। यहाँ निम्न पद्य में रथापक मारुती वृत्ति में शरत्काल का वर्णन कर रहा है। यह शरत्काल का वर्णन श्लेष शब्दों में हुआ है, जिससे साथ ही रामचन्द्र की तथा उनके मारुतीय वस्तु की भी ध्वजा होती है।

विशुद्ध तथा सुन्दर यह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसने ब-जुजीव (दुपहरिया) के फूलों को धारण कर लिया है (जिसमें दुपहरिया : फूल फूलते हैं) सधन अभवार वाले प्रचण्ड वर्षाकाल को उखाड़ कर ठीक उसी तरह प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से मुख (अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्र तस रत्न को ध्वस्त कर दिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र, बापवों के जीवों की फेर से लौटाते हुए, अत्यधिक अहान (तम) वाले, उग्र तथा सधन वाले राघव रावण से मारकर प्राप्त हुए हैं।

पार्श्व यथा शाकुन्तले—

‘तर्पित्स्मि गीतरागेण हरिणा प्रसभ हत ।
एव रात्रेय जुष्यन्त सारङ्गेणातिरहसा ॥’

(४) पार्श्वध्वजा—इसमें रथापक किसी पार्श्व की (नेत्रा या अन्य किसी पार्श्व की) ध्वजा देते हुए प्रथम अङ्क में उसके भावी प्रवेश का सङ्केत देता है। जैसे शाकुन्तल में, (नन्द रहा है।)

हे नदी, तेरे गीत की सुन्दर राग से मैं ठीक उसी तरह आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे इस तेज श्लेष वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त आकृष्ट किया गया है।

(शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में इस ध्वजा के बाद रथ पर बैठे दौड़ते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मद्य पर प्रविष्ट होता है। इस प्रकार रथापक नट की यह स्थापना-पार्श्व ध्वजा (पार्श्वध्वजा) कहलावगी।)

रत्न प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।

प्राप्तु कश्चिदुपादाय भारती वृत्तिमाश्रयेत् ॥ ४ ॥

रत्नस्य प्रसस्ति काव्यार्थसूचकैः श्लोकैः कृत्या

‘श्रीरत्नस्यैव कृतवरा सदमुना व्यापर्वमाना द्विया

तेस्तैरेव सुभूजनस्य वचनैर्नीताभिमुप्य पुन ।

रुद्राऽप्रे मरमात्तगाप्यसरता गौरी नवे सङ्गमे

सरोहत्युलना हरेण हसता ऋषि शिवा पातु व ॥

इत्यादिभिरेव भारती वृत्तिमाधयेत् ।

स्थापक मठ सर्वप्रथम काव्य के अर्थ की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्गरूप सामाजिकों को प्रसन्न कर, किसी शत्रु को वर्णित करते हुए भारती वृत्ति का प्रयोग करे।

सबसे पहले काव्यार्थ से युक्त श्लोकों से रत्नप्रशस्ति कर, स्थापक निम्न पद्य के सदृश भारती वृत्ति का प्रयोग करे। जैसे रत्नावली नाटिका में निम्न पद्य में भारती वृत्ति का आशय किया गया है।

नववधु पार्वती के हृदय में अपने पति शङ्कर से मिलने की उमङ्गना है, इसलिये वह तेरी के साथ पति के पास जाना चाहती है, पर दूसरी ओर नारीसदन लम्बा उसे वापस लौटा रही है। इस दशा को देखकर पार्वती के बापव सखियों आदि उसे अनेक प्रकार के वचनों से शङ्कर के प्रति उ मुख करते हैं, और उन वचनों के द्वारा वह फिर से शङ्कर के समुप ले जाई जाती है। जब वह आगे बढ़ती है, तो अपने पति की देखकर भय तथा प्रेम दोनों से झुल हो जाती है। इस नव सङ्गम के समय उसके रोमाञ्ज खड़े हो जाते हैं। शङ्कर पार्वती को सामने देख कर हँसते हुए उसका आच्छिन्न कर लेते हैं। हँसते हुए शङ्कर के द्वारा हर हर आच्छिन्न शर्मिर् हर्ष पार्वती सामाजिकों की (आप लोगों को) रक्षा करे।

सा सु—

भारती सस्युतप्रायो घाम्ब्यापारो नटाधयः ।

भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्घोषीप्रहसनामुषैः ॥ ५ ॥

पुस्तकविशेषप्रयोज्य सस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो नटाधयो व्यापारो भारती, प्ररोचना घोषीप्रहसनाऽऽमुषानि चास्यामङ्गानि ।

मठ के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा वाला घाम्ब्यापार भारती वृत्ति कहलाता है। इसके प्ररोचना, घोषी, प्रहसन तथा आमुष ये चार भेद पाये जाते हैं।

यमोदेश लभयमाह—

उन्मुखीकरणे तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतॄणां प्रस्तुत्यु मुखीकरणे प्ररोचना । यथा रत्नावल्याम्—

‘श्रीहृषो निपुण’ कवि परिपदप्येषा गुणमाहिणी

लोके द्वारि च वस्तराग्वरित नात्ये च दक्षा वयम् ।

धस्त्वैरेकमपीह पाञ्छितफलप्राप्ते पद किं पुन

मङ्गाग्योपचयादय सनुदित्त सर्वो गुणाना यण ॥

अब नाम के साथ साथ उनकी परिभाषा भी देते हैं:—

काव्यार्थदि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर उन्मुख करना, उनके मन को आकृष्ट करना प्ररोचना कहलाता है।

जैसे रत्नावली नाटिका में निम्न पद्य में मठ अपने नाटक की प्रशंसा कर सामाजिकों को आकृष्ट करना चाहता है—

इस नाटिका का कवि भी हर्ष है जो कविता में बड़ा निपुण है। सामाजिकों की दर सबा भी युवों का मङ्गल करने वाली है। नाटिका की कथावस्तु व नराज उदयन को बरिष

पर नाट्य है, जो संसार में अतीव मनोहर (समझा जाता) है। साथ ही हम लोग भी नाट्यरस में बड़े दक्ष हैं। कहीं कहीं एक एक साधन से भी रचित फल की प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नहीं तो भेरे लोभान्तर्ग की शक्ति से सारे ही गुणों का समूह एकत्रित हो गया है, रसलक्ष्य नाटक के सफल होने में कोई संदेह ही नहीं। —

धीधी प्रहसन चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥ ६ ॥

धीर्यङ्गान्यामुखाद्भवाद्बुध्यन्तेऽत्रैव, तत्पुन ।

सूत्रधारो नर्तौ व्रते मार्प चाऽथ विदूषकम् ॥ ७ ॥

स्वकार्यं प्रस्तुतात्रेपि चिनोक्त्या यत्तदामुपमम् ।

प्रस्तावना या तत्र स्यु कयोद्घात प्रवृत्तकम् ॥ ८ ॥

प्रयोगातिशयश्चाथ धीर्यङ्गानि प्रयोदश ।

प्रसङ्गोपात्त धीधी तथा प्रहसन का वर्णन हम आगे करेंगे। वैसे धीधी तथा आमुष्य दोनों भारतीय भेदों के अङ्ग एक ही हैं, इसलिए उन भेदों का वर्णन हम वहीं कर रहे हैं। आमुष्य उसे कहते हैं, जहाँ सूत्रधार गयी, मार्प (चारिपरिधिक) या विदूषक के साथ यात्र करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर (वस्तु का सङ्केत करते हुए) अपने कार्य का वर्णन करे। इसी आमुष्य को प्रस्तावना के नाम से भी पुकारते हैं। इसके कयोद्घात, प्रवृत्तक तथा प्रयोगातिशय ये तीन अङ्ग पाये जाते हैं। धीधी के तरह अङ्ग होते हैं—(जिनका वर्णन हम इनके बाद करेंगे)।

तत्र कयोद्घात —

स्येतिवृत्तसम चाप्यमर्थं या यत्र सृजिण ॥ ६ ॥

शुद्धीत्या प्रथिशोत्पान यथोद्घातो द्विथैव सः ।

वाच्यं यथा रक्षावक्याम्—'धीर्य-वरायण-द्वीपादन्यस्मादपि—' इति ।

वाच्यार्थं यथा केनीसहारे—'सूत्रधार —

त्रिर्वाणवैरिददना प्रथमादरीणां

नन्दु पाण्डुतनवाः सह क्षेत्रेन ।

रक्षप्रसाधितमुन क्षतविमहाथ

स्वस्या नयत्तु गुरुराज्युता सश्या ॥'

सूत्रधार के समान घटना वाले पात्र को या पात्रवार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए जब कोई नाटकीय पात्र मञ्च पर (प्रथम अङ्क में) प्रवेश करता है, तो उस प्रस्तावना को कयोद्घात कहते हैं। उपर्युक्त भेद के आधार पर दो तरह हो जाता है—वाच्यमूलक तथा वाच्यार्थमूलक ।

जैसे वाच्य का प्रयोग 'रक्षावकी सारिका में पाया जाता है, जहाँ धीर्य-वरायण सूत्रधार के ही वाच्य-द्वीवार-वस्मादपि-रक्षादि का प्रयोग अपनी उक्ति में करते हुए प्रकृत होता है।

वाच्यार्थ का प्रयोग केनीसहारे की प्रस्तावना (आमुष्य) में किया है। यीमतेन यत्रनार के वाच्य के अर्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए प्रकृत होता है। जेष्ठे निम्न स्थल में—

सूत्रधारः—

उत्तमों के घात होने से वे पाण्डव पूजा के साथ आगन्ध करें, जिनके वैरियों की नाम

१ 'वाच्य वाच्यार्थमपना प्रस्तुत यत्र सृजिण' इति पाठ्य-तरम् ।

दुःख चुकी है। परिजनों से कुछ कौरव, जिन्होंने लड़ाई लड़ाई को समाप्त कर दिया है, तथा सारी पृथ्वी को प्रसन्न तथा परिपुष्ट कर दिया है, स्वस्थ रहें। (सपरिजन कौरव जिनके शरीर क्षतविधत हो गये हैं, खून से पृथ्वी को रंगकर, स्वर्ग में निवास करें।)

ततोऽर्धेनाह—'भीम—

लाङ्गागृहानकविपापसमप्रवेशै

। प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रदत्त्य ।

आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा

स्वस्या भवन्तु मयि जीवति चार्तराष्ट्र ॥'

भीमः—

लाङ्गागृह में आग लगाकर, विष के अन्न को देकर तथा समा में हमें शूद्रदोहा में जीतकर, हमारे पाप एवं सम्पत्ति पर प्रहार कर, क्या वे शूद्रपाण्डु के पुत्र मेरे जीते जी स्वस्थ रह सकते हैं जिन्होंने पाण्डवों को वधु श्रौपदी के बल तथा केशों को आकृष्ट किया है ?

अथ प्रवृत्तम्—

वालसाम्यसमाक्षितप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥ १० ॥

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकम्, यथा—

'आसारितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास

प्राप्त शरत्समय एष विशुद्धकान्त' ।

उत्खाप मडतमस चनकालमुग्र

रामो दशास्यमिव सम्भृतवधुवीर ॥

प्रवृत्तक नामक आमुख भेद यह होता है, जहाँ प्रवृत्त के वर्णन की समावृत्ता के आधार पर श्लेष से किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय ।

जैसे निम्न पद्य में शरत् का वर्णन करने के साथ ही साथ दिष्ट शब्दों के द्वारा समान गुणों का वर्णन करते हुए राम के प्रवेश की सूचना दी गई है ।^१

विशुद्ध तथा सुन्दर वह शरत्काल, जिसमें चन्द्रमा का निर्मल प्रकाश प्रकटित हो गया है, तथा जिसमें वधुवीर (दुपहरिया) के फूल फूल गये हैं सघन अन्धकार से पूर्ण वर्षाकाल को उत्खाप कर डीक डीक तरह आया है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास से शुक्र (अथवा, जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास चन्द्रमा को ध्वस्त कर दिया है), विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र बाधवों के जीतों को फिर से लौटाते हुए, अत्यधिक अशान (तम) वाले उग्र तथा सघन काले राक्षस रावण को मारकर आये है ।

अथ प्रयोगातिशय—

एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगत ।

पात्रप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयो मतः ॥ ११ ॥

यथा 'एष राजेव दुष्यन्त' इति ।

'यह वह था रहा है' इस प्रकार के ध्वनि को ध्योग कर जहाँ सूत्रधार किसी पात्र का प्रवेश करता है, वह प्रयोगातिशय नामक आमुख है ।

जैसे आकुन्तक में 'जैसे वह राजा दुष्यन्त इस ध्वनि के कारण प्रयोगातिशय है ।

१ निम्न पद्य किस नाटक का है वह पता नहीं। धनिक ने भी यहाँ नाटक का उल्लेख नहीं किया है। जैसे हम पद्य की धनिक ने दो स्थान पर श्लोक प्रकाश में उद्धृत किया है ।

अथ वीर्यहाति—

उद्धास्यकाधलनिते प्रपञ्चत्रिगते वृत्तम् ।

याकेत्यधिवले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥

असत्प्रलापव्याहारमृदधानि त्रयोदश ।

वीर्य के जिन तरह अर्धों का सङ्केत ऊपर किया गया, वे ये हैं।—उद्धास्यक, अव-
लगित, प्रपञ्च, त्रिगत, वृत्त, याकेली, अधिवल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका,
असत्प्रलाप, व्याहार और मृदय ।

तत्र—

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥

यत्रान्वोन्यं समालापो द्वेषोद्धास्यं तदुच्यते ।

गूढार्थ पदं तदपर्यायशब्देत्वेवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला द्वयोस्फलिप्रत्युत्ती
तद्विधिपमुद्रात्यकम् । तत्राद्य विक्रमोर्वश्या मया—'विदूषक—भो बधस्तर को इसो कामो
जेण तुमं पि दमिलसे सो किं पुरीसो आहु इत्यिधम ति। ('भो वयस्य! कएण कम्मो वेच
त्तमपि दुससे स किं पुण्णोऽपया वीति ।') राजा—सखे ।

मनोनातिरनाधीना सुखेभ्येव प्रवर्तते ।

द्वेषस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥

विदूषक—एवं पि न जाणे ('एवमपि न जानामि ।') राजा—वयस्य इच्छाप्रभव
स इति ।

विदूषक—किं ज्ञो ज इच्छादि सो तं कामेदिति । ('किं ज्ञो यदिच्छति स तत्काम-
मन्तीति ।') राजा—अथ किम् ।

विदूषक—ता जापिदं जह भ्रहं सुधचारसालाप भोजनं इच्छामि । ('तज्ज्ञातं
ययाऽहं सूपकरसालायां भोजनमिच्छामि ।')

जहाँ दो पार्श्वों की परस्पर बातचीत इस वृत्त की पाई जाय, कि नहीं या तो गूढार्थ
पदों तथा उनके पर्याय (अर्थ) की माला बन जाय, या फिर प्रश्न तथा उत्तर की
माला पाई जाय । कभी कभी एक पात्र के द्वारा प्रयुक्त गूढार्थ पदों को दूसरा पात्र नहीं
समझ पाये, तथा वह उसका व्याख्यान करे, उसके पर्याय का प्रयोग करे, तो वह पहले
वृत्त का उद्धास्य वा उद्धास्यक होता है । कभी २ पात्र अपनी-अपनी किन्हीं बातों पर
प्रश्न पूछकर उसके साथ ही उत्तर देता जाता है, यह प्रश्नोत्तर माला दूसरे वृत्त का
उद्धास्यक है । इस तरह उद्धास्यक दो तरह का होता है ।

पहले वृत्त के उद्धास्यक का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक से नीचे दिया जा रहा है, जहाँ
राधा 'काम' के विषय में गूढार्थ पदों का प्रयोग कर फिर उसका व्याख्यान करता है।—

विदूषक—हे वयस्य, वह 'काम' कौन है, जिससे हम दुःखी हो रहे हैं, वह पुत्र दे या स्त्री ।

राजा—मित्र, प्रेम का वह सुन्दर मार्ग जो केवल दुःख की ओर ही प्रवृत्त होता है, तथा मन
में उत्पन्न होता है, काम कहलाता है ।

विदूषक—मैं यह भी नहीं जानता ।

राजा—मित्र, वह काम शब्दा से उत्पन्न होता है ।

विदूषक—तो क्या, जो भित्तवी शब्दा करता है, उसको वह कामना करता है ।

राजा—और नहीं तो क्या !

विदूषक—तो समझ गया, जैसे मैं ब्रह्मकारशाला (भोजनशाला) में भोजन की इच्छा करता हूँ !
द्वितीयं यथा पाण्डवान् दे—

'का श्लाघ्या शुणिना क्षमा परिभवा' को ग' स्वकुम्भै उत

। — किं दुःखं परसभयो जगति क' श्लाघ्यो य आश्रीयते ।

12 को शृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निजिता' शत्रव'

कैर्विहातमिदं विराटनगरे छुल्लस्त्रियै पाण्डवै ॥'

दूसरी तरह के उदात्तक का उदाहरण पाण्डवानन्द नाटक से निम्न पद्य के रूप में दिया जा रहा है वहाँ प्रतीचर को माला है —

सबसे अधिक श्लाघ्य वस्तु क्या है ? शुणियों की क्षमा । परिभव या तिरस्कार किसे करते हैं ? वह तिरस्कार जो अपने ही कुल के बाधवों के द्वारा किया गया है । दुःख क्या है ? दूसरे के शरण में रहना ही दुःख है । संसार में प्रशंसनीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है, जिसकी शरण में दूसरा आता है । मौत किसे करते हैं ? व्यसन को । शोक का त्याग कौन कर सकते हैं ? जो अपने शत्रुओं की जीत लेते हैं । ये सारी बातें किनने जान लीं ? विराटनगर में अज्ञात रूप में छिपकर रहते हुए पाण्डवों ने ।

अथवलगितम्—

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥ १४ ॥

प्रस्तुतेऽन्यत्र, चाऽन्यत्स्यात्तथाचलगितं द्विधा ।

तत्रायं यथोत्तरवृत्तिं समुत्पन्नविहारगर्भदोहदाया सीताया दोहदोहवैश्व (ण) प्रविश्य, जनापवादादरूप्ये त्यागः । द्वितीयं यथा छलितरामे—'राम'—लक्ष्मण तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्यो नाहं प्रवेशं शत्रोनि तदवतीर्य गच्छामि ।

कोऽपि सिंहासनस्याप स्थित पादुकेषु पुरः ।

जटावानशमाली च चामरी च विराजते ॥'

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः ।

जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो जाय, वह पहले उक्त का अवलगित होता है । अथवा एक कार्य के प्रस्तुत होने पर वह न होकर दूसरा हो यह अवलगित का दूसरा प्रकार है । इस तरह अवलगित दो तरह का होता है ।

जैसे पहले उक्त के अवलगित का उदाहरण उत्तरचरित (मद्रभूति के उत्तररामचरित) से दिया जा सकता है, वहाँ वनविहार की दोहद इच्छा वाले गर्भवती सीता के दोहद को पूर्ण करने के लिए से वन में ले जाकर जनापवाद के कारण वहाँ छोड़ दिया गया है । वहाँ एक कार्य के समावेश (सीतारोहदपूर्ति रूप) से दूसरा कार्य वनत्याग भी सिद्ध हो गया है ।
।। दूसरा प्रकार हम 'छलितराम' नाटक में देख सकते हैं—यहाँ राम इसलिए पैदल जाना चाहते हैं कि पिता से विमुक्त अयोध्या में विमान से प्रवेश करना ठीक नहीं । वहाँ इस प्रयत्न बन्ध के होते हुए उन्हें आगे भारत के दर्शन (दूसरे कार्य) की सिद्धि हो जाती है ।

'राम—रक्ष्मण, पूज्य पिताजी के द्वारा विमुक्त अयोध्या में मैं विमान पर बैठ कर प्रवेश नहीं कर सकता । इसलिए उतर कर पैदल ही चला हूँ ।

१ छलितराम नाटक अनुपलब्ध है, तथा इसके रचयिता का भी पता नहीं ।

अरे, सामने सिंहासन के नीचे, पादुकाओं के सामने कोरें जटाधारी, अष्टमाला तथा चामर वाला व्यक्ति दिकार पड़ रहा है। -

अथ प्रथम -

असद्भूतं मिय स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥ १५ ॥

असद्भूतेनाथेन पारश्वार्थदिनैपुण्यादिना याऽन्योन्यस्तुति स प्रथम । यथा कर्पूरगज्याम्-भैरवानन्द -

रण्डा चण्डा दिक्किन्दा धम्मदारा मय मस विहाए लत्तए अ ।
भिम्या भोज्य धम्मराण्ड च सेव्या बोलो, धम्मो फस्त षो हीइ रम्मो ।
('रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मय मांय पीयते छाद्यते च ।
मिशा भोज्य चर्मराण्ड च शय्या कौलो धर्म कस्य न भवति रम्म्य ॥')

प्रपञ्च यह भीषण है, जहाँ पाप आपस में एक दूसरे की ऐसी अनुचित प्रशंसा करे, जो हास्य उत्पन्न करने वाली हो ।

वारिणा के असद्भूत अर्थ वा सारथी परस्त्रीलोलुपता आदि निपुणता से है, इस रण की परस्पर स्तुति अहाँ होगी, यह प्रपञ्च कहलाता है ।

जैसे राजशेखर के कर्पूरमञ्जरी सङ्क में वापादिक भैरवानन्द अपने विषय में हास्यमय अनुचित प्रशंसा करते हुए कहता है -

बलाभे जो सही, यह कौन धर्म जिसे अच्छा न लगेगा, जहाँ विषया बोधित स्थिये भयंकरिणी बन जाती है, रामे पीने को मास मन मिलता है, मिशा का भोजन प्राप्त होता है, चमड़े के टुकड़े की शय्या होती है ।

अथ त्रिगतम् -

धृतिस्वाम्यादनेकार्ययोजनं त्रिगत त्विह ।

नडादित्रितयास्ताप. पूर्वर्द्धे तद्विप्यते ॥ १६ ॥

यथा विक्रमोर्वीश्याम् -

भक्तानां कुमुदरोन पट्टपदानां

राप्तेऽथ परपूतनाद पुप घोर ।

षैलसे मुरगणसेविते राम-ताज

विषयं कङ्कधुराभरं प्रगीता ॥

जहाँ राज्य की समाप्तता के कारण अनेक अर्थों (परतुओं) की एक साथ योजना की जाय, यह त्रिगत नामक भीषण होता है । मर आदि तीन पार्श्वों के आलाप के कारण पूर्वर्द्ध में भी त्रिगत पाया जाता है ।

त्रिगत वा उदाहरन विक्रमोर्वीशय मातक से निम्न पय के रूप में दिया गया है । राजा, मन्त्रियों के सप्रीन की टाप कर सम्प्रदाय के आधार पर भयों के कण्डक (नाद तथा कीर्ति की दाहली भी योजना करना है, अन यह त्रिगत है ।

पूर्वों के रस से मूल भीरों का यह कण्डक है, यह बोधित की गम्भीर कारणी है । देवताओं के सन्ध के द्वारा चरों और से सेवित शैवाल पर्वत पर विक्रिणी रानीय व मयुट भयों में पा रही है ।

भय छलनम्—

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैश्चिलोभ्य छुलनाच्छलनम् ।

यथा वेणीसंहारे—'भीमाञ्जनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां अनुमयशास्त्रोदीपनः सोऽभिनानो

राज्ञा दुःशासनान्देर्गुहरनुजरातस्मात्तराजस्य भिन्नम् ।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनपनपटुः पाण्डवा यस्य दासा

कास्ते दुर्योधनोऽसौ कययत् पुरुषा द्रष्टमभ्यागतौ स्व ॥'

जहाँ कोई पात्र बाहर से प्रिय लगाने चाहे, किन्तु घस्तुतः अप्रिय वाक्यों के द्वारा दूसरों का विलोभन करके उनके साथ छल करे, वह छल नामक वीथ्यङ्ग है।

जैसे वेणीसंहार में भीमसेन तथा अञ्जन दुर्योधन को बँडते हुए निम्न वक्ति वा प्रयोग करते हैं, जो ऐसे अप्रिय वाक्यों से युक्त हैं, जो बाहर से प्रिय-से मालूम पड़ते हैं:—

पृथग्भीम के समय छल करने वाला, लाशागृह को बराने वाला, दुःशासनादि सौ छोटे भाइयों का पूज्य भ्रात्र (शुक्र), अहराज कर्ण का मित्र, वह अभिमानी राजा दुर्योधन, जो द्रौपदी के बालों व उत्तरीय को खोलने में चतुर है, तथा जिसके पाण्डव सेवक हैं, वहाँ है ? हे पुरुषों, हमें बना दो, हम उसे देखने को आये हैं।

अथ बाङ्गेली—

विनिवृत्त्यास्य चाङ्गेली द्वित्रिः प्रत्युक्तितोऽपि चा ॥ १७ ॥

अस्येति वाक्यस्य प्रकान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं चाङ्गेली द्वित्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तय', सत्रागा ययोत्तरपरिते—'वाचन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं

त्वं कौमुदी नयनयोरगृतं त्वमग्रे ।

हरयादिभिः प्रियरातैरनुदप्य मुग्धां

सामेव शान्तमयवा किमत परेण ॥'

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नत्वस्याम्—'विदूषक—भोवि मन्त्रणि ए मं पि एवं चर्चरि सिग्धावेहि । ('भवति मदनिके मामप्येता चर्चरी शिक्षय') मदनिका—हृदास ण क्तु एसा चर्चरी । दुवदित्तल्लर्थं क्तु एदम् । ('हृदास न खल्वेवा चर्चरी द्विपदि-सग्यकं सख्येतत् ।') विदूषक—भीदि किं एदिणा खण्डेण मोदया करीमन्ति । ('भवति किमेतेन खण्डेन मोदया वियन्ते ?') मदनिका—वाहि, पटीयादि क्तु एदम् । ('नहि पश्यते सख्येतत् ।') इत्यादि ।

जहाँ वाक्य की विनिवृत्ति पाई जाय, अर्थात् साकाङ्क्ष वाक्य को पूर्ण न कर उसको अपूर्ण ही कहा जाय तथा उसके भाव को शम्य रख दिया जाय, अथवा जहाँ दो वा तीन वा उक्तिप्रत्युक्ति का प्रयोग पात्रों द्वारा किया जाय, वहाँ चारकेली नामक वीथ्यङ्ग होता है।

(इस तरह चारकेली दो तरह की होती है ।)

पहले प्रकार की चारकेली का उदाहरण उपरचरित के सुनीय अङ्क से दिया गया है, जहाँ सीता के साथ शिवे गये राम के बर्तन वा वर्जन करते हुए वाचन्ती (वनदेवता) राम से कह रही हैं:—

१ 'छलना' इत्यदि पाठः ।

तुमने सीता से कहा था कि तुम मेरा जीवन हो, मेरा दूसरा हृदय हो, मेरे नेत्रों को रक्त करने वाली चन्द्रिका हो, मेरे अङ्गों को जीवन देने वाला अमृत हो, इस तरह के सौक्यों प्रिय पात्रों से वह भोली सीता को मुझमें डालकर, दास्य, तुमने वही को (बन्धन दे दिया), कथना ज्ञात हो, इससे आगे के विषय में कहना व्यर्थ है।

दूसरे प्रकार की पात्रकेषी में दो तीव्र शक्ति प्रत्युक्ति पाई जाती है, जैसे रत्नावली नाटिका के निम्न स्थल में—

विदूषक—हे मदनिके, तुझे भी यह राग (चर्चरी) सिखा दो ना ।

मदनिका—मूल यह चर्चरी नहीं है, यह दिपदीशब्दक है ।

विदूषक—भरी, क्या रस शब्द (शब्द) में लब्ध बनाने जाते हैं ।

मदनिका—चर्चरी, इसे तो पढ़ा जाता है—गाया जाता है ।

अथाधिवसन

अन्योन्यवाक्याधिपयोक्तिः स्पर्धयाऽधिवलं भवेत् ।

यथा पेणीसंहारे—'अर्जुन —

सकलरिजुगयाशा यम वदा सुतैस्ते

तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकाः ।

रणशिरसि विहन्ता तस्य रामाद्भुतस्य

प्रणमति पितरौ वा मध्यम पाण्डुपुत्र ॥

जहाँ जाटकीय पात्र एक दूसरे के प्रति वाक्यों का प्रयोग करते समय स्पर्धासे अपने आधिक्य की शक्ति कहे उसे अधिवल कहते हैं ।

जैसे पेणीसंहार के निम्न स्थल पर अर्जुन, भीम व दुर्योधन का परस्पर वातालाप इस वृत्त का पाया जाता है कि वे एक दूसरे को शर्मा करते हुए अपने आधिक्य की ध्वजा करते हैं ।

अर्जुन—हे पिता—माता, (धृतराज्य व माधारी), जिस कर्ण में आपके पुत्रों की समस्त शक्तियों को जीवने की आशा बंधी हुई थी, और जिसने वृषभक्ष से सारे सत्कार को जिनके की तरह नग्न्य समझ रखा था, उसी राधापुत्र कर्ण की सुदूरस्थल में मारने वाला यह मध्यम पाण्डव अर्जुन आप दोनों की प्रणाम करता है ।

दुःस्युधमे 'राजा—अरे माह भवानिव विकल्पनाप्रगल्भ । किन्तु—

प्रक्षयन्ति न विराटसुप्त मान्यवास्तवा रणाङ्गणे ।

सद्वदामिषवशोऽपि वेगिषाभाङ्गभीषणम् ॥

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याधिपयोक्तिरधिपयङ्गम् ।

राजा—अरे, मैं तुम्हारी तरह आत्मसमझ करने में चतुर नहीं हूँ । केवल मेरी यदा ही दूरी बद्ध-स्थल की शक्तियों के समूह के कारण जीवन दिखाने पड़ते हुए तुम्हें / तुम्हारे साथ ही ही सुदूरस्थल में सीता पावेंगे ।

अथ गण्ड—

गण्डः प्रस्तुतसम्यन्धिभिन्नार्थं सदसोदितम् ॥ १८ ॥

यपोत्तरपरिते—'राम—

इय गौडे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-

रयावत्या इयशो वपुषि यहाभ-द्वन्द्वम् ।

१ चर्चरी, दिपदीशब्दक आदि शब्दों की शक्ति है, जैसे मुरार, दयाल, दुपरी आदि है ।

‘अयं बाहु’ कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकतर-

किमस्या न प्रेयो यदि परमस्रज्यास्तु विरहे ॥

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव उन्नत्यदो । (‘देव उपस्थित ।’) राम—अयि-

क ? । प्रतीहारी—देवस्य आसण्यापरिवारयो दुम्मुहो । (‘देवस्यासणपरिवारयो दुम्मुह ।’) इति ।

जहाँ प्रस्तुत विषय में सम्बद्ध अर्थ से भिन्न वस्तु एकदम उपस्थित हो जाय, वहाँ गण्ड होता है ।

(गण्ड वस्तुतः वह वाक्य है, जहाँ नाटककार भावी घटना का सङ्केत किसी भिन्न विषय पर दे जाता है । पाश्चात्य नाटकों की ‘ड्रेमैटिक आररजी’ से यह कुछ कुछ मिलता जुलता है ।)

जैसे उच्चरामचरित में राम के ‘इसका विरह बड़ा असह्य है’ यह कहते ही ‘देव यह उपस्थित है’ इस वाक्य के द्वारा भिन्नार्थ की एकदम उपस्थिति पाई जाती है ।

राम—यह सीता मेरे घर की लक्ष्मी है, मेरी आँखों को आनन्द देने वाली अमृत की शलाका है । इसका स्वामी अहो को बनना शीतल लगता है जैसे सवन चन्दन का छेप हो । सीता का यह बाहु कण्ठ में इस तरह मालूम देता है जैसे शीतल तथा कोमल मोतियों की माला हो । सीता की कौन वस्तु सुन्दर तथा प्यारी नहीं लगती, केवल इसका विरह ही असह्य है ।

प्रतीहारी (आकर)—महाराज, उपस्थित है ।

राम—अरे कौन ।

प्रतीहारी—महाराज, आपका सेवक दुम्मुह ।

अपावस्यन्दिताम्—

रसोक्तस्यान्यथा ध्याख्या यत्राद्यस्यन्दित हि तत् ।

‘यथा छलितरामे—’सीता—जादू बल कस्तु शुम्भेर्हि अजुगम्भाए गतत्वं तर्हि सो रामा विगण्ण नमिदब्धो । (‘जात कस्तु खलु युवाभ्यामयोध्यायां गतव्य तर्हि स राजा विनयेन नमितव्य ।’) उव—अथ्व किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् । सीता—जादू-सो-कस्तु तुम्राण पिदा । (‘जात स खलु युवयो पिता ।’) उव—किमा वयो रक्षपति पिता ॥ सीता—(साशङ्कम्) जादू ण कस्तु पर तुम्राण, सञ्जलाए खेव्य पुद्दवीए । (‘जात न खलु पर युवयो, सवलाया एव पृथिव्या ।’) इति ।

जहाँ भावावेश (रस) के कारण किसी वाक्य का प्रयोग कर दिया जाय, और बाद में उस वाक्य की व्याख्या दूसरे ही ढङ्ग से कर वास्तविकता को दिश दिया जाय उसे अपावस्यन्दिता कहते हैं ।

जैसे छलितराम नाटक के निम्न स्थल में भावावेश में उव के सम्मुख सीता के ईह में यह बात निकल आती है कि ‘राम शुम्भारे पिता है’, पर वह बात में इसकी व्याख्या दूसरे ढङ्ग से कर देनी है, कि वे शुम्भारे ही नहीं सारी दुन्दी के पिता हैं ।

सीता—ताण, कल शुम्भे अवोध्या घाना है, वहाँ रामा को मज्जा से मज्जा करमा ।

उव—माना, क्या हमें रामा को मौकत बनना है ।

सीता—ताण, वे शुम्भारे पिता है ।

उव—क्या रक्षपति हमारे पिता है ?

सीता—(आशङ्क के साथ) ताण शुम्भारे ही नहीं, सारी दुन्दी के ।

यस्य मालिका—

सोपहासां निगूढार्थां नालिकैव प्रहेलिका ॥ १६ ॥

यथा सुदाराक्षसे—'चरः—इहो माहण मा कुम्भ किं पि तुह उग्रज्जाग्रो जाणादि किं पि अहारासा जणा जाणन्ति । ('इहो माहण मा कुम्भ, किमपि' तवोपाध्यायो जानाति किमप्यस्मादशा जना जानन्ति ।) शिष्यः—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमप- हतुमिच्छसि । चरः—यदि दे उग्रज्जाग्रो सर्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्त चन्द्रो अणमिप्पेधो ति । ('यदि त उपाध्यायः सर्वं जानाति तन्मानतु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति ।') शिष्यः—किमनेन ज्ञातेन भवति । इत्युपमने चाणक्यः—चन्द्र- गुप्तादपरफानपुत्रयाजानामि ।' इत्युक्तं भवति ।

हास्य से युक्त, छिपे अर्थ वाली पहेली भरी उक्ति को ही नालिका कहते हैं ।

जैसे विद्याखरच के सुदाराक्षस नाटक में हास्य से युक्त तथा गूढार्थ पहेली 'वताओ चन्द्र- किते अच्छा नहीं लगता' इसका प्रयोग चर के द्वारा किया जाता है जहाँ चन्द्र का गूढार्थ चन्द्रगुप्त (मोर्ष) से है ।

चरः—अरे माहण, गुप्ता न करो, कुछ तो गुप्तारे आचार्य चाणक्य जानते हैं, कुछ हम जैसे लोग ही जानते हैं ।

शिष्य—यथा तुम हमारे गुप्त की सर्वशता को चुनौती देने को श्रद्धा करते हो ।

चर—अगर गुप्तारे आचार्य सारी बातें जानते हैं, तो बतावें कि किस व्यक्ति को चन्द्र चन्द्रमा; चन्द्रगुप्त) अच्छा नहीं लगता ।

शिष्य—इसे जानने से क्या फायदा ।

X X X

चाणक्य—चन्द्रगुप्त से अप्रसन्न लोगों को मैं जानता हूँ ।

यथाऽसत्प्रलापः—

असम्बद्धकथामायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः ।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसत्प्रतिनाम वाच्यदोष उक्तः । तत्र—उत्त्वनायतमदोन्मादशैश- वादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावो यथा—

'अविभक्त विदार्य च कुहराण्यासक्तो धामुके-

रक्षुत्या विषर्कुंरन्गणयतः संस्तरय इन्ताङ्कण ।

एकं त्रीणि नवाटं सप्त पंडिति प्रभ्वस्तसंख्याक्रमे

पायः प्रीतिरिषो शिशुत्वविकल्पः भ्रैयासि पुष्पन्तु धः ॥'

जहाँ उटपटांग असम्बद्ध उक्ति तथा प्रलाप पाया जाय, वह असम्बद्ध नामक दोष कहलाता है ।

असम्बद्ध प्रलपित के बारे में यह शब्दा की जा सकती है, कि नाटक में इसका पाया जाना दोष है, क्योंकि असम्बद्ध कथा में असम्बद्ध नामक वाच्यदोष आ जायगा । इस शब्दा का निरा- करण करते हुए बुधिनार भक्तिक कहते हैं कि वनीदि, मदमत्त, पागल तथा बालक पापी की वाचनीय में असम्बद्ध प्रलपित पाया जाना स्वामाजिक ही है ।

जैसे निम्न स्थल में बालक कानिकेय का असम्बद्ध प्रलाप स्वामाजिक है ।

बालक कानिकेय बालकौर्वा के कारणे विद्या शिष्य के गले में कटकते हुए वाक्की के

प्रकाशमय मुखों को ओठों पर से पाद देते हैं। उसके बाद वे उसके जहरीले तथा विषविचित्र दोतों के अङ्गुली को आगुली से छू-छू कर गिनते हैं:—एक, तीन, चार, आठ, सात, छ । इस तरह कार्तिकेय को यचना में संख्या का कोई क्रम नहीं पाया जाता। शौच के शुद्ध कार्तिकेय की संख्या स्वतंत्रमयुक्त बचपन से इतलार्द दुर्द वाणी क्षाप लोगों के कल्याण को पुष्ट तथा अभिवृद्ध करे।

यथा वा—

‘हंस प्रयच्छ मे वान्ता गतिस्तस्यास्त्वया हता ।

‘ विभावितैकदेशेन देय यदभियुज्यते ॥’

यथा वा—

‘तुका हि मया गिरय’ स्नातोऽऽ षडिना विवामि विषय ।

हरिहरदिरप्यगर्भा मत्पुनास्तेन वृत्त्यानि ॥’

शौर जैसे प्रिया विरह के कारण बगल पुरुकरवा की इस वक्ति में—

‘हे हंस, मुझे मेरी प्रिया को लौटा दे, उसकी चाल दूने छीन ली है। मेरी प्रिया के परदेष्ट (वति) की छेने वाले तेरे द्वारा मुझे जो कुछ लौटाने योग्य है, उसे लौटा देना ठीक होगा ।’

अथवा निम्न कव्यादीपि में—

मे इतैतौ को वा चुका हूँ, भाग से नहा चुका हूँ, आकाश को पी रहा हूँ। बड़ा, विष्णु, गवेश मेरे पुत्र हैं। इसलिय मैं नाच रहा हूँ।

अथ व्याहार—

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं चत्वा ॥ २० ॥

यथा मालविकाग्निमित्रे नास्यप्रयोगावसाने—(‘मालविका निर्गन्तुमिच्छति’) विदूषक—‘मा दाव उपसमुदा गमिष्यसि ।’ (‘मा तावत् उपदेशमुदा गमिष्यसि’) इत्युपक्रमे ‘गणदास—(विदूषकं प्रति) आर्य उपपत्ता यस्तवया ममभेषो लणित’ । विदूषक—‘पठन पबूसे वद्वगसस पूया भोदि सा तए लक्षिता (मालविका स्मयते) ।’ (‘प्रथम प्रत्युषे द्वाद्वागस्य पूना भवति सा तथा लक्षिता ।’) इत्यादिना नायकस्य विभ्रन्धनायिकादर्शनप्रयुक्तं हास्यलोभकारिणा कचनेन व्याहार’ ।

जहाँ हँसी के छेम को उत्पन्न करने वाले ऐसे धारण का प्रयोग हो, जिसका अर्थ कुछ और ही हो, यह व्याहार कहलाता है।

जैसे मालविकाग्निमित्रे में मालविका के द्वारा नास्य के प्रदर्शन किये जाने के बाद यह जाना चाहती है। इस पर विदूषक कहता है—

‘तुम उपदेश से झूठ होकर (हमसे यह सोच कर) न चलो जाना ।

गणदास—(विदूषक से) आर्य कोई गलती हुई हो तो कहें ।

विदूषक—‘पहले पहल प्रान’ काठ में आशुन की पूजा की जाती है। उसने उस पूजा का उल्लङ्घन किया है ।

(मालविका मुसकुराती है ।)

‘यहाँ मालविका को विश्वास में डाल कर नायक को उसका दर्शन कराने के लिए प्रयुक्त बचन का प्रयोग विदूषक ने किया है, जो हास्यकारी है। अतः यहाँ व्याहार नायक धोष्य है।

अथ शब्दवम्—

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

यथा शाकुन्तले—

भिवच्छेदकशोदरं लघु भवत्युत्पानयोग्यं षष्ठु ।

सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमभिरां भयदोषयो ।

उत्कर्षं स च घन्विनां सदिपः सिन्धन्ति लक्ष्ये चले

मिथ्यैव व्यसनं घदन्ति मृगयामीदृग्विनोदं कृतः ॥

इति मृगयादोषस्य गुणीकरणं ।

जहाँ कोई पात्र गुणों को दोष बता कर तथा दोषों को गुण बता कर कहे, वह मृदय भीष्यक है ।

जैसे शाकुन्तल के इस पत्र में राजा मृगया के दोषों को गुणों के रूप में रखता है—

योग इस मृगया को सूत्र में ही व्यवसन (धुरी आदत्त) बताया करते हैं । मला इस बात आनन्द कहीं मिल सकता है । देखो, मृगया से शरीर की सारी चर्चा कम हो जाती है, पेट पतला हो जाता है, तथा शरीर उठने बैठने के योग्य हो जाता है । दूरी और मृगया खेलने से अक्षय्य पशुओं के चित्त व आकृति में भय तथा भोध के समय क्या-क्या विकार होते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त होता है । तीसरे, मृगया खेलने में चञ्चल उद्वेग को विद्व करना पड़ता है, अतः उसके बाण चञ्चल उद्वेग को विद्व करने में सिद्ध हो जाते हैं, और यह धृतिधारियों की बहुत बड़ी विशेषता है ।

यथा च—

‘सततमनिर्हृतमानसनायाससहस्रकूलस्तकिण्णम् ।

गतनिद्रमविध्वंसं जीवति राजा विगीपुरयम् ॥’

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ।

अथवा जैसे निम्न पत्र में राज्य के गुणों को दोष के रूप में वर्णित किया गया है—

राज्यों की जीतने की इच्छा वाला वह राजा बड़े कष्ट के साथ ही रहा है—इसका मन कहीं शांत व स्थिर नहीं रहता, अथवा व्यापार्य इसे बलेश दिया करती है, इसे न ही भौद ही जाती है, भ किसी के प्रति यह विश्वास हो करता है ।

उभयं वा—

‘सन्त सधरितोदयव्यसनिन प्रादुर्मवदन्त्रणा

सर्वत्रैव जनापवादयच्छिता जीवन्ति दु स सदा ।

अधुनभमति कृतेन न ताता नैवासता व्यच्छ्रमे

सुष्यदुष्यविषेच्छन्न्यद्वयो मन्यो जनः प्रकृतः ॥’

इति प्रस्तापनाज्ञानि ।

कयी-कमी दोनों—गुणों का दोषीभाव तथा दोषों का गुणीभाव एक-एक साथ ही पाये जा सकते हैं—

सपरित्रया के उद्वेग की इच्छा वाले तथा इसीलिये सारा दुखी रहने वाले सम्पन्न लोग, जो इमेरा लोगों के द्वारा ही गई निन्दा से बचा करते हैं, बड़े दुःख व कष्ट के साथ भीरमवापना करते हैं । वस्तुतः सौभाग्यशाली तो वह प्राण्ड (अज्ञानी) प्रवृत्त है, जो योके

की बात को भी नहीं सोच पाना, जो अच्छे या बुरे काम से कभी ब्याकुल नहीं होता और बड़े बुरे के शान से निष्कन्त हृदय रखता है।

एवामन्यतनेनार्थ पात्र चाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१ ॥

प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो घस्तु प्रपञ्चयेत् ।

सूत्रधार इस प्रकार प्रोचना, योधी, प्रहसन, आमुक्त आदि क्विती के द्वारा (भारती वृत्ति का आश्रय लेते हुए) काव्यार्थ अथवा नाटकीय पात्र की सूचना दे। उसका आश्रय तथा परिषय दे देने पर प्रस्तावना के अन्त में वह रङ्गमञ्च से निष्कान्त हो जाय तथा तदनन्तर कथावस्तु को प्रपञ्चित करे।

एत—अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥ २२ ॥

कीर्तिकामो महोत्साहस्त्व्याख्याता महीपति ।

प्रख्यातघशो राजपिदिग्यो वा यत्र नायक ॥ २३ ॥

तत्प्रख्यात विघातव्य वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागसम्वादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिवादिगुणैर्युक्तो रामायण महाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजपिदिग्यो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिक वस्तु विधेयमिति ।

यहाँ नाटक (रूपकविशेष) ही का प्रकरण चल रहा है। अतः नाटक के ही नायक तथा सत्सम्बन्ध वस्तु का ही सङ्केत करते हुए कहते हैं—नाटक का नायक या तो प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न राजर्षि भूपति होता है, जो उच्च गुणों से युक्त होता है, धीरोदात्त प्रकृति का तथा प्रतापशील होता है। वह यश तथा कीर्ति की कामना किया करता है, उत्साह से युक्त होता है तथा तीनों वेदों (वैदिक परम्परा) का रक्षक होता है। अथवा नाटक का नायक कोई दिव्य-देवता-ही सकता है, जो इन सभी विशेषताओं से युक्त होता है। उस नायक के विषय में इतिहास पुराणादि में प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक की आधिकारिक वस्तु रखना चाहिए। (यदि कवि उसके सम्बन्ध में रसानुकूल कोई कल्पित वस्तु का सन्निवेश करना चाहता है, तो वह मासज्जिक रूप में ही की जानी चाहिए।) जिस इतिहास प्रसिद्ध (प्रख्यात) वृत्त में इस तरह का, इन गुणों व विशेषताओं से सम्पन्न, नायक हो, वही वृत्त नाटक के उपयुक्त होता है।

जिस कथा (इतिवृत्त) में सत्यवागी नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध उच्च गुणों से युक्त तथा अनुचित कार्य न करने वाला रामायण महाभारतादि इदलया आदि ग्रन्थों में भी—में प्रसिद्ध धीरोदात्त कीर्ति वा राजा वा निम्न नायक पाया जाता है, उसी प्रसिद्ध कथा को यहाँ नाटक की आधिकारिक कथावस्तु बनाना ठीक होगा।

(जैसे शाकुन्तल की कथा का नायक दुष्मन्त धीरोदात्त राजर्षि है, कथा महाभारत में प्रसिद्ध है। उपररामचरित की कथा भी रामायणादि में प्रख्यात है, तथा इसके नायक धीरोदात्त राजर्षि हैं, ऐसे अवसर के कारण उन्हें दिव्यशक्ति सम्पन्न होने से दिव्य भी माना जा सकता है। सुदाराक्षस का नायक चन्द्रशेखर धीरोदात्त राजा अवश्य है यह दूसरी बात है कि उसमें—जिस रूप में वह यहाँ विवृत हुआ है—उच्च कुलीनता नहीं निकली है। फिर भी अन्त में द्वारा राक्षसी के पुत्र होने के कारण—प्रख्यातव्यवहार उसमें धरित ही ही जाता है। कथा भी इतरकाव्य में प्रख्यात है ही।)

यत्तन्नानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥ २३ ॥

विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

यथा ह्युद्यमना कालिन्धो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः । वीरचरिते तु रावण-
सौहृदेन वाली रामवचार्थमागतौ रामेण हृत इत्यन्यथा कृतः ।

नायक की प्रकृति (धीरोदात्ता) तथा नाटक के प्रमुख रस (वीर, या शृङ्गार)
के प्रतिबुद्ध जो कोई बात उस इतिवृत्त में पाई जाती हो, कवि को चाहिए कि उसे
इस तरह से परिवर्तित कर दे कि नायक के चरित्र का वह दोष न रहे, या रस का वह
प्रतिबुद्ध तत्त्व हट जाय । इस तरह की जो कोई अनुचित बात हो या तो उसे छोड़
ही दे या परिवर्तित करके नये रूप में रस दे ।

जैसे भासुदास ने अपने नाटक उदात्तराघव में राम के द्वारा छल से कालि का बध सर्वथा
छोड़ दिया है, उसने रस [यदना का देवाणा ही नहीं दिया है । भवभूति के वीरचरित में
रावण की मित्रता के कारण वाली राम के बध के लिए आता है, और राम उसे मार देते हैं,
इस तरह वह यदना बदल दी गई है ।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि राम जैसे दिव्यावतार तथा धीरोदात्त राजर्षि के, उज्ज्वल
तथा सार्वभौम चरित्र में कालि को छल से मारना कलङ्क है ।

(हम स्वीक्षा दूसरा उदाहरण अभिमान आकुन्तल से के सकते हैं । परंपुराण में जहाँ
से यह कथा ली गई है दुर्वासा वाली यदना-शाप-वा उल्लेख नहीं । इस प्रकार आकुन्तल को
बिना किसी कारण भूल जाना दुष्पन्त की कायकता व लज्जता को सिद्ध कर उसके
धीरोदात्तता को दूषित कर देता है । कविवर कालिदास ने धीरोदात्त दुष्पन्त के चरित्र को
अकल्पित रसों के लिए दुर्वासा शाप की कल्पना की है:—स्मरिन्मति त्वा न स बोधितोऽपि
सन्, कथा प्रमत्तः प्रयां कृता भिव ॥)

आयेन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २४ ॥

राण्डशाः सन्वित्संज्ञांश्च विभागानपि राण्डयेत् ।

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतस्वनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोप-
कल्पसौत्रविन्दुपदानाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुपुण्येन पञ्चधा विभजेत् ।

पुनरपि चैतद्व्य भागत्य द्वादश प्रयोदश चतुर्दशैत्येवमज्ञेयान् सन्धीना विभागान्दुर्थात् ।

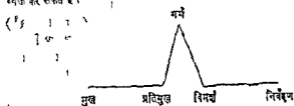
नाटक के रचयिता को चाहिए कि उस प्रकृत कथा का आदि व अन्त कहीं
रसेगा इसका निश्चय कर ले । नाटक किस विशेष घटना से आरम्भ करेगा, और कहां
आकर समाप्त करेगा, इसे निर्दिष्ट कर लेने पर उसे सारी कथा को पाँच भागों में बाँट
लेना चाहिए । ये पाँच राण्ड ही पाँच सन्धियाँ—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्ग, व
निर्वहण हैं । इन सन्धियों को विभागों, अङ्गों में भी विभाजित कर देना चाहिए ।

यदि रस व नायक के अनौचित्य व विरोध के परिहार से नाटकीय इतिवृत्त परिशुद्ध
ही नायक तथा कवि इस बात का विभाग कर ले कि क्यावस्तु में किन किन बातों की लो
रहमथ पर शिलाना है, किन-किन बातों की नहीं (अर्थात् किन-किन को विष्कम्भकादि के
द्वारा यचना ही देना है) । इसके अनुसार वह इतिवृत्त में बीच, विन्दु, पत्तारा, प्रवरी तथा
बायें रस अर्थप्रकृतियों की कल्पना करे, हम प्रकार की उपर्युक्त-पक्ष को आरम्भार्थि पाँच
अवस्थाओं के अनुकूल पाँच अङ्गों में—सुरादि पाँच सन्धियों में—बाँट दें । फिर इसके बाद

१. इसरूपकार धनञ्जय शान्त की रस नहीं मानते, बल्कि यहाँ हमने नहीं किया है ।
हम नाटक में शान्त के भङ्गी रूप को ही स्वीकार करते हैं ।

मुख व गर्भसन्धि को। बारह, प्रतिमुख व विमर्श को वेरह तथा निर्वहण, सन्धि को चौदह अक्षों में विभक्त कर दे।

[नाटकीय कथावस्तु के आरम्भ से लेकर अन्त के विभागों को इन एक रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।



नाटकीय कथावस्तु एक सरल या सीधी रेखा की तरह एक ही दिशा में नहीं चलती। प्रतिमुख तक वह सीधी चक्की है और फिर वह फलप्राप्ति की दृष्टि में उन्नतिशील होती है। गर्भसन्धि इसकी चरम सीमा है जिसके अन्तर्गत 'सङ्घर्ष' की स्थिति पाई जाती है। तदनन्तर वह नीचे आती है। विमर्श के बाद फिर वह सीधी होकर नायक के कार्य तथा फलप्राप्ति की ओर उन्मुख होती है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों में कुछ लोग इसी तरह को बीच स्थितियों या अन्त की कथावस्तु में मानते हैं। वह दूसरी बात है कि वहाँ अन्त तदा दृशान्त न होता हो। कुछ लोग तीन ही अवस्थाएँ मानते हैं—आरम्भ (Beginning), सङ्घर्ष तथा अन्त या अन्त स्थिति (Climax) तथा अन्त (Denouement)]

घत्तुपष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा ॥ २६ ॥

पताकावृत्तमभ्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।

अङ्गान्यत्र यथासाममसन्धि प्रकारी न्यसेत् ॥ २७ ॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिरुतमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रथानेतिवृत्तादेव द्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यून पताकेतिवृत्त न्यसनीयम् । अङ्गानि च प्रधानानिरोधेन यथाकार्थं न्यसनीयानि । प्रकारेतिवृत्त स्वपरिपूर्वसन्धि विधेयम् ।

इस प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त के १४ अङ्क होते हैं। दूसरा प्रासङ्गिक इतिवृत्त है। इसके पताका नामक भेद में पाँचों सन्धियों को यह आवश्यक नहीं। यह प्रधान वृत्त की अपेक्षा, एक, दो, तीन या चार सन्धियों से न्यून हो सकता है। इसमें कथा वस्तुके रूप से अङ्कों का समावेश हो सकता है। प्रासङ्गिक कथा के प्रकारी नामक भेद में सन्धिसन्धिवेश नहीं होना चाहिए।

दूसरा प्रासङ्गिक इतिवृत्त प्रकारि सन्धियों से न्यून हो अर्थात् प्रधान इतिवृत्त से एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियों से न्यून रूप में पताका इतिवृत्त का विस्थापन करना चाहिए। इसके अङ्क यथावश्यक रूप में रखे जा सकते हैं, इस तरह कि प्रधान इतिवृत्त से उनका विरोध न पड़े। प्रकटी नामक प्रासङ्गिक इतिवृत्त में सन्धि की परिपूर्णा हो अन्त तक नहीं अन्त इतिवृत्त का विधान नहीं होता चाहिए।

तत्रैव विभक्ते—

आदौ पिक्वाम्भकां कुर्यापङ्कं वा कार्ययुक्तिः ।

इयमत्र कार्ययुक्तिः—

रूपेक्षितं परित्यज्य नीरस घन्तुविस्तरम् ॥ २८ ॥

यदा सन्दर्शयेच्छ्रेयं कुर्याद्विष्कम्भक तदा ।

यदा तु सरस घस्तु मूलादेघ प्रवर्तते ॥ २६ ॥

श्लाघनेव तदाङ्गः स्यादासुग्राह्येपसंश्रयः

इतिवृत्त का इस प्रकार विभाजन कर लेने पर कवि नाटक के आरम्भ में कार्य की युक्ति के अनुसार या तो विष्कम्भक की योजना करे या अङ्क की व्यवस्था करे। यह योजना कार्य के आधार पर होगी।

यदि आरम्भिक वर्णन नीरस है किन्तु उनकी आवश्यकता नाटक की वस्तु की गतिविधि देने के लिए होती हो है, तो ऐसी दशा में कवि को चाहिए कि नीरस किन्तु आवश्यक वस्तु विस्तार को छोड़कर जब वह अभाववस्तु के शेषांश को रङ्गमञ्च पर दिखाना चाहे तो वह उस नीरस वर्णन को छजना देने के लिए विष्कम्भक का सन्निवेश करे। यदि अभाववस्तु में आरम्भ से ही रसमय वस्तु पाई जाती है, तो ऐसी दशा में विष्कम्भक का प्रयोग करना ठीक नहीं। ऐसी स्थिति में शुरु में ही अङ्क का सन्निवेश करना चाहिए तथा प्रयोगातिशय आदि आसुल मैत्री के आधार पर आरम्भ में ही पात्रप्रवेश कर देना चाहिए।

[जैसे मालतीमाधव के आरम्भ में नीरस वस्तु की छजना के लिए विष्कम्भक की योजना पाई जाती है, जहाँ मगवती (तापसी) आकर भूल वस्तु की छजना देती है, तब प्रकरण आरम्भ होता है। शाकुन्तल में आरम्भ से ही सरस कथावस्तु का सन्निवेश पाया जाता है, १ नाटक अङ्क से शुरु किया गया है।]

स च—

प्रत्यक्षानेच्छरितो विन्दुव्याप्तिपुरस्सृतः ॥ ३० ॥

अज्ञो नानाप्रकारार्थसन्निधानरसाभयः ।

रङ्गप्रवेशे साक्षात्सिद्धिरयमानगायकव्यापारो विन्दुपुरोपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजनसद्वि-
पानरसाधिकरण इत्यहं इत्याह ।

विष्कम्भक व अङ्क का भेद धराने पुत्र कहते हैं कि अङ्क में नाटकवि के नायक का चरित मयच रूप से पाया जाता है। या तो वह स्वयं मञ्च पर आता है या मञ्च पर पठित घटना उसके चरित्र से साक्षात् सम्बन्ध होती है। उसमें विन्दु नामक अर्थ प्रकृति इयात पाई जाती है तथा वह माना प्रकार के नाटकीय प्रयोजन के सम्पादन तथा रस दोनों का आश्रय होता है।

पात्र के रङ्ग मञ्च पर प्रवेश करने पर जहाँ साक्षात् रूप से नायक का व्यापार मञ्च पर दिखाया जाता है, वहाँ विन्दु का उपदेश पाया जाता है, तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन का विधान रहता है तथा अन्तमें रस स्थित रहता है, उसे मद् कहते हैं। चूँकि इसमें विन्दु, नायक का व्यापार तथा रसादि ठीक उही तरह रहते हैं जैसे गीत में—इतीतिथि इति 'अहं' (गीत, उत्सव) (उत्सव के आधार पर) कहा जाता है।

तत्र च—

अनुभावविभाषाभ्यां श्यायिना व्यभिचारिभिः ॥ ३१ ॥

शुद्धीतमुने कर्तव्यमद्विन परिपोषणम् ।

अज्ञो इति एतस्यापि उपसृष्ट्यापिनेति रसान्तरस्यापिनेति प्रहङ्गम् । शुद्धी-
गुरु परस्परव्यतिरेकीरितार्थः ।

इस प्रकार अनुभाववस्था के बाद कवि को चाहिए कि नाटक के अङ्गी रस की पुष्ट

पताये, उसका परिपोषण करे। यह रस ही प्रुष्टि यह अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारि-
भाव एवं स्थायी भाव के द्वारा करें। इनमें से वह कुछ को ले सकता है, कुछ को छोड़
सकता है, हम तरह उन विभिन्न अनुभावों, विभावों तथा सन्नारिणों का मिश्रण व
स्वांग यह आवश्यकतानुसार कर सकता है।

वहाँ मूलकारिका के 'अङ्गिन' रस पद से अङ्गी रस के साथ ही साथ उसके स्थायीभाव का
भी ग्रहण हो जाता है, इसलिए कारिका 'स्थायिना' पद से रसान्तरस्थायी-अङ्गिस्थायी से निम्न
स्थायीभाव-का ग्रहण करना चाहिए। गृहीतमुष्ट का अर्थ परस्पर अभिन्न होने से है।

न चातिरसतो घस्तु दूरं चिच्छिद्यप्रतां नयेत् ॥ ३२ ॥

रसं वा न तिरौदध्याद्विस्त्यतद्धारसत्तणैः ।

क्यासंप्यङ्गोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः ।

रस का इतना अधिक परिपोष भी न किया जाय कि क्यावस्तु ही विच्छिद्य हो जाय;
और न घस्तु, अलङ्कार या नाटकीय लक्षणों से रस को ही तिरौहित कर दिया जाय।

[नाटक के सम्बन्ध में रस व वस्तु दोनों महत्त्वपूर्ण वस्तु हैं, अतः दोनों में मनुष्यिन
सन्दुक्त करने से ही नाटक ही परिपूर्णता होगी।]

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो धीरः शृङ्गार एव वा ॥ ३३ ॥

अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्याद्विर्घ्नहयोऽद्भुतम् ।

ननु च रसान्तरस्थायिनेरपनेनेव रसान्तराणामङ्गत्वमुक्तम्, तद्य-यत्ररसान्तर-
स्थायी स्वाभावविभावव्यभिचारिको भूयसोपनिवप्यते तत्र रसान्तराणामङ्गत्वम्, केव-
लस्थाप्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव ।

नाटक में अङ्गी रस एक ही उपनिबद्ध होना चाहिए; वह या तो शृङ्गार हो सकता है
या धीर^१। अङ्ग रूप में और सभी रसों का निबन्धन हो सकता है। निर्वहण सन्धि में
अद्भुत रस का उपनिबन्धन किया जाना चाहिए।

वहाँ दूसरे रसों के अङ्गत्व के विषय में रस कारिका में जो उल्लेख किया गया है, उसमें
पूर्वपक्षी की पुनर्बक्ति दोष दिखाई पड़ता है। इसी शङ्का की वजहसे हुए वह करता है।

ऊपर की ३१ वीं कारिका में स्थायी (भाव) का रसान्तरगतत्व [निर्दिष्ट हो चुका है।
स्थायी का ही परिभाषक रस है, अतः उससे ही अङ्गी रस में दूसरे रसों की अङ्गता स्पष्ट हो ही
जाती है। (किर-निर से रसान्तरों का अङ्गी रस में अङ्गत्व निर्दिष्ट करना, पुनर्बक्ति
गर्ही है, तो और क्या ?)

इसी का उद्देश देते हुए सिद्धान्तपक्षी बताया है कि वस्तुतः यह बात नहीं है। ३१ वीं
कारिका के स्थायी के उल्लेख में रस का समावेश नहीं होता। क्योंकि दोनों की अवस्था
भिन्न है। जहाँ किसी दूसरे रस का स्थायी रस दृष्ट से उपनिबद्ध किया जाय, कि वह अपने
अनुकूल अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी से युक्त हो, तथा उसका निबन्धन अच्छी तरह
किया गया हो, वहाँ दूसरे रसों का अङ्गत्व माना जायगा। जहाँ केवल (अनुभावशिद्धि) के
स्थापी का निबन्धन हो वहाँ स्थायी का अङ्गत्व है, तथा वहाँ स्थायी भाव एक प्रकार से
व्यभिचारी भाव का ही काम करता है।

१. नाट्यशास्त्र में भरत ने नाटकों के सम्बन्ध में ३२ लक्षण माने हैं, वहाँ नाट्यालङ्कार भी
करते हैं। अलङ्कारों से तात्पर्य शब्दालङ्कार व अर्थालङ्कार से है।

२. ध्यान रखिये धनत्रय शब्द रस की नहीं मानते, न उसका सन्निवेश अङ्गी रूप में
नाटक में हो मानते हैं।

दूराध्वानं घघं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥ ३४ ॥

संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।

अभ्यरप्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥ ३५ ॥

अङ्गनैवोपनिवर्णीत, प्रवेशकादिभिरेव सूत्रयेदित्यर्थः ।

इस प्रकार रस का घस्तु में सन्निवेश कर लेने पर, कवि को इसे समझ लेना होगा कि कुछ बातें मध्य पर घताने की नहीं हैं; यथा—लम्बी सफर, घघ, युद्ध, राज्य व देश की क्रान्ति, पुरी का घेरा डाल देना, भोजन, स्नान, सुरत, उषटन लगाता, चर्खों का पहनना आदि घस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से मध्य पर नहीं घताना चाहिये ।

इन बातों का उपनिबन्धन अङ्गों के द्वारा कभी न करे, शौ प्रवेशकादि घचकों के द्वारा इनकी घतना ही जा सकती है ।

नाधिकारिवधं कापि त्याज्यमाचर्यकं न च ।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देवपितृनार्याचरसु-
मेव कथित्कुर्यात् ।

अधिकारी नायक के वध की सूचना प्रवेशकादि के द्वारा भी न दे, जैसे आवश्यक घस्तु देव-पितृ-कार्य आदि का निवन्धन अवश्य करे, उस आवश्यक घस्तु की उपेक्षा न करे ।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासघनायकम् ॥ ३६ ॥

पात्रैस्त्रिचतुरेदङ्गं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एकदियसप्रतृतीययोजनसम्बद्धमासघनायकमवहुपात्रप्रवेशमङ्गं कुर्यात्, तेषां पात्रा-
मपरगमद्वस्त्वान्ते निर्गमः शर्यः ।

अब अङ्ग के विभाजन उसकी घस्तु की समय-सीमा तथा पात्र संख्या का उल्लेख रते कहते हैं:—

एक अङ्ग में घस्तु की योजना इस ढङ्ग की हो कि वह केवल एक ही दिन की ाटना (चरित) से सम्बद्ध हो, साथ ही एक ही प्रयोजन या एक ही अर्थ से सम्बद्ध हो । उसमें नाटक का नायक आसन्न-समीपस्थ-हो तथा अधिक पात्रों की भीड़ का प्रवेश न कराया जाय, केवल तीन या चार ही पात्र वहाँ प्रवेश करें । अङ्ग के अन्त में इन सारे पात्रों का निर्गम कर दिया जाय—ये सारे ही पात्र अङ्ग के समाप्त होते समय मध्य से निष्क्रान्त हो जायें ।

१. 'अत्रस्य' इत्यपि पाठः ।

२. यहाँ यह बात याद रखने की है कि पाश्चात्य नाट्यशास्त्र, वध, युद्ध, संरोध आदि भी मध्य पर दिखाना अनुचित नहीं समझते, बल्कि नासद (Tragedies) नाटकों में ही वे उन्हें मध्य पर अवदन दिखाते हैं ।

३. वास्तव्य यवन नाट्यशास्त्र भरतू ने नाटकों के लिए 'अन्विति-प्रव' (श्री मुनिदीनु) को आवश्यकता माना है । भारतीय नाट्यशास्त्र में अङ्ग में एक ही दिन को घटना का, तथा एक ही प्रयोजन का सन्निवेश, कमः कालाभिति (मुनिदी आर् टारन) तथा कार्पाभिति (मुनिदी आर् एरुन) से सम्बद्ध है । इसके अनिधिक भारतीय नाटक के अङ्गों की एक इरपटा (दिनमें इरवों का विभाजन नहीं होता है) स्वल्पाभिति (मुनिदी आर् प्लेस) को भी पूरा करती ही है ।

पताकास्थानकान्यत्र विन्दुरन्ते च घोजवत् ॥ ३७ ॥

एवमद्वा प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृता ।

पञ्चाङ्गमेतद्वर दशाङ्ग नाटक परम् ॥ ३८ ॥

इत्युक्त नाटकलक्षणम् ।

इस नाटक में भावी भाषों के सूचकों—पताकारधानकों का भी सखिवेश होना चाहिये । इसमें विन्दु नामक अर्थ प्रकृति का प्रयोग हो, तथा अन्त में घोज का परामर्श पाया जाय । इस प्रकार अङ्कों की योजना की जाय, जिसमें पात्रों का प्रवेश व निर्गम समुचित रूप से किया जाय । नाटक के अङ्कों की संख्या पाँच अङ्कों या दस अङ्कों की होती है । इसमें पाँच अङ्कों का नाटक निम्न कोटि का होता है, दस अङ्कों का श्रेष्ठ ।

[नाटकों को देखने पर पाँच से लेकर दस तक अङ्कों वाले नाटक पाये जाते हैं । अधिकतर संस्कृत नाटक सप्ताङ्ग हैं — यथा शाकुन्तल, उच्चरामचरित, मुद्राराक्षस । वेणीसंहार में छ अङ्ग हैं, तथा विक्रमोर्वशीय में पाँच । वैशे हनुमत्नाटक में चौदह तक अङ्ग पाये जाते हैं । पर मोटे तौर पर नाटक में अङ्क संख्या ५ से १० तक पायी जाती है ।]

यहाँ तक नाटक के लक्षण कहे गये ।

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पायं लोकसंश्रयम् ।

अमात्यविप्रवणिज्जामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥ ३९ ॥

धीरप्रशान्त सापाय धर्मकामार्थतत्परम् ।

शेष नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥ ४० ॥

अविभुद्विविचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम् = अनुदात्तम् अमात्यादन्यतमं धीरप्रशान्तं नाटकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् प्रकरणे, मन्त्री अमात्य एव । सार्यवाहो वणिग्विप्र शेष एवेति स्पष्टमयम् ।

नाटक के बाद प्रकरण का लक्षण तथा विशेषताएँ बताते हैं:—

प्रकरण का इतिवृत्त कथित तथा लोकसंश्रय होता है । लोकसंश्रय का सात्पर्य यह है कि यह राजा आदि की कथा न होकर भयम घराँ के सामान्य व्यक्ति की कथा होती है । इसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण या वनिये में से कोई एक हो सकता है । यह नायक धीरप्रशान्त कोटि का होता है, तथा विपत्तियों से युक्त होता है । यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) में तत्पर होता है । इसके अन्दर सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि का समावेश ठीक नाटक की ही तरह होता है ।

इसका इतिवृत्त कवि बुद्धि विरहित तथा लावसंश्रय अर्थात् अनुदात्त होता है । मन्त्री आदि में से कोई एक इसका नायक होता है, यह धीरप्रशान्त होता है, तथा उसके धर्म की सफलता विपत्तियों से अन्तर्हित होती है । मन्त्री अमात्य ही होता है, सार्यवाह वनिया है । और सब स्पष्ट है ।

[मृगयुक्तिक प्रकरण की कथा कथित है तथा लोकसंश्रय भी । इसका नायक ब्राह्मण ब्राह्मण है धीरप्रशान्त है । इसका रस शृङ्गार है । मातृतीनायक की कथा भी कथित है । इसका नायक भी ब्राह्मण है, तथा धीरप्रशान्त है । दोनों में बायें सिद्धि विपदन्तर्हित है— एक में शंकार की दुष्टता के कारण, दूसरे में मातृती के पिता के डर तथा विपत्तियों की विवर्तना के कारण, जिसमें मातृती अपौरुषेण वपासिक्त वे पदों में रस जाती है ।]

मायिका तु द्विधा नैतुः कुलक्री गणिका तथा ।

फचिदैकैव कुलजा वेश्या चापि द्वयं कंचित् ॥ ४१ ॥

कुलजाभ्यन्तरा, वाद्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः ।

शामिः प्रकरणे वेश्या, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥ ४२ ॥

वेश्या वृत्तिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका । यदुक्तम्—

‘आभिरभ्यर्चिता वेश्या रूपशालुगुणान्विता ।

उभते गणिकाशब्दं स्यात् न जनसंसदि ॥’

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति श्रेया प्रकरणे नायिका । यथा वेश्यायैव तरङ्गदत्ते कुलजाय पुण्यदूषितके, ते द्वेऽपि गृह्यकटिकायामिति । किन्तु वदुक्तकादिधूर्तसङ्कुलं तु गृह्यकटिकादिवरसङ्कीर्णप्रकरणमिति ।

प्रकरण के नायक की नायिका दो तरह की हो सकती है—या तो वह कुलीन स्त्री हो या गणिका हो । किसी प्रकरण में एकैकी कुलस्त्री ही नायिका हो सकती है, कहीं एकैकी वेश्या ही । किन्हीं प्रकरणों में एक साथ दोनों—कुलस्त्री व गणिका—नायिका रूप में पाई जा सकती है । कुलस्त्री आभ्यन्तर नायिका होती है, वेश्या बाहरी नायिका । इस प्रकार प्रकरण की नायिका या तो कुलस्त्री या गणिका या दोनों ‘होती’ इनका अतिशय नहीं किया जा सकता । इस तरह प्रकरण तीन तरह का हो जाता है—कुलजानिष्ठ, गणिकानिष्ठ, उभयानिष्ठ । जिस प्रकरण में धूर्त-विद-राकारादि की समावेश होता है वह प्रकरण सङ्कीर्ण (मिश्रित) होता है ।

वेश्या शब्द की श्रुतपत्रि वृत्तते दुष्ट श्रुतकार बताता है कि जिसका भरणोपपन्न-वेश्य-ही जीवन है, वह वेश्या कर्दलानी है । गणिका वेश्या का ही भेद है । ‘जैसा कि कहा गया है—‘इन व्यक्तियों के द्वारा-प्रापित, रूप शील तथा गुण से युक्त वेश्या ही गणिका कहलाती है तथा वह सभामों में स्थान प्राप्त करती है ।’ इस तरह प्रकरण में—कुलजा, वेश्या, दोनों—हीन तरह की नायिका होती है । जैसे तरङ्गदत्त प्रकरण में वेश्या नायिका है; पुण्यदूषितके में कुलजा नायिका है, तथा गृह्यकटिक में दोनों हैं । धूर्त, जुआरी, जाति, पात्रों से सङ्कुल होने पर प्रकरण सङ्कीर्ण शोचि का होता है, जैसे गृह्यकटिक ।

[मालतीमाधव की नायिका मालती कुलजा है, गृह्यकटिक या मातृ के चारदश की बसन्तसेना वेश्या है, चारदश वर्ष मादणी कुलजा ।]

अथ नाटिका—

सद्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।

अथ केचित्—

‘अनयोश्च दम्भयोर्मादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्होयः ।

प्रश्यातस्त्रितरो वा नाट्यसङ्हायिते काव्ये ॥’

इत्यमुं भारतीयं श्लोकम् ‘एकै भेदः प्रयोक्तोः नाटिकास्य इतरैस्त्रिभ्यः प्रातः प्रकर-निघातं गो नाट्यसङ्घा इव काव्ये प्रायिते’ इति व्याचक्षणः प्रकरणिकोऽपि मन्यन्ते तद-शब्द । उद्देशलक्षणयोरनभिधानात् । समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्, वस्तुसङ्गत्ययवानां प्रकरणभेदात् प्रकरणिकायाः, अतोऽत्रिंशत्वा नाटिकाया अन्वयेनां सङ्घातं कृतं तत्राय-मिति प्रायः—शुद्धलक्षणसद्वारादेव तत्राक्षणे सिद्धे लक्षणकरणे सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्त-व्येति नियमायं विज्ञायते ।

यहाँ नाटक तथा प्रकरण दोनों के लक्षण का निर्देश करने के बाद इनके सङ्गीर्ण भेद नाटिका (उपरूपक) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि दूसरे उपरूपक का निराकरण करने के लिये यहीं पर सङ्गीर्ण (मिश्रित) नाटिका का लक्षण कर देते हैं।

कुछ लोग सङ्गीर्ण उपरूपकों में नाटिका, तथा प्रकरणिका दो भेदों को मानते हुए प्रकरणिका नामक भेद को भी मानते हैं। इसके प्रमाण स्वरूप वे भरत के इस श्लोक को देते हैं— 'अनयो' 'शब्दे'। इस श्लोक का अर्थ वे यों करते हैं कि 'नाटक व प्रकरण इन दोनों के योग से काव्य के दो भेद होते हैं—एक भेद प्रख्यात है—नाटिका, तथा दूसरा अमतिष्ठ प्रकरणिका है। दोनों नाटो इस सजा से अभिहित होते हैं।'।

प्रसिद्धाकार धर्मिक को यह मत स्वीकार नहीं। वे तो प्रकरणिका को अलग भेद मानने से सहमत नहीं। उनका कहना है कि भरत के उद्देश्य श्लोक में प्रकरणिका का नाम (व्येष्ट) व लक्षण दोनों नहीं पाये जाते। इसका कारण यह है कि प्रकरण के समान ही लक्षण प्रकरणिका में पाये जाते हैं तथा उनमें कोई भिन्नता नहीं। साथ ही प्रकरणिका के वस्तु, रस तथा नायक प्रकरण से अभिन्न होते हैं। नाटिका का लक्षण मुनि भरत ने इसलिए किया है कि वे उस पर कुछ जोर देना चाहते हैं। वेसे तो नाटिका का लक्षण शुद्ध रूपकों (नाटक व प्रकरण) के लक्षणों के सहुर मिश्रण से ही सिद्ध हो जाता है, पर फिर भी उसका अलग से लक्षणकरण इस बात का निवमन करता है कि सङ्गीर्ण उपरूपक त्रोटकादि में विशेषतः कवि को नाटिका की ही योजना करनी चाहिए।

समेव सङ्करं दर्शयति— ।

तत्र चस्तु प्रकरणात्नाटकाभावको नृप. ॥ ४३ ॥

प्रख्यातो धीरललित. शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।

उत्पाद्येतिवृत्तत्व प्रकरणधर्मं, प्रख्यातनृपनायकादित्व तु नाटकधर्मं इति, एव च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्यादेः प्रकरणिकायामानादङ्गपात्रभेदात् यदि भेदस्तत्र (सदा) ।

इसी सङ्कर को बताते हैं कि—नाटिका की कथावस्तु प्रकरण से ली जाती है अर्थात् यह कविकल्पित होती है। उसका नायक नाटक से गृहीत होता है, यह राजा होता है। यह प्रख्यातवंश तथा धीरललित होता है। इसका अङ्गीरस शृङ्गार होता है।

'कथित शक्तिवृत्त का होना प्रकरण की विशेषता है, प्रख्यात नृप का नायक होना नाटक की विशेषता। इस तरह नाटक, प्रकरण, नाटिका के अतिरिक्त वस्तु भादि के भेद के अभाव से प्रकरणिका और अलग भेद नहीं मान पड़ता। वेसे अङ्गो व पात्रों के भेद से ही अलग भेद माना जाय, तो फिर भेदगणना असंभव हो जायगी। रूपकों व उपरूपकों के अनेक व अनन्त भेद हो जायेंगे।

स्त्रीप्रायश्चतुरङ्गादिभेदक यदि चिन्त्यते ॥ ४४ ॥

एकद्वित्र्यङ्गुपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

तत्र नाटिकेतिस्त्रीप्रमाह्ययौचित्यप्राप्त स्त्रीप्रधानत्वम्, कैशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च तदङ्ग-शरदययाऽऽशावमर्त्येन चतुरङ्गत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

स्त्री प्राय (स्त्री पात्रों की प्रधानता) तथा चार अङ्ग ये नाटिका की विशेषता हैं। इनके कारण प्रकरणिका को भिन्न माना जाय तो एक, दो, तीन अङ्गो या पात्रों के भेद से अनन्तरूप-रूपकों के हो जायेंगे।

नाटिका को संदा में कौत्व का प्रयोग इस बात का सूचक है कि इसमें स्त्रीपात्रों की प्रधानता है। इसमें कैशिकी वृत्ति का आश्रय लिया जाता है, उसके समीप चार भङ्ग हैं, तथा नाटिका में अवमर्श नामक सन्धि बहुत भल्प होती है, इसलिये इसमें चार भङ्गों का सन्धिवेश उचित ही जान पड़ता है।

विशेषस्तु—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ ४५ ॥

गम्भीरा मानिनी, कृच्छ्रास्तद्वशाद्येतुसङ्गमः ।

नाटिका में कुछ विशेषता होती है—

इसमें दो नायिका होती हैं। ज्येष्ठा नायिका देवी (महारानी) होती है, जो राज 'क्ष' में उत्पन्न तथा प्रगल्भ प्रकृति की होती है। वह यही गम्भीर तथा मानिनी होती है। नायक का कनिष्ठा नायिका के साथ सङ्गम वधे कष्ट से होता है, वह सङ्गम इसी ज्येष्ठा देवी के अधीन होता है।

प्राप्ता तु—

नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥ ४६ ॥

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः ।

नायिका भी ज्येष्ठा की भाँति ही नृपवंशजा होती है, किन्तु वह मुग्धा होती है— (प्रगल्भ, गम्भीर या मानिनी नहीं) वह अप्रथिक मनोहर तथा सुन्दर होती है।

[रत्नावली नाटिका का नायक राजा उदयन है, उसकी ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता एतद्वन्मा है। प्रकृति से वह गम्भीर, प्रगल्भ, तथा मानिनी है। उदयन व रत्नावली का समागम यही के वध में है। रत्नावली (सागरिका) भी नृपवंशोत्पन्न है—वह मुग्धा तथा सुन्दरी है।]

अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनेः ।

अनुरागो नयावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥ ४७ ॥

नेता तत्र प्रथमतः देवीधासेन शङ्कितः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्त पुरसम्बन्धराज्ञीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः ।

अन्तःपुर आदि के सम्बन्ध के कारण वह नायिका राजा के श्रुतिपथ तथा इष्टिपथ में अवतरित होती है। उसे देखकर तथा उसके धारे में सुनकर राजा उसको प्रेम करने लगता है। यह प्रेम-अनुराग आरम्भ में नवीन होता है, धीरे-धीरे वह परिपक्व होता जाता है। नायक यहाँ पर सदा महारानी के भय से शङ्कित रहता है—(फलतः उसकी अनुरागवेषा दिप दिप कर चला करती है।)

इस मुग्धा नायिका को अन्तःपुर में राजीव आदि के समय नामक समीप पादर वसने पत्रि प्रेम करने लगता है। यह प्रेम देवी के प्रतिबन्ध के कारण धिया रहता है, पर उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। नाटिका में नायक के इस प्रकार के अनुराग का निबन्धन होना चाहिए।

कैशिकयद्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिह नाटिका ॥ ४७ ॥

प्रत्यङ्गोनिबद्धानिहितसङ्गणकैश्चिक्कयश्चतुष्टयवती नाटिकेति ।

इस नाटिका में कैशिकी के चार भङ्ग—नर्म, नर्मरिक्क, नर्मरफोट तथा नर्मगर्भ प्रयुक्त होते हैं, तथा सदुपयुक्त चार भङ्गों की योजना की जाती है।

नाटिका पर है जहाँ हर अङ्क में उपर्युक्त लक्षणवाले वैशिकी वृत्ति के चार अङ्गों मनादि का सन्निवेश किया जाय।

[नाटिका के उदाहरण स्वरूप—रत्नावली, त्रियदशिका, विद्वानकृत कर्णगुन्दरी, आदि कान्य दिये जा सकते हैं। इसी का एक विशेष प्रकार का भेद सट्टक माना जा सकता है, जहाँ केवल प्राकृत भाषा का ही प्रयोग होता है सट्टक का उदाहरण राजशेखर की कर्णमधरी है।]

अथ भाण —

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।

यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥ ४९ ॥

सम्योधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।

सूचयेद्वीरशूद्रादौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥ ५० ॥

भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं घस्तु कल्पितम् ।

मुखनिर्वहणे साङ्गे सास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१ ॥

धूर्ताधीरयूतकाराद्यस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं उपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः । एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तयः आकाशभाषितैरासद्विदितोत्तरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाच्च धीरशूद्रादौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ ।

अब प्रसन्नोपास भाण नामक रूप का अङ्क उपनिबद्ध करते हैं:—

भाण वह रूपक है जहाँ कोई अल्पविक्रम चतुर तथा बुद्धिमान् (पण्डित) विट (एककलापारङ्गत व्यक्ति) अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्तचरित का वर्णन करे। यहाँ पर सम्योधन, उक्ति व प्रत्युक्ति का सन्निवेश आकाशभाषित से किया जाता है। यहाँ पर कोई दूसरा पात्र नहीं होता। वही विट आकाशभाषित के द्वारा किसी से भाषण या कथनोपकथन करता दिखाया जाता है। भाण के द्वारा सौभाग्य तथा शौर्य के वर्णन कर शूद्रार तथा धीर रस की सूचना दी जाती है। इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता पाई जाती है तथा एक ही अङ्क की योजना की जाती है। इसकी कथावस्तु कविकल्पित होती है। इसमें पाँचों सन्धिषां नहीं बटाई जा सकती, अतः मुख तथा निर्वहण ये दो ही सन्धिषां पाई जाती हैं। इन दो सन्धिषां के अङ्गों की योजना इसमें की जाती है, तथा दस छास्याङ्गों का सन्निवेश भी होता है।

जहाँ धूर्त, धीर, शूद्रादौ आदि लोगों के चरित्र का स्वकृत अथवा परकृत वर्णन विट के द्वारा किया जाय, वह भारती वृत्ति की प्रधानता होने के कारण भाण कहल्यता है। एक ही विट आकाशभाषित के द्वारा आशङ्का तथा उच्च देख उक्तिप्रत्युक्ति का प्रयोग करता है। यहाँ रस की रचना नहीं पाई जाती अतः सौभाग्य एवं शौर्य के वर्णन के द्वारा क्रमशः शूद्रार व धीर रस की सूचना दी जाती है।

[इस प्रकार भाण की ये विशेषताएँ हैं:—

१. इसकी वस्तु कल्पित व धूर्तचरितपरक होती है, जिसमें मुख व निर्वहण सन्धि होती है।
२. इसका नायक विट होता है, वही एक पात्र इस रूपक में पाया जाता है। वह कथनोपकथन का प्रयोग आकाशभाषित के द्वारा करता है।
३. इसमें भारती वृत्ति पाई जाती है।

४. वीर तथा शृङ्गार रस को छपना दो जाती है ।^१]

५. इसमें केवल एक अङ्क होता है ।

लास्याहानि—

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमालीनं पुष्पगण्डिका ।

प्रच्छेदकस्त्रिगुहं च सैन्धवाद्यं त्रिगुहकम् ॥ ५२ ॥

उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ।

लास्ये दशविचं ह्येतद्गन्निर्देशकल्पनम् ॥ ५३ ॥

शेषं स्पष्टमिति ।

भाग के सम्बन्ध में दस लास्याहानों का वर्णन किया गया है—ये दस लास्याह—संगीत के भेद हैं। इनका वर्णन करना आवश्यक समस्त कारिकाकार बताते हैं कि लास्य में इन दस अङ्गों की कल्पना की जाती है:—गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगुह, सैन्धव, त्रिगुहक, उत्तमोत्तमक तथा उक्तप्रत्युक्त ।

(१) गेयपदः—जहाँ पुरोहित नायक के सामने वीणा के द्वारा शुभलापन गाया जाय, वह गेय पद है ।

(तन्वीमाण्डे सुरकुल्यौषधिरवायनेपुरः ।

शुभलापनं गेयपदम्,)

(२) स्थितपाठ्य—स्थितपाठ्य वह है—जहाँ नायिका मदन से उन्नत होकर प्राकृत में गीत पढ़ती है ।

(शिथपाठ्यं तदुच्यते

यदनोच्चारिता यम्, पठति प्राकृतं स्थिता ॥)

(३) आसीन—जहाँ किसी भी वाद्य की स्थिति न हो, तथा शोक व चिन्ता से मुक्त की भाव की फैलाती हुई गीत गाये, वह आसीन लास्याह है ।

(निश्चिन्तासीपरहितं श्लोकचिन्तान्विताऽवस्था ।

सुप्रचारितगात्रं सदासीन मेव तत्र ॥)

१. भाग कई अवस्था में—पाश्चात्य पद्धति के एकात्मिक (मोनो-परिपेज) से मिलता है। उसमें भी इसी की तरह एक ही भाव अभिनेय करता है। संस्कृतसाहित्य के रूपक-साहित्य में भाग का विशेष स्थान रहा है। आठवीं शती से लेकर १७ वीं अठारहवीं शती तक संस्कृत भाग लिखे गये। कामलमठ बाण, सुवराजराजदगाँ आदि अनेकों ने भागों को एक सुन्दर साहित्यिक रूप दिया। भाग के द्वारा कवि सामाजिक क्रूरतियों पर भी बड़ा बड़ा व्यङ्ग्य कसवा है। सामाजिक क्रूरतियों का पर्दाफाश करने के लिए कवि के पास भाग व प्रहसन ये दो बड़े अस्त्र थे। किन्तु दोनों की प्रचाली में बड़ा भेद है। भाग की स्वभावप्रणाली बड़ी गम्भीर व उदात्त होती है, प्रहसन की सरल। यही कारण है कि भाग का रस हास्य नहीं होता है, प्रहसन का हास्य होता है। संस्कृत के भागों में स्थितर बेरथाओं के वर्णन उनके पात्रों के वर्णन, उनसे सम्बद्ध दूसरे घृष्ट व जुधारीयों के वर्णन मिलेगे। भागों में सर्वत्र शृङ्गार की प्रभावला मिली है, वीर बहुत कम। इनके साहित्यिक वर्णन भी शृङ्गार से प्रभावित होते हैं, जैसे सुवराज राजदगाँ के एक भाग के रस वर्णन में—

नयां वीर्य नमस्वथीं विनूतिप्रसवप्रभारापरमेणीकभ्रुकवाससं पति रकी रक्तः स्वर्गं नुगमति ।

शान्तिशिरमाकल्प्य रजनीं शोभातिरेतदिव्यं स्यारावाग्नुव मानर्नं विरुपति स्याश्लेषप्रारथेः ॥

२. 'संशयम्' इति पाठान्तरम् ।

(४) पुष्पगण्डिका—यद् गीत जिसमें वाचों का प्रयोग होता है, विविध छन्द पाये जाते हैं, तथा स्त्री एवं पुरुष की विपरीत चेष्टा पाई जाती है, पुष्पगण्डिका है।

(आतोत्समिश्रित मेर्यं छन्दसि विविधानि च ।

स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टित पुष्पगण्डिका ॥)

(५) प्रच्छेदक—पति की अवास्तव मानकर प्रेमविच्छेद के क्रोध व शोक से जब स्त्री वीणा के साथ गाने है, यह प्रच्छेदक कहलाना है।

(अन्यासद्ग पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युता ।

वीणापुरस्सर गानं स्त्रिया प्रच्छेदको मन ॥)

(६) त्रिगूढ—जहाँ स्त्रीवैशकारी पुरुष गावे व गायें यह मधुर गान त्रिगूढक कहलाना है।

(स्त्रीवैशधारिणां पुत्रां नाय्य इत्यत्र त्रिगूढम् ।)

(७) सैन्यव—जहाँ कोई नायक सङ्केतस्थल परशिया के न आने पर, प्राकृत में इस प्रकार वचन कहता है कि उसका कारण (गीतप्रकार) स्पष्ट रहता है, उसे सैन्यव कहते हैं।

(कथन भ्रष्टसङ्केतं सैन्यवत्करणान्वितम् ।

प्राकृत वचनं वक्ति यत्र तत्र सैन्यवर्णं विदुः ॥)

(८) द्विगूढ—मुक्त तथा प्रतिमुक्त से युक्त चतुरस्रपद गीत द्विगूढ है।

(चतुरस्रपदं गीतं मुक्तप्रतिमुक्तान्वितम्, द्विगूढम् ॥)

(९) उत्तमोत्तमक—रस तथा भाव से युक्त गीत उत्तमोत्तमक कहलाना है।

(रस भावात्पुं मुत्तमोत्तमकं पुनः ॥)

(१०) उक्तप्रत्युक्त—जहाँ मान तथा प्रसाद हो, नायक का विरस्कार हो, रस से युक्त हो, हाव तथा हेला से युक्त हो, तथा चित्ररथ के कारण जी सुन्दर हो, जिसमें ठक प्रत्युक्ति पाई जाती हो, तथा उपालम्भ हो एवं झूठी बातें हों, जिसमें शृङ्गारचेष्टा पाई जाती हो, ऐसा गीत उक्तप्रत्युक्त कहलाना है।

(वीरप्रसादव्यभिचयेऽयुक्तं रसोत्तरम् । हावहेलान्वितं चित्रलोककथनमनोहरम् ।

वक्तिप्रत्युक्तिर्युक्तं सोपात्मममदीपयत्य । विरासाचिह्नोपायं सुप्रत्युक्तं सुच्यते ॥)

अथ प्रहसनम्—

(१) तद्वत्प्रहसनं प्रेया शुद्धचेष्टतसद्भवे ।

(२) तद्वदिति—माणवद्वस्तुसन्धिषन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः ।

एतत् शुद्धं चावम्—

पासगण्डविप्रप्रभृतिचेष्टचेटीविटाकुलम् ॥ २४ ॥

चेष्टितं वैपमापाभिः शुद्धं हास्यचचोन्वितम् ।

पासगण्डनं शाक्यगिर्यन्तप्रदत्तय, विप्राधात्यन्तमृजव, आतिपाप्रोपजीविनो वा प्रहसनान्निहास्यविभावा, तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेष्टचेटीम्ववहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम् ।

प्रहसनं नामकं रूपकभेदं वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग, अङ्ग तथा टारवादि में भाग की ही तरह होता है। यह शुद्ध, विकृत तथा मद्धर हन भेदों से तीन तरह का होता है। इनमें शुद्ध प्रहसन में पासगण्डो, माह्वण, आदि मौकुर और मौकरानियां (चेष्ट तथा चेटी) का समघट होना है—ये इसके पात्र हैं। इनके घेरा, तथा इनकी भाषा के अनुरूप चेष्टा यहाँ पाई जाती है, तथा इनका वचन (कथनेपकथन) हास्ययुक्त होता है (तथा यह हास्यपूर्ण वचन से युक्त होता है)।

पाण्डवों का कार्य दोगी संन्यासी—बौद्ध जैन आदि विद्युओं से है—शासन बड़े भोले भाले पात्र होते हैं, अथवा ये केवल अपनी जाति पर ही आश्रित रहते हैं। ये प्रहसन के द्वारा रस के विनाश हैं। इनके उपयुक्त व्यापार का निबन्धन, जहाँ सेवक सेविका का व्यवहार भी पाया जाता है शुद्ध कोटि का प्रहसन है।

विकृत तु—

कामुकावियचोवेपैः पण्डकञ्चुकितापसैः ॥ ५५ ॥

विकृतम्, सद्गुरादीभ्या सद्गौर्णं धूर्तसङ्कलम् ।

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्या तद्रेपमायादियोगिनो यत्र पण्डकञ्चुकितापवृद्धादय-
स्तद्विकृतम्, स्वस्वरूपप्रच्युतनिभारत्नात् । शीघ्यैस्तु सद्गौर्णत्वात् सद्गौर्णम् ।

रसस्तु भूयसा कार्यः पङ्क्तिघो हास्य एव तु ॥ ५६ ॥

इति स्पष्टम् ।

जहाँ ऐसे नपुंसक, कञ्चुकी या तपस्वी पात्र निवृत्त हों, जो कामुक लोगों के यत्न प वेप का प्रयोग करें, यह प्रहसन विकृत कहलाता है। धूर्त व्यक्तियों से पूर्ण प्रहसन सद्गौर्ण कहलाता है। इस प्रहसन में केवल हास्य रस का ही प्रयोग करना चाहिए। यह हास्य रस पूरी तरह से अपने छ भेदों में उपनिषद् होना चाहिए।

जहाँ पर नपुंसक, बुद्ध्या वृद्धौ और तपस्वी (भुजङ्ग) काञ्चुक के समान उनकी भाषा प वेप का प्रयोग करे जहाँ वे अपने स्वरूप से गिर जाते हैं। इस प्रकार के विभाव के उपनिषद्म के कारण यह प्रहसन विकृत कहलाता है। सद्गौर्ण में शीघ्यैर्णों का मिश्रण पाया जाता है। (इसमें दृष्टित, अपदृष्टित, उपदृष्टित, अपदृष्टित, अजिदृष्टित, विदृष्टित इन हास्य के छ रूपों का पूर्ण सन्निवेश होता है ।)

अथ विम—

विमं घस्तु प्रसिद्धं स्यादुत्तयः कैशिकीं विना ।

नेतारो देघनन्यर्वयत्तरत्नोमहोरगाः ॥ ५७ ॥

भूतप्रेतपिशाचाद्याः पोडशात्यन्तमुद्धताः ।

रसेरहास्यशृङ्गारेः पद्भिर्वीथिः समन्वितः ॥ ५८ ॥

मायेन्द्रजालसमामप्रयोधोद्गन्तादिचेष्टितैः ।

चन्द्रसूर्यापरागैश्च न्याय्ये रोद्रसेऽङ्गिनि ॥ ५९ ॥

चतुरङ्गानुस्तन्निनिर्घिमर्शा विमः स्मृतः ।

'विमं सहाते' इति नायकसद्गतभ्यापारसकस्वादिम्, तनेतिहास्यसिद्धिमितिहासम्, शापथ कैशिकीवर्जसिद्ध, रसाथ वीररौद्रीमरसाद्गतकलमभयानका पद्, स्यायी तु रौरी न्यायप्रधान, विमर्शरहितानुप्रतिमुपगर्भनिर्वहणाख्यायत्वार सन्धय साहा, मायेन्द्रजालयनुभावसमाश्रया (व) । रोप प्रस्तावनादि नाटककार । एतय—

'इदं निपुरदाहे तु लक्षण प्रमाणोदितम् । ततस्त्रिपुरदाह्य विमघ्न प्रयोजित ॥'

इति भरतमुनिना स्वयमेव निपुरदाहेतिहास्य तुल्यत्व दर्शितम् ।

विम नामक रूपक की कथायुक्त प्रसिद्ध-नामायगादि से गृहीत होती है। इसमें कैशिकी के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों सायती, आरभटी च भारती—का समावेश होता है। इसमें नेता देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि अत्यन्त कालि के होते हैं। अथवा मृत, प्रेत, पिशाच आदि पाशों का भी समावेश होता है। इसके पात्रसंख्या में १६ होते हैं तथा ये बड़े उद्वेग होते हैं। इसमें शृङ्गार व हास्य के अतिरिक्त बाकी छ रसों का

प्रदीपन पाया जाता है। इसका अङ्गी रस रौद्र होना है तथा इसमें माया, इन्द्रजाल, युद्ध, मोघ, उह्लासित आदि घेराओं तथा अद्भुतमहण एवं सूर्यमहण का दृश्य दिखाया जाता है। इसमें केवल चार अङ्क होते हैं, तथा विमर्श सन्धि के अतिरिक्त याकी चार सन्धियां पाई जाती हैं।

‘दिम सहाते’ रस भाव से जिसका अर्थ घात-प्रतिघात करना है, दिम शब्द की श्रुतिपत्ति होगी है। अतः दिम का तात्पर्य मर रूपक है यहाँ नामक का सहात व्यापार हो। इसका इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध होता है, कैशिकी से एतत् तीन वृत्तियों पारं आती हैं, तथा वीररौद्र वीमासमदमुक्तकणभयानक ये छ’ रस पाये जाते हैं। इनमें प्रधान स्थायी रस रौद्र ही होना चाहिये। विमर्श सन्धि इसमें नहीं होती। मुख, प्रसिद्ध, गर्भ तथा निर्वृण ये चार सन्धियाँ अङ्गों सहित पारं जाती हैं। इसमें भाग, इन्द्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है। बाकी प्रस्तावना आदि नाटक की ही तरह हीनी हैं। यही बाह्य मरुति मरत ने स्वयं त्रिपुरदाह की कथावस्तु की दुष्यता के बारे में बताई है:—

‘मया ने त्रिपुरदाह में रसो लक्षण को बताया है। इसलिये त्रिपुरदाह दिम संज्ञक है।’
अथ व्यायोग —

व्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ज्यातोद्धतनराश्रयः ॥ ६० ॥

होनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युडिमवद्रसाः ।

अश्रोनिमित्तसंप्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥ ६१ ॥

एकाहाचरितैकाङ्गो व्यायोगो यद्भुभिर्नरेः ।

व्यायुजयन्तेऽस्मिन्वहवः पुष्य इति व्यायोगः, सत्र डिमवद्रसा’ पदं हास्यशृङ्गार-रहिता । श्रुत्यात्मकरवाच रसानामवचनेऽपि वैशिखीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव सम्यते । अश्रोनिमित्तस्यात्र संप्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपस्तद्दृष्टान्तवधः कृत । शेषं स्पष्टम् ।

व्यायोग की कथावस्तु इतिहासप्रसिद्ध होती है, तथा किसी प्रसिद्ध उद्धत म्यक्ति (वीराणिक व्यक्तित्व) पर आश्रित होती है। इसमें गर्भ तथा विमर्श ये दो सन्धियाँ नहीं होती। रसों की वीप्ति दिम की तरह ही होती है, अर्थात् हास्य व शृङ्गार से भिन्न रस इसमें हो सकते हैं। इसमें युद्ध वर्णित होता है, पर वह युद्ध की प्राप्ति के कारण नहीं होता, जैसे जामदग्न्यजय नामक व्यायोग में परशुराम का युद्ध ही निमित्तक नहीं है। व्यायोग की कथा एक ही दिन की होती है तथा उसमें एक ही अङ्क होता है। इसके पात्रों में अधिक सख्या पुरुष पात्रों की होती है।

‘जिसमें अनेक पुरुष प्रयुक्त हो’ (व्यायुजयन्ते अस्मिन् बहवः पुरुषाः) इति श्रुतिपत्ति के आधार पर व्यायोग शब्द निष्पन्न हुआ है। इसमें दिम की तरह हास्यशृङ्गारवर्जित छः रस होते हैं। रस वृत्ति से अभिन्न है अतः यद्यपि कारिका में व्यायोग की वृत्ति का उल्लेख नहीं, पर रस के अनुकूल वैशिखीरदित् अन्व्य वृत्तियों की स्थिति स्पष्ट होती है। यहाँ युद्ध वर्णित होता है, जो अश्रोनिमित्तक होता है, जैसे परशुराम ने पिता के वध से क्रुपित होकर सहस्राहुंन को मारा। अन्य सब स्पष्ट है।

अथ समवकार—

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिषत् ॥ ६२ ॥

रयातं देवासुरं घस्तु निधिमर्शास्तु सन्धयः ।

धुत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥ ६३ ॥

द्वादशोदात्तविव्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक् ।

वतुधीररस्ताः सर्वे यद्दन्मोधिमन्थने ॥ ६४ ॥

अस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिभ्रारस्त्रिचिद्रवः ।

द्विसुन्धिरः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः ॥ ६५ ॥

चतुर्दिनालिकापन्थौ नालिका घटिकाद्वयम् ।

पस्तुरवभावदैवारिकृताः स्युः कपटाग्रयः ॥ ६६ ॥

नगरोपरोधयुद्धे घातान्यादिकविद्रवाः ।

धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र विन्दुप्रवेशकौ ॥ ६७ ॥

घोष्यज्ञानि यथाज्ञानं कुर्यात्प्रहसने यथा ।

समवकार में भी नाटक की तरह आमुख की योजना करना चाहिये । इसकी कथा वेश्याओं व दंत्यों से सम्बन्ध प्रसिद्ध पस्तु होती है । इसमें विमर्श सन्धि नहीं होती । कैशिकी से भिन्न घृत्तियां पाई जाती हैं तथा इसके नेता-पात्र-दैवता व दानव होते हैं । ये नायक इतिहास प्रसिद्ध होते हैं तथा सप्त्या में १२ होते हैं । इन सब का पल्ल भिन्न भिन्न होता है । ये सभी नायक धीररस से पूर्ण होते हैं, जैसे समुद्रमन्थन में पाये जाते हैं । (इस प्रकार इसका रस धीर होता है ।) इसमें तीन अङ्क होते हैं जिनमें तीस बार कपट, तीन प्रकार का धर्म, अर्थ व काम का शृंगार तथा तीन बार पाशों में भगवद् व विद्रव का संयोजन किया जाना चाहिये । इसके पहले अङ्क में मुख व प्रतिमुख ये दो सन्धियां होनी चाहिये तथा इसकी कथा २४ घड़ी (१२ नालिका) की होनी चाहिये । बाकी के दो अङ्कों में क्रमशः ४ तथा २ नालिका की कथा होनी चाहिये । नाटिका से मतलब दो घड़ी से है । इसमें जिन तीन कपटों की योजना होती है वे पशु, स्वभाव तथा शत्रुओं के द्वारा विहित होते हैं । इसमें नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि उपातों के कारण विद्रव (पलायन) का धर्षण होता है । इसमें धर्म, अर्थ तथा काम तीनों तरह का शृङ्गार पाया जाता है, तथा विन्दु नामक धर्मप्रकृति, प्रवेशक नामक सूचक (अर्थोपपेक्षक) नहीं पाया जाता । प्रहसन की तरह इसमें पयावरयक भीष्यज्ञों की योजना भी जानी चाहिये ।

रामवकीर्यन्तेऽस्मिन्कर्षा इति समवकार । तत्र नाट्यवदिवदानुसंधिमिति समस्तरूप-
वाणामासुसंप्रापणम् । विनयवर्जितावस्वार सन्धयः, देवासुरादयो द्वादश नायकाः, तेषां
च फलानि पृथक्पृथक्भवन्ति यथा समुद्रमन्थने बाणुदेवत्वीनां सप्तन्यादिष्वन्ता, धीरव्याघ्री,
अङ्गभृता सर्वे रसाः, प्रयोऽङ्काः तेषां प्रथमो द्वादशनालिकाविनिर्देशितिरप्रमाण, यथासंख्यं
चतुर्दिनालिकापन्थौ, नालिका च घटिकाद्वयम् । प्रत्यङ्गं च युवासंख्य कपट तथा
नगरोपरोधयुद्धघातान्यादिविद्रवाणां मध्य एकेषु विद्रव कार्ये । धर्मार्थकामशृङ्गाराणा-
मेकैकं शृङ्गारं प्रत्यङ्गमेव विधातव्यम् । घोष्यज्ञानि च यथाज्ञानं कार्यानि । विन्दुप्रवेशकौ
नाट्यप्रवेशकौ च विधातव्यौ । इत्यर्थं समवकारः ।

'इसमें काम्य के संयोजन सिद्धकाये आते हैं' (रामवकीर्यं वैप्रसिद्धार्थं इति समवकार)
इस श्लोकसे समवकार निष्पन्न होता है । इसमें नाटक की तरह ही आमुख होता है ।
कारिका का 'अपि' यह बताना है कि सारे रूपकों में आमुख सबरूप होता पाविये । विमर्श-
सन्धि बार सन्धियां होती हैं, तथा देव देव आदि १२ नाटक पात्र होते हैं । इन पात्रों के
पल्ल भिन्न २ होते हैं । जैसे समुद्रमन्थन में विष्णु आदि नेताओं की कपट लक्ष्मी आदि की

फल प्राप्ति होती है। इसमें वीर अङ्गी रस हीवा है, बापी रस अङ्ग होते हैं, तथा तीन अङ्ग होते हैं। इनमें से प्रथम अङ्ग का इतिवृत्त रस नालिका का होता है। बापी दो अङ्ग क्रमशः चार नालिका व दो नालिका के इतिवृत्त से युक्त होते हैं। नाशिका का तात्पर्य दो बटी है। हर अङ्ग में तीन कपट तथा नागरोपरोष, युद्ध, वान, अग्नि आदि से जनिद विद्वेषों में से एक एक निद्वेष वर्णित होना चाहिए। धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन तरह के श्रद्धाओं में से हर अङ्ग में एक एक श्रद्धार की योजना होनी चाहिये। बोध्यहों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए। नाटक के बारे में विन्दु व प्रवेशक का वर्णन किया गया है, पर यहाँ उनकी योजना नहीं की जानी चाहिए। यह समवकार का लक्षण है।

अथ वीथी—

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्गैस्तु भाणवत् ॥ ६८ ॥

रसः सूच्यस्तु श्रद्धारः सूशेदपि रसान्तरम् ।

युक्ता प्रस्तावनास्यातैरङ्गैर्यद्वात्यकादिभिः ॥ ६९ ॥

एव वीथी विधातव्या षोकपानप्रयोजिता ।

निधिनद्विधी मार्गं भजाना पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या । विशेषस्तु रस श्रद्धारोऽपरिपूर्ण
त्वानुसूता सूच्यं, रसान्तराण्यपि स्तोक स्पर्शनीयानि । कैशिकी वृत्तौ रसौचित्यादेवेति ।
शेष स्पष्टम् ।

वीथी कैशिकी वृत्ति में निबद्ध की जानी चाहिए। उसमें सच्चि उसके अङ्ग तथा अङ्ग भाग की तरह होते हैं—अर्थात् मुख निर्वहण से दो ही सन्धियों होती है तथा केवल एक अङ्ग। इसका सूच्य रस श्रद्धार होना है, जैसे यह दूसरे रसों का भी स्पर्श कर सकता है। यह प्रस्तावना के उदात्तक आदि उपर्युक्त अङ्गों से युक्त होती है। इस तरह वीथी में दो-एक पात्रों की ही योजना करनी चाहिए।

वीथी भाग की कहते हैं—यह रूपकभेद मार्ग की तरह है अथ वीथी कहलाता है। इसमें सन्धियों का सन्धिवेश भाग की तरह ही होना चाहिये। भेद यह है, कि इसमें श्रद्धार रस होता है, उसका पूर्ण परिचाय न होने के कारण वह सूच्य होता है और रसों का भी बोधा-बहुत स्पर्श करना चाहिये। कैशिकी वृत्ति श्रद्धाररस के औचित्य के कारण ही विशेष है।

अथाङ्ग—उत्पट्टिकाङ्गे प्रख्यात वृत्त युद्धया प्रपञ्चयेत् ॥ ७० ॥

रसस्तु फरुणः स्थायी नेतारः प्राकृता भरतः ।

भाणयत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युतिः स्त्रापारिदेवितैः ॥ ७१ ॥

तात्त्वा युद्ध विधातव्य तथा जयपराजयो ।

उत्पट्टिकाङ्ग इति नाट्यघन्तार्गताङ्गव्यवच्छेदार्थम् । शेष प्रतीतिमिति ।

अङ्ग अथवा उत्पट्टिकाङ्ग नामक रूपकभेद में इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध होता है, पर कवि को उसमें अपनी मुद्रि से हेरफेर कर लेना चाहिए। इसका स्थायी रस कर्ण होता है, तथा इसके नेता-नाय-प्राकृत (सामान्य) मनुष्य होते हैं। इसके सच्चि, वृत्ति व अङ्ग भाग की तरह होते हैं—अर्थात् इसमें केवल मुख तथा निर्वहण सन्धिवर्षा होती हैं; भारती वृत्ति पार्श्व जाती है, तथा एक अङ्ग होता है। कर्ण रस होने के कारण इनमें स्त्रियों का रुदन होना चाहिए। इसके पात्रों में पात्रयुद्ध की पूव जय तथा पराजय की योजना की जानी चाहिये।

कारिकाकार ने अङ्ग की उत्पट्टिकाङ्ग उत्पत्ति कहा है कि नाटक के अनन्त वर्णित अङ्ग से इसकी विभवा स्पष्ट हो जाय। बाकी कारिका स्पष्ट है।

अथेहाष्टम् —

मिथमोहामृगे घृत्तं चतुरङ्गं तिसन्धिमत् ॥ ७२ ॥
 नरदिव्यावनियमाध्यायकप्रतिनायकौ ।
 एयातौ घोरोद्धतावन्यो विपर्यासादयुक्तकृत ॥ ७३ ॥
 दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
 शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ ७४ ॥
 संरम्भं परमानोय युद्धं व्याजाधिधारयेत् ।
 वधप्राप्तस्य कुर्वात वधं नैव महात्मनः ॥ ७५ ॥

सृगपदकम्पा नाविकां नायकोऽस्मिन्धीदृते इतीहाष्टम् । एयाताख्यातवस्तु अन्त्व = प्रतिनायकौ विपर्यसाद्विपर्ययशानादयुक्तकारी विधेय । स्पष्टमन्यत् ।

ईहाष्टम् की कथा मिथिल-प्रख्यात व कश्चित्त का मिथण होती है । इसमें चार बद्ध होते हैं तथा तीन सन्धियाँ—अर्थात् गर्भ व अवमर्श नहीं होती । नर तथा देयता के नियम से इसमें नायक व प्रतिनायक की योजना होती है । ये दोनों इतिहास प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत होते हैं । प्रतिनायक ज्ञान की भ्रान्ति के कारण अनुचित कार्य करने वाला वर्णित होना चाहिये । यह किसी दिव्यस्त्री को—जो उसे नहीं चाहती, भगा कर ले जाना चाहता है—इस तरह कवि को चाहिये कि कुछ-कुछ इसका शृङ्गाराभास भी प्रदर्शित किया जाय । इन नायक व प्रतिनायक के विरोध को पूर्णता तक ले जाकर किसी बहाने से युद्ध को दृढ दे, उसका निवारण कर दे । उसके वध के समीप होने पर भी उसका वध कभी न कराये ।

ईहाष्टम् का यह नाम इसलिये रखा गया है कि इसमें नायक हिरन की तरह—किसी अल्पम्य नायिका की प्राप्त करने की इच्छा करता है । उसकी कथावस्तु प्रख्यात व उपाय का निमग्न होती है । कारिका का 'अत्य' शब्द प्रतिनायक का सूचक है, जो मिथ्या ज्ञान के कारण अनुचितकारी होना चाहिये । नाकी हाष्ट है ।

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्षममार्ग-

मालोभ्य वस्तु परिभाष्य कविप्रबन्धान् ।

कुर्याद्यत्नपदलक्ष्तिभिः प्रयन्थं

धाफ्यैरदारमधुरै स्फुटमन्दवृत्तैः ॥ ७६ ॥

सप्तम् ।

॥ इति धनशायतदशरूपकस्य तृतीय प्रकाशः समाप्तः ॥

कवि को चाहिये कि इस तरह से दशरूपक के लक्षणों से विहित मार्ग को अच्छी तरह समझ कर, कथावस्तु का निरीक्षण कर तथा प्राचीन कवियों के प्रयन्नों का अनुनीलन कर, स्वाभाविक (अयमज) अलङ्कारों से युक्त, तथा प्रगट एवं सरल पुन्दु पाठे, उदार एवं मधुर—अर्थ की समता वाले तथा रमणीय—वाक्यों के द्वारा प्रबन्ध (रूपक) की रचना करे ।

तृतीय प्रकाशः

अथ चतुर्थः प्रकाशः ।

अवेदानीं रसभेदं प्रदर्शयति—

विभावैरनुभावैश्च सार्विकैर्यभिचारिभिः ।

श्रानीयमानः स्वाद्यत्वं स्यायी भावो रसः स्मृतः ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावाणुभावन्यभिचारिसार्विकैः वाम्योपात्तरमिनयोगदर्शितैर्ना
श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्यायी स्वादगोचरताम् =
निर्भरानन्दसविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिना सामाजिका, वाच्य तु तथा विधा
गन्दराविदुन्मोलनद्वेषुभावेन रसवत् आयुर्धृतमित्यादिव्यपदेशवत् ।

रूपकों की विवेचना का विवेचन करते हुए प्रथम प्रकाश में वस्तु का साक्षोपाह वचन
निया गया, तथा द्वितीय प्रकाश में सपरिकर नायक को विवेचना की। तीसरे प्रकाश में
रूपकों के विभिन्न प्रकारों के लक्षण बताये गये। अब रूपकों के आनन्दभूत रस की विवेचना
आवश्यक हो जाती है, क्योंकि रूपकों के तीन तत्वों में से एक 'रस' भी है। अतः अब यहाँ
चतुर्थ प्रकाश में धनजय रस के भेदों का प्रदर्शन करते हैं।

विभाव, अनुभाव, सार्विक भाव एव च व्यभिचारियों के द्वारा जब रत्यादि स्यायी
भाव आस्वाद्य-स्वर्षणा के योग्य—यना दिया जाता है, तो वही रस कहलाता है।

काव्य में प्रयुक्त अथवा नाटकादि अभिनय के द्वारा प्रश्रित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी
भाव तथा सार्विक भावों के द्वारा—जिनका लक्षण व स्वभाव आगे हमी प्रकाश में वर्णित किया—
कादना—अथ श्रोतारों (अथ काव्य के सम्बन्ध में) तथा दर्शकों (रूपकों के सम्बन्ध में)
के हृदय में परिवर्तनशील रत्यादि स्यायी भाव—जिसका लक्षण हम आगे करेंगे, आस्वाद्य
या स्वादगोचर होता है, तो वही रस कहलाता है। काव्य या नाटक का यह स्वात् अनुपम
आनन्द से युक्त चेतना वाला होता है। रस का रसात् सेने वाले रसिक हैं, अत्र सामाजिक
इसी नाम से कहे जाते हैं। इस प्रकार की भौतिक निर्भर आनन्द-चेतना को प्रकट करने के
कारण रसके हेतु होने से, अन्य या इत्य वाच्य 'रसवत्' कहलाता है, ठीक उसी तरह
जैसे 'आयुर्धृत' इस उदाहरण में धृत को 'आयु' कहा जाता है। वृषिहार का अभिप्राय यह है
कि धृत मनुष्य को आयु तथा बल बढ़ाता है इस बात को देख कर धृत में आयु का हेतुत्व
स्पष्ट है। इसलिये उपचार या लक्षणा शक्ति के आधार पर हम धृत को भी आयु कह देते हैं,
एक तीर से धृत में आयुद्ध को अपचित कर लेते हैं। ठीक इसी तरह काव्य आनन्दरूप
ज्ञानस्वरूप रस को प्रकट करने का कारण है इसलिये उसमें कार्यकारण भावजन्य लक्षणा के
आधार पर ही हम 'रसवत्' का उपचार कर 'रसवत् काव्यम्' इस प्रकार का प्रयोग करते हैं।

१ यहाँ ध्यान देने की बात है कि धनजय व धनिक दोनों ही मोक्षक मष्ट शोच्य के
मत्तानुयायी हैं। उनके मत्तानुसार विमवादि रस के हेतु हैं, तथा उसमें वे परस्पर 'उत्पाद्य-
वत्पाद्यक' स रथ मानते हैं। 'स्वाद्यत्वं आनीयमान' का दूसरा पद भी इसी बात का सह्य
करता है। भरत के प्रतिद्वेष्य 'विभावानुपाद्यव्यभिचारिसंयोगाद् रमनिष्पत्ति' की विभिन्न
व्याख्यायें भूमिका भाग में द्रष्टव्य हैं। यहाँ पर यह कह देना हीया कि धनिकों
साहित्यशास्त्री रस को 'यज्ञ' मानते हैं, वाच्य तथा उत्पाद्य नहीं, अतः उनको रस को
परिभाषा में उत्पन्न स्पष्ट उल्लेख हीया है —

'विभावे रनुभावैश्च व्यक्त' सश्रारिणा तथा ।

रसना मेति रत्यादि स्यादी भाव सचेतसान् ॥ (साहित्यदर्पण)

तत्र विभाव—

हायमानतया तत्र विभावो भावपोषकत् ।

आलम्ब्यनोद्दीपनत्वप्रमेदेन स च द्विधा ॥ २ ॥

अब इस के हेतु भूत विभावादि में सर्वप्रथम विभाव का ही विवेचन करते हैं:—

विभाव शब्द की व्युत्पत्ति 'विभाष्यत इति' इस प्रकार होने से इसका अर्थ यह है, कि विभाव यह है, जिसका ज्ञान हो सके। जिसे विभावित करके सामाजिक रसास्वाद करता है, वह विभाव है। यह विभाव मात्र (स्वाधी भाव) को पुष्ट करने वाला है, उसे रसरूप में परिणत करने वाला है। यह विभाव, आलम्बन तथा उद्दीपन इस भेद से दो तरह का होता है।

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूपकान्वयान्गाराहितविशिष्टरूपतया हायमानो विभावमान आलम्ब्यनरूपेणोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशवालादिविर्वा स विभाव । यदुक्तम्—'विभाव इति विज्ञातार्थ इति' तांश्च यथास्वं यथावसरं च, रसेषु-पपादयिष्याम' । अर्थात् ज्ञानपेक्षितवाह्यसत्त्वानां शब्दोपयानादेवासादिततद्भाष्यना सामान्वात्मानां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकपेतसि विपरिवर्तमानानामालम्ब्यनविभाव इति न वस्तुशून्यता ।

अन्य काव्य में वर्णित या दृश्य काव्य में मध्य पर प्रदर्शित दुष्यन्त-शकुन्तला या राम सीता का रूप धारण करने वाले पात्रों को ही हम वैसा मान लेते हैं। जिस रूप में काव्य में दुष्यन्तादि का व्यापार उपनिबद्ध सीता है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण रहता है, पर इस अतिशयोक्ति रूप वर्णन के द्वारा कवि विशिष्ट दुष्यन्तादि के रूप को ही सम्पादित करता है, और सामाजिक पर समझ लेता है कि 'दुष्यन्त इस तरह का है, राम इस तरह का है' 'शकुन्तला इस तरह की है, सीता इस तरह की है।' इस प्रकार के विशिष्ट रूप में सामाजिकों के ज्ञान का विषय बनाने वाले, उनके द्वारा विभावित होने वाले विभाव बढ़ाते हैं। ये आलम्बन रूप में नायकादि, दुष्यन्त-शकुन्तला, राम-सीता आदि हो सकते हैं, या उद्दीपन रूप में इष्ट देवताका भावि, माळिनीशब्द, मलयानिक, पसन्न शत्रु, पुष्पवाटिका आदि होते हैं। विभाव का अर्थ है, सामाजिकों के द्वारा हायमान अर्थ, जैसा कि किसी आचार्य ने कहा है—'विभाव का अर्थ है जिसका अर्थ ज्ञात हो।' ये आलम्बन व उद्दीपन विभाव रसादि के भेद के अनुसार, रसों के वर्णन करते समय वर्णित होंगे।

विभावों के हायमानत्व के विषय में कोई पूर्णपक्षी यह उद्घाटन कर सकता है, कि काव्य के विभावादि को शब्दों तक ही सीमित रखते हैं, उनकी वास्तविक सत्ता तो होती ही नहीं-क्योंकि दृश्य काव्य में भी दुष्यन्तादि वास्तविक न होकर अवास्तविक हैं, ठीक वही बात माळिनीशब्दादि उद्दीपन विभाव के लिए कही जा सकती है—तो फिर उनका वस्तुशून्यता के कारण उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता, अतः काव्य के विभावादि में हायमानत्व घटित नहीं होता। इसी उद्घाटन का उल्टा देखते हुए बुद्धिकार भनिक करते हैं, कि काव्य में वर्णित विभावों के बारे में ठीक नहीं बात लागू नहीं होगी, जो लौकिक ज्ञान के विषयका विभावों के बारे में। लौकिक ज्ञान में उनके भौतिक सत्त्व की आवश्यकता होती है—(हेतु के ज्ञान में प्रत्यक्ष रूप से उद्दीपन शिद्ध्यम होनी चाहिए।) किंतु काव्यगत विभावों की वास्तविक-भौतिक सत्ता की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि काव्यगत विभावों की मानना, उनका ज्ञान ही काव्य श्रवक

शब्दों के द्वारा ही हो जाता है, साथ ही लौकिक ज्ञान के विषय विशिष्ट होते हैं, जब कि कान्यकृत विभाव सामान्यरूप (सामान्यात्मना) होते हैं ।^१

ये विभाव अपने अपने रस के अनुकूल विभावित होते हैं, तथा सद्दृश्य के चित्र में इत तरह घूमते रहते हैं, जैसे वह इनका साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर रहा हो । इन्हीं विशेषताओं से युक्त विभावों को हम आत्ममन व उदीपन मान सकते हैं । किन्तु यह स्पष्ट है, कि सद्दृश्य के हृदय में इन विभावों के सामान्य रूप वा साक्षात् ज्ञान होगा है, इसलिए इनमें वस्तुद्वयता नहीं मानी जा सकती । शब्दों के द्वारा, जब हम किसी भी वस्तु के बौद्धिक ज्ञान को प्राप्त करते हैं, तो वह प्रत्यक्ष-सा ही होता है ।

१. तदुक्त मर्तुहरिणा—

२. 'राष्ट्रोपहितरुषास्तान्दुर्सेर्विपयतां गवात् ।

प्रत्यक्षमिव कसारीन्सायनत्वेन मन्यते ॥' इति । । ।

३. 'पदसद्वर्णीकृतान्शुक्लम्—'प्रथमं सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते इति ।

४. रसही प्रथि में मर्तुद्वि के वाक्यपदीय की यह कारिका दी जा सकती है —

'वाक्यादि में जब 'रस' आदि शब्द का प्रयोग करते हैं, तो शब्द के कहने के साथ ही साथ ये शब्द कसादि के रूप की प्रथि की विषय बना देते हैं । और फिर बुद्धिगत कसादि को हम लोग प्रत्यक्ष रूप की नारी कर्म, कारण आदि साधन के रूप में वा हमारे ज्ञान के साधक (साधक) के रूप में ग्रहण करते हैं ।'

पदसद्वर्णीकार ने भी यही बात कही है — 'ये विभाव, सामान्य गुणयुक्त होकर ही रस को निष्पन्न करते हैं ।'

५. तत्रालम्बनविभावो नया—

६. 'अस्या' सर्गविधौ प्रजापतिरभूत्स्वन्द्रो नु कान्तिप्रद

श्वेत्कारैकमिधि स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकर ।

वेदाभ्यासजग कथ नु विषयन्यास्तत्रौवृहते

७. निर्मातु प्रभवे मनोहरमिद रूप पुराणो मुनि'

इसमें आत्ममन विभाव नाटक के सामाजिक के लिए नायक व नायिका दोनों हैं । जब कि नायक के लिए नायिका आत्ममन है, व नायिका के लिए नायक । किन्तु मोटे तौर पर आत्ममन विभाव का विवेचन करते समय नायक को ही रस का भाग्य माना जाता है ।

उसके लिए आत्ममन नायिका होती है । यहाँ पर इसी ब्रह्म का उदाहरण दिया जा रहा है । विकसोर्वर्णीय नाटक में पुरुषवा सर्वज्ञ को देखकर मुग्ध हो जाता है । निम्न पद्य में यह आत्ममन विभाव रूप उर्वशी का वर्णन कर रहा है —

होग कहते हैं, कि संसार के प्राणियों की रचना भ्रमा करते हैं, पर रस उर्वशी को देखकर ही ऐसी कल्पना होती है, कि इसकी रचना उस आस्तिक ब्रह्म खूबत भ्रमा के द्वारा नहीं की गई है । क्योंकि ब्रह्मों के बार बार पढ़ने से वह व शुक्ल हृदय वाला वह भूग शक्ति भ्रमा विसर्वा अथ भौगविज्ञान-विषय के प्रति कोई कुद्वल नहीं रह गया है, रस रमणी के ऐसे मनोहर रूप को बनाने में ऐसे समर्थ हो सकता है । हाँ, यदि इसकी सृष्टि करने में कोई ब्रह्म

१. लौकिक ज्ञान व कान्यसम्बन्धी ज्ञान में सभी साहित्यशास्त्री यह भेद मानते हैं, कि एक में व्यक्ति व विशिष्ट (इन्डिविजुअल) का ज्ञान होता है, दूसरे में जाति वा सामान्य (Ideas) का । इसी को भारतीय साहित्यशास्त्री 'साधारणीकरण' कहता है । ब्लेडो का यह क विषय-विशिष्ट व साधारण सामान्य मानता है, व उसे (Ideas) कहता है । यही मूल धीरे-धीरे मानता है, वी कला वा काव्य का प्रतिपाद (the Idea of such things) को मानता है ।

रहा होगा, जो मेरी ऐसी रचना है, कि वह या तो स्वयं चन्द्रमा ही होगा, जो कान्ति को देने वाला है, या फिर शङ्कर का एक भाग फीज-कामदेव रहा होगा, या वे दोनों म रहे हों, ही) फिर हमकी रचना पूर्णों से रुदे वस्तु मास ने की होगी। रतनी सुन्दर रचना करने की सामर्थ्य चन्द्रमा, कामदेव या वस्तु शब्द में ही है, वस्तु बूटे चूहटे भवा में क्यों ?

उद्दीपनविभावो यथा—

‘अथमुदयति चन्द्रधन्विकपौतविश्र
परिणतविमत्रिभिः प्योमिन् कर्तुरगौर ।

शान्दुरजतशशनास्पर्धिभिर्वस्य पदि-

। अथदमन्मृणालोपञ्जरस्य विभाति ॥’

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत देश काल आदि का समावेश होता है। किसी भी आलम्बन विभाव के कारण उद्बुद्ध स्वायीभाव की ये उद्दीपन विभाव और कृपिक उद्दीपन का रसत्व की पहुँचाते हैं। मान शोजिवे, शकुन्तला की देखकर दुष्पन्त के मन में रति भाव उद्बुद्ध होता है, यहाँ शकुन्तला आलम्बन है। माळिनीरत, वस्तु शब्द, कटाकुभ, कोकिल की कान्ती आदि ये विभाव हैं, जो उस रति भाव को दुष्पन्त के मन में उद्दीपन करते हैं। ये उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। यहाँ चन्द्रिकारूप उद्दीपन विभाव का उदाहरण देते हैं—

चन्द्र के समान श्वेत यह चन्द्रमा, जिसने सारे विश्व को चौरागी से ढो दिया है, निर्गलता से तुल्य (जिसकी निर्गलता प्रकट ही गई है) आकाश में गदित हो रहा है। रतनी, कीमल चोदी की छटाका के समान श्वेत किरणों के द्वारा सारा संसार पेटा प्रशोभित हो रहा है, मानो निर्मल गुणाल शब्द के विभरे में रचा हुआ हो।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसृचनतात्मकः ।

विभाव का विवेचन करने पर प्रसङ्गभास अनुभाव का लक्षण बताते हैं—

रथादि स्वायी भाव की सूचना करने वाले विकार (जो दुष्पन्तादि आश्रय में पाये जाते हैं) अनुभाव कहलाते हैं।

स्वायिभाषानुभाववन्त सामाजिकान् धर्मविवेकवत्कथादयो रसपौषकारिणोऽनु-
भावा, एते चामिनयकाव्यमोरन्वयानुभावयतां साध्याम्भवाकानामनुभवकर्मतयाऽनुभव्यन्त
इत्यनुभवनमिति चानुभावा रक्षिकेषु व्यपदिश्यन्ते । विकारो भावसंसृचनतात्मक इति तु
लौकिकरसापेक्षया, इह तु रेषा कारणत्वमेव । यथा समैव—

‘उज्जुम्भानमगुल्लसकुचतड लोडभममृभूल्यां

इवेदाम्म जमित्तमष्टिभिल्लद्वीटं धरोभाषया ।

धन्य कोऽपि दुवा स सत्य यत्ने म्यापारिता संसृष्टं

सुखे दुःखमहाविषमपठकप्रख्या कटाक्षच्छदा ॥’

इत्यादि अथारसमुदाहरिण्याम् ।

अनुभाव, रस शब्द की श्रुत्यपत्ति यह भी जाती है, कि ये सामाजिकों की रथादि स्वायिभाव का अनुभव कराते हैं।^१ यहाँ देखकर सामाजिकों की यह अनुभव हो जाता है, कि असुक

१ अनुभाव शब्द की सूत्री श्रुत्यपत्ति यह भी की जाती है ‘अनुपभाद् भावन्तीति अनुभावा’ जो आत्म में स्वायी भाव के उद्बुद्ध होने के बाद पैदा होते हैं। इसलिये रस स्वायी भाव का कार्य भी कहा जाता है। विभाव, अनुभाव, स्वमिचारी की स्वायी भाव का

पात्र-पुष्पन्तारि में, अनुभव स्थायी भाव उत्पन्न हो रहा है। ये अनुभाव भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि (भाव के) शारीरिक विकार हैं, तथा रस को परिपुष्ट करते हैं। अभिनय (द्रव्य काव्य) तथा काव्य में इन अनुभवों का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले सामाजिकों के अनुभव के विषय होते हैं इसलिए अथवा वे रथादि स्थायी भाव के बाद होते हैं इसलिए ये अनुभाव कहलाते हैं। रसिकों में ये रसी नाम से पुकारे जाते हैं। खारिका में अनुभावों को भावसंज्ञक विकार कहा गया, यह लौकिक रस की दृष्टि से ही कहा गया है, काव्य में तो ये भी रसपौत्र के कारण ही होते हैं। (लोक में नायक नायिका का जो प्रेम देखा जाता है, वह लौकिक रस है। वहाँ भ्रूविक्षेप आदि अत रस (प्रेम) से उत्पन्न होते हैं, अतः वे कार्य हैं। नाटक व काव्य का रस, जिसको चरणा सामाजिकों द्वारा ही जाना है, अलौकिक रस है। यह अनुभाव के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, अतः यहाँ वहाँ कारण ही मानना ठीक होगा।)

अनुभावी के उदाहरण के लिए धनिक का स्वरचित पद्य लिया जा सकता है, जहाँ किसी युवा को देखकर रसि भाव से आविष्ट सुन्दरी के अनुभावों का वर्णन किया गया है।

हे भोली सुन्दरी, यह कीर्त भी तुवक सचमुच भय है, जिसके चेहरे की ओर (तुमने) कामवासना से पूर्ण होकर; मुँह से बँभार छेते हुए, स्तनद्वय को ऊँचा उठाकर सुशोभित होते हुए, भौंहों की लता को चञ्चला के साथ मन्काठे हुए, अपने शरीर को पसीने के जल से नहाते हुए तथा लज्जा का स्थाय करते हुए, रोमाञ्चित होकर, दुग्ध-महासमुद्र के फेनतमूह के समान क्षान्ति वाले कटाक्षों की शोभा को व्यापारित किया। जिसकी ओर तुमने रस तरह के भाव से कटाक्ष-पात किया, वह तुवक सचमुच मास्यशाली है।

इन अनुभावों को हम प्रत्येक रस के अवसर पर उदाहरत करेंगे।

हेतुकार्यात्मनो. सिद्धिस्तयोः संव्यग्रहारतः ॥ ३ ॥

ये विभाव तथा अनुभाव रस (लौकिक रस) के कारण तथा कार्य हैं तथा लोकस्ववहार में इनका प्रत्यक्ष रूप देखने के कारण ये व्यवहार सिद्ध हैं—(अतः इनका पृथक् लक्षण नहीं किया गया है।)

तयोर्विभावानुभावानोर्लौकिकरस प्रति हेतुकार्यभूतयोः संव्यग्रहारादेव सिद्धत्वात् पृथग्गत्यनुपपद्यते । तदुक्तम्—'विभावानुभावौ लोकसत्सिद्धौ स्वेवयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावोपगतत्वात् न पृथग्गत्यनुपपद्यते' इति ।

८। ये दोनों विभाव व अनुभाव जो लौकिक रस के हेतु तथा कार्य हैं, लौकिक व्यवहार से ही सिद्ध हैं, अतः इनका पृथक् लक्षणकरण आवश्यक नहीं। जैसा कि कहा गया है—'विभाव तथा अनुभाव लोकस्ववहार के द्वारा प्रमाणित हैं, तथा वे लोकस्ववहार के अनुसार पाये जाते हैं—लोकवाशानुगामी हैं—साथ ही लोकस्वभाव से युक्त हैं, इन कारणों से उनका पृथक् लक्षण नहीं करा गया है।' —

अथ भाव—

सुखदुःखादिकैर्भाषैर्भाषिस्तद्भावमाधनम् ।

अनुकार्याप्रयत्नोपनिबन्धमाने सुखदुःखादिरूपैर्भाषैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावन कासन भाव । तदुक्तम्—'अहो धनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावित वासितम्' इति ।

क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारो कारण माना जाता है, ऐसे काव्य में ये सभी कारण हैं। वहाँ यह बात भी बाद रखने की है, कि आत्मन के शारीरिक विकार 'अनुभाव' नहीं माने जाते। वे 'दास' 'देहा' आदि के अन्तर्गत आते हैं, तथा शरीरन विभाव के अङ्ग हैं।

यत्तु 'रसान्मोक्षभाव' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव' इति च तत् अभि-
नयकव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रयुक्तिनिमित्तककथनम् । ते च स्वायिनो व्यभि-
चारिणश्चेति वक्ष्यमाणः ।

प्रथम कारिका में विनाय व अनुभाव के साथ सात्त्विक तथा व्यभिचारी का उल्लेख
हुआ है । सात्त्विक तथा व्यभिचारी दोनों के साथ स्थायी की भाँति 'भाव' शब्द का
प्रयोग पाया जाता है, जैसे सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव । इसउपेय यहाँ
'भाव' शब्द की परिभाषा देना आवश्यक हो जाता है । उसीका उल्लेख बताते हैं—

काव्य वा अभिनय में उपनियत काव्य (दुष्पन्नादि) के सुख दुःख, हर्ष-शोक
आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदय का उस ही भाव से माणित होना—उस
भाव तथा सामाजिक के भाव की एकतावत्ता 'भाव' कहलाती है ।

राटक में त्रिव्यक्तियों का अनुकरण किया जाता है, वे वास्तविक रामादि वा दुष्पन्नादि
होते हैं । कवि यहाँ में सुख दुःख आदि भावों का उपनियत 'करता है, विनया निरूपण
मत् करता है । इन अनुकारी व्यक्तियों के द्वारा दुष्पन्नादि भाव की भावना-वासना—भाव
सदृश हृदय के द्वारा होती है, तो उस वासना को भाव कहते हैं । (मान लीजिये, शकुन्तला
से निरहित दुष्पन्व को दुःखी देख कर व उसके शोक में यत् अक्ष में चित्रलेखन के द्वारा
को कहकर देख कर दुष्पन्व के दुःख के साथ हमारी प्रकृतिगत हो उठती है । जैसे दुष्पन्व के
दुःखादि भाव ने हमारे मानस को माणित या वासित कर दिया है ।) ठीक यही बात एक
आचार्य ने कही है—'भरे रस रस वा कन्ध से यद् स्रज कुम्भ माणित हो गया, वासित हो
गया है ।' (यह ठीक बैसे ही है जैसे अगरबत्ती आदि की धूप की अगरबत्ती में भाणित है,
सुख होने पर सारे समीपवर्त प्रदेय को वासित कर देती है, वैसे ही अनुकार्य रामादि में
भाणित दुःखादि, सामाजिक के हृदय को वासित कर देते हैं ।)

भाव की व्युत्पत्ति दूसरे उद्ग से भी की गई है—'मान वह है जो रसों को माणित
करता है,' या 'मान वह है जो कवि के मानसिक भाव को माणित करता है ।' इसउपेय
पूर्वपरी यह शक्य कर सकता है, कि प्राचीन व्यासियों की 'भाव' के सम्बन्ध में यह व्युत्पत्ति
है, फिर ऊपर को नई व्युत्पत्ति दी गई यह बैसे मानी जाय । इसीका उल्लेख करते हुए पत्रिक
का कर्ता है कि ये दो व्युत्पत्तियाँ उस भाव शब्द की की गई हैं, जो अभिनय व काव्य का
प्रवर्तक या बोधक है, तथा इनका प्रयोग ऊँची दोनों का-यों से सम्बद्ध भाव के लिए है ।
मिने (पत्रिक ने) जिस अर्थ से भाव की व्युत्पत्ति दी है वह रसिक के हृदय में भाणित
भाव की दृष्टि से । जहाँ दोनों का विषय मित्र होने से रस व्युत्पत्ति का प्राचीनों की व्युत्पत्ति
से कोई विरोध नहीं पड़ता । ये भाव दो तरह के होते हैं—स्वायी तथा व्यभिचारी, इनका
वर्णन भाव किया जाना ।

पृथग्भावा भयन्त्यन्येऽनुभाचत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥ ४ ॥

स्वरवादेव समुत्पत्तेस्तान्च तद्भावभायनम् ।

परगततु यहपरिभावनायामत्यन्तानुबन्तकरणत्वं एव यदाह—'एव गाय
मन्यभाव तथा समाहितमनस्त्वाद्युत्पद्यते, एतदेवात्म सत्त्वं यत् विज्ञेय प्रद्विजिने
चातुर्येणायादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निर्वाता सात्त्विकारत एव भाषास्तत उरयमानवा-
पद्युप्रथमोऽपि भाषा भावसंपन्नानाजकविकारस्वत्वायाुभावा इति द्वैतभ्यनेयम् ।' इति ।

यद्यपि सात्त्विक भावों में अनुभावाव है, वे अनुभावों की ही तरह भाव्य के विकास

हैं, फिर भी सात्त्विक भाव अलग से भाव माने जाते हैं। इन सात्त्विकों को 'भाव' संज्ञा इसलिए दी जाती है कि ये सत्त्व (मानसिक स्थिति) से ही उत्पन्न होते हैं। सत्त्व का अर्थ है, अनुकार्य रामादि के दुःखादि भाव से भावक के चित्त का भावित होना।

दूसरे लोगों के दुःख, दर्प आदि की भावना में जब भावक का अन्तःकरण अत्यधिक अनुकूल व एकतान हो जाय उसे 'सत्त्व' कहते हैं। जैसा कहा गया है—'सत्त्व का अर्थ है मन से उत्पन्न, यह सत्त्व मन की एकामता से उत्पन्न होता है। मन का सत्त्व यही है कि जब वह दुःखी या हर्षित होता है तो अश्रु रोमाञ्च आदि निकल पड़ते हैं। ये अश्रु रोमाञ्च आदि सत्त्व से विवृष्ट होते हैं, अतः सात्त्विक भाव कहलाते हैं। इसलिए सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण ये अश्रु आदि—किन्तु ये भाव के सूत्रक हैं—भाव कहलते हैं, दूसरी ओर ये विकार रूप भी हैं इसलिए अनुभाव भी हैं। इस तरह अश्रु आदि एक ओर सात्त्विक भाव व दूसरी ओर अनुभाव इन दो रूपों से युक्त होते हैं।

(निम्नोक्त आठ सात्त्विक भावों के अतिरिक्त और विकाररूप अनुभाव ही होते हैं।)

ते च—

स्तम्भप्रक्षयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यविषयः ॥ ५ ॥

अश्रुधैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियान्द्रता ।

प्रलयो नष्टसंश्लेषम्, शोषाः सुव्यक्तस्तक्षणाः ॥ ६ ॥

ये सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ, प्रलय (अचेतनता), रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य (मुँह का रङ्ग घीका पप जाना), विषय (कम्प), अश्रु, धैस्वर्य (आवाज में परिवर्तन)। स्तम्भ का अर्थ है अश्रु का निष्क्रिय हो जाना, तथा प्रलय का अर्थ है संज्ञा-चेतना-का नष्ट हो जाना। बाकी नाम स्पष्ट ही हैं।

गया—

वेदह सेन्द्रपदनी रोमाधिश्च गतिरु भवद् । ...

निल्लुङ्गु क्षु भक्ष्य लहु पाहोश्चक्षोण रणेति ॥

मुहञ्ज सामलि होई खरो निमुच्छद्द विद्यरपेण ।

मुदा मुहग्रही तुअ पेम्मेण सानि ण धिञ्ज ॥'

('विपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे घपति ।

विल्लेखस्ततो वलयो लघु बाहुवङ्गभा रणति ॥'

मुखं श्यामल भवति क्षणं विमूर्च्छति विदाधेन ।

मुग्धा मुखवङ्गी तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति')

उदाहरण के रूप में एक ही उदाहरण में सारे सात्त्विक भावों का उल्लेख करते हैं —

हे सुवक्, तेरे प्रेम के कारण वह नाबिका बिलकुल धैर्य पाएण नहीं करती। उसके चेहरे पर पसीना आ जाना है, उसके शरीर में रोंगटे उठ आते हैं, तथा वह कॉपने लगती है। उसका चञ्चल कंठा (हार्ण का वलय) बाहु रूपी लता में मन्द-मन्द शब्द करता है। उसका मुँह काला पड़ जाता है, तथा मुख बर के लिए मूर्च्छित हो जाती है। उसकी मुखरूपी लता कुछ भी धीरक नहीं करती।

अथ अग्निचारिणः, तत्र सामान्यतक्षणम्—

विशेषादाग्निमुष्येन चरन्तो अग्निचारिणाः ।

स्वायिन्युन्मग्ननिर्मिताः कल्लोला इव चारिणी ॥ ७ ॥

यथा आरिषी सत्येव बहोरा उद्भूयन्ति विलीयन्ते च तत्रदेव रत्यादौ स्वायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः ।

अथ प्रसङ्गमात्र व्यभिचारियों का सामान्यलक्षण यथाते हैं:—जो भाव विशेष रूप से, अर्थात् अभिमुख्य से, स्थायी भाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते-दृश्यते-उत्तराते-नजर आते हैं, वे व्यभिचारी भाव होते हैं। ये भाव स्थायी भाव में इसी तरह उन्मत्त तथा निमत्त होते हैं, जैसे समुद्र में तरङ्ग उठती हैं व विलीन हो जाती हैं।

जैसे समुद्र में ही ऊर्ध्व पेश होती हैं और विलीन होती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भाव में ही निर्वेदादि व्यभिचारी भाव आविर्भूत होते हैं तथा विरोधित हो जाते हैं, इस प्रकार व्यभिचारी भाव विशेष रूप से स्थायी भाव में ही उठते व विलीन होते रहते हैं। ये भाव १३ होते हैं।

ते च—

निर्वेद्वलानिशङ्गाधमघृतिजडताहर्षदैर्न्योभ्यचिन्ता-
रत्रासेर्ष्याभर्षणयोः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्रावियोधाः ।

श्रीडापस्मारमोर्जाः सुमतिरलसताथेगतकर्वाहित्वा
व्याभ्युन्मादौ विपादोत्सुकचपलयुतात्रिशदेते प्रयथ ॥ ८ ॥

ये व्यभिचारी भाव १३ होते हैं—निर्वेद, श्लानि, दाह्य, धम, घृति, जडता, हर्ष, दैन्य, शीर्ष्य, चिन्ता, ज्ञास, ईर्ष्या, भर्षण, मर्ष, स्मृति, मरण, मदा, सुप्त, निद्रा वियोध, श्रीडा, अपस्मार, मोर्हा, मति, जलसता, वेग, तर्क, अवहित्वा, व्याधि, उन्माद, विपाद, उत्सुकता (भौत्सुक्य) तथा चपलता ।

एत निर्वेद —

तत्त्वज्ञानापदीभ्यदिनिर्वेदः स्वावमाननाम् ।
तत्र चिन्ताश्रुतिभ्यासवैषण्योच्छ्वासदीनताः ॥ ९ ॥

(निर्वेद)

तत्त्वज्ञान, आपत्ति या ईर्ष्या के कारण स्वयं का तिरस्कार, निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव कहलाता है। इसके चिह्न (अनुभाव) चिन्ता, श्रुति, वैषण्य, उच्छ्वास तथा दीनता है।

तत्त्वज्ञानानिर्वेदो मया—

‘प्राप्ता धिया सकलजगद्ग्राहता कि
इत्त पद शिरसि विद्रिपतां तत किम् ।
सम्प्रीणितः प्रणयिनो विभयस्तत किं
कल्प स्थित तनुभूतां तनुभिस्वत किम् ॥’

तत्त्वज्ञान से निर्वेद जैसे—

जगत समस्त इन्द्रियों को पूर्ण करने वाली सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो कमसे क्या ई मुझमें के लिए पर देर रखा दिया गया हो, उन्हें जीत लिया हो, तो क्यासे क्या ई मिर्षो व स्नेहो वाचनों को धनारि से छुट कर दिया हो, तो क्या क्या ई शरीरधारी मनुष्यों के शरीर भावस्व जीवित रहे, तो भी क्या काम ई

आपदो यया—

‘राज्ञो निपद्मन्धुनियोगदुःख देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेद’ ।

आस्वाद्यतेऽस्या वदुनिष्कृताया पत्र मयैतच्चिरजीविताया ॥’

आपत्ति से निर्वेद कैसे—

राजा के लिए विपत्ति, पापवों के वियोग का दुःख, देश का छो देना, तथा दुर्गम मार्ग में घूम कर कष्ट सहना—(विरोधी बानें हैं ।) पर मेरे द्वारा कष्टे पत्रवाजी, शारदा रहने वाली, रस (प्रकृति-स्वभाव) का यह फल चखा जा रहा है ।

ईर्ष्यातो यया—

‘न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस’

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटापीवत्यहो रावण ।

धिग्धक्शक्रजित प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा

स्वर्गप्रामटिकाविलुष्टनपरै पीनै किमेभिर्भुजै ॥’

ईर्ष्या से निर्वेद, जैसे राम से हारते हुए रावण की निम्न वक्ति में—

यह मेरा सबसे बड़ा अपमान है, कि मेरे जैसे वीर के भी शत्रु हो सकते हैं, वीर फिर कुछ भी है, तो यह तापस बारा, और फिर वह यही—मेरे घर में ही, लड्डा में—आकर राक्षस वीरों को मार रहा है । इस तिरस्कार व अपमान को सह कर भी रावण बिन्दा है, यह बहुत बड़े दुःख की बात है । इन्द्र को जीतने वाले मेवनाद को—उसको वीरगा को—बिष्कार है, मयवा कुम्भकर्ण को नींद से जगाने से भी क्या लाभ हुआ, और स्वर्ग के छोटे गाँव को छूटने में निपुण मेरे ये मोटे हाथ भी स्वयं हैं ।

वीरशूद्रात्सोर्व्यभिचारि निर्वेदो यया—

‘ये बाहवो न युधि वैरिक्ठोरकृष्ण-

पीठोच्छलद्भुधिरराजिविराजितांसा ।

नापि प्रियाष्टुपयोधरपत्रगज-

सका तंक्रुमरसा खलु निष्फलास्ते ॥’

आरामरूप रिपु रमणी वाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्ति । एव रसान्तराधाम-
प्यङ्गमाव उदाहार्य’ ।

वीर तथा शूद्रा रस के स्वभिचारिवाररूप निर्वेद का उदाहरण, जैसे—

जो हाथ, न तो युद्ध में वैरियों के कठोर कण्ठकट में उड़लते हुए, खून से सुशोभित भाग बाले हैं, और न प्रिया के पीन रसों की पभावलों के कुङ्कुम रस से गीठे ही हुए हैं, निःसन्देह ये हाथ निष्फल ही हैं ।

यह वक्ति ऐसे व्यक्तिके निर्वेद की उच्च है, जिसे न तो अपने लायक शत्रु ही मिला है, न कोई दुन्दुभी प्रिया ही प्राप्त हुई है । जैसे वहाँ वीर तथा शूद्रा के स्वभिचारिभूत निर्वेद का उदाहरण दिया गया, जैसे दूसरे रसों के अङ्गरूप में भी इसका उदाहरण दिया जा सकता है ।

रसान्तरा स्वतन्त्रो निर्वेदो यया—

‘करस भो कथयामि दैवहतक मां विदि शिखोटक

पैराम्यादिव वज्रि साधु विदित कस्माद्यत धूयताम् ।

यामेनात्र षट्सप्तसम्पगाजन सर्वात्मना शिवते ।

न चक्ष्णामपि परोपकाराणीः मर्त्याश्चित्तव्यभिचारे । १०

दिभावानुभावसङ्गजनजनेन्द्रानेकराखोः निर्वेदोऽनिदर्शनीयः । ११

निर्वेद स्वतः रूप में भी पाया जा सकता है, जहाँ वह किसी रस का अङ्ग नहीं रहता । स्वतन्त्र निर्वेद का उदाहरण, जैसे—

कोटिस्वकिं शाखोटकं वृक्षं प्रथमं पृथक् रक्ष्यते, तथा वदन्वप्यरं देना दे । इत प्रकार वृक्ष, प्रत्युत्तर रूप में शाखोटक वृक्ष का निर्वेद बताया गया है।

‘द्रुम कौन हो, मारे’ कहता हूँ, मैं अमागा शाखोटक हूँ ‘द्रुम तो वैराग्य से बोल रहे हो ।’ ‘द्रुमने ठीक समझा’ ऐसा क्यों ‘तो सुनो, देखो, इधर मारे और एक बरगद का पेड़ है । राहगीर उसे हर तरह से लेते हैं । यद्यपि मैं सबक पर खड़ा हूँ, तथापि मेरी आमा भी हुंसे का व्यवहार नहीं कर पाती।’

(अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वारा किसी ऐसे व्यक्ति का निर्वेद उच्यते है, जो विलेख से तो परोपकार करना चाहता है, पर उसके पास परोपकार करने के साधन नहीं हैं ।)

यह निर्वेद विभाव, अनुभाव तथा रस के अङ्गरूप में तथा स्वतन्त्र रूप में अनेक प्रकार का दिखाया जा सकता है ।

अथ स्थानि—

रत्याद्यायासद्वृत्तुद्धिर्ज्ञानिनिर्निष्प्राणतेह च ।

षेचपर्यकम्पानुत्साहद्वेषामाद्गचचनक्रियाः ॥ १० ॥

निधुवनकलाभ्यासादिभयवृत्तुद्धिमनादिभिर्निष्प्राणताहवा स्थानि । अस्य च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः ।

{ स्थानि }

सुरत आदि से जमित परिधम, एवा तथा क्षुधा के द्वारा जो निष्प्राणता हो जाती है, उसे स्थानि भाव कहते हैं । इसके अन्तर्गत वैवर्ण्य, कम्प, अनुत्साह, जह्न, यथन, व क्रिया का अङ्ग हो जातः—ये अनुभाव पाये जाते हैं ।

यथा माये—

‘सुखितनयनताराः क्षामवनेन्दुविम्बाः—

रजनय इष निद्राकान्तनीलोत्पलाशय ।

तिमिरमिव दृग्गताः सतिनः केयपाशाः—

नवनिपतिशृदेम्यो यान्त्यसूत्रैरवम्—

रोप निर्वेदवृत्तम् ।

स्थानि का उदाहरण माय के प्रकारके सर्ग का भिन्न रूप दिया गया है—

देखो, मात काळ होते ही ये वारविलासिनीयों, जिनके चेहों की सुगन्धि निष्कल्प ही गई है; जिनके मुख रूपे चन्द्रिका-दुर्धरे-पद्म-गणे है (सौगन्धि हो गये है), और जिनकी मील कमल के समान नीर के कारण इन्द्र-भोलें सुरक्षा गई है; अथकार के समान पीके घने काँके केणयाय की वारण करती हुई, राजाओं के घर से शरीर-रस लौट रही हैं; जैसे मात काळ के कारण प्रकाशहीन तारों वाली पीके पत्रमा वाली, तथा अन्त एदीनर से मुक्त, अथकार मय रात्रिओं राजपूर से बापस आ रही हैं ।

स्थानि के विषय में रसात्रता या अजज्ञता ठीक उसी तरह हास्यी-वानी आदि, पैदा हम निर्वेद के बारे में कह चुके हैं ।

— १११

(धम)

मार्ग में चलने के कारण या सुरत के कारण जनित सेव को धम कहते हैं। इसमें स्वेद, मर्दन आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

मार्गजनित धम, जैसे उचररामचरित में (राम सीता से कहते हैं)—
 है सीते, यह नदी स्थल है, जहाँ मार्ग में चलने के कारण अल्प सेव से अक्षय्य मनीहर
 पत्र मुग्ध अज्ञो को, जो कुम्हलाद विस्तारतु के समान दुर्बल थे, तथा जिन्हें मैंने ग्राह आलिंगनों
 के द्वारा स्थापित किया (दबाया) था—मेरे वक्षःस्थल पर रख कर तुम ही गई थी ।

रतिधमो यथा माये—

‘प्राप्य मामधरतादतिभूमि दुर्बहस्तनमरा सुरतास्य ।

शश्रमु श्रमजलार्कलाटश्चिष्टकेशमसितायतकेरय ॥’

इत्यापुरेक्ष्यम् ।

रतिधम, जैसे शिशुपाल वष के दशम सर्ग में—

काळे तथा लम्बे काले काली रंगिणी, जिनको तन का भार बर्धन करना बड़ा कठिन
 हो गया था, नामध राग के कारण सुरत की पराकाश को प्राप्त कर (अर्थात् सुरतर्षा का
 करके), पत्नीने ही मुँहों से गीले सनाद पर जिनके रूप बालों को शोणन करती हुई, एक गई ।

धम के विषय में रसाङ्गत्वादि स्त्री तरह समझ लेना चाहिए ।

अथ धृति —

(१११)

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यापेक्षितिरण्यप्रभोगहत ॥ १२ ॥

ज्ञानाद्यथा भवतिरिचतके—

‘व्यभिह परिदुषा पल्ललैस्त्व च लक्ष्म्या

सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेष ।

स तु भवतु धरिद्रो यस्य वृष्णा विशाला

मनसि च परितुष्टे कोऽर्चनान् को हरिः ॥’

शक्तितो यथा रत्नावस्थाम्—

‘राज्य निजितशु शोभ्यसचिवे न्यस्त’ समस्तो मरः

सम्यक्पालनरालिता प्रशमितारोपीरसर्गा प्रजा ।

प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमवस्थे चेति नीला धृतिः ॥ १११ ॥

काम काममुपैवय मम पुनर्मन्ये महालुत्सवा ॥ १११ ॥

इत्याद्युक्तम् ।

(धृति)

ज्ञान, शक्ति, धादि के कारण जहाँ ऐसा सन्तोष हो जाय, जो बिना किसी स्वभता के कर्मभोग को भोगे, वह सन्तोष धृति (धैर्य) कहलाता है ।

ज्ञान से धृति जैसे मर्दरिचतक में—(कोई सतोषी सम्पत्तिवाद् से कहता है)—

इस छोड़ इन बस्तुओं से ही सन्तुष्ट हैं और हम सम्पत्ति से प्रसन्न हो । इस तरह धृन्वारा और हमारा सन्तोष समान है । जब हम धीगो में कोई विशेष अन्तर नहीं है । जिसकी वृष्णा बहुत बड़ी होती है, वह दरिद्र हो सकता है । अरे जब मन ही सन्तुष्ट है तो कौन सम्पत्ति धारण, और कौन दरिद्र ।

तावु के वृष्ट के समान लम्बे-लम्बे उन कवचों (शब्दों) के रूप में बची रह गई, जो (एक) सिर के एक-दम-अट-जाने से पैदा हुए गड्ढों में घूमते तथा दुर्बल मिलाते पीध पथियों से व्याकुल हो रहे थे।

प्रथम—मित्र, यदि यही बात है, तो मैं इस अवस्था में क्या ही क्या सकता हूँ?

अथ हर्षः—

प्रसन्निरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽधुस्वेदगद्गदाः।

प्रियागमनपुत्रजननोरसवादिविभावैश्चेत् प्रसादो हर्षः। तत्र आधुस्वेदगद्गदादयोऽनुभावाः। यथा—

कायाते क्षयिते मरुस्यलमुक्तसुखेक्ष्य दुर्लभ्यता
 शोहिण्या भरितोदवाणकलिलामासज्य-दृष्टिं मुखे ।
 दत्त्वा पीलुशर्माकीरीरुखलान्स्वेनाधलेनादरा-
 हुन्मृष्टं फरभस्य फेसरसदाभागप्रलम् रजः ॥

निवेदयदितरुभेयम् ।

(हर्ष)

उत्सव आदि के कारण जनित प्रसन्नता हर्ष कहलाती है। इसके अनुभाव अधु, स्वेद तथा गद्गद हो जाना है।

प्रिय के आगमन, पुत्रोत्पत्ति आदि विभावों से मन में जी प्रसन्नता होती है, उसे हर्ष कहते हैं। इसके अक्ष, स्वेद, गद्गद आदि अनुभाव हैं। जैसे प्रिय के आगमन से प्रसन्न युवती का निम्न पद्य में वर्णित हर्ष का चित्रण—

प्रिय बड़े दिनों में घर छोड़ कर आया है। मार्ग में उसने भगम्य तथा दुर्लभ्य मरुभूमि को पार किया है। मरुभूमि की इस गहन पद्धति का विचार कर श्रद्धिणी (मानवधु) ने उसके मुख की ओर प्रसन्नता व सन्तोष से आये आँसुओं से भरी निगाह डाली। आखिर मेरे लिए प्रिय मरुभूमि की गहनता की भी पवाई न करके आये हो, यह भाव भी यहाँ अभिव्यक्त है। लेकिन इसमें प्रमुख साधन तो यह है, जो मरुभूमि के दुर्भेद्य कान्धार को पार कर नायक को यहाँ तक के आया है, अतः यह भी तो प्रसन्नता का साक्ष्य है। गायिका अपने आँसुओं में पीछ, शमी तथा कटीर की पत्तियों को केकर बड़े आदर से अपने हाथों से छिजाती है, और फिर उस ऊँट की गारदन में, अयाल पर, लगी दुर्भेद्य को छठकार देती है।

और बातें ठीक निवेद की ही तरह समझो जानी चाहिए।

अथ दैन्यम्—

दीर्घत्याघैरनौजस्यं दैन्यं क्षाण्ण्यामृजादिमत्-॥१४॥

दादिपपन्यकारादिविभावैरनौजस्यता चेततो दैन्यं तत्र च कृष्णतामस्तिवसनेश-
 मादयोऽनुभावः। यथा—

शुद्धोऽन्यः पतिरेव मधकान्तः स्थूणावरोपे गृहं

कालोऽभ्यर्णजलममः कृशलिनी बलस्य यतीपिन्धीः।

यत्नात्स विपतौ विन्नुपदिश मग्नेति कर्वाकुला

दृष्ट्वा गर्भमरालुघोः सुतयार्थं क्षयविररोदिपि-॥

सर्व पूर्वपर।

(दैन्य)

सुद्विहीनता आदि कारणों से कान्ति तथा भोजन का शीघ्र हो जाना, दैन्य कहलाता है, इसमें कालापना, मलिनता आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

दारिद्र्य, अवनान आदि विमार्शों से अगित विष का मन्दकान्ति होना दैन्य कहलाता है, इसके अनुभाव है—कुण्ठता, बलों व दौर्तों का मलिन रहना आदि। जैसा निम्न पद्य में किसी दुष्टिया के दारिद्र्य का तथा उन्नतित दैन्य का वर्णन है—

पति तौ बन्धा बूढा है और हर दम खटिया में पड़ा रहता है। घर अब केवल स्थूणा (यूनी) के ही आभार पर टिका है, वह भी गिरने बाज है। बरसात का मौसम प्राप्त है। स्वर विदेश में गये बेटे की कोई कुशल-खबर भी नहीं आई। बड़े यत्न से तैल की बूँद बूँद को जोड़ कर तैल की एक छोटी सी हँडिया भरी थी, हाथ, वह भी फूट गई। रज सारी बातों को सोच कर तथा बहू को गर्भ के भार के कारण अटसाराँ देख कर श्वाकुल सास बड़ी देर तक रोती रहती है।

अयौग्यम्—

दुष्टेऽपराधदौर्मुक्त्यकौर्यध्वण्डत्वमुग्रता ।

तत्र स्वेदशिरः कम्पतर्जनाताडनादय ॥ १३ ॥

यथा धीरचरिते—अमदन्य—

उत्कृत्वोत्कृत्य गर्भानपि शक्यत क्षत्रसन्तानरोष—

दुहामस्यैकविंशत्यवधि विरासत सर्वतो राजवरदान् ।

पित्र्य तद्रक्षपूर्णेहदसवनमहान् दम दायमान—

मोषाम् कुर्वतो मे न खलु न विदित सर्वभूतै स्वभाव ॥

(धीन्य)

अपराध, दुष्टता, क्रूरता आदि के कारण दुष्ट व्यक्ति के प्रति जो क्रोध आता है, जो कर्कश भाव उत्पन्न होता है, उसे उग्रता कहते हैं। इसके अनुभाव है—स्वेद, शिर को हिलाना, लोगों को डराना, धमकाना तथा पीटना, आदि।

जैसे महाभारत की परशुराम की निम्न उक्ति में—

क्षत्रियों की सन्तान के प्रति अनित रोष के कारण गर्भ में स्थित भ्रूणों को भी काट-काट कर टुकड़े करते हुए, तथा समस्त राजवंशोत्पन्न क्षत्रियों को २१ बार मौत के घाट उतारने वाले दुर्बल सेज वाले, वेरा स्वभाव समस्त प्राणियों द्वारा विदित न हो यह बात नहीं है, बल्कि हर एक व्यक्ति मेरे इस स्वभाव को जानता है कि मैंने राजवंशोत्पन्न क्षत्रियों के रक्त से भरे ताडकों में तर्पणादि करके अत्यधिक आनन्दित होकर अपनी क्रोध रूची अग्नि की शान्ति किया है, तथा इस प्रकार पित्रु-कार्य-आह-तर्पणादि-विहित किया है।

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्तेहितानासः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा—

पद्मप्रमथिताशुभिः दुनिकरैर्मुष्णफलस्पर्धिभिः ।

कुर्वन्त्या हरहासहारि इदये क्षात्रकीभूषणम् ।

पाले धालमृणालनालवल्लयालहारचान्ते करे ।

विन्दस्पाननमायतासि शुक्लती कोऽयं स्वया स्मर्यते ॥

(असूया)

धमण्ड, हुहता, समा क्रोध के कारण किसी दूसरे, व्यक्ति की उन्नति का न सह सकना असूया कहलाता है। इसमें दोष-से युक्त उक्ति का प्रयोग, तब व्यक्ति के प्रति खनादर, झुकुटि, क्रोध, शोक आदि चिह्न पाये जाते हैं।

गर्वजनित अहंसा जैसे महावीरचरित की इस उक्ति में वहाँ रावण के गर्व का उल्लेख किया गया है—

रावण ने जनक से अर्धो वन कर लौटा की माँग, पर फिर भी स्वामी रावण को पलनाति न हो सकी। बल्कि- वनसे शत्रुता करने वाले विरोधी दशरथ के पुत्र राम को वह कन्या निकल गई। शत्रु की उन्नति, स्वयं को मान तथा यश का ध्वंस, तथा खीरक का हल तरह हाथ से चला खाना, भला वह धमण्डी जगत्पति रावण कैसे सह सकेगा।

दौर्जन्यायया—

‘यदि परगुणा न क्षम्यते यतस्व गुणार्जने

(नहि परशतो नि-दाभ्याचैरल परिमार्जितुम् ।)

विरमसि न चेदिच्छाद्विप्रसक्तमनोरयो

दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्दृष्टुम् मेप्यसि ॥’

हुहताजनित अहंसा, जैसे—

अगर तू दूसरों के गुणों को नहीं सह सकता, तो सुद ही गुणों के अर्जन का प्रयत्न कर। दूसरों की निन्दा कर कर इस बहाने से उनके यश को हटाने की, धसे धोने की, चेष्टा करना शोक नहीं है। इच्छा व देव से भरे मनोरथ बाण है तू दूसरों की निन्दा करने से नहीं रुकेगा, तो धर्य ही किरणों की हाथ के छत्रों से रोकने की चेष्टा करता हुआ सुद ही थक कर शान्त हो आया। दूसरे-पशुधी पुरुषों की निन्दा कर तू वनका उसी तरह कुछ भी नहीं बिगाड़ पायेगा, जैसे धर्य की किरणों की रोकने की कोशिश करने पर भी वनों को नही रोक पाता।

मन्मुवा मयाऽमन्वशातके—

‘पुरस्तन्व्या गोशस्त्रलनचकितोऽहं नतमुख’

प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितु देवहतक ।

स्फुटो रेखान्यास कथमपि स तादृक्परिणतो

गता येन व्यक्ति पुनरव्ययै सैव तरुणी ॥

तलथाभिधाय स्फुरदक्षणागण्डस्यतरुणा

मनस्विन्या रोषप्रणयरमसाद्गुणगिरि ।

अहो विप्र विप्र स्फुटमिति निगदायुक्त्वुप,

‘इषा मन्नाज्जं मे शिरसि निहितो धामचरण ॥’

क्रोधजनित अहंसा, जैसे अमरकदास के इस पद्य में—

कोई नायक किसी विप्र से अपने प्रति आचरित अज्ञाना नायिका के क्रोध का वर्णन करते वर रहा है। शतचीत के सिलसिले में उस सुन्दरी-अज्ञाना नायिका-के सामने मेरे मुँह से एक दम दूसरी नायिका का नाम निकल गया। उसके मुँह से निकलते ही देख कर मैं चकित हो गया, और वही वह अज्ञाना नायिका, उस दूसरी नायिका के प्रति मेरे प्रेम को न ताब के, हसलिय में कन्या से मुँह मीना किने कुछ लिखने लग गया। पर मैं मन्दभाष्य था, मेरे द्वारा भी

चित्र लिखा गया, उसको रेशाएँ हो कुछ इस ढङ्ग से बन गईं कि, वह कनिष्ठा उस रेखाचित्र के द्वारा सम्पूर्ण अक्षों से युक्त स्वच्छ दिखाई पड़ी—वह उसीका निम्न बन गया। उस उस चित्र को देख कर वह अथवा नायिका सारी बात समझ गई। इसके कर्णोत्तर को भीषण के कारण लाठी दौड़ आई, भे फाटकेने लगे, तथा उसकी बाणी रोष व प्रेम से गूढ़ हो गई। उस भावनी के ओढ़ गिरासे हुए 'अहो, बटा आश्चर्य है, बड़ा आश्चर्य है, (अथवा, अहो बड़ा सुन्दर चित्र है) यह कह कर, मन्नाख के समान अपने दाहिने चरण को भीषण से गेरे सिर पर टाक दिया।

अथार्थ—

अधिलेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।

तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १८ ॥

यथा धीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां यो व्यक्तिः क्वात् ।

न ह्येव दूषयिष्यामि शत्रुप्रहमहाव्रतम् ॥'

(अथार्थ)

विशुद्ध, अपमान आदि को न सह सकना अमर्ष कहलाता है। इसमें स्वेद, सिर को दिकाना, तर्जन, ताडन आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

जैसे महाशोरभरित में—

आप जैसे पुरुषों का लड़कन करने के कारण मैं प्रायश्चित्त करूँगा। शत्रुप्रहम करने की महती प्रतिज्ञा को मैं यों ही दूषित न करूँगा।

यथा वा वेणीसङ्कारे—

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया ममन नाम स्थित --

अत्रा गाम विगर्हणं स्थितिमता मय्येऽनुकानामपि ।'

बोधोहासितशोणितारुणगदस्त्रोच्छिन्न दत्त' कौरवा-

नयैक दिवस ममासि न युद्धार्हा विधेयस्तव ॥'

अथवा जैसे वेणीसङ्कार की भीमसेन की विष्णु उक्ति में—

भीमसेन सुविभित के पास सद्देव के द्वारा यह बात कहला रहा है — 'आप की आटा के लड़कन न करने के कारण मैं अब तक आपकी आटा के अक्षय कर्षी अल में मग्न रहा, अब तक मैंने आपकी आटा का लड़कन न किया। और इसीलिए आपकी आटा में स्थित दूसरे छोटे भाइयों के भीषण मैंने (भी) निरा न निरस्तान प्राप्त किया। परं आज तो मैं कौरवों से सारा बदला चुका लेना चाहता हूँ। इसलिये खून से रंगी गदा को भीषण से मुगावे हुए तथा कौरवों का नारा धरते हुए मेरे, सिर्फ एक दिन के लिये, आली आज भर के लिये, व तो आप बड़े भारी ही हैं, और न मैं आप का आटाकारी लेनक (निधेव) ही।'

अथार्थ—

गर्षोऽभिजनलाचण्यल्लैश्वर्यादिभिर्मन्द ।

कर्माण्याथर्षणावज्ञा सचिलासाद्ग्योक्षणम् ॥ १९ ॥

यथा धीरचरिते—

'मुनिव्यमय धीरस्तादृशस्तद्विषय मे

विरमद्दु परिकम्प्य' आतरे क्षमियासि ।

तपसि विततकीर्तैर्दपंकण्डूलनोष्ण
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥
(गर्व)

उच्च कुल, सुन्दरता, बल, ऐश्वर्य आदि के द्वारा जनित भव को गर्व कहते हैं। इसमें घेंट, दूसरों की अवज्ञा करना, अपने अहों का विलास के साथ देखना आदि अनुभाव होते हैं।

जैसे महावीरचरित में—

राम परशुराम से बरी हुई सीता को सात्वना बँधाते बह रहे हैं—

यह मुनि परशुराम अपने बोल रहे, तो यह मेरे लिए अच्छी बात है, मुझे प्यारी लग रही है। लेकिन सीते, तुम क्षत्रिया हो इसलिए यह धीनता व कम्प ठीक नहीं, इस कम्प को रोक को। तपस्या में यद्यथा करने वाले, तथा घमण्ड से विसर्ग हाथों में सुबली चला रही है, ऐसे व्यक्ति की परिचर्षा करने में मैं-क्षत्रिय राम-महीभोवि समर्थ हूँ।

यथा वा तत्रैव—

‘ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।

जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्भनायते ॥’

अपना नहीं वीरचरित नाटक में ही परशुराम के द्वारा रावण को भेजे गये निम्न संदेश में—

ब्राह्मणों के प्रति अपराध करने को छोड़ देना, तुम्हारे ही कल्याण के लिए है। ब्रह्मरपि का पुत्र परशुराम तुम्हारा मित्र है। यदि तुम ब्राह्मणों का अतिक्रम करना नहीं छोड़ते, तो यह बचा लोपी है।

अथ स्मृति—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।

ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुच्चयनादयः ॥ २० ॥

यथा—

‘मैनाक’ किमय रणद्वि गगने मन्मार्गमव्याहृतं

शक्तिस्तस्य कुत स वभ्रपतनाहूतो महेन्द्रादपि ।

तादृश्यं शोऽपि सम निजेन विभुना जानाति मां रावण—

मा ! ज्ञात, स जटावुरेप जरसा द्विष्टो वध वाञ्छति ॥’

(स्मृति)

जब किसी समान पदार्थ के ज्ञान या उसकी चिन्ता आदि कारणों से, जिस वस्तु का ज्ञान हम पहले कर चुके हैं उस पूर्वानुभव का संस्कार मन में उद्बुद्ध होता है, तो इसी को स्मृति कहते हैं। स्मृति में हम पहले ज्ञात किसी वस्तु का ज्ञान फिर से प्राप्त करते हैं; स्मृति पूर्वज्ञान के द्वारा अपने ज्ञेय पदार्थ या प्रमेय को बाद दिखती है। इसके अनुभाव, भौदों का उँचा करना आदि है।

जैसे, सीता को रथ से भगाकर के जाया हुआ रावण किसी विशाल शरीर को उसके मार्ग का अवरोध करते देखा है। इसे देखकर वह सोच रहा है—क्या मेरे अग्रतिहत मार्ग को, आकाश में, वह मैनाक रोक रहा है। पर मैनाक में मेरे मार्ग को रोहने की ताकत नहीं है, वह तो ब्रह्म के वज्रपाव से भी टटा हुआ है, बरकर खजुद में जिया है। पर गरुड की

नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने स्वामी विष्णु के साथ मुझ रावण को खूब जानता है। गलब ही नहीं, गलब का स्वामी विष्णु भी मेरे बल को खूब जानता है, इसलिए मेरे रास्ते को रोकने की हरकत गलब भी नहीं करेगा। (तो फिर यह क्यों हो सकता है ?) धारा-पता चल गया, यह तो बूझ जाता हूँ, जो मेरे हाथों अपनी मौत को मुझ रहा है।

यथा वा मालतीमाधवे—'माधवः—मम हि प्राक्नोपलम्भसंभावितान्मज्जन्मन' संस्कारस्यानवरतप्रबोधान् प्रतीयमानस्तद्विसदृशं प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहं प्रियतमा-स्मृतिप्रत्ययोरपत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति श्रुतिसारूप्यतश्चैतन्यम्—

'लीनेव प्रतिविम्बितोव लिखितोवोत्कीर्णरूपैव च

प्रत्युत्तैव च ब्रह्मसारपटितैवान्तर्निपातैव च ।

सा नद्येतसि कीलितैव विशिख्येतोद्युव पथभि-

थिन्तासततितन्नुजालनिविडस्यूतेव रुदा प्रिया ॥'

अथवा मालतीमाधव की निम्न कविता में—

माधव—प्राक्तन ध्यान के साक्षात्कार से उत्पन्न संस्कार के बार-बार प्रबुद्ध होने के कारण मन में प्रतीत होता हुआ, तथा जिससे भिन्न दूसरे ध्यानानुभवों के द्वारा जिसकी धारा को रोकना नहीं गया है, ऐसी प्रियतमा स्मृति रूप ध्यान को परम्परा मेरी समस्त आत्मा की जैसे मालती की वृत्ति में ही परिणत कर रही है। मालती को एकाग्रचित्त होकर स्मृतिपथगत बनाते हुए मेरा चित्त जैसे मालतीमय हो गया है—ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे मालती मेरे मन में झुल गिर गई हो, अथवा जैसे वह मन में प्रतिबिम्बित हो गई हो, अथवा मन के चित्रकलक पर चित्रित हो गई हो, 'या किसी शिल्पकार ने इस मन में देहकण के द्वारा उसकी मूर्ति को खोद दिया (उखीन कर दिया) हो। अथवा वह इसमें जड़ दी गई हो, या फिर जैसे ब्रह्मसार (चूने आदि के मजबूत लेप) के द्वारा उसकी मूर्ति को मन में ही चुन दिया गया हो, अथवा जैसे मन में खोद दी गई हो। मालती हमारे चित्त में इसी तरह बैठ गई है मानो कामदेव के पाँच बाणों ने हमारे चित्त में उसे कोल दिया है, अथवा चित्ता (बार्द-बार्द संसदा विचार करने) की परम्परा रूपी धारों के जाल के द्वारा उसे मन में संभन रूप में धो दिया है, मानों चित्ता के धारों ने उसे मन में अहस्रुत कर दिया है।

अथ मरणम्—

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थस्वाद्य नोच्यते ।

यथा—

'संप्राप्तेऽप्यभिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्मवातायन

वारंवारमुपेत्य निश्चिन्तया निश्चित्य किंचिन्निरम् ।

संप्रत्येव निवेश केलिकुरीं सार्धं सतीभ्य शिरो-

माधिक्या सहकारकेण कण्ठ पाणिप्रहो निर्मित ॥'

इत्यादियच्छुद्धाभ्रयालम्बनत्वेन मरणे अन्वसायमानमुपनिबन्धनीयम् ।

(मरण)

मरण शोकप्रसिद्ध है, तथा अनर्थ सूचक है, इसलिए इसका छक्षण नहीं किया गया है। जैसे प्रीतिमण्डूक नादिका के इस प्रणेत में—

नायक विवेश चला गया है। उसके जाने का दिन आ गया है। वह दिन नादिका की क्या अवस्था थी, इसी का वर्णन करते हुए उसकी सखियों नायक से कह रही हैं। वही दिनों

से प्रतीक्षा करते करते, आखिर गुम्हारे आने का दिन समीप आया। उस दिन नायिका बार-बार गुम्हारे आने के मार्ग की ओर के वातायन के पास जा जा कर खड़ी रही। उस समय उसका शरीर निष्क्रिय-सा हो गया, बड़ी देर तक वह गुम्हारे आने की बाट देखती रही। पर गुम न आये। यह देखकर उसने बड़ी देर तक कुछ सोचा। फिर आँखों में आँसू मरकर शीश के लिए पानी दुर्भे कुररी पक्षिणी को एक दम सखियों को सौंप दिया, और छोटी सी मापवी लना का करुणामरा विवाह आम के पेड़ के साथ कर दिया।

शुद्धार के आलम्बन में बन्धी भी मरण का वर्णन नहीं करना चाहिए। वहाँ केवल मरण की तैयारी भर का सङ्कत किया जा सकता है। ऊपर के पद्य के वर्णन की तरह शुद्धार में मरण का व्यवसायमात्र ही निबद्ध करना चाहिए।

अन्यत्र वामचारो यथा वीरचरिते—‘परयन्तु भवन्तस्ताडकाम्—

हृन्मर्मभेदिपतदुत्पन्नकङ्कपत्रसवेगतक्षणकृतस्फुरदहमंज्ञा ।

नासाकुटीरकुहरद्वयतुस्यनिर्यदुद्बुद्धध्वनदस्रवप्रसरा मृतैव ॥’

दूसरे रसों में मरण का यथेन्द्र वर्णन हो सकता है जैसे वीरचरिते में—

‘आप लोग ताडका को देखें—वह ताडका तो मर ही गई है। इसके हृत्पद्म के मर्म का भेदन करने वाले, राम के तेज बङ्कपत्र (बाण) ने वेग के साथ ही साथ उसी क्षण इसके अर्धों का मङ्गल कर दिया है, और इसके दोनों नाक के नथुनों (नाक की दो गुफाओं) से समान रूप से बुदबुदों से सुक, सुरसुर चम्बर करता हुआ रक्तप्रवाह निकल रहा है।

यथा मदे—

हृत्पौत्कंपौ मद् पानास्खलदङ्गयचोगतिः ॥ २१ ॥

निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

(मद्)

मद्यपान से उत्पन्न हृत्पद्म को मद् कहते हैं। इसमें अङ्ग, घचन व गति स्खलित होने लगती है, अङ्ग, वाणी व घाल लडखदाने लगती है, यह मद् तीन तरह का होता है, ज्येष्ठ, मध्य तथा अधम जिनमें क्रमशः निद्रा, हास तथा रुदन ये अनुभाव पाये जाते हैं।

यथा माये—

‘हावहारि हसित वचनानां कौशल दृशि विचारविशेषा ।

चन्द्रिरे शृणामृजोरपि कृष्णा कर्मिनेव तदखेन मदेन ॥’

इत्यादि ।

जैसे माय के वराम सर्ग में—

अत्यधिक उत्थित मर ने गुम्हा नायिका में हावभाव से मनोहर हँसी, वचनों के कौशल, आँखों में विचार (कंकड़टिपाव) की ठीक उसी तरह उत्पन्न कर दिया, जैसे तरण नायक ने गुम्हा में भी इन भावों को उत्पन्न कर दिया है। जब शरार के जेठे में गुम्हा नायिकाओं की ही यह दृशा थी, तो फिर मरमस्त भीटा नायिकाओं की हावपूर्ण हँसी, वचनमन्त्री तथा तिरस्की दृष्टि से देखने की बात ही क्या कहे।

अथ शुभम्—

‘शुभ निद्रोद्गमं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥ २२ ॥

यथा—

‘सुषुनि तृणकुलीरे श्रेष्ठकोष्ठे यवानां

नवकटमयशररस्तरे सोपधाने ।

परिहरति सुषुप्तं हास्तिनहन्मनाराव

118

सुषुप्तवत्प्रथमहीनावद्वरेरस्तुषुपारः (गी० १००)

(सुप्त)

— निद्रा के कारण जनित स्थिति को 'सुप्त' कहते हैं। इसके अनुभाव रवासी तथा सुषुप्त की क्रिया है।

जो के खेन के एक कोने पर बनी घास की छोटी होंपड़ी में, नये पुञ्जल के निम्नोत्तर, जिस पर (पुञ्जल का ही) तक्रिया लगा है, लीये हुए कृपकदम्पति की, कृपकसुन्दरी के कुचकलश की गर्मी के कारण बहो लगी हुई ठंडक जगा रहा है। वायु में गुषार (शीतलता) है, कृपकदम्पती के स्तनकलशों की गर्मी से वह ठंडक प्रतीत होता है, और उस ठंडक का अनुभव करते ही कृपकदम्पति जग जाते हैं।

अथ निद्रा—

मनस्संमीलनं निद्रा चिन्तालस्यस्कृमादिभिः ।

तत्र जृम्भाद्भङ्गाक्षिमोलनोत्स्यमतादयः ॥ २३ ॥

निद्रार्थनिमीलितहृशो मदमन्यराणि

नाप्यर्षवति न च योनि निरर्थकानि ।

अथोपि मे गृम्हादशो मधुराणि तस्या-

स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥

(निद्रा) १२०, १२१, १२२

चिन्ता, आलस्य, परिश्रम आदि कारणों से मग का सम्मीलन निद्रा कहलाता है। इसके अनुभाव हैं, आँसू खेना, अङ्गों का थक जाना, आँखों का सोव लेना, सोना आदि।

अथ निम्न पद्य में नायिका की निद्राजनित अवस्था का वर्णन है।

वह दिन के समान नैत्र वाली सु डरी के नै मधुर कण्ठ, जो नींद के कारण, आँखों के बापे बन्द होने के कारण, मग से मधुर-मधुर भीमे-भीमे रूप में उच्चरित किये गये, और जिन्हें न तो सार्थक ही कहा जा सकता है, न निरर्थक है—आज भी मेरे हृदय में कुछ ध्वनि काट रहे हैं।

यथा च मापे—

प्रहरकमपनीय स्वं निदिशासतोपै

प्रतिपदमुपद्रुतं केनचिन्वाश्रीति ।

गुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्ययूयां

ददपि निरमत्तयुज्यते नो गनुष्ण ॥

और जैसे माप के एकादश सग के रूप वर्णन में—

किसी पहरेदार से अपना पहरा जगकर घुटा कर दिया है। अब जगते पहरे की समाप्त कर वह सोना चाहता है, और उसीलिये नाट नाट दूसरे स्थिति को (जिसका पहरा भागे चुका है) 'उठो, उठो' इस तरह पुकार रहा है। वह आदमी नींद से अव्यवर्ण वाली शून्य पापी में कण्ठ हो दे रहा है, पट जग नहीं रहा है।

१. उद्युत्तनादय' इति पाठान्तरम् ।

अथ विबोध —

विबोध. परिणामावेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

(विबोध)

“ परिणाम अर्थात् अवस्था के परिवर्तन आदि के कारण विबोध उत्पन्न होता है, मर्द की अवस्था के खले जाने पर विबोध होता है । इसके अनुभाव, जैसाई खेना, तथा आँखें मसलना है ।

यथा मापे—

११

‘चिररतिपरिवेदप्राप्तनिद्रामुखाना

चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा ।

अपरिचलितगात्रा कुर्वते न त्रिवाणा-

मशिपिलमुत्तक्काष्ठेपभेदं तदुच्यते ॥’

जैसे माप के प्रकार से सर्ग के ही इस वर्णन में—

तक्षण तथा तक्षणियों ने रात को बड़ी देर तक सुरतक्रीडा की । इस लम्बी सुरतक्रीडा के कारण शकट तक्षण तथा तक्षणियों दोनों नींद के सुख को प्राप्त किया । सुरतक्रीडा की शकट के कारण नींद के सुख में दूरे प्रियतमों के पहले ही भण्डों तरह सोकर जगती हुई सुन्दर युवतियाँ अपने शरीर को नहीं दिखाती दुःखी, तथा अपने शत्रुओं के गालपरिस्पर्श को नहीं छोड़तीं । उन्हें एक तो इस बात का डर है कि वही प्रिय की निद्रा में बाधा न पड़े, साथ प्रेम के कारण वे प्रिय के आश्रित को भी नहीं छोड़ना चाहतीं ।

अथ मीढा—

दुराचारादिभिर्ग्रीडा धापृथ्याभावस्तमुद्ययेत् ।

साचोच्यताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥ २४ ॥

(मीढा)

शत्रुता शत्रु आचार्यों के कारण मीढा उत्पन्न होती है । उद्वेगता का समाप्त होना मीढा को उत्पन्न करता है । देवा मुँह करके अर्धों को छिपाना, मुँह के रक्त का फीका पड़ना, मीढा मुँह कर लेना आदि इसके अनुभाव हैं ।

यथाऽमस्यातके—

‘पदालमे पत्यौ नमयति मुख जातविनया

दृष्टश्लेष वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निवृत्ताम् ।

न शक्नोत्याख्यातु स्मितमुखस्योदत्तनयना

द्विया ताम्यत्यत प्रथमपरिहासे नववधू ॥’

जैसे अमरकणक के निम्न पत्र में—

कोई नर पत्नी पति के समीपस्थ होने पर बड़ी लज्जित हो रही है । शरी का एक निम्न पत्रों उपस्थित किया गया है । पति उसे विठाने के लिए या आलिङ्गन करने के लिए उसके आँसू को पकड़ लेता है, उसे देखकर वह झुककर अपने मुँह की नीचा कर लेती है । जब पति बरबदस्ती उसका आलिङ्गन करना चाहता है, तो वह चुपके से अर्धों की हया करती है । अपनी सखियों को हँसते देखकर वह उनके मुँह की ओर दृष्टि डालती है, पर काम के मारे कुछ कह नहीं पाती । इस तरह नर पत्नी को साथ पड़े पहले परिहास किया जाता है, तो वह लज्जा के कारण मन हो मन परेशान रहती है ।

करण को स्तम्भ कर देता है, तथा ताप पैदा करता है, जिसके प्रभाव से मेरी सारी शक्तियाँ मंदा पड़ जाती हैं।

अथ मति—

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्पर्ययीर्मतिः ।

(मति)

शास्त्र आदि में भ्रान्ति के हट जाने तथा उपदेश के कारण जो तापज्ञान की बुद्धि होती है, उसे मति कहते हैं।

यथा किराते—

‘सहसा विदधीत न क्रियामन्विकः परमापदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सपद ॥’

यथा च—

‘न पण्डिता साहसिया भवन्ति श्रुत्वापि ते स्तुलयति तत्त्वम् ।

तत्त्व समादाय खनाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ॥’

जैसे किरातानुजीय के द्वितीय सर्ग में—(सुषिष्टि कहते हैं —)

किसी भी काम को बिना सोचे समझे एकत्र नहीं करना चाहिए। बुद्धिहीनता, ज्ञान का अभाव, परम आपत्तियों का कारण है। सोच विचार वर काम करने वाले व्यक्ति के गुणों से आकृष्ट होकर सम्पत्ति हार ही उसका नरक करती है।

और जैसे,

बुद्धिमान् तथा विद्वान् व्यक्ति साहसी (किसी भी काम को एकत्र कर लेने वाले) नहीं होते। किसी बात को सुन लेने पर भी वे उसके तथ्य को आलोचना करते हैं। तत्त्व के ग्रहण करने के बाद ही वे स्वार्थसम्बन्धी या परार्थसम्बन्धी कार्य वा व्यवहार रूप में आचरण करते हैं।

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिमात् ॥ २७ ॥

यथा भवैव—

‘चलति च यथिष्टं यच्छति यचनं यथिदालोनाम् ।

आसितुमेव हि मनुते पुरगर्भभरालसा सुतनु ॥

(आलस्य)

परिश्रम, गर्भ आदि के द्वारा जनित आलस्य को आलस्य कहते हैं। जैसाई खेना, एक जगह बैठा रहना आदि इसके अनुभाव हैं।

जैसे धनिक की स्वनिमित्त निम्न आर्थां में—

गर्भ के मति भार के कारण मलसार्इ हुई सुन्दरी किसी तरह चलती अवश्य है, तथा सखियों के पूछने पर किसी तरह उत्तर भी अवश्य देती है, पर सच पूछो तो वह एक जगह पर ही बैठ रहना चाहती है।

अथावेग—

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो
घातात्पासूपदिग्धस्वरितपद्गतिर्ययंजे पिण्डिताङ्गः ।

१ मायाभियोगो इति पाठोत्तमम् ।

उत्पातात्प्रस्तताङ्गेष्वदिवहितकृते शोकहर्षानुभावा
 धनेधूमाकुलास्यः करिजमनु भयरतम्भकम्पापसाराः ॥ २८ ॥
 (शारीर)

युद्धादि से दर के राजाओं का भागना, ईश्यावात, जोर की वर्षा, उत्पात, अग्नि, हाथी आदि के द्वारा जनित ध्वंस से लोगों में जो संभ्रम या हृदयकी पाई जाती है, उसे आयेग नामक सद्योः भाव कहते हैं। अभिसार या राजविद्रवादि जनित आवेग में राज्य, हाथी आदि का सम्मर्द पाया जाता है। ईश्यावात जनित आवेग में लोग धूलिपूमरित होते हैं तथा उनकी चाल घड़ी तेज होती है। जोर की वर्षा से उत्पन्न आवेग में अद्भुतप्रत्यक्ष सङ्घटित रहते हैं। उत्पातजनित आवेग में अद्भुत चिपिछ हो जाते हैं। यदि आवेग सञ्जुजनित (सञ्जुक्त) है तो शोक, तथा वह सुकुट है तो हर्ष अनुभाव पाया जाता है। अग्निजनित आवेग में मुँह का धुँसे व्याकुल चिपित करना आवश्यक है। तथा तुस्तिजनित आवेग में भय, स्तम्भ, कम्प तथा भगदह—ये अनुभाव पाये जाते हैं।

अभिसारो राजविद्रवादि तद्वेतुरावेगो यथा ममैव—

‘आनच्छानच्छ सर्वं कुरु वरतुरगं सन्निपेदि हृतं मे

राजं वारो कृपाणीमुपनय धनुषा किं विमङ्गप्रविष्टम् ।

संरम्भोभिरिताना शितिपृति महनेऽन्वोन्वमेनं प्रतीच्छन्

वाक् स्वभाभिदृष्टे स्वमि चक्रितरश्ना विद्रियामाविरासीत् ॥’

इत्यादि ।

शुद्धिहार इन्हीं विभिन्न कारणों से जनित आवेगों के उदाहरण क्रमशः उपस्थित करते हैं। पहले पहले अभिसार या राजविद्रवादि जनित आवेग के उदाहरण के रूप में स्वर्गिमित पद देते हैं—

हे राजन्, तुम्हारे दर से (या तुमसे दूर कर) गहन पर्वत में भगे हुए तुम्हारे अड्ड कभी-कभी सीते समय स्वभ में तुम्हें देख लेते हैं। जब वे तुम्हें स्वप्न में देखते हैं, तो पशुदम हृदयवा कर अग आते हैं और चञ्चल नेत्रों से एक दूसरे को देखते हुए रत तरह करार करते हैं। ‘आओ, दूर आओ, मेरे श्रेष्ठ शीशे की सजा दो, बरसी करो, मेरा खट्ग बरौं है, कटार (खुरी) ले आओ, धनुष से बजा होगा, भरे क्या (अड्ड राजा नगर में) घुस आया है।’

‘तनुनामं तनुनामं शरं शरं रमो रय’ ।

इति सुशुविरे विष्णुद्वयाः सुभट्टोक्तयः ॥

‘धवच, कवच, शर, शर, रय, रय’ इस प्रकार की वीडाओं की उत्कट उक्तियों चारों तरफ सुनाई देती थीं। यहाँ सुबलक में मर्दों की आवेगदशा का वर्णन है।

यथा वा—

‘प्रारम्भं तरुभकेषु सहसा संत्यज्य ऐकक्रिया—

मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुला ।

आरोहन्त्युद्वहसांश्च बध्नो वाचंयमा अप्यमी

सद्यो मुचसमाभवो निजदृपीकेनोत्पादं स्थिता ॥

वातावेगो यथा—‘वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्’ इत्यादि ।

अथवा जैसे,

पुत्रों के समान स्नेह से बाले गये वृद्धों की सेवाक्रिया को एक दम छोड़ कर वे तपस्वी क'वाई 'वह क्या हो गया' इस प्रकार व्याकुल होकर देख रही हैं। अन्नचारी शिष्य उदज के वृद्धों पर चढ़ कर देख रहे हैं, तथा मर्षि लोग अपनी समाधि को एक दम छोड़ कर अपने आसन पर ही बिना बोले (सौन धारण किये हुए) भी पैरों को ऊँचा करके खड़े हो रहे हैं।

(किसी रामा की सेना, वा आनन्दार्यियों का समूह आश्रम के समीप आया है। उसके कारण सारी आश्रम-शान्ति भङ्ग हो गई है। इसी सम्भ्रम से जगिन आवेग वा उदाहरण है।)

वाजजनिन आवेग जैसे 'हवा के तेज होंके से बरत तथा वृत्तरीय चञ्चल (व्याकुल) हो रहा है।'

वर्षणो यथा—

देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता बन्निहेतो-

। । गैहाद्रह फलकनिधितं सेतुभि पङ्कमीटा ।

नीम्रप्रान्तानविरलजलान्याणिभिस्ताडयित्वा ।

शूर्पच्छप्रत्यगितशिरसो योपित सञ्चरन्ति ॥

वृष्टिजनित आवेग जैसे—

चारों ओर बड़े ओरों से बारिश हो रही है। घर की छियाँ भीजन बनाने में व्यस्त हैं, पर अग्नि के लिए वे एक पर से दूसरे पर लकड़ी के तख्तों से चटे हुए सेतुओं (पुलों) के द्वारा जाती हैं। इन पुलों पर चढ़ कर वे हमलिय जाती हैं कि वहाँ कीचट में न सा जायें। वे निरन्तर घने बल वाले पटलान्तों की हाथों से पीटती हुई, धूप के छत्र से अपना सिर ढँक कर भोजन बनाने के लिए भाग लेने पर-पर घूम रही हैं।

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यापीनभुजसम्पहुदस्यमान-

कैलाससम्भ्रमविलोलहरा प्रियाया' ।

ध्रैयांसि यो दिशतु निहुतकोपचिह्न-

मालिङ्गनोरपुलकमासितमिन्दुमौले' ॥

उत्पातजनित आवेग जैसे—

पुलस्त्य के पौत्र रावन की प्रुष्ट मुद्राओं से कैलास के ठठाय जाने पर हरी हुई पार्वती के नेत्र चञ्चल हो उठते हैं। उनका क्रोध कम पड़ जाता है, तथा शिव के प्रति उत्पन्न प्रणयकोप के चिह्न खिल आते हैं। वे भय तथा सम्भ्रम से महादेव का मालिङ्गन करछेगी हैं, जिसके कारण महादेव (इन्दुमौलि) का शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। महादेव का यह पार्वती-मालिङ्गन कनित पुलक भाप लोगों को कल्याण प्रदान करे।

अद्वितकृतस्त्वनिष्टदर्शनभ्रवणाभ्या तद्यथोदात्तराधवे—'चित्रमाय' (सम्भ्रमम्) भववन् कुलपते रामभद्र परित्रायती परित्रायताम् । (इत्याकुलता नाटयति)' इत्यादि । पुन 'चित्रमाय'—

मृगरूप परित्यज्य विधाय विघटं वपु ।

नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि पारायम् ॥

अद्वितकृत आवेग अनिष्ट धरु के दर्शन वा धरुण से होता है, जैसे वराहरावण नाटक में—
चित्रमाय (संभ्रम के साथ)—भववान् रामचन्द्र, तथा कीजिये, रक्षा कीजिये ।

(आकुलता का अभिनय करता है)

हिरण के रूप को छोड़ कर तथा विकट शरीर को धारण कर, यह राक्षस युद्ध में लक्ष्मण की संशय से युक्त (सतके जीवन की सन्देशमय) बना रहा है ।

रामः—

वत्सस्यानामधारिणेः प्रतिभयं गन्धे कथं राक्षसात्
प्रस्तथैव मुनिर्वीरति मनसधास्त्रेण मे सम्भ्रमः ।

माहासीर्जनक्रात्यभामिति मुहुः श्रेहाद्गुरुर्गाचते

न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूर्च्छस्य मे निधयः ॥'

इत्यन्तेनानिष्ठाप्राप्तिवृत्तसम्भ्रमः ।

दृष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—(प्रथिरस्य पदासेपेण सम्भ्रान्तो वानरः) वानरः—महाराष्ट्र एवं तु पवणनन्दनामगणेषु पहरिसि—' ('महाराज स्तत्पक्षु पवनन्दनापमनेन प्रदर्य—') इत्यादि 'देवस्त द्विभ्रयापन्दजनणं विश्वतिर्दं मधुवणम् ।' ('देवस्य इदयानन्दजननं विदलितं मधुवनम्' ।) इत्यन्तम् ।

राम—निर्भयता के समुद्र वत्स लक्ष्मण को राक्षस से भय हो यह मैं कैसे मान लें। और यह मुनि (चित्रमाय) दर कर लक्ष्मण को बचाने के लिय चिन्ता रहा है, तो इसे भी दृष्ट कैसे मान लिया जाय । मेरे मन में भी संभ्रम ही ही । युद्ध ने रनेह से यह उपदेश दिया था कि 'सीता को लक्ष्मणी कभी मत छोड़ना' । इन सारी बातों को सोच कर मैं किकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ तथा मेरी बुद्धि व्याकुल हो गई है । मैं न तो उड़रने के ही न लक्ष्मण की सहायता करने जाने के ही बारे में निश्चय कर पा रहा हूँ ।

दिलकून संभ्रम, जैसे उदात्तराषव नाटक में ही यवचिका को हटाकर प्रविष्ट व्याकुल वानर सुमीव को घटना देता है—'महाराज, इच्छुमागु के आगमन से प्रसन्न वानरों ने आपके हृदय को प्रसन्न करने वाले मधुवन नामक उपवन को बनाद दिया है ।'

यथा वा वीरचरिते—

'एहोहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
सुन्वामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।

आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्दहामि
गन्देऽयना चरणपुष्करकदयं ते ॥'

अथवा, जैसे महावीरचरित में—

हे, पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर वरत राम, आशी, श्वर आशी । मैं तुम्हारे शिर की वही देर तक पूर्ण तथा सुन्दर आलिङ्गन करूँ । अथवा तुम्हें अपने हृदय में बिठा कर दिन-रात धारण किया करूँ, या तुम्हारे दोनों चरणकमलों की पन्दना करूँ ।

वहिनो यथाऽमरशतके—

'क्षितो हस्तावलमः प्रसभमभितोऽप्यादधानोऽशुक्लान्तं
गुह्यन्करोष्यथास्तस्वरणनिषतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।

आलिङ्गन् योऽपभूतस्त्रिपुखुवतिभिः साधुनेत्रोत्पलामिः

कामीवादीपराधः स दहतु दुरितं शाम्भो वः शयमिः ॥'

अग्निप्रतिव आवेग जैमे अमरकशतक में—

त्रिपुरासुर के बध के समय महादेव के बाणों से पैला हुआ प्रचण्ड अग्नि आप लोगों के पापों को जला दे ! महादेव के बाणों का यह अग्नि वामी पुरुष के समान (अपराधी नापक के समान) त्रिपुरासुर की शिवों के समीप जाता है, जब वह जाकर उनको हाथ से (हथियों से) पकड़ता है, तो वे इसे अलग हटा देती हैं, जब वह उनके बल का अछल पकड़ने लगता है, तो इसे बड़े जोरों से पीटती है, जब वह उनके केश पकड़ने लगता है, तो हटा दिया जाता है, जब वह (उगड़े खुश करने के लिए) पैरों पडता है, तो वे संभ्रम के कारण उसे देखती भी नहीं, तथा आत्विजन करने पर वे उसका तिरस्कार करती है । इसी प्रकार अँध से भरे बमल के समान नेत्रों वाली त्रिपुर-सुवतियों के द्वारा अपराधी वामी की तरह तिरस्कृत महादेव के बाणों का अग्नि आपके दुष्कर्मों को भस्म कर दे ।

यथा वा रत्नावल्याम्—

‘विरम विरम क्खे मुय धूमाकुलत्वं

; प्रसरयसि किमुचैरयिषा चम्बालम् ।

विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्ध प्रियाया’

प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥’

अथवा जैसे रत्नावली नायिका में—

सागरिका को अग्नि से बचाने के लिए उद्यत उदयन अग्नि से कह रहा है ।

‘हे अग्नि, शान्त हो जाओ, इस धुरें की आकुलता को धीरे धीरे हटायें । हथियों के इस ऊँचे समूह को क्यों फैला रहे हो । भरे मुझे दिया के विरह को अग्नि ही न जला पाई, तो फिर प्रलय काल की अग्नि के समान तेज से तुम मेरा डूबा विगाड़ लीये !

करिजो यथा रघुवंशे—

‘त छिन्नवन्धदुतयुग्मरान्यं भद्राक्षपर्यस्तरयं क्षणेन ।

रामापरिप्रापविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥’

करिप्रदूषणं व्यालोपलक्षणार्थं, तेन व्याघ्ररूकरवानरादिप्रभवा आवेगा ध्यारयाता ।

करिज आवेग जैसे रघुवंश में—

उस हाथी ने अपने सारे बन्धन तेजी के साथ तोड़ दिये, वह शङ्खला से शून्य था । उसने पक ही छग में सेना के रथों की घुटी को तोड़ कर शिख-भिन्न कर दिया । हाथी के भय से घरी शिवों को बचाने के लिए सारे योद्धा जुग गये थे, तथा सारे सेनानिवेश में भीषण व्याकुलता व कोलाहल का सघार हो गया था ।

कारिका के ‘करिज आवेग’ के ‘करि’ शब्द से सारे ही पशुओं का उपलक्षण हो जाता है । इसलिये भ्याघ्र, शङ्कर, वानर आदि के भय से उत्पन्न आवेग की भी व्याख्या हो जाती है । कोई पूर्वपक्षो यह शङ्का करे कि आवेग अन्य पशुओं के कारण भी हो सकता है, तो उसीका उद्धर देते हुए श्रुतिकार ने इसे स्पष्ट किया है ।

अथ वितर्क—

तर्का विचारः सन्देहाद्दुशिरोह्युसिनर्तकः ।

(वितर्क)

सन्देह के कारण अनित विचार को तर्क कहते हैं । इसमें भौहें, सिर व अँगुलियों की चञ्चलता पाई जाती है, ये इसके अनुभाव हैं ।

यथा—

‘किं लोभेन विछद्रितं तं भरतो येनैतदेवं कृतं
रायं स्त्रीलघुता गता स्मिन्गवा मातृव मे मय्यामा ।
मिष्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमय्यायांशुजोऽसौ गुरु—
माता सातकलप्रमित्यनुचितं मन्ये विधाया कृतम् ॥’

जैसे, नीचे के पद्य में लज्जण तर्क कर रहे हैं—

क्या करीं भरत छोन के बशीभूण हो गया है ! जिससे लज्जने पद कार्य (राम का वनवासविषयक) किया है। या फिर मेरी मँलकी माँ केकेपी ही अन्य कियों की भक्ति एक वम पुच्छ स्वभाव वाली हो गई । मेरा मे दोनों बातें सोचना शूड है । आसिर भरत कार्य राम के छोड़े भारं तथा मेरे अप्रभ हैं, साथ ही माता केकेपी पूव्य पिता की पत्नी है। अतः राम के अनुग्रह, तथा दशरथ के कलम से देखी अनुचित किया नहीं हो सकती । ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारी अनुचित बात विधाता की ही करत है ।

अथवा ।

‘कं सनुवितामिषेकादार्यं प्रव्यावनेदशुणज्जेष्ठम् ।

मन्ये ममैष पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना ॥’

अथवा, राम-वनवास की मुनकर लक्ष्मण के तर्क का दूसरा उदाहरण—

समस्त पुणों से उत्कृष्ट पूव्य रामचन्द्र की इनके वीर्य अभिषेक से कौन च्युत कर सकता है ! मुझे तो ऐसा मादस होता है कि मेरे ही पुणों के कारण विधाता ने मुझे रामचन्द्र की सेवा करने का अवसर दिया है ।

अथवादित्या—

सज्जाद्विचिक्रियाशुसायवदित्याङ्गचिक्रिया ।

(अवदित्या)

दृश्य के भाव या विकार को क्रमा आदि के द्वारा छिपाना अवदित्या कहलाता है, इसके अनुभाव है—अज्ञे में विकार उत्पन्न होता।

यथा कुमारसम्भवे—

‘एवंवादिनि देवयीं पार्थे पितृरथोमुप्री ।

सीताकालपत्राणि गणशानाथ पार्थवी ॥’

जैसे, कुमारसम्भव के षष्ठ सर्ग में पार्वती पर यह अवदित्या नामक सञ्चारी भाव—

जब नारद पार्वती तथा शिव के भारी विवाह के विषय में हिमालय से बातें कर रहे थे, तो पास में ही बेटो हुए पार्वती अपना सिर नीचा करके लोलाकमल के पत्तों को (हिमालय व नारद की बातों में कोई कृदङ्गल न बताती-गी, तथा लज्जा से अपने भाव को छिपाती हुई) गिन रही थी !

अथ व्याधि—

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥ २६ ॥

(व्याधि)

सन्निपात व्याधि रोगों को व्याधि कहते हैं। व्याधियों का विशेष विवरण दूसरे स्थल पर, लासुबंद के प्रश्नों में किया गया है, अतः यहाँ द्रव्य है ।

दिग्मात्रं तु यथा—

‘अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुपु कृतं चिन्ता पुरन्धोऽर्पिता

। दत्त दैन्यमरोपत’ परिजने ताप’ सखीप्लाहित’ ।

अथ श्व’ परनिर्वृतिं प्रजति सा श्वासे पर विद्यते

‘विप्रन्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तथा ॥’

यहाँ उसका सङ्केत मात्र कर दिया आता है—

। कोई सखी नायक के पास जाकर उसके वियोग से उत्पन्न नायिका की मरणासन्न दशा का वर्णन करते कह रही है। पढ़ते तो तुम्हारे वियोग में वह नायिका दिनरात रोया करती थी, चिन्ता करती थी, दीन प्रतीत होती थी, तथा विरहताप से उचल रहती थी। पर अब तो उसकी दशा ही बदल गई है। अब तुम्हारे वियोगजनित दुःख को वह न सह पाई, तो उसने अपने सारे दुःख को दूसरे लोगों में बाँट दिया। अपने नेत्रजलों के निरन्तर धाराप्रवाह को उसने बाणधों में बाँट दिया है। उसने चिन्ता घर के बड़े बूढ़े-मातृ-पित्रादि की अरिठ कर दी है। उसने अपनी सारी दीनता भौकरों को दे दी है, तथा अपने विरहताप को सखियों के पास रख दिया है। उस भाविष्ठा की मरणासन्न अवस्था देखकर बा-बू रो रहे हैं, बड़े-बूढ़े चिन्तित हैं, नौकर परेशान हैं, तथा सखियां विड्वल हैं। वह आज या कल परम शान्ति को प्राप्त होने वाली है, केवल सास ही उसे परेशान कर रहे हैं, उसके बाकी सारे दुःख मिट गये हैं। इसलिए उसके विषय में कोई भी सोचने की बात नहीं है, उसके बारे में तुम निश्चिन्त रहो, उसको कोई दुःख नहीं, क्योंकि दूसरे लोगों ने उसके दुःख को बय लिया है। तुम्हारे वियोग में दुखी नायिका कुछ ही समय की नेहमान है, यह ध्यंग्य है।

अयोन्माद’—

अप्रेक्षाकारितोन्माद. सक्षिपातग्रहादिभिः ।

अस्मिन्नधस्था रुदितर्गतहासासितादयः ॥ ३० ॥

(उन्माद)

। त्रिदोषजन्य सक्षिपात, ग्रह आदि कारणों ने बुद्धि का अस्तम्यस्त हो जाना तथा विवेकहीन कार्य करना उन्माद कहलाता है। इसमें रोना, गाना, हँसना, बैठ जाना, गिर पड़ना आदि अनुभाव पाये जाते हैं।

यथा—‘आ । क्षुद्रराशंस । तिष्ठ तिष्ठ, क मे प्रियतमामादाय गच्छसि’ इत्युपक्रमे
‘कथम्—

नवजलधर सधदोऽय न हानिशान्तर

धुरधनुरिद दूरकृष्टं न तस्य शरासनम् ।

अथमपि पटुर्धारासारो न धाणपरम्परा

कनकनिकषजिग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥’ इत्यादि ।

जैसे विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के अन्तर्धान से विरहित पुरूरवा की इस उन्मादोक्ति में—

‘भरे नीच राक्षस, उदर, उदर । मेरी मिया को लेकर कहाँ जा रहा है। क्या ! यह तो पानी के भार से झुका हुआ नया बादल है, वह हीन राक्षस नहीं है। यह तो दूर तक फेला हुआ हन्धनधुब है, उस राक्षस का धनुष नहीं है। और यह भी तेज वारिष्ठ की मूर्त है, बाणों

परी नहीं नहीं है। जिसे मैं उर्वशी समझ रहा हूँ, वह भी मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, [किन्तु मुनर्ग की बछोदी की रेष के समान विवनी व सुन्दर बिजली है।]

अथ विपाद—

प्रारब्धकार्यासिद्धादिर्विपादः सत्त्वसहायः ।

निःश्वासोल्लासहृत्तापसहायान्येषणादिष्ट ॥ ३१ ॥

(विपाद)

आरम्भ किये हुए कार्य के पूरे न होने पर व्यक्ति का सख, बल, मन्द पद जाता या नष्ट हो जाता है। इसी 'सावसख्य' को विपाद कहते हैं। इसके अनुभाव हैं—
नि श्वास, उत्प्लास, हृदय में साप होना, सहाय को हूँटना आदि।

यथा वीरचरिते—'हा आर्ये ताच्छके ? किं हि नर्मैतत् अम्बुनि गम्भन्त्यलावूनि, प्राणाण त्वयन्ते ।

गन्देय राक्षसपते स्तस्मिन् प्रताप

प्राप्तोऽद्भुत परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।

दृष्ट स्थितेन च मया स्वजनप्रमायो

दैव्य जरा न निरुणद्धि कथं करोमि ॥'

जैसे वीरचरित में राक्षसपति रावण का विषाद—

हा, पूज्ये ताच्छके ? यह क्या आश्चर्य है कि समुद्र के पानी में लौकियां डूब रही हैं, पर पत्थर तैर रहे हैं। ऐसा मावस होता है कि राक्षसों के स्वामी रावण का प्रताप मन्द पद गया है। तभी तो इस मनुष्य के बन्धे से उसकी शर हो रही है। मैंने जीवित रहते हुए बांधवों का नाश नष्ट अपनी आँखों से देखा है। बीनता और वृद्धापस्था दोनों ने मुझे (मेरी शक्ति को) रोक दिया है, मैं अब क्या करूँ।

अथौत्सुक्यम्—

कालाक्षमत्वमीत्सुक्यं रम्येच्छ्वारतिसमग्रमैः ।

तप्तोच्छ्वासत्वेराश्यासहृत्तापस्वेदविध्रमाः ॥ ३२ ॥

(औत्सुक्य)

किसी मनोहर अभिलाषा, सुरत या सम्भ्रम के कारण समय को न सह सकता एकता (औत्सुक्य) कहलाती है। उच्छ्वास, त्वरा, श्वास, हृत्ताप, पसीना, जम ये अनुभाव औत्सुक्य में पाये जाते हैं।

यथा कुमारसम्भवे—

'श्यात्माननालोक्ष्य च शोभमानमादर्शविम्बे हिसमित्वावतापी ।

हृरोपयाने स्वरिता घग्ग्व श्रीणा प्रियान्नीकषलो हि वेप ॥'

जैसे कुमारसम्भवे में—

शिव के पास जाने के लिए तैयारी करती हुई चञ्चल व छाने नेत्र वाली पार्वती अपने सुन्दर रूप को दर्पण में देखती है, तथा शिव के पास जाने के लिए शीमता भरती है। सब दे लियों की सुन्दर चेहरा भूषा तभी सफल है जब कि वह प्रिय के नयनपत्र में अवतरित हो।

यथा वा तथैव—

1

‘पशुपतिरपि तावहानि कृच्छ्रादनिनयद्रिसुतासमागमोत् ।

कमपरमवश न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमो स्पृशन्ति भावा ॥’

अथवा जैसे उसी काव्य में—

पावनी के समागम की उल्लेखना वाले पशुपति महादेव ने भी उन दिनों की बनी बठिनार से किसी तरह गुजारा । जब इस तरह के रतिविषयक भाव महादेव जैसे परम सत्यन ज्ञेयता की ही चञ्चल कर सकते हैं, तो दूसरे साधारण मानव को चञ्चल तथा अशुभ क्यों नहीं बना सकते ?

अथ चापलम्—

मात्सर्यद्वेषरागादेध्यापलं त्वनवस्थितिः ।

तत्र भर्त्सनपादप्यस्वच्छन्द्याचरणादयः ॥ ३३ ॥

(चापल)

मात्सर्य, द्वेष, राग आदि से मन का स्थिर न रहना चापल है । इसमें भर्त्सना, कठोरता, स्वच्छन्दता, आदि का आचरण पाया जाता है ।

यथा विकटनितम्बाया—

‘अन्यासु तावदुपमर्दसहासु मृग

श्लोक विनोदय गनः शुभनोलतासु ।

। बालामजातरजस कलिकामवाले

। व्यर्थं कदर्ययसि किं नवमल्लिकया ॥’

। जैसे विकटनितम्बा के इस पद्य में जहाँ अमर की चञ्चलता का वर्णन किया गया है ।

हे, भँवरे, तुम क्यों दूसरी पुष्पकलाओं पर जाकर अपने चञ्चल मन को बहलाओ जो तुम्हारे बोझो तथा मर्दन को सह सकें । अरे मूर्ख, इस नवमल्लिका की कीमल (बाल) कली को, जिसमें अभी पराग भी उत्पन्न नहीं हुआ है, व्यर्थ ही क्यों निगाह रहे हो । अरे अभी तो इसके विकास का समय भी नहीं आया ।

अप्रस्तुतप्रशंसा के द्वारा किसी रागी नायक को जो अप्राप्तनीयता बाला नायिका को ही भोगना चाहता है, कवचिन्त्री सचेत कर रही है । अरे तुम क्यों प्रौढ नायिकाओं के साथ जाकर विहार करो, इस भोली-भाली बाला को, जो अभी अशुभर्म से भी मुक्त नहीं हुई, क्यों गष्ट करना चाहते हो ।^१

यथा वा—

‘विनिकपणरणत्कठोरसंघ्रावकनविशङ्कन्दरोदराणि ।

अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमथ मन्मुखाणि ॥

अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये ।’ इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामैव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशात् पृथग्वाच्या ।

१ मिलाइये—विहारी का प्रसिद्ध दोहा—(जो रही पद्य की छाया है)

नहि पराग, नहि मधुर मधु, नहि विकास हरि काल ।

अली कली ही है बँध्यों भावे कौन बवाल ॥ (विहारीचरणसई)

अथवा, रावण की निम्न उक्ति में—

बार-बार पीसने के कारण शम्भु करती हुई कड़ोर बाँटों की करवत से भीषण कन्दरा वाले, मेरे सारे मुँह, गुत्से से, अहमइमिका के साथ (पहले में लाऊँ, पहले में लाऊँ) एक साथ ही यहाँ इस कानरतेना पर गिर पड़े। अपना अवसर के अनुरूप कार्य को ठीक तरह से करूँगा ।'

पूर्वपक्षी हम विषय में यह शङ्का कर सकता है कि चित्तवृत्ति के तो कई प्रकार पाये जाने हैं, जिनमें से कई का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। इसीका उत्तर देते हुए कहते हैं कि इस बात से हम सहमत हैं कि दशरूपककार के द्वारा निर्दिष्ट चित्तवृत्तियों के अतिरिक्त चित्तवृत्तियों भी लोकव्यवहार में पाई जाती हैं, पर ये सब शङ्की के अन्तर्गत होकर विमान या अनुमान के रूप में प्रविष्ट होती हैं इसलिए उनका अलग से उल्लेख करना ठीक नहीं समझा गया है।

(इस सम्बन्ध में यह निर्देश कर देना अत्यावश्यक न होगा कि भरतसम्मत ३३ सञ्चारियों को ही सभी भाषायों ने माना है। केवल मानुषिय ने 'सत्वरक्षिणी' में 'स्रल' नामक ३४ वें सञ्चारी को कल्पना की है। शङ्की के आधार पर हिन्दी के रीतिकालीन कवि व कालद्वारिक देव ने भी 'स्रल' का अलग से उल्लेख किया है। पर देना करने पर तो सञ्चारियों की संख्या में अन्वयवा हो जायगी, क्योंकि सञ्चारियों की संख्या अनविनाशी है। भरतसम्मत ३३ सञ्चारी तो वास्तुतः केवल उपलक्षण मात्र हैं, अतः मोटे तौर पर उपलक्षणार्थ यही संख्या मान लेना विशेष ठीक होगा।)

अथ स्थायी—

धिरुद्धैरधिरुद्धैर्वा भाधैर्विच्छिद्यते न याः।

आत्मभारं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ३४ ॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरुत्तरिस्तृप्तत्वेनोपनियम्यमानो रत्यादि स्थायी यथा वृद्धस्त्रयावां नरपादनदत्तस्य मदनमधुकायामनुराग तत्तदवान्तरानेकनाथिनानुरागैरतिर-
स्तृत स्थायी। यथा च मालतीभाषणे रगरानाङ्के यीमत्सेन भाङ्कत्वानुरागस्नातिरस्कार -
'मम हि प्राफ्नोपलम्भसम्भावित्वात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रणोऽम् प्रतीयमानस्तद्विस्त-
र्यै प्रत्यान्तरैरतिरस्तृप्तप्रणाह प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तितंतानस्तन्मयमिव करोत्व-
न्तर्हृत्सिताल्यतथैतन्मम' इत्यादिनोपनिबद्ध। तदनेन प्रसारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी।

साधिका भाव तथा सञ्चारी भाव के विवेचन के बाद स्थायी भाव का विवेचन प्रसङ्गगत है, अतः उसीकी स्पष्ट करने के लिए धनश्रव ने निम्न कारिका अवतरित की है—

1 स्थायी भाव को स्पष्ट करने के लिए समुद्र (लवणाकर) की उपमा ले सकते हैं। समुद्र के अन्तर्गत कोई भी पारा वा मीठ पानी मिलकर समुद्र ही जाता है। समुद्र समस्त वस्तुओं को आत्मरूप करके, आत्मरूप बना लेता है। जैसे ही स्थायी भाव भी बाकी सभी भावों को आत्मरूप बना लेता है। स्थायी भाव इन उसे कहते हैं, जो (रत्यादि) भाव अपने से प्रतिच्छेद अथवा अनुच्छेद किसी भी तरह के भाव से विशिष्ट नहीं हो पाता, तथा दूसरे सभी प्रतिच्छेद या अनुच्छेद भावों को आत्मरूप बना लेता है। यह रत्यादि भाव जो सजातीय वा विजातीय अन्य भावों से विररूप नहीं हो पाता, स्थायी भाव कहलाता है। जैसे वृद्धस्था में मदनमधुका के प्रति नरपादनदत्त के राग का

वर्णन किया गया है, वहीं दूसरे नायकों का भी अन्य नायिकाओं से प्रेम वर्णित है, किन्तु नरवाहन के बृहस्पति के प्रमुख नायक होने से वसन्ध रति भाव, अन्य नायकों के रति भावों से तिरस्कृत नहीं हो पाता। इस प्रकार बृहस्पति में सजातीय भाव उस रति भाव की विच्छिन्न नहीं कर पाते हैं। इसी तरह मात्स्यीमाधव के पञ्चम व षष्ठ बन्ध में वर्णित हमशान का भीमत्स वर्णन, तथा भीमत्स रस मालती के प्रति उत्पन्न माधव के रति भाव को तिरस्कृत नहीं कर पाता। इस प्रकार यही स्वाधी भाव दिव्यानीय या प्रतिकूल भाव के द्वारा भी विच्छिन्न नहीं हो पाता। माधव का रति भाव भीमत्स के द्वारा विच्छिन्न नहीं होता, यह माधव की उसी अङ्ग की इस शक्ति से स्पष्ट है—'प्राक्तन ज्ञान के साक्षात्कार से उत्पन्न सरकार के बार बार प्रभुत्व होने के कारण मन में प्रतीत होता हुआ, तथा उस ज्ञान से भिन्न दूसरे ज्ञानानुभवों के द्वारा जिसकी धारा को रोका नहीं गया है, ऐसी श्रियतमा-स्थिति-रूप-ज्ञान की परम्परा मेरी आत्मा को जैसे मालती की वृत्ति में ही परिणत कर रही है। मालती को पकाप्रथित होकर स्थितिपथ का विषय बनाते हुए मेरा चित्त जैसे मालतीमय हो गया है।' प्रश्न हो सकता है कि दो भावों का एक साथ वर्णन (समावेश) विरोधी होगा, इसी को बताते हुए कहते हैं कि इस प्रकार अज्ञातभाव रूप में अनुकूल या प्रतिकूल भाव को अभी स्वाधी भाव का अङ्ग बनाकर समाविष्ट करना विरोधी न हो सकेगा।

तर्काहि—विरोध सहानवस्थाने शाध्यवाचकभावो वा उभयरूपेणापि न तावत्प्रा-
दात्म्यमत्येकरूपत्वेनैवाविर्भावात्। स्वामिना च भावादीनां यदि विरोधस्तत्रापि न तावत्
सहानवस्थानम्—रत्याद्युपरणे चेतसि तससूत्रन्यायेनविरोधिनां च्चभिचारिणां चोप-
निबन्ध' सनस्तनाकस्वसवेदनसिद्ध, यथैव स्वसवेदनसिद्धस्तथैव कृष्यव्यापारसंक्रमे-
णानुकार्येन्यात्रेयमान स्वचेत' सम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतु' सम्पद्यते तस्मान्न
तावद्भावानां सहानवस्थानम्।

इसी अविरोध को स्पष्ट करते हुए बताते हैं:—

भावों में परस्पर विरोध दो तरह से हो सकता है। या तो वे भाव एक ही स्थल पर साथ साथ ब रह पाते हों (सहानवस्थान), या फिर उनमें परस्पर शाध्यवाचक भाव हों, अर्थात् एक भाव दूसरे भाव की प्रतीति में बाधा उत्पन्न करता हो। लेकिन इस विषय में यह बात ध्यान में रखने की है कि यदि उन भावों की प्रतीति एक रूप में होती है, यदि वे एक-रूप में आरिभूत होते हैं, तो फिर इन दोनों दृशाओं में भी विरोध नहीं होगा। भाव यह है कि यदि दोनों भावों की प्रतीति अलग अलग हो रही हो, तो ऐसी दृशा में विरोध हो सकता है, पर उनही प्रतीति मिश्रितरूप में होने पर विरोध नहीं माना जायगा क्योंकि विरोध होने पर तो मिश्रण ही न हो सकेगा।

यदि कोई यह बड़े कि स्वाधी भावों का दूसरे भावों, सञ्चारी भावों के साथ विरोध हो सकता है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि ऊपर बताया जा चुका है कि विरोध दो ही दृशाओं में हो सकता है। सञ्चारी भाव तथा स्वाधी भाव में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वे तो साथ साथ अवस्थित रहते ही हैं, इनमें सहानवस्थान बाला नियम लागू नहीं हो सकता। लौकिक व्यवहार में हम देखते हैं कि रति आदि भावों से युक्त व्यक्ति के चित्त में विन्ता आदि स्वभिचारी भाव अविकृत रूप में पाये जाते हैं। जैसे एक शत्रु में भाला बनाते समय कई पुण्य गूँप दिये जाते हैं, वैसे ही 'सहस्रजन्याय' से रतिभाव में कई स्वभिचारी भी उपनिबद्ध होते हैं। इन तरह रतिभावयुक्त चित्त में दूसरे स्वभिचारी भावों का आविर्भाव होता है, यह सभी सङ्घट्ट के अनुभवगम्य है। ठीक यही बात इन बाल्य या नाटक के अनुपार्य राम,

इत्यत्र बीमत्स रसस्याङ्गभूतरसान्तरस्यवधानेन शृङ्गाररसमावेशो न विरुद्धः । प्रकाश-
न्तरेण वैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः ।

अन्यत्रैकतात्पर्येणैतरेयां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं तत्र भवत्वङ्ग-
त्वेनाऽविरोधः, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम् ?

जैसे 'अण्डगुणाहुमहेडिम' आदि गाथा में एक साथ बीमत्स रस तथा शृङ्गाररस का समावेश किया गया है, किन्तु शृङ्गाररस का समावेश करने के पहले बीमत्स रस के अङ्गभूत दूसरे रस का, जो दोनों का विरोधी नहीं है—समावेश किया गया है, अतः इसके व्यवधान के कारण बीमत्स व शृङ्गार का एक साथ वर्णन विरोधी नहीं है। अथवा एक आशय के प्रति दो विरोधी रसों के समावेश वाला विरोध किसी दूसरे रस से भी हटाया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी एक उदाहरण उदाता है। वह इस बात से तो सहमत है कि जहाँ किन्हीं दो विरोधी या अविरोधी भावों का एक ही तात्पर्य को लेकर (एक विषय में) इस तरह उपनिबन्धन किया जाय, कि दूसरे भाव ऊर्ध्व निम्न कोटि के दर्शाये गये हों, वे न्यग्भूत हो गये हों, वहाँ वे न्यग्भूत भाव, प्रधान भाव के अङ्ग ही जाते हैं, अतः उनमें परस्पर विरोध नहीं होगा। लेकिन पूर्वपक्षी को इस विषय में सन्देह है कि जहाँ एक साथ कई भाव समान रूप में उपनिबन्ध हों, वहाँ भी अविरोध ही रहेगा। इसीलिए वह उत्तरपक्षी से पूछना चाहता है कि अनेक भावों के समाधान रहने पर उनका सम्बन्ध अविरोधी कैसे रहेगा ? इसको स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार ने पूर्वपक्ष के मत की पुष्टि में ६ पद्य दिये हैं, जहाँ पूर्वपक्षी के मत से कई परस्पर विरोधी भावों का समप्रधान्य उपनिबन्ध किया गया है।

यथा—'एकतो हृद्यद् प्रिया अण्णत्तो समरतूरणिग्पोत्तो ।

येमणेण रणरसेन अ भटस्य डोलादयं द्विसम्भम् ॥'

(एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।

प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य डोलायितं हृदयम् ॥)

इत्यादौ रस्युत्साहयो, यथा वा—

२. युद्ध में जाते हुए प्रिय के विचोग की आशङ्का से एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर युद्ध की तूर्य-ध्वनि सुनारं दे रही है। प्रिया के अनुराग के कारण वीर योद्धा का हृदय यह चाहता है कि वह यहीं रहे, लड़ने न जाय, पर दूसरी ओर युद्ध का उत्साह उसे रणभूमि में जाने को बाध्य कर रहा है। इस तरह योद्धा का हृदय प्रियानुराग तथा युद्धोत्साह से डोलावित हो रहा है।

इस गाथा में एक ओर योद्धा के हृदय में रति नामक स्थायी भाव का चित्रण किया गया है, तो दूसरी ओर वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का भी समावेश पाया जाता है। ऐसी दशा में एक ही आशय में दो भावों का समान रूप से चित्रण किया गया है। प्रिया के प्रति अनित रति तथा युद्ध के प्रति अनित उत्साह दोनों इस गाथा में समान रूप से प्रधान हैं, कोई भी एक दूसरे का अङ्ग नहीं है। यहाँ इनमें परस्पर विरोध कैसे न होगा ?

'भास्तर्यमुत्सार्थं विचार्य धर्यमार्याः समर्यादमिदं धदन्तु ।

सेव्या नितम्बा किमु भूषणामुत स्मरस्मेरविलसिनीनाम् ॥'

इत्यादौ रतिशमयो, यथा च—

२. हे महातुमावो ! मास्तर्य की छोड़ कर तथा अच्छी तरह विचार कर मर्यादापूर्वक इस बात पर अपना निर्णय दीजिये कि कीर्ती की परबतों की लच्छटियों का सेवन करना शार्प्य या कायदेव की आकांक्षा से रमणीय विनासिनियों के निषण्णों का ।

यहाँ 'पर्वतो को तलहटियों के सेवन' के द्वारा शम या निर्दम भाव का तथा 'विलासिनियों के नितम्बों के सेवन' के द्वारा रति भाव का उपनिबन्धन किया गया है। ऐसी दशा में रति भाव तथा शम भाव दोनों का समप्राधान्य स्पष्ट है। यहाँ भी धर्ममें अविरोध कैसे होगा ?

'इयं सा खेलाक्षी त्रिभुवनललाभैकवराति'

स चार्यं दुष्टात्मा स्वयुरपकृत येन मम तत् ।

इतस्तीय कामो दुकरयमितः शीघ्रदहनः

कृतो वैषम्यार्थं कथमिदमिति भ्रान्त्यति मनः ॥'

इत्यादौ तु रतिकोधयो ।

किसी नाटक से रावण की उक्ति है:—

३. जब रावण सीता का अपहरण करने आया है, तो सीता तथा लक्ष्मण को देख कर वह सोच रहा है। 'एक ओर तो समस्त ससार की सुन्दरता का सम्मान—यह चञ्चल ओंछों वाली सुन्दरी है, और दूसरी ओर यह वही दुष्ट व्यक्ति मौजूद है, जिन्होंने मेरी बर्दिन का अपकार किया है। इस सुन्दरी के प्रति तीव्र कामवासना उत्पन्न हो रही है, और इधर इस दुष्ट के प्रति गद्गान् कोषाधि मन्वलिता हो रही है। और इधर मैंने इस सग्याची के नेत्र को धारण कर रक्खा है। 'यह कैसे ही सकता है' यह सोच कर मेरा मन किसी निर्णय पर स्थिर नहीं हो रहा है, वह घूम रहा है।

यहाँ एक ही आशय में एक साथ रति व क्रोध नामक स्थायी भावों का निबन्धन किया गया है। यह निबन्धन समप्राधान्यरूप में है, क्योंकि सुन्दरी के प्रति रति, तथा स्वसा के अपकारो दुष्ट के प्रति क्रोध दोनों ही प्रधान रूप से चित्रित किये गये हैं। यहाँ रति व क्रोध का परस्पर विरोध कैसे गिराकर होगा ?

'अन्ध्रैः कल्पितमहलप्रतिसाराः श्रीहस्तरफोत्पल-

... म्यफोपंसदत. विनदशिरसा हृत्पुण्डरीकरुण । , , ,

एता. शोणितपङ्कुकुङ्कुमशुप संभूय सन्तैः प्रिय-

न्यस्थितेहहसुरा कपालचपकैः प्रीताः पिशाचाङ्गना ॥'

इत्यादावेकाग्रयत्वेन रतिजुगुप्सयो ।

४. किसी शमदान का वर्णन है। पिशाचिनियों ने अँलदियों को गले और हाथ में लपेट रखा है, जैसे उन्होंने मङ्गलचक्र पहन रखा है। उन्होंने अपने कानों में जियों के दादों के काल कमल खोस लिये हैं; वे जियों के हाथों को कानों में इसी तरह -खोसे है, जैसे रमणियों कमल का अवतार धारण करती हैं। नसों तथा शिराओं के द्वारा सुतकों के हृदय के कमलों को विरो कर उनकी माला बनने पहन रखी है। अथवा शनों के मस्तकों तथा हृत्कमलों की माला उन्होंने पहन रखी है। उन्होंने अपने शरीर पर खून के पने कुङ्कुम को लगा रखा है, इस तरह उत्सव के लक्ष्मण महल शेषभूषण बना कर (मङ्गलचक्र पहन कर कमल का अवतार धारण कर, माला पहन कर तथा कुङ्कुम लगा कर) ये पिशाचों की जियों अपने प्रिय पिशाचों के साथ प्रसन्न होकर, कपाल के पान पात्रों से अविद्वन्देह (चर्बी) को मदिरा का पान कर रही हैं।

यहाँ एक ही आशय—पिशाचाङ्गनाओं—में एक साथ समप्रधानरूप रति तथा जुगुप्सा दोनों भावों का निबन्धन हुआ है। यहाँ भी हममें परस्पर अविरोध कैसे ही संकेप ?

'एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चर्ध्वादितीयं पुन'

। . . पार्षत्या भवनाम्बुजस्तनतटे श्यारभारालसम् । ११

अन्यदूरविकृष्टवापमदनक्रोधानलोदीपित

शम्भोभिस्तरता समाधिषमये नेत्रत्रय पात्रु च ॥

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम्,

५ महादेव समाधि में स्थित है। इधर समीपस्थित पार्वती के प्रति उनके मन की चञ्चल, करने के लिए कामदेव बाण मारवा है, और महादेव के नेत्र एक साथ झुंक पड़ते हैं। महादेव के तीनों नेत्रों की विभिन्न दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उनका एक नेत्र तो ध्यान में मग्न होने के कारण मुकुलित (बन्द) है। उनका दूसरा नेत्र पार्वती के मुखरूपी कमल तथा स्तन पर टिक कर शृङ्गार के बोध से अलसाया सा हो गया है, अर्थात् पार्वती की देख कर उनका दूसरा नेत्र रति भाव का अनुभव कर रहा है। महादेव का तीसरा नेत्र दूर में बैठ कर चतुर की चढाये हुए कामदेव के प्रति उत्पन्न क्रोधरूपी अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है। इस तरह समाधि के समय महादेव के तीनों नेत्रों में तीन भिन्न भिन्न रतियों की स्थिति हो रही है। महादेव के ये तीन नेत्र आप लौगीं की रक्षा करें।

यहाँ एक ही आशय-महादेव में एक साथ शम (समाधिविषयक), रति (पार्वतीविषयक), तथा क्रोध (कामविषयक) इन तीनों भावों का निश्चय समप्रधान रूप में हुआ है। यहाँ मौ शर्म, रति तथा क्रोध में परस्पर वीर्य विरोध नहीं है यह कैसे माना जा सकता है, क्योंकि इन तीनों में द्रव्य विरोध माना जाता है।

एकेनाद्या प्रदिवताद्या वीक्षते ध्योमत्स्य

भानोविम्ब सजल्लुण्ठितेवापरेणात्मकान्तम् ।

अद्वरछेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी ।

ह्रीं सक्तीर्णी रचयति रसी नर्तकीं प्रगल्भा ॥

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तदकथं न विरोधः ॥

६ शर्म अस्ताचल का नुर्भेन करने का रक्षा है। विनान्त को समीप जानीकर चक्रवाकी समझ लेती है कि शर्म अस्ता अपने प्रिय से विदोष होने वाला है। वह इस विदोष का एकमात्र कारण शर्म को ही समझती है। यही वह शर्म कुण्डल देर और एक बोली, इसे अस्त होने की जगह क्यों पड़ी है आखिर यह मुझे शिव से नियुक्त करना क्यों चाहता है। चक्रवाकी क्रोध से भरे हुए एक नेत्र से आकाशस्थित शर्म-अस्ता की ओर,—ओ अस्त होने को है—बैठ रही है। दूसरे नेत्र में शर्म अस्त कर वह अपने प्रिय को देख रही है जो अब रात भर के लिए उससे दूर हो जाने वाला है। इस प्रकार शर्म के प्रति क्रोध, तथा प्रिय के मावी विरह के कारण शोकमिश्रित रति इन दो भावों का सम्भार एक साथ चक्रवाकी के हृदय में ही रहा है। विनाशदान के समय, प्रिय के विरह की आशङ्का वाली चक्रवाकी एक कुण्डल बलकी के समान दो भिन्न रतियों रीढ़ (क्रोध) तथा शृङ्गार (रति) को मिश्रित रूप में एक साथ प्रकट कर रही है। बिना तरह एक कुण्डल बलकी एक साथ ही शरीर क विभिन्न भागों के सञ्चालन के द्वारा भिन्न भिन्न रतियों की व्यञ्जना करने में समर्थ होती है, तथा वह उसकी कल्प-निपुणता की वस्तुछटा है, इसी तरह चक्रवाकी भी, शम के समय, एक साथ एक-एक नेत्र के द्वारा अलग-अलग भाव की व्यञ्जना कर रही है।

इस पद्य में शर्मवाकी की आशय बना कर एक साथ शीघ्र (शर्मविषयक) तथा शीघ्ररूप रति (कान्तविषयक) का समावेश किया गया है। बलीश्वरे वृत्तिकार की कविता है कि यहाँ रति, शीघ्र तथा शीघ्र तीनों का व्यञ्जित्वान प्रधान रूप से तथा समान रूप से हुआ है।

देसी दशा में इस पद्य में निवृत्त रति, शोक तथा कोप में परस्पर विरोध किस तरह नहीं माना जायगा।

- पूर्वपक्षी के उपर्युक्त छ' पद्यों के द्वारा ऐसे स्थल उपरिष्ठ विद्ये, जहाँ उसके मतानुसार एक साथ कई भिन्न भावों का समप्रधानरूप से समावेश किया गया है। देसी दशा में इनमें विरोध ही पा लहीं। पूर्वपक्षी स्वयं तो यही विरोध ही स्वीकार करता है। इसीका उद्धरण वेदों द्वारा, पूर्वपक्षी की शब्दा का परिहास करते हुए कृत्तिकार धनिक इन्हीं पद्यों को एक-एक लेकर सिद्धांतपक्ष को प्रतिष्ठित करते हैं।

अत्रोच्यते—अत्राप्येक एव स्थायी, तथा हि—'एकतो' यद्ग्रह पिथा' इत्यादी स्थावोभूतोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देशकारणतया कर्णसंप्रामाण्यपूर्वयोद्घातान्न धोरमेव पुष्पातीति मटस्यैत्यनेन पदेन प्रतिपादितम् । न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकनाक्यभावो युज्यते, द्विबोपमान्ते संप्रामे सुभदनां कायांतराकरणेन प्रस्तुतसंप्रामोदासीन्येन महदभौचित्यम् । अतो भर्तुः संप्रामेकरसिद्धतया शौचमेव प्रकाशयन् प्रियतमानरुणो वीरमेव पुष्पाति ।

इस विषय में हमारा यह उद्धरण है कि इन उदाहरणों में भी ध्यान से देखा जाय तो उदायो भाव ही न हीकर एक ही है, चाहे वे ही या अधिक विचार देते हों। इन पद्यों में प्रधान स्थायी भाव एक ही चित्रित किया गया है, अन्य भाव उसके ही अङ्गरूप में उपनिबद्ध विद्ये गये हैं, तथा उन भावों का समप्रधान्य मानना ठीक नहीं होगा। इस मत को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्षी के उपर्युक्त छ' हों उदाहरणों को एक-एक कर लिया जा सकता है, तथा उनके सर्वालोचन से यह मत और अधिक पुष्ट हो जाता है।

सबसे पहले 'एकतो' इत्यत्र पिथा' इस पद्य की गथा को ले लीजिये, जहाँ मट में एक शब्द प्रियानुराग (रति) तथा पुष्पोत्साह अत्र सञ्चार ही रहा है। क्या यहाँ दोनों का समप्रधान्य ही नहीं है। इस गथा का प्रधान स्थायी भाव परसाह है, इस उत्साह स्थायी भाव के शाय वितर्क नामक व्यभिचारी भाव का समावेश किया जाता है और इस वितर्क का कारण मट का यह सन्देश है कि उसे यहाँ रहना चाहिये या जाना चाहिये। योद्धा के हृदय का संशयप्रसूत ही माना वितर्क का कारण है, तथा वितर्क नामक व्यभिचारी उत्साह का कक्ष बन कर आया है। साथ ही गथा में एक और प्रिया के कर्ण खदन तथा दूसरी ओर पुष्पपूर्व का निवृत्तन हुआ है, ये दोनों हीर रस को ही पुष्ट कर रहे हैं। दो भिन्न उपकरणों—कवचखदन तथा पुष्पवाप का उपादान इसीलिए किया गया है कि यही तो योद्धा के हृदय की दोलायित करने वाला है, उसके हृदय में सन्देश उत्पन्न करने वाला है, मत्तः कर्ण खदन तथा पुष्पवाप दोनों एक ही उद्देश्य—उत्साह स्थायी भाव—के साधन हैं। गथा में 'मट' शब्द का प्रयोग हुआ है (महद्वय दोलायनं विभक्तम्), जिसका अर्थ है वीर योद्धा। इसीलिए प्रकरण में वीर योद्धा के उचित उत्साह स्थायी भाव को ही प्रधानतः प्रतिपादित है। और अधिक स्पष्ट करने हेतु हम यह सकते हैं कि वीर योद्धा के हृदय में केवल सन्देश भर हुआ है, उसने लड़ने जान छोड़ नहीं दिया है, अतः उत्साह को ही प्रधान भाव तथा वीर को ही अही रस मानना होगा।

१. वस्तुतः इस पद्य में ही ही भावों का समावेश है—रति तथा शोक का। शोक की अछम से भाव मानना ठीक न होगा। यह तो भविष्यद निरालम्ब स्वप्नार के स्थायी भाव रति में ही अन्तर्भावित ही जाता है। पद्यकारके 'दो सङ्कीर्णो रचयति रसी' से भी यही सिद्ध होता है।

- पूर्वपक्षी इस बात पर ज्यादा जोर देता है कि दोनों भाव समप्रधान रूप से उपनिबद्ध किये गये हैं। इसीका उधर देते हुए वृत्तिकार ब्रह्माता है कि यदि वहाँ दो भाव समप्रधान हैं तो इसका अर्थ यह है कि वे एक दूसरे के उपकारक नहीं। समप्रधान होने पर उनमें उपकार्य-उपकारक-भाव माना हो नहीं जा सकता। ऐसी दशा में उनका समावेश अलग अलग वाक्यों में करना ही ठीक होगा। जब वे दोनों एक दूसरे के साथ सम्बद्ध ही नहीं हैं, दोनों समान रूप से प्रधान हैं, तथा एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं तो उनका एक ही वाक्य में प्रयोग ठीक नहीं है, ऐसा करना दोष ही होगा। हाँ, एक अज्ञी भाव के उपकारक अज्ञभूत भावों का वर्णन एक ही वाक्य में करना ठीक है। ऐसी दशा में यदि यहाँ दोनों भावों का समप्रधान्य मान लेते हैं तो ऐसा समावेश दोष होगा। वीर पुरुषों का युद्ध के उपस्थित होने पर किसी दूसरे काम में फँस जाना तथा समाप्त के प्रति उदासीन हो जाना बहुत अनुचित है। ऐसी दशा में वीर पुरुष का युद्ध के उपस्थित होने पर, भी प्रियानुराग के प्रति गहन देना अनुचित ही माना जायगा। इसलिये प्रिया का करुणविप्रलम्भ एक तरह से वीर योद्धा के समानप्रेम तथा शौर्य को ही प्रकाशित करता है तथा वीररस की ही पुष्टि करता है। इस तरह स्पष्ट है कि 'एकतो रसश्च प्रिया' इस गाथा में प्रमुखता वीर रस तथा उत्साह भाव की ही है, प्रियाविषयक विप्रलम्भ (करुणविप्रलम्भ) इसीका अज्ञ तथा घोषक भाव है।

- एवं 'मात्सर्यम्' इत्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादानाच्छ्रमैकपरत्वम् 'आर्या समर्थादम्' इत्यनेन प्रकाशितम्।

दूसरे उदाहरण 'मात्सर्यमुत्सार्य' आदि पद्य में भी यही दशा है। यहाँ भी दोनों भाव—शम तथा रति—समप्रधान नहीं हैं। यहाँ भी चिरकाल से प्रवृत्त कामवासना तथा रति को पुत्र तथा नगण्य बटाने के कारण शम ही ही प्रधानता सिद्ध होती है। कवि यहाँ शम भाव की ही प्रधान मानता है और 'आर्या समर्थादम्' इस पदद्वय के द्वारा उसने साफ बताना दिया है कि यह इस बात का निर्णय पदों की लक्ष्णियों अच्छी है, या रमणियों के नितम्ब, पूज्य सम्मान्य व्यक्तियों से ही मूढता है, तथा इसका मर्णादित निर्णय सुनना चाहता है। यह इस बात का प्रकाशन करता है कि यहाँ रति भाव शम भाव का ही घोषक अज्ञ है।

एवम् 'इयं सा लोलासी' इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निराशयरत्नेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविपादविभाववितकहेतुतया रतिमोक्षयोपादानं रौद्रपरमेव। 'अग्नौ कल्पितमङ्गलप्रतिसरा' इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव, 'एक ध्याननिमीलनान्' इत्यादौ शम्भोर्भावान्तरैलाक्षिततया शमस्यस्यापि योग्यन्तरशमादौलक्ष्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृतम्। 'एकेनाद्या' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति न क्वचिदनेवतात्पर्यम्।

तीसरा उदाहरण 'इयं सा लोलासी' रावण की उक्ति है। इसमें एक साथ रति तथा शोध, इन दो भावों का समावेश किया गया है। पूर्वपक्षी यहाँ इन दोनों भावों का समप्रधान्य मानता है। किन्तु रावण के विषय में यह ठीक नहीं मान सकता। रावण पहले तो प्रतिपक्ष नायक है, दूसरे वह राक्षस है, तीसरे मायावी है। इन सब बातों को देखने से यह पता चलता है कि यहाँ का अज्ञी रस रौद्र ही है। रौद्र रस के व्यभिचारी भाव 'विषाद का, तथा उसके (विषाद के) आलम्बन सीता व लक्ष्मण के विषय में उत्पन्न वितर्क के द्वारा रति तथा शोध इन दो भावों का समावेश हुआ है। अतः 'क्या किया जाय, एक ओर तो यह सुन्दरी है, दूसरी ओर यह दुष्टात्मा, तथा दोनों विभिन्न भावों के आलम्बन है' यह वितर्क रौद्र रस की

की प्रति करता है। इस तरह रति भाव भी रौद्र रस का ही वीरक है तथा उसीका अङ्ग है। 'एव सा लोकाक्षी' इस पद्य में क्रोध ही प्रमुख रसाधी भाव है यह स्पष्ट है।

श्रीधर उदाहरण में, 'पिशाचिनिषो का वर्णन करते हुए कवि ने एक साथ भीमत्स व गृहकार का समावेश 'अन्ते कवित्तमङ्गलप्रतिपत्तः' इस पद्य में किया है। यहाँ भी ज्ञानुपमा तथा रति भाव का समाधान नहीं है, बल्कि पूर्वपक्षी मानता है। यहाँ पर तो पिशाचिनिषो को हास्यरस का आलम्बन बनाया गया है तथा ज्ञानुपमा व रति दोनों उसके अङ्ग बने हुए हैं। 'अथा, पिशाचिनिषो विज्ञा टाट से सम्पन्न कर उसमें सम्मिलित होती हुई घानगोष्ठी का अनुभव कर रही है' यह अङ्ग पिशाचिनिषो के प्रति हास भाव की प्रतीति करा रहा है। अतः पूर्वपक्षी की उदाहरण का यहाँ भी निराकरण ही ही जाता है। यहाँ भी केवल एक ही अर्थ प्रधान है, वह है हास्य रस तथा उसका रसाधी भाव।

पौचवा उदाहरण 'एक ध्याननिमीलनात्' आदि है। इसमें रति, धाम तथा शोध रस भावों की विधि वर्णित की गई है। यहाँ भी पूर्वपक्षी इन तीनों का समाधान मानता है। यहाँ महादेव के वर्णन में समाधि के धाम भाव के अतिरिक्त दूसरे भावों का समावेश इसलिए किया गया है, कि कवि यह बताना चाहता है कि समाधिस्थ होने पर भी महादेव को धाम भाव की अनुभूति साधारण योगियों से मिलती है। इसलिए इस सारे पद्य में धाम ही प्रधान है, तथा रति भाव एवं शोध दोनों भाव सम्पन्न ही हैं।

'भक्त्याह्वय प्रविवक्षणा' इस उदाहरण में प्रीति, शोक तथा रति भाव का समावेश है। यहाँ भी इन तीनों का समाधान नहीं माना जा सकता। सारे पद्य का एक ही विषय है और यह पद्य है कि धाम के समय चक्रवाती अपने प्रिय के भावी विनोद की आशुद्धि से दुःखित हो रही है। ऐसी दशा में समस्त वाक्य गानी विप्रलम्ब का ही सूचक है। इसलिए प्रीति वा शोक के अर्थ का कोई अलग तात्पर्य नहीं निकलता। प्रीति (युर्विषयक) तथा शोक दोनों रति के ही अङ्ग बन जाते हैं। अतः यहाँ भी प्रधानता एक ही भाव की सिद्ध होती है।^१

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपर-
'तेत्यदोष'। यथा—

कृष्ण ऐसी भी स्थल होते हैं, जहाँ एक ही वाक्य के द्वारा अनेक तात्पर्यों की प्रतीति होती है। ऐसी स्थलों पर दो भिन्न भावों का एक साथ समावेश पूर्वपक्षी वीर माने, तो उसका निराकरण करते हुए चूत्तिकार कहते हैं कि जिन स्थलों में श्लेष आदि से अनेकार्थ वाक्यों में कई तात्पर्यों की प्रतीति होती है, यहाँ उसी वाक्य के अलग-अलग प्रतीत तात्पर्यों स्वतन्त्र हैं, वे एक दूसरे से संबन्ध नहीं हैं, अतः उनमें दो अर्थ माने जायेंगे। ऐसी दशा में उनमें दोष नहीं रहेगा। भाव यह है कि श्लेष के द्वारा एक ही वाक्य से ही 'या अधिक अर्थों की प्रतीति होती है। जहाँ इन दोनों अर्थों में अथमानीयताभावहीनता यहाँ तो अन्वयवत्त वाले अर्थ

१ इसी सम्बन्ध में एक उदाहरण और दिया जा सकता है —

कपोके जलध्या करिकलधरन्तुष्टिसुषि हसरमेरस्फारीकुम्भरमुष्ण बन्धकमलम् ।

सुदुः परमकृष्णवत् रजनिचरसेनाकलकल अदाञ्जर्मन्धि द्रव्यति रघुना परिवृत् ।।

(इस पद्य के अनुवाद के लिये देखिये द्वितीय प्रकाश में माधुर्य का उदाहरण)

यहाँ पर राम में एक ओर रति तथा दूसरी ओर उदाह का वर्णन किया गया है। ऊपर कि 'धनची ब्रह्म' आदि गथा की भाँति यहाँ भी उदाह ही प्रमुख भाव मानना ठीक होगा। रति भाव यहाँ और रस का ही वीरक अङ्ग है, यह स्पष्ट है। (अनुवादक)

को प्रधानता सिद्ध हो ही जाती है। यदि दोनों ही अर्थ स्वतन्त्र हैं, तो फिर तत्पद प्रकरण में तत्पद अर्थ की प्रधानता सिद्ध हो सकती है। इस तरह रत्नेषु आदि के द्वारा दो या अधिक भावों का एक साथ समावेश विरुद्ध नहीं होगा। श्लेष के एक उदाहरण को लेकर इसे स्पष्ट करते हैं—

‘आप्याशेषतनु सुदर्शनकर’ सर्वाङ्गलीलाजित-

श्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको ह्रिः ।

विभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचन्द्रैर्दधत्

स्थाने या स्वतनोरपश्यदधिकं सा रश्मिणी षोऽवतात् ॥’

इत्यादौ। तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः। मया वा भ्रूयमाण-
रत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथापि दर्शयिष्याम।

अब कृष्ण ने रश्मिणी की देखा, तो उन्हें पता चला कि वह तो उनसे भी अधिक सुन्दर है, उनके भी शरीर से अधिक है। कृष्ण का तो केवल हाथ ही सुन्दर (सुदर्शनकर) है, (कृष्णके हाथ में सुदर्शन चक्र है), लेकिन रश्मिणी का समस्त शरीर अतीव प्रशतनीय तथा रमणीय है। कृष्ण ने ससार को केवल चरणारविन्द की ही सुन्दरता से जीता है, अर्थात् उनका केवल चरण ही ललित है, जो सुन्दरता में ससार की रोह कर सके, (कृष्ण ने वामनावतार में चरणकमल के द्वारा सारे लोकों को नाप लिया है), लेकिन रश्मिणी ने सारे भोगों की शोभा से तीनों लोकों को जीत लिया है। कृष्ण की देवक भौत्र ही चन्द्रमा के समान है, बाकी सारा मूढ़ कुरूप है, (कृष्ण परमात्मा के अवतार होने के कारण, उनका वाम भेत्र चन्द्रमा है); लेकिन रश्मिणी सुन्दर कान्तिवाले मुख-चन्द्र को धारण करती है। इस तरह कृष्ण का केवल हाथ ही सुन्दर है पाँव ही शोभामय है, तथा आँख ही चन्द्ररूप्य है, अब कि रश्मिणी का पूरा शरीर सुन्दर है, उसके सारे अंग शोभा से तीनों लोकों को जीत लेते हैं, तथा उसका पूरा मुख चन्द्रमा जैसा है, इसलिए कृष्ण रश्मिणी को अपने से अधिक पाते हैं। वह रश्मिणी जो कृष्ण से अधिक सुन्दर तथा उत्कृष्ट है, आप लोगों की रक्षा करे।

रत्यादि उदाहरणों में वाक्यार्थ अनेक पाये जा सकते हैं, पर उनके दो अर्थ होने के कारण अदोष ही मानना होगा।

इस तरह से उपर्युक्त प्रक्रिया से काव्य में रति आदि स्थायी भावों के उपनिबन्धन में विरोध नहीं आता। इस विषय में यह भी पूछा जा सकता है कि जहाँ रत्यादि पदों का काव्य में प्रयोग होना (रत्यादि पद अक्षयमाण होते हैं), वहाँ भी तात्पर्य रति आदि भावों में ही होता है, क्योंकि विभाव आदि तापनों के कारण ही भावों का आशेष होता है, पदों के साक्षात् प्रयोग के कारण नहीं।

तै च—

रत्युत्साहजुगुप्साः श्लोघो हासः स्मयो भयं शोकः ।

शाममपि कैचिदप्राहुः पुष्टिर्नाटयेषु नैतस्य ॥ ३५ ॥

ये स्थायी भाव आठ होते हैं—रति, उत्साह, जुगुप्सा, श्लोघ, हास, स्मय, भय तथा शोक। कुछ आचार्यं शम जैसे नवें स्थायी भाव को भी मानते हैं, किन्तु इस भाव की पुष्टि नाट्य (रूपकों) में नहीं होती। इनारे नतरजुस्तार पद भाव नाट्यानुबूल नहीं है। अतः नाट्यशास्त्र की दृष्टि से स्थायी भाव केवल आठ ही हैं। शम जैसे नवें स्थायी भाव तथा उसके रस-शान्त-को अलग से मानना हमें सम्मत नहीं।

१ यहाँ यह भी अर्थ हो सकता है कि जहाँ रत्यादि पद का काव्य में साक्षात् प्रयोग (भ्रूयमाण) होता है, वहाँ भी तात्पर्य (रति से) वही भावों में होता है।

(इस प्रकार धनञ्जय के मत से गृह्यार, शीर, भीमस्त, रौद्र, हास्य, अरमुन, भयानक तथा कथन ये आठ ही रस होते हैं। उसे शान्त रस स्वीकार नहीं, क्योंकि यह रूपकों के अनुपयुक्त है।)

इह शान्तरसं प्रति घादिनामनेवविद्या विप्रतिपत्तय, तत्र केचिदाहु — 'नास्त्येव शान्तो रस' तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभार्थ वर्णयन्ति — अनादिवात्प्रगहावात्तरामद्वेषयोच्छेत्तुमशयवत्वात् । अन्ये तु वीरवीभत्सादापन्तर्भाय वर्णयन्ति । एवं च दन्त शममपि नेच्छन्ति । यथा तथास्तु । सर्वथा नाठकादाभिनयारमनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निविध्यते, तस्य समस्तव्यापारप्रतिलय-रूपस्याभिनयायोगात् ।

शान्त रस के विषय में विद्वानों के कई भिन्न भिन्न मत पाये जाते हैं। शान्त रस के विरोधी इसका निषेध कई दश से करते हैं। कुछ लोगो का कहना है कि शान्त वैसा रस है ही नहीं। नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत ने केवल गृह्यारादि आठ ही रसों के विभावादि साधनों का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में शान्त रस के न तो विभावादि ही बर्णित हैं, न उसका लक्षण ही दिया गया है। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि गुनि भरत शान्त को नहीं रस नहीं मानते। यदि शान्त को अलग से रस माना जाता, या यह रस होता, तो भरत उसका वर्णन अवश्य करते। शान्त को अलग रस मानना प्रधानविरुद्ध तथा आचार्य भरत के प्रतिद्वूल है। अतः शान्त वैसा रस नहीं है।

दूसरे लोग उसका वास्तविक अभाव मानते हैं। पहले मत वाले तो केवल नाट्य में (या कान्य में भी) उसकी सत्ता नहीं मानते, पर ये दूसरे भतावलम्बी शम की शक्त व्यावहारिक क्षेत्र में भी नहीं मानते। इनकी दलील है कि शान्त रस को स्थिति तमो ही ल्याती है, जब कि व्यक्ति के राग-द्वेष का नाश हो जाय। राग तथा द्वेष मनुष्य में अनादि काल से चके आ रहे हैं, अतः उनकी आशयनिक निवृत्ति होना असम्भव है। जब अनादि काल से चके आते हुए राग-द्वेष का नाश असम्भव है तो फिर शान्त रस कैसे परिपुष्ट हो सकता है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो शम या शान्तपरक विषय की स्थिति तो मानते हैं, पर उसे अलग से स्थायी मान नहीं मानते। उनके मतानुसार शम की वीर वीमस्त आदि में अन्तर्भावित किया जा सकता है। यथा संसार के प्रति घृणा, जो शम का एक तत्व है योग्य के अन्तर्गत आ जाता है, इसी तरह अनन्तर परम तत्त्व के प्रति उन्मुक्तता वीर के स्थायी उत्साह का अङ्ग बन जाता है। इस तरह शान्त को अलग से रस नहीं माना जा सकता।²

जब ये तीनों मत वाले विद्वान् शान्त रस को ही नहीं मानते तो उसको स्थायी भाव शम को कैसे स्वीकार करेंगे ? इसलिए ये शम को भी इच्छा नहीं करते। शीर उत्तका मत कुछ भी हो, तथा लौकिक रूप में शम को माना जाय या न माना जाय, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हम लोग तो यह मानते हैं कि शम स्थायी (शांत रस) रूपक (अभिनय) के सर्वथा अनुपयुक्त है। नाटकादि रूपकों में अभिनय की प्रधानता है, अभिनय ही इन रूपकों की आत्मा है। अतः अभिनयपरक रूपकों में शम शम का निषेध सचमुच में कर रहे हैं। इसका शास्त्र कारण यह है कि शम में ध्यतिक की समस्त लौकिक प्रक्रियाओं का जोष हो जाता है, (एक भीतरराग समाधिदशा शम में चार आती है)। इस प्रकार की दशा का अभिनय करना असम्भव है। इसलिए अभिनय की अशक्यता के कारण ही हम नाटकादि में शम स्थायी की स्थिति स्वीकार नहीं करते।

यसु केचिन्नामानन्दादी शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तसु मध्यवस्थानुपयोगेऽऽन-

घन्यप्रकृतेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम् । न ह्येकानुकार्यनिभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं तत्रैव शृङ्गारस्याश्रित्वेन चक्रवर्तित्वावासेषु फलत्वेनाविरोधात् । ईप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रकृतस्य विजिगीषोर्नान्तरायकत्वेन फल सम्पद्यत इत्यायेदितमेव प्राक् । अतोऽद्यैव स्थायिनः ।

कुञ्ज लीय (पूर्वपक्षी) इर्वरचित नागानन्द नाटक में शरत् रस मानकर उसका स्थायी शम मानते हैं, वह ठीक नहीं है । नागानन्द नाटक में सारे प्रबन्ध में आरम्भ से अन्त तक जोमूतवाहन (नायक) का मलयवती के प्रति अनुराग निबाहा गया है, तथा उसे अन्त में विद्याधरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति होती है । ये दोनों ही बातें शम के विरुद्ध पड़ती हैं । शम की स्थिति में अनुराग का बर्णन तथा बाद में किसी लौकिक फल की प्राप्ति होना विरोधी है । शम में तो व्यक्ति विषयों से विमुक्त रहता है, तथा किसी लौकिक फल की इच्छा नहीं रखता, यदि उसे कोई इच्छा होती भी है तो वह पारलौकिक फल (मोक्ष) की ही । ऐसी दशा में नागानन्द का स्थायी भाव शम कैसे हो सकता है ? एक ही अनुकार्य जोमूतवाहनादि के विभाव तथा अलम्बन एक साथ विषयानुराग (विषय के प्रति आसक्ति), तथा विषयापराग (विषयों से विरक्ति) दोनों नहीं हो सकते । या तो उसमें विषयासक्ति ही हो सकती है, या विषय-विरक्ति ही । जोमूतवाहन में विषय राग स्पष्ट है, अतः विषय-विरक्ति रूप शम नहीं हो सकता ।

तो फिर नागानन्द का स्थायी क्या है ? यह प्रश्न सदा ही उपस्थित होता है । इसी का उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि रस नाटक में वीर रस का स्थायी उत्साह ही स्थायी भाव है । उत्साह को स्थायी भाव मान लेने पर मलयवती विषयक प्रेम (शृङ्गार) उसका अङ्ग बन जाता है तथा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति भी उसका फल ही जाना है । इस प्रकार उत्साह स्थायी भाव का शृङ्गार तथा लौकिक फल प्राप्ति से कोई विरोध भी नहीं पड़ता । जो भी कुछ किया जाना है उसकी इच्छा अवश्य होती है, सारे कर्तव्य ईप्सित होते हैं, इसलिए परोपकार में प्रवृत्त वीर को, जो दूसरे लोगों को परोपकारादि से जीत लेना चाहता है, फल प्राप्ति होना तो भावश्यक ही है, यह हम पहले ही दिगीयप्रकाश के श्रीरोवाचनायक के प्रकरण में बता चुके हैं ।

ननु च—

‘रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादोनामिचोक्तमाचार्यैः ।

निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेष्वपि रसाः ॥’

इत्यादिना रसान्तरागामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्तिः ।

इसकिये वह स्थित है कि केवल आठ ही स्थायी भाव हैं ।

पूर्वपक्षी की इस संख्या (आठ) के भववाण पर आपत्ति है । वह कहता है कि निर्वेद आदि भावों को भी रस मानना ठीक होगा । नाटकादि में निर्वेदादि भावों का आस्वाद किया ही जाता है, उनकी चर्चणा ठीक उसी तरह होती है, जैसे रसादि स्थायी भावों की । आस्वाद विषय होने के कारण मधुर, अम्ल आदि रस कहलते हैं, क्योंकि उनका रसन (स्वाद) प्राप्त किया जाता है । यह रसन निर्वेदादि भावों में भी भूरी तरह मौजूद है, इसलिए ये भी रस हैं । इनकी रस मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये । ‘रस वर्ण के अनुसार’ कई विश्वनों के दूसरे रसों को भी स्वीकार किया है, और रस तरह उन उन रसों के दूसरे स्थायी भाव को भी कल्पना ही आती है । अतः धनञ्जय का वारिका में केवल आठ ही भाव निगाना तथा वृत्तिकार का भी ‘महावेश’ इस तरह संख्या का भववाण भर-वेना ठीक नहीं

पैठ पाना । उन विद्वानों से वह मत विरुद्ध ज्ञान पड़ता है। इसी पूर्वपक्ष रूप शंका क करते हुए धनञ्जय ने भागे की कारिका अवतरित की है।—

अप्रोच्यते—

निर्वेदादिरतादस्यादस्थायी स्यदते कथम् ।

पैरस्यायैव तत्प्रोपस्तेनाष्टी स्यापिनो मताः ॥ ३६ ॥

हम यता सुक्रे हैं कि स्थायी भाव यह है जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं हो पाता, यह समुद्र की तरह उन्हें आत्मसात् कर लेता है। यह साद्रूप्य (इस तरह से विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होने का गुण) निर्वेदादि में नहीं पाया जाता। अतः स्थायी की शर्तें पूरी न उतरने से निर्वेदादि की स्थायी कैसे मान सकते हैं, तथा उनही चर्वणा कैसे हो सकती है? यदि निर्वेदादि की काव्य भावकादि में पुष्टि होगी भी तो यह रस के स्थान पर वैरस्य (रसविकार) उत्पन्न करेगी। अतः उन्हें रस के स्थायी नहीं माना जा सकता, इतने लिए हमने आठ ही स्थायी माने हैं।

(अशाद्रूप्यम् =) विरुद्धाविरुद्धानिच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावस्याप्यित्यम्, अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता यदि परिपोषं नोपमाना वैरस्यमावहन्ति । न च निष्कलावसानत्वमेतेषामस्यापित्यनियन्धनम्, हास्यादीनामप्यस्यापित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलपञ्चात्, अतो निष्कलत्वमस्यापित्वे प्रयोजकं न भवति किन्तु विरुद्धाविरुद्धावैर्वापरितरस्कृतत्वम् । न च तन्निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः, ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते अतोऽस्यापित्वादेवैतेषामरसता ।

स्थायी भाव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छेदित नहीं होता। निर्वेदादि भाव दूसरे भावों से विच्छिन्न हो जाते हैं इसलिए इनमें 'विरुद्धाविरुद्धविच्छेदितत्व' नहीं माना जा सकता। इसके अभाव के कारण; निर्वेदादि स्थायी भी नहीं बन सकते। कुछ-कुछ लोग निर्वेदादि के साथ चिन्ता आदि अपने-अपने अविरोधी व्यभिचारियों का समावेश कर काव्य में उनकी पुष्टि कराते हैं, किन्तु वहाँ ये पुष्ट नहीं हो पाते। चिन्तादि सञ्चारियों के द्वारा दूसरे विरोधी रसों से धरुण कर दिये जाने पर भी निर्वेदादि की पुष्टि रस के स्थान पर वैरस्य ही उत्पन्न करती है। जो चर्वणा सङ्ख्या की शकारादि (रसादि) के परिपोष से होती है, तथा जो आनन्द संयुक्त का अद्युग्मन इनसे होता है, वह निर्वेदादि से नहीं। यदि कोई यह कहे कि निर्वेदादि भावों का अस्त (परिणाम) फलरहित है; इसलिए उनको स्थायी नहीं माना जा सकता, तो यह बात नहीं है। निष्कलावसानत्व के ही कारण इनको स्थायी न मानने पर तो हास आदि भावों को भी स्थायी नहीं मानना पड़ेगा। हास आदि भावों के परिणाम भी फलरहित ही हैं; क्योंकि हास के व्यापक को मनोरञ्जन के भौतिक वैदिक्या पारलौकिक फल प्राप्ति नहीं होती। और अज्ञान से देखा जाय, तो निर्वेदादि भी फलरहित नहीं हैं; क्योंकि निर्वेदादि किसी न किसी स्थायी के अस्त बन कर आते हैं; यह स्थायी फलरहित नहीं होता; रस तरङ्ग परम्परा से वे भी कल्पित ही होते हैं; अतः इसलिए जो भी अभाव निष्कल हैं; वे स्थायी नहीं हैं, यह कोई निवम नहीं है; फलरहितता की हम स्थायी न मानने का कारण (प्रयोजक) नहीं मानते। यदि किसी भाव को स्थायी घोषित न करने का कोई कारण है, तो वह केवल यही कारण ही सकता है कि अत्युक्त भाव विरोधी तथा अविरोधी भावों से विरक्त हो जाता है। विरोधी तथा अविरोधी भावों से निरस्कल न होना ही वह प्रसौदी है जिस पर भाव को स्थायित्व की परमा होती है,

यही वस्तुका प्रयोजक है। निर्वेदादि भावों में यह बात नहीं पाई जाती, अतः वे स्थायी नहीं हैं। जब वे भाव ही नहीं तो उनके रस (ज्ञानादि) भी नहीं हो सकते, उन्हें 'निर्वेदादिव्यपि तत्र प्रकाम मल्लीति तेषु रसा' के आधार पर रस भी नहीं कहा जा सकता। जब इनमें से कोई भाव स्थायी नहीं तो वे रस भी नहीं हैं। अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव तथा उनके रस आठ ही हैं।

[स्थायी भावों व रसों का निर्वाण हो जाने पर, उनकी सत्या निवृत्त कर देने पर, एक प्रदम लठना स्वभाविक है, कि रस व स्थायी का काव्य-नाटक से क्या सम्बन्ध है। काव्य या नाटक के द्वारा रस की प्रतीति किस तरह से, किस प्रक्रिया से, कौन से व्यापार से होती है। इसके विषय में विद्वानों के कई मत हैं। धनञ्जय व धनिक के विरोधी मतों में प्रमुख मत ध्वनिवादियों का है जो रस तथा काव्य में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध मानते हैं, तथा रस सम्बन्ध के छिद्र अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन कृषियों (शब्दकियों) से भिन्न तृतीया वृत्ति-व्यञ्जना-की कल्पना करते हैं। ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन दोनों ही रस की काव्य, लक्ष्य या तात्पर्य मानने से सहमत नहीं, वे इसे अभिव्यञ्जक मानते हैं। धनञ्जय तथा धनिक मीमांसक हैं, वे अभिधावादी हैं, तथा लोहन् के दीर्घदीर्घतरामिथाव्यापार को भी मानते हैं जहाँ अभिधाव्यापार बाण की तरह काम करता माना गया है—सोयमिथोरिव दीर्घदीर्घनरोऽभिधान्यापार। स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति को वे तात्पर्य या वाक्यार्थ ही मानते हैं। इसलिये ध्वनिवादियों की व्यञ्जना तथा उसके आधार पर रस या भाव की व्यङ्ग्यता का खण्डन करने के छिद्र वृत्तिकार 'वाक्या प्रवरगादिभ्यो' इस कारिका के पहले ध्वनिवादी के पूर्वपक्षी मत को विशद रूप से रचना है, जिसके, उल्टर में इस कारिका में धनञ्जय ने अपना सिद्धान्तपक्ष प्रतिष्ठापित किया है।]

कं पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात्, नदि श्रुतारदिरनेषु काव्येषु श्रुतारदिरान्धा रत्यादिशब्दा वा ध्रुवन्ते येन तेषां उत्तररिपोयस्य धामिधेयत्वं स्यात्, यत्रापि च ध्रुवन्ते तथापि विभाषादिशब्दकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण ।

प्रदम होना स्वभाविक है कि स्थायी भावों तथा उनके रसों का काव्य से किस प्रकार का सम्बन्ध है। यह तो स्पष्ट है कि काव्य (नाटकादि) के ही द्वारा—देख कर (वा छन कर) सप्रदम रस की चर्चणा करते हैं, किन्तु रस चर्चणा काव्य का साक्षात् अर्थ, वाक्यार्थ है, लक्ष्यार्थ है, अपना इससे भी भिन्न कोई दूसरा अर्थ इसे माना जाना चाहिये। इस प्रदम का उल्टर ध्वनि तथा व्यञ्जना की कल्पना करने वाले आचार्य इस प्रकार से देखते हैं। उनके मतानुसार काव्य तथा रस में वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध नहीं मान सकते, न तो रस वाच्य ही है, न काव्य (काव्य ही नहीं काव्य में बन्दि विभाषादि भी) वस्तुका वाचक ही। शब्द की भर एक ही शक्तियों मानी जाती रही हैं, अभिधा तथा लक्षणा, जिनके साथ तात्पर्य नामक वाक्यवृत्ति का भी समावेश किया जाता है। अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द तथा वस्तुके अर्थ में जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वह सम्बन्ध वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध कहलाता है। जैसे 'गौ' शब्द 'साक्षादिमान् पशु' का वाचक है, तादृशित पशु वस्तुका वाच्य। काव्य तथा रस के विषय में ऐसा नहीं कहा जाता।

१. ध्वनिवादियों के रस मत्र का विवेचन भूमिका भाग में दृश्य है।

गाँ लीजिए, कि काव्य (अर्थात् काव्य प्रयुक्त शब्द) रस के वाचक है, तथा मुख्य (अभिधा) पृष्टि के द्वारा साक्षात् रूप में उचना बोध कराते है, तो ऐसी दशा में शृङ्गार, और अर्थात् शब्दों का प्रयोग सत्त्वत्वाय में अवश्य होना चाहिये। तभी तो रस वाच्य रूप में प्रतीत हो सकता है। किन्तु काल्पगत वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। हम किसी भी शृङ्गारदि रस के काव्य को ले लें। ऐसे काव्यों में शृङ्गारदि शब्दों या उनके श्यायी भाव रत्यादि के वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता, ऐसा प्रयोग किसी भी काव्य में नहीं सुना जाता है। काव्यात्म्य की प्रतीति तभी होगी, जब उसके साक्षात् वाचक शब्द वा मन्वेन्द्रिय से सन्निकर्ष हो। जब काव्य में शृङ्गार वा रति (रस अथवा इसके भाव) का साक्षात् प्रयोग ही नहीं होता, तो फिर रस या श्यायी भाव की पृष्टि को काव्य जैसे मान सकते हो, वह अभिप्रेतन की वोटि की प्रवृत्त ही कैसे कर सकता है।^१ मान लीजिये, कुछ स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग देखा भी जाता है, किन्तु यहाँ भी यह नहीं कहा जा सकता कि तत्पक्ष मान या तत्पक्ष रस की प्रतीति वन शब्दों के प्रयोग के ही कारण है। भाव वा रस का परिपोष विभाव अनुभाव तथा सप्रारी के कारण होता है। अतः शब्दों के प्रयोग होने पर भी वहाँ उस काव्य में वर्णित विभावनादि के कारण ही रस प्रतीति होती है, खाली शब्दों के द्वारा ही रस वाच्य नहीं हो सकता। (यदि किसी काव्य में केवल रत्यादि भाव वा शृङ्गारदि रस के वाचक शब्दों का प्रयोग कर दिया जाय, और विभावनादि का सुपाव सन्निवेश न हो पाय, तो रसचर्चणा ही ही न सकेगी। साम ही ध्वनिवादों के अनुसार तो कभी-कभी काव्य के भाव वा रस के स्वशब्द वा प्रयोग-स्वशब्दनिवेदित दोष भी माना गया है।)^२

(हम विवेचना से यह स्पष्ट है कि भाव वा रस की प्रतीति अभिधा से मानना वास्तविकता से दूर जाना है, जब कि काव्यादि में उसके अभिधावाक या वाचक शब्द ही नहीं। इस तरह 'घटादि' शब्द के उच्चारणभाव में 'घटादि' के अर्थ की प्रतीति मान लेने [का प्रसंग उपरिष्ठ हो सकता है। वस्तुतः काव्य रस वा भाव का वाचक कभी नहीं माना जा सकता।)

नापि लक्ष्यलक्षकभाव—तत् सामान्याभिधायिनस्तु—लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ रात्रि हि स्वार्थं छोटोलक्षणे घोषस्यानस्थातासम्भवात्स्वार्थे स्तलक्षितिर्गङ्गाशब्द स्वार्थाविनाभूतत्वोपलक्षित तन्मुपल-

१ उदाहरण के लिये—

शयिता सविभेदयनीशरा सफलीकर्तुं मधो मनोरमात् ।
दयिता दयिताननाम्बुज दरमीलप्रयना (नरीकुते ॥ (पण्डितराज)

मधवा,

सपन कुछ छाया सुखद, सीतल माद समीर ।
मन है, जात अजी बहे, भा जगुना के तीर ॥ (निहारी)

इन दोनों पद्यों में रति भाव या शृङ्गार रस के वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं है, तथापि सहजसे ही सुवीम तथा विपलम्भ शृङ्गार की कल्प प्रतीति हो रही है, यह अनुभवसिद्ध ही है।

२ पकानिन्नापरीठी तां इडा घोषकुण्डा मुदा ।

सखे मनसि निस्त शी मानी रति रजायत ॥ (अनुवादरत्न)

इस पद्य में वर्णित रति भाव या शृङ्गार रस 'मानी रति' इसके प्रयोग के कारण प्रतीत नहीं हो रहा है, अथिदु यहाँ 'स्व शब्द निवेदित दोष' हो है। इसके स्थान पर 'सखे मनसि निस्त' इन्द्र मन्मिप्रमजायत' इस पाठ के कर देने पर भी भावप्रतीति में कोई भेद न आया, मन्तुन दोष भी न रहेगा। यहाँ तदाचक कोई शब्द नहीं है।

क्षयति । अत्र तु भाष्यकारिणां स्वार्थेऽस्त्वद्भूतयः कर्मविवायान्तरमुपलक्षयेयुः ।
 वो या निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुज्यते ? अत एव 'सिंहो माणवक'
 इत्यादिवत् गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

काव्य तथा उसके कार्यभूत रस में वाच्यवाचकभाव का निराकरण करने के बाद पूर्वपक्षी
 उसके लक्ष्यलक्षकभाव का निराकरण करता है । काव्य तथा रस में लक्ष्यलक्षकभाव भी नहीं
 है । न तो काव्य लक्षक ही है, न रस लक्ष्य ही । अभिधा के बाद दूसरी शब्द शक्ति है
 लक्षणा । अभिधा का निराकरण करने पर कुछ लोग रस को लक्ष्य मानकर उसको लक्षणा
 व्यापारगम्य मानें, तो यह मन भी ठीक नहीं ।^१

(जब हम देखते हैं कि किसी वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द साधारण अर्थ को लेने पर प्रकरण
 में ठीक नहीं बैठ पाता, तो हम उस दशा में मुख्यार्थ का त्याग कर देते हैं, तथा दूसरे अर्थ की
 प्रतीति करते हैं । यदि यह दूसरा अर्थ किसी न किसी तरह मुख्यार्थ से सम्बद्ध रहता है, तथा
 उस प्रकार के शब्द से मुख्यार्थ का बाध होने के कारण वेसे अनुस्वार्थ की (जो कि मुख्यार्थ
 से सम्बद्ध है) प्रतीति कराने में कोई न कोई कारण (रुचि या प्रयोजन) विद्यमान रहता है, तो
 उस अर्थ की प्रतीति को हम लक्षणाव्यापारगम्य मानते हैं, क्योंकि वह दूसरा अर्थ मुख्यावृत्ति
 के द्वारा प्रतीत नहीं हो पाता । इस तरह लक्षणा शक्ति के क्रियाशील होने में तीन बातों का
 होगा आवश्यक है—मुख्यार्थबाध, तयोप, रुचि अथवा प्रयोजन । इसी बात की सम्मति ने
 काव्यप्रवाच में कहा है—

मुख्यार्थबाधस्तयोपो रुचिनोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिना क्रिया ॥ (काव्यप्रकाश २-९)

लक्षणा का हम प्रसिद्ध उदाहरण के सकते हैं:—'गङ्गायां घोष', जहाँ 'गङ्गा' का अभिधा
 शक्ति के द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ है 'गङ्गा की धारा', गङ्गा का प्रवाद, अब कि गङ्गा में आभीरों
 की बस्ती (घोष) स्थित नहीं रह सकती । प्रवाद तो कभी भी किसी बस्ती का आधार नहीं
 हो सकता । फलतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है, वाच्यार्थ ठीक नहीं बैठता । इसके बाद
 इसका अर्थ 'गङ्गा के तीर पर आभीरों की बस्ती' यह लेना पड़ना है । अभिधा के केवल
 संकेतित शब्द तक ही सीमित रह सकने के कारण, इस अर्थ की प्रतीति किसी दूसरी वृत्ति
 'लक्षणा' के द्वारा होती है । यहाँ 'गङ्गातीर' 'गङ्गाप्रवाद' के समीप है, इस तरह इन दोनों में
 योग है ही, बाध ही 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग करने का यह प्रयोजन है कि गङ्गातीर में भी
 गङ्गाप्रवाद की शीतलता तथा पवित्रता की प्रतिपत्ति हो । इस तरह 'गङ्गायां घोष' में लक्षणा है ।

काव्य तथा रस में लक्ष्यलक्षकभाव इसलिए नहीं माना जा सकता कि लक्षणा व्यापार
 सामान्यशब्द (गङ्गादि) का प्रयोग विशिष्ट धर्मवाले पदार्थ (गङ्गातीरारि) में किया जाता
 है । (मोटे तौर पर सामान्य का अर्थ बगानेवाले शब्द का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग लक्षणा है ।)
 यदि रस की वाच्य का लक्ष्य मानें, तो वाच्य में ऐसे लक्षक शब्दों (पदों) का प्रयोग होना
 चाहिए, जो (मुख्य वृत्ति न सही, लक्षणा से ही) रस की प्रतीति करावें । काव्य में ऐसा
 नहीं होता, इसलिए लक्षितलक्षणा (अत्रलक्षणा) के द्वारा रस की वृत्ति का प्रतीति होती है,

१ इस सम्बन्ध में यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि 'अभिधावृत्तिमात्रिका' के
 रचयिता मुकुलमह ने रसकी लक्षणागम्य ही माना है । 'द्वारा मदनेश्वरी' आदि उदाहरण को
 लेकर वे इसमें विप्रलम्भशब्दार्थ की लक्ष्य मानते लिखते हैं:—

'गल्पवाणीचन्द्रसामर्थ्याच्च विप्रलम्भशब्दार्थेषु रसुपादानामिका लक्षणा ।'

(अभिधावृत्तिमात्रिका पृ. २४)

देखा नहीं कहा जा सकता। इसे स्पष्ट करने के लिए हम लक्षणा के प्रसिद्ध उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' लेकर उसकी अर्थ प्रक्रिया की तुलना रसप्रतीति की प्रक्रिया से कर सकते हैं। इससे साफ होगा कि रस रसगान्यावार का विषय है ही नहीं।

१. 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में हम देखते हैं कि 'गङ्गा' का मुख्यार्थ (स्वार्थ, मुख्यार्थ) गङ्गा का स्रोत या गङ्गा का प्रवाह है। किन्तु गङ्गा के स्रोत पर घोष की स्थिति असम्भव है। रस सरह से 'गङ्गा' शब्द रस वाक्य में अपने अर्थ की प्रतीति कराने में असमर्थ है, उसकी गति स्थगित हो जाती है। जब यह अपने स्वार्थ की प्रतीति नहीं करा सकता, तो उस स्वार्थ से सम्बन्ध (अविनाश) गङ्गातट की स्थिति परता है। ठीक वही बात रस के बारे में कहना ठीक नहीं होगा। वाक्य में धर्मित दुष्यन्तादि नायक, तथा वनसे सम्बन्ध विमांशदि ही रस के मत्वानक हैं, यह तो सर्वमान्य है। प्रेक्षी दृष्टा में दुष्यन्तादि के अभिभावक शब्द ही रस के लक्षक ही सकते हैं। जब दुष्यन्तादि शब्दों के द्वारा रस लक्षित होता है, तो लक्षणा के हेतुत्व के अनुसार सबसे पहले दुष्यन्तादि शब्दों के मुख्यार्थ दुष्यन्तादि का ही वाच्य होना आवश्यक ही है। पर नाटकदि में दुष्यन्तादि शब्दों में मुख्यार्थ वाच्य स्वीकार देने से ही बड़ी गड़बड़ी हो जायगी। दुष्यन्तादि शब्द दुष्यन्तादि की प्रतीति कथमपि नहीं कराते, यह तो विरोधी पक्ष की भी मान्य नहीं होगी। अतः स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य के नायकादि शब्द रसलक्षक नहीं हैं। जब ये रसलक्षक नहीं हैं, तो दूसरे अर्थ-लक्ष्यार्थ (रस) की प्रतीति कैसे करायेगे, ये रस की लक्षित कर ही कैसे सकते हैं। साथ ही लक्षणा के प्रयोग में कठि या प्रयोजन का होना भी आवश्यक है, पर यहाँ य तो शब्द रसलक्षक ही हैं, न प्रयोजन ही दिखार देता है।^१

यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि अभिया तथा शुद्धा लक्षणा से रस की प्रतीति न होती है, तो रस को उपचार प्रतीत या गौणी लक्षणा के द्वारा प्रतिपादित मान लिया जाय, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं।^२

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्ति स्मारादा नैवलवाच्यवाचकमादाशब्दुत्पत्तयेतसामस्य-रसिकानां रसास्वादो भवेत् । न च काल्पनिकत्वम्-अभिगमनेन सर्वसहृदयानां रसास्वा-सोद्भूते । अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुनिपयमिच्छन्ति ।

(नित सरह शुद्धा लक्षणा में मुख्यार्थवाच्य, तथोग तथा प्रयोजन कारण होता है, वही

१. लक्षणा के द्वारा पुरीयकक्षाविनिविष्ट स्वार्थार्थ की प्रतीति कराने की चेष्टा करने वाले भाषाओं का संपन्न अभिवाचियों ने वही भाषार पर किया है। वाक्यप्रकाशकार सम्प्रतीति निम्न प्रसिद्ध वाकिका रस सम्बन्ध में उद्धृत की आसवती है, उहाँ-वर्ष्य की (नितसे रस भी सम्मिलित है) उद्धय न मानने के कारण बताये गये हैं:—

२. उद्धय न मुख्य, नाच्यत्र बाभी योगः कसेन चो । न प्रयोजन गेतरिगन् न च शब्द-रसलक्षकः ॥
(काव्यप्रकाश कारिका १२, वृ १०.)

२. प्रभाषर मीमांसक गौणी की अवल्य से वृत्ति मानते हैं, जब कि भाट्ट मीमांसक (तथा ध्वन्यालारादी भी) वही लक्षणा के ही अन्तर्गत मानकर लक्षणा के शुद्धा तथा गौणी, वे दो भेद, उपचाराभिमितत्व तथा उपचार भिमितत्व के आधार पर करते हैं। प्रभाषर मीमांसकों का यह मत प्रतापकरीवकार विधानाथ ने उद्धृत किया है:—

गौणशक्तिर्लक्षणाती भिच्छति प्रभाषरः । तदुच्यते । तस्या लक्षणायाः अन्तर्भावः ।

—प्रतापकरीय (के. पी. त्रिवेदी सं.) पृ. ५४.

तरह गौणी में भी ये तीन कारण अवश्य होते हैं। शुद्ध तथा गौणी का परस्पर प्रमुख भेद यह है कि शुद्ध में तद्योग किन्ही सादृश्यत्र सम्बन्ध (कार्य-कारण, सामीप्य, अज्ञादिभाव आदि सम्बन्ध) के कारण होता है, जब कि गौणी में वह सादृश्य सम्बन्ध पर आप्त होता है। इसी को उपचार भी कहते हैं। जहाँ दो भिन्न पदार्थों के अधिक सादृश्य के कारण उन दोनों में भेदप्रतीति को शिक्षा दिया जाय, उसे उपचार कहते हैं—'अत्यन्त विश्वकलितयो सादृश्या तिम्रयमदिम्ना भेदप्रतीतिस्त्वग्नमुपचारः।' 'मुख चन्द्र' (मुख चन्द्रमा है), गौ वाहीक' (पञ्जाबी बेल है) 'सिंहो माणवक' (बधा शेर है) आदि में मुख तथा चन्द्र, गौ तथा वाहीक माणवक तथा सिंह इन परस्पर अत्यन्त भिन्न पदार्थों में क्रमशः अज्ञादकत्वादि, मोग्ध्यादि, तथा शौर्यादि के सादृश्य के कारण अन्वेष स्थापित कर दिया गया है। यह सादृश्य ही मुख्य वृत्ति के स्थान पर उपचरित वृत्ति का, वाचक शब्द के स्थान पर उपचारक शब्द के प्रयोग का निमित्त तथा प्रयोजन है। प्रयोक्ता 'वाहीक' के साथ 'गौ' का प्रयोग इस निमित्त से करता है कि गौणा को इस बात की प्रतीति हो जाय कि (यह) पञ्जाबी वतना ही मूर्त है, जिनका पशु-बैल।)

हम देखते हैं कि अहाँ कहीं 'सिंहो माणवक' आदि उदाहरणों में गौणी (उपचार) वृत्ति का प्रयोग होता है, वहाँ किसी निमित्त तथा प्रयोजन की स्थिति अवश्य होती है, वहाँ शौर्यादि के सादृश्य की प्रतीति कराना प्रयोजन होता है। यदि किसी सादृश्य की प्रतीति कराना न होता, तो मुख्य के स्थान पर अमुख्य पद का प्रयोग उन्मत्तप्रलपित ही होगा। जब किसी भी अर्थ (माणववादि) का वाचक शब्द विद्यमान है, तो ऐसा कौन होगा जो बिना किसी निमित्त या प्रयोजन के उपचरित शब्द (सिंहवादि) का भी प्रयोग करे? इसादि की उपचारवृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता। जैसे 'सिंहो माणवक' में सिंह तथा माणवक (बधा) में समान शौर्य देखकर उस शौर्य के सादृश्य की प्रतीति कराना, उपचारवृत्ति का प्रयोजन है, वैसे रस तथा काय में भी कोई सादृश्य है तथा उसको प्रतीति कराना वृत्ति को अभीष्ट है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। काय तथा रस में कोई अतिशय सादृश्य है ही नहीं, जब ऐसा सादृश्य ही हो नहीं, तो उसकी प्रतीति कराने का भी प्रयोजन उपरिचित नहीं होता।

अगर विरोधी पक्ष के इस मन को हम मान भी लें कि काव्य रस की प्रतीति अभिप्रायति

१ काव्य में मुख्यार्थबाध होने पर ही तो हम रस को उपचारगम्य मान सकते हैं, पर काव्य में प्रयुक्त पदादि में मुख्यार्थबाध 'स्वच्छन्दस्व' होना ही नहीं है। प्रत्युत मुख्यार्थ से ही रस की प्रतीति तीसरे क्षण में होती है। इसीलिए व्यङ्ग्यार्थ को (रस को भी) गौणीवृत्ति का विषय नहीं माना जा सकता है, इस बात को धनिकार ने इस कारिका में निरूद्ध किया है—
मुख्या वृत्ति परित्यज्य, गुणवृत्त्यर्थदर्शनम्।

यदुदित्य पक्ष तत्र शब्दो नैव हस्तद्वति ॥ (अ-वाहीक उद्योत १ कारिका २०)

इसो को अभिनवगुप्त ने अपने 'लीचन' में ठीक उसी उदाहरण को लेकर स्पष्ट किया है, जिसकी वृत्तिवार धनिक ने ऊपर पूर्वपक्षी के मत में उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने बताया है कि 'सिंहो बट्ट' उदाहरण में भी उपचार के द्वारा 'सिंह' शब्द का अर्थ 'बट्ट' से पटित हो जाता है, किन्तु उसका प्रयोजन—शौर्यादिशब्द की प्रतीति—तो उपचारगम्य माना ही नहीं जा सकता (ठीक वही बात रसके बारे में कही जा सकती है)। उपचार के प्रयोजन को भी उपचारगम्य मानने में तो अनवस्था दोष आ जायगा।

'वदि च सिंहो बट्ट' इति शौर्यादिशब्दे व्यङ्ग्यगतित्यन्ते स्वच्छन्दस्व शब्दस्य, तत्रादि प्रतीति नैव कुर्वादिति किं वा तस्य प्रयोगः। उपचारगम्यप्रतीति चेत्, तत्रापि प्रयोजनान्तर मन्वेभ्यम्। तत्राप्युपचारोऽनवस्था, अथ न तत्र स्वच्छन्दस्वम्।' (को पृ २७६) (मद्रास सं)

के द्वारा कराते हैं, तथा काव्य या काव्योपाद्य शब्द रस के वाचक हैं, तथा रस वाच्यार्थ, ती रस मत की धारणा पर यह भी मानना होगा कि जिस किसी व्यक्ति को उस उस शब्द के साक्षात् सङ्केतित अर्थ का ज्ञान है, उसे रसचर्चणा अवश्य होगी। हम दो आदमियों को ले लेते हैं, दोनों को शब्द तथा उनके मूलार्थ का व्यावहारिक ज्ञान है। उनमें से एक सद्व्यक्त है, दूसरा सद्व्यक्त नहीं है। हम एक काव्य को लेकर उनको सुनाते हैं। वे दोनों काव्य का मुखार्थ समझ लेते हैं। पर सद्व्यक्त व्यक्ति उसके उपनिपद्यभूत रस का भी आनन्द उठाता है, जब कि अशिक्षित व्यक्ति को उस काव्य में कोई आनन्द नहीं आता। यदि रस वाच्यार्थ या मुखार्थ ही होना, तो मूलार्थ को समझने वाले व्यक्ति को भी रसास्वाद होना चाहिये था। पर वास्तविकता यह नहीं है। वाच्यवाचक मात्र मात्र का ज्ञान ही व्यक्त कर ले अशिक्षित व्यक्तियों को रसास्वाद नहीं हो पाता। अतः हम युक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस वाच्यार्थ नहीं है, न काव्य व रस में वाच्यवाचक मात्र ही है।^१

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो काव्योपाद्य शब्दों के द्वारा रस प्रतीति को किसी दूसरे ही रंग से समझाने का प्रयत्न करते हैं। वे लोग रस की वास्तविक मानते हैं। इन लोगों का यह मत है कि कवि अपने काव्य के शब्दों को अपने रचित रस का काल्पनिक सङ्केत मान लेता है। रस प्रकार इन इन शब्दों के प्रयोग से अमुक काव्य में अमुक रस की प्रतीति होगी, ऐसी कहना बर लेना है। पर यह मत भी ठीक नहीं। रस की काल्पनिक नहीं मान सकते। यदि रस काल्पनिक होता, तो फिर उसकी प्रतीति कुछ ही लोगों को ही पाती, किन्तु काव्य के रचयिता कवि को उस व्यवस्था—उस कल्पित सङ्केत का पता है। किन्तु, मिला नहीं है। इस बात में कोई विरोध नहीं कि सभी रसिकों को एक साथ रस का आस्वाद प्राप्त होता है। अतः रस काल्पनिक नहीं है।^२

हम ऊपर के तर्कों के आधार पर कुछ लोग (ध्वनिवादी) रस, अलङ्कार तथा वस्तुरूप (अर्थ का प्रतीयमान) अर्थ की प्रतीति स्वभावस्वरूप नये शब्दस्वाकार (व्यञ्जना शक्ति) के द्वारा मानते हैं, जो वाच्यार्थदि की प्रतीति के किन्च कल्पित अभिधा, लघुत्वा या गी ? शक्ति से सर्वथा भिन्न है।^३

(यहाँ यह बता दिया जाय कि ध्वनिवादी काव्यार्थ के तीन रूप मानते हैं—रस, वस्तु तथा अलङ्कार। रस रूप काव्यार्थ में काव्य में उपाद्य शब्दों का मुखार्थ रत्नादि भाव या आकारदि रस की व्यञ्जना करता है, वह उन्हें सद्व्यक्तव्यय के आस्वाद का विषय बनाता है। वस्तुरूप काव्यार्थ में काव्य का वाच्यार्थ, जो स्वयं वस्तुरूप या अलङ्काररूप होता है, किसी वस्तु की व्यञ्जना करता है। अलङ्काररूप काव्यार्थ में काव्य का वस्तुरूप या अलङ्काररूप वाच्यार्थ, अलङ्कार की व्यञ्जना करता है। वस्तु तथा अलङ्कार व्यञ्जक भी हो सकते हैं, व्यञ्ज्य

१ गिराधरे—शब्दार्थशास्त्रज्ञानमोदधेय—न वेद्यते।

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वदे देव केवलम् ॥ (ध्वन्यालोक काविका १०७)

२ वाच्यार्थ के काल्पनिक मानने के मत की प्रकाशनात् से विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में भी उद्धृत किया है, तथा उसका खण्डन किया है, यद्यपि विश्वनाथ काव्यार्थ के स्थान पर वहाँ 'व्यञ्जयति' का प्रयोग करते हैं—

किञ्च, वस्तुविक्रमादौ तर्जनीतोलेन दशसंख्यादिवत् व्यञ्जयतिव्येवोऽप्यर्थ न भवति।

(साहित्यदर्पण परिच्छेद ६, पृ ३२०)

३ गिराधरे—

तरमात् अभिधातत्त्वव्यञ्जनाभिव्यक्तिरिह शब्दोऽसौ व्यापारी ध्वनयतीत्यनभ्यञ्जनप्रत्यायनात्
वाच्यमनादिसोदरव्ययैरुक्तिरूपकोऽभ्युपगमनात् ॥ (लोचन, पृ. १२५—मद्रास संस्करण)

भी। रस सदा व्यञ्जय ही होता है, उसका व्यञ्जक, वाक्य का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ), वस्तुरूप होगा या अलङ्काररूप। कवर ध्वनिवादी ने बताया है कि प्रतीयमान अर्थ अभिप्राय के द्वारा प्रतीत हो ही नहीं सकता। उसके लिए व्यञ्जना नामक स्यापार की कल्पना करना ही पड़ेगी, इसे स्पष्ट करने के लिए धनिक ने पूर्वपक्षी के मउ की तीन उदाहरणों से स्पष्ट किया है। इन तीनों उदाहरणों का प्रयोग आनन्दवर्धन ने अपने 'आलोक' (ध्वन्यालोक) में किया है। धनिक ने उन्हीं के आधार पर पूर्वपक्ष को स्पष्ट किया है।)

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरवज्ञायमाना कथमिव वाच्या स्यात्, यथा कुमारसम्भव—

‘विश्रुभती शैलसुतापि भावमग्नैः स्फुरद्वालकदम्बकल्पैः ।

साचोकृता चाक्षरेण तस्यौ मुखेन पर्वस्तविलोचनेन ॥’

इत्यादावनुरागजन्यावस्याविरोधानुभाववद्विरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवाशाब्दापि शृ-
ङ्गारप्रतीतिरुदेति, रसान्तरेष्वप्ययमेव न्याय, न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमानैःपि ।

इम वता नुने हैं कि रस की प्रतीति काव्योपास शब्दों के द्वारा नहीं होगी। वह तो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारों के निबन्धन के द्वारा होती है। अतः काव्योपास शब्दों का काव्य का उक्त वाच्यार्थ कैसे माना जा सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हम कुमारसम्भव के सुन्दर सर्ग से निम्न पद्य ले सकते हैं:—

कीमल तथा छोटे चञ्चल करम्ब के समान सुन्दर अङ्गों से भाव को प्रकट करती हुई पार्वती भी, (उस समय, जब कामदेव ने शिव को अपने बाल का स्पर्श बनाया), इधर उधर चञ्चलता से फँके हुए नेत्र वाले सुन्दर मुख से कुञ्ज टेढ़ी होकर बैठी थी।

इस पद्य में शिव विषयक रति भाव के आलम्बन विभावरूप पार्वती का वर्णन किया गया है। पार्वतीरूप विभाव में अनुराग के कारण उत्पन्न अवरथा वाले अनुभावों, अङ्गों का पुलक, नेत्रों का चञ्चलत्व, मुख का साचोकरण आदि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार आलम्बन विभाव (पार्वती) का उसके अनुभावों के साथ वर्णन शृङ्गार ही प्रतीति करा रहा है। यद्यपि यहाँ रति भाव या शृङ्गार रस का वाचक शब्द नहीं है, फिर भी शृङ्गार की प्रतीति उत्पन्न हो ही रही है। यह बात शृङ्गार के बारे में ही नहीं है, दूसरे रसों के विषय में भी लागू होती है।

रस ही नहीं वस्तु या अलङ्कार भी यहाँ प्रतीयमानरूप में प्रतीत होते हैं, वहाँ शब्द के वाचक न होने पर भी उनकी प्रतीति होती ही है। हम वस्तुनाम या अलङ्कारनाम का एक एक उदाहरण ले सकते हैं, यहाँ रस की प्रकृतता नहीं है।

यथा—‘भ्रम घमिभ्र घीसद्यो सो गुणदो अज मारिभो लेण ।

गोदाणइकच्छकुञ्जवासिण्य दरिभ्रघीहेण ॥’

(‘भ्रम धार्मिक विधन्वः स श्राश्य मारितस्तेन ।

गोदावरीजदीकच्छकुञ्ज वासिना दससिद्धेन’)

इत्यादी निषेधप्रतिपत्तिरशाब्दापि व्यञ्जकराकिमूल्ये ।

वस्तुभाव-नीति—

‘हे धार्मिक, अब तुम आनन्द से गोदावरी के तीर पर धूमा करो, अब तुम्हें विन्ता करने की आवश्यकता नहीं। गोदावरी के कटार पर कुञ्ज में रहने वाले बलवान् सिंह ने उस कुत्ते को आज मार बाधा है, (जिसके बर से तुम यहाँ जानेसे बचतावा करते थे)।’

१. धूम्रुं अब निश्चिन्त है धार्मिक गोदातीर

या कुञ्जर की कुञ्ज में मारिभो सिंह गीली ॥ (अनुवाक)

किसी नायिका का उपपत्ति से मिलने का सद्भूतस्थल गीतगरी के तीर का कुछ है। पर एक धार्मिक पुण्यचयन के लिए नहीं जा जाकर अपने चौथेरादि के कार्य में विश्व उपरिगत कर देता है। नायिका उसका अपना होकर के लिए एक कुत्त पाक लेती है, जो तापस को कुछ में आने नहीं देता, उसे भीक कर बराला है। पर धार्मिक भी तो अपनी पूजा आदि धार्मिक क्रिया में विश्व कैसे कर सकता था? यह कुत्ते से नहीं पबराता। उसका पुण्यचयन करना जारी रहता है, और साथ ही हमारे नायक-नायिका का दुर्भाग्य, कि उनका शुभ कार्य सदा रोक दिया जाता है। नायिका इस बड़े धार्मिक से बचने की नई योजना बनाती है। एक दिन वह बड़ी झुंठी से धार्मिक को यह झुंछसबरी सुनाती है कि उसे परेशान करने वाले कुत्ते को गोदातीर के कुछ में रहने वाले शेर ने फाग खाया है, अब धार्मिक को सतने बाधा कुछा नहीं है, इसलिए वह मने से गोदातीर पर भ्रमण करे। पर वाच्य के इस तरह नियमित करने पर भी नायिक का अन्तिमाय यह है, कि इस खबर को सुन कर धार्मिक सधाराम शेर के खाये जाने के डर से नहीं आना छोड़ दें। नायिका के इस वाक्य का अर्थार्थ तो यह है—'बचू, लपर पर भी न रखता, नहीं तो जान खतरे में होगी।' चाहे गाथा में प्रकट रूप में 'वहाँ मने से भ्रमण करो' इस वाक्यरूप विधि का प्रयोग हुआ है, पर अज्ञार्थ 'नहीं कभी न जाना' इस निषेध की प्रतीति करता है। इस प्रकार गाथा में विचित्र वाच्य वस्तु के द्वारा निषेधरूप अज्ञा वस्तु को अज्ञाना कराई गई है।

इस गाथा में निषेध का रसक प्रयोग नहीं है। कान्व में 'नम' (अम) का प्रयोग हुआ है 'न नम' (न अम) का नहीं। इसलिए आम्भिक या वाच्य रूप में तो विपर्यय ही प्रतीत होगा। किन्तु यह सहृदयानुभव शिक है कि यह कुत्ता नायिका अपने चौथेरा का निषेध सधार आइने के कारण धार्मिक का गोदातीर पर जाना पसन्द नहीं करती, तथा कुत्ते के गोदे आने की झुंठी खबर उदा रही है। इसलिए गाथा का निषेधरूप अर्थ पुष्ट हो जाता है। गाथा में निषेधवाचक शब्दों के अभाव के कारण निषेध प्रतीति अशाब्द ही माननी होगी। अतः उसे अन्तिमाविषयक न मान कर, अज्ञाना शक्तिविषयक मानना पड़ेगा।

तयालङ्कारेण्यपि—

‘सावभ्यव्यन्तिपरिपूरितदिक्मुखेऽस्मिन्

स्मेरेऽनुना तप मुषे तरल्यतासि ।

क्षोभं यदेति न यत्रायपि तेन मन्ये

सुभ्यक्तमेव अलशशिरयं पयोधिः’

इत्यादिपु ‘चन्द्रतुल्यं तन्वीपद्मरविन्दम्’ इत्यादिपुपमायलङ्कारप्रतिपत्तिर्न्यप्रकल्प-
विपन्नीति । न चासावर्थापत्तिजन्या-अनुपपद्यमानार्थपेक्षाभावात् । नापि नावयार्थत्वं
व्यङ्ग्यस्य—वृत्तीयकशाविपयत्वात् । तथा हि—‘अम धार्मिक’ इत्यादी पदार्थविषया-
मिथातद्भणप्रयमकशातिमान्तमियासरकसंघर्मात्वाकविधिपिपयथाशयार्थकशातिमान्तवृत्तीय-
कशाकान्तो निषेधात्वा व्यङ्ग्यकलापोऽर्थो व्यङ्ग्यकलापत्यधोना एकुटमेवावभासते, अता
नाशी वाप्यार्थः ।

टीक यही बात अलङ्काररूप प्रतीतमान अर्थ के बारे में कही जा सकती है। जैसे निम्न
व्याख्या में—

हे चञ्चल मेव वाली सुन्दरी, समस्त दिशाओं को अपने लक्षण (सौन्दर्य) की कान्ति
से प्रतीत करने वाले, सुरकारों के द्वार तुम्हारे मुक्त को देख कर भी यह समुद्र विरक्तुल क्षुब्ध

नहीं होता, इस बात को देख कर मैं मानना हूँ कि समुद्र तत्त्व ही जड़राशि (पानी का समूह; मूर्त) है। गुन्गारा मुख पूर्ण चन्द्रमा है। समुद्र-पूणिमा के चन्द्र को देखकर चञ्चलत्व धुम्ब होता ही है। पर गुन्गारे मुखरूपी पूर्णचन्द्र को देख कर उसका धुम्ब नहीं होना उसके 'जड़राशित्व' की पुष्टि कर देता है। गुम जैसी अनिन्ध सन्दरी को देख कर किसका मन चञ्चल न होगा। यदि कोई व्यक्ति चञ्चल न हो, तो वह मेरी समझ में मूर्त है।

इस पद्य में 'नायिका का मुख पूर्ण चन्द्रमा है' इस रूपक अलङ्कार की प्रतीति हो रही है, पर पद्य में इस दृश को पदावली नहीं कि इस अर्थको शाब्दिक वा वाच्य कहा जा सके। अतः इस रूपक अलङ्कार रूप अर्थ को अभिधा का विषय न मान कर व्यञ्जनाप्रतिपाद्य ही मानना ठीक होगा। ऊपर के पद्य में 'नायिका का मुखकमल चन्द्र के समान है' यह उपमादि अलङ्कार की प्रतिपत्ति व्यञ्जना के ही द्वारा होती है।

(कुछ लोग व्यञ्जनार्थ को अर्थापत्तिप्राप्त मान लेते हैं। मीमांसकों ने यथार्थ ज्ञान के साधनरूप प्रमाणों में एक जैसे प्रमाण की व्यवस्था की है। वह प्रमाण अर्थापत्ति कहलाता है। जहाँ वाक्य का अर्थ ठीक नहीं बैठ पाता हो और बाहर से मात्र में प्रयुक्त पदों में अनुपपन्न मान्यता ही, वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा अर्थ की प्रतीति मानी जाती है। उदाहरण के लिए 'मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता' (पीनी देवदत्तों दिवा न मुझे) इस वाक्य में 'देवदत्त कभी खाता ही नहीं' ऐसा अर्थ नहीं ले सकते। क्योंकि वह खाना ही न खाना होता, तो मोटा न रह पाता, पतला हो जाता। इसलिये यहाँ 'अर्थात् वह रात में खाना है' (अर्थात् रात्री मुझे) इस अर्थ की प्रतीति अर्थापत्ति से हो जाती है। इसी तरह से व्यञ्जनार्थ-रसादि-की भी प्रतीति हो ही सकती है यह व्यञ्जनाविरोधी का मूल है।)

जिस तरह 'पीनी देवदत्तों दिवा न मुझे' इस वाक्य का 'देवदत्तविषयक रात्रिमक्षण रूप अर्थ-अर्थापत्ति प्रमाण वेद्य है, ठीक वैसे ही इस भी अर्थापत्ति के द्वारा काव्योपात्त वाक्यों से प्रतीति हो आयगा, यह मत मानना ठीक नहीं। वस्तुतः रसचर्चा अर्थापत्तिवेद्य या अर्थापत्तिजन्य नहीं है। अर्थापत्ति वहाँ ही होगी, जहाँ अर्थ ठीक नहीं बैठता ही। काव्योपात्त शब्दों का वाच्यार्थ तो ठीक बैठ ही जाता है; अतः वहाँ 'अर्थात्' की आपत्ति नहीं करनी पड़ती, रसादि की चर्चा के पूर्व वहाँ अनुपपन्नानर्थत्व होता ही नहीं, रसादि की प्रतीति में, अर्थ ज्ञान ठीक नहीं बैठने पर ही अर्थापत्ति हो सकती है।

व्यञ्जरूप रसादि को वाक्यार्थ भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यञ्ज्य की प्रतीति सदा तीसरे क्षण में होती है, वह एतद्वय कथा का विषय है। हम इसे स्पष्ट करने के लिए कोई भी वाक्य ले सकते हैं। उदाहरण के लिए 'अम धार्मिक' वाली वाक्य ले लें। सबसे पहले इस वाक्य से 'अम' 'धार्मिक' 'विश्वम्' आदि पदों में से प्रत्येक पद का अभिधा शक्ति के द्वारा स्वतन्त्र रूप में वाक्यार्थ प्रतीत होगा। जब काव्योपात्त समस्त पद स्वतन्त्र रूप से वाक्य के पदों की अपनी-अपनी अभिधा से अपना-अपना वाक्यार्थ बता चुकेंगे, तब फिर सारे वाक्य में क्रिया तथा कारक के संसर्ग या अन्य के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होगी। इस तरह वाक्यार्थ तक पहुँचने में दो क्षण लगेंगे। पहले क्षण में, पहले कथा में, शब्द अपने निजी वाक्यार्थ का स्वतन्त्र होकर प्रत्यापन करावेंगे। दूसरे क्षण में, दूसरे कथा में, वे कारक क्रिया के आधार पर (अथवा आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसक्ति के आधार पर) अन्तित होंगे तथा सम्पूर्ण वाक्य फिर वाक्यार्थ की प्रतीति करावेगा। इसके बाद व्यञ्जनार्थ की, रसादि की प्रतीति हो सकेगी। इस तरह व्यञ्जनार्थ सदा एतद्वय कथाविषयक होगा। 'अम धार्मिक' में पहले अम-मलय पद का अर्थ हुआ, फिर सारे वाक्य का 'वहाँ नरर, घूमो, निश्चिन्त होकर घूमो' एव विविध वाक्यार्थ का; तब तीसरे क्षण में जाकर 'वहाँ कभी न जाना' यह निवेद्यरूप

व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो सकेगा। इस तरह यह निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ तृतीय कक्षा का विषय है। यह सर्वमान्य है कि शब्द, बुद्धि तथा वचन एक ही क्षण तक रहते हैं। 'अशुद्धिर्मात्रं विरम्य-
न्यापारम्भात्' इस न्याय के अनुसार पदार्थप्रत्यायक अभिधा केवल वाच्यार्थ तक ही सीमित रहती है। दूसरे क्षण का वाच्यार्थ भी बुद्धि के घात का विषय वही क्षण तक रहता है। तब तीसरे क्षण में बुद्धि ही जिहा अर्थ का ज्ञान होता है वह न तो वाच्यार्थ ही है, न वाक्यार्थ ही। वह इन सब से भिन्न व्याङ्ग्यार्थ है, जिसकी प्रतिपत्ति व्यवसायिक के आधीन है, यह स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता है।^१

ननु च तृतीयवशाद्विषयस्त्वमभ्रयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विष मुक्त्वा' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य। न चात्र व्यञ्जनत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं मेव्यते तात्पर्यादिन्यत्वाद्गुणे। तत्र, स्यार्थस्य द्वितीयवशात्प्रामविधात्तस्य तृतीयकक्षामा-
वात्, तत्र निषेधकत्वात्। तत्र द्वितीयवशात्प्रामविधौ निग्राहकत्वात्सर्गात्तुपपत्ते भ्रष्टरणात्प्रतिरि-
वक्तिर्युक्तस्य विग्रहणनियोगान्मात्रम्।

रसपदार्थेषु च निमित्तप्रतिपत्तिरूपद्वितीयवशात् रसानुगमात्।

इस सम्बन्ध में, तात्पर्य में स्पष्टता का समावेश करने वाला ध्वनिवारी के सम्मुख यह युक्ति रखता है। इस तरह वाक्य से लें 'विष मुक्त्वा मा चारण मुदे मुष्ण'—'बाहे विष खाओ, पर इसके घात कभी न खाना'। इस वाक्य में 'विष मुक्त्वा' (आहर खालो) इसका प्रयोग हुआ है, यहाँ पदार्थ रूप में विषि मा प्रयोग हुआ है, किन्तु पदार्थ का तात्पर्य निषेध रूप में ही है। 'इस शब्द के घात कभी खाना न खाना' वह निषेधरूप वाक्यार्थ तीसरे क्षण में ही प्रतीत होता है। अतः 'विष मुक्त्वा' इस वाक्य को इस बात का उदाहरण माना जा सकता है कि तात्पर्य रूप वाक्यार्थ तृतीय कक्षा का विषय भी हो सकता है। यदि कोई कहे कि यहाँ

१ वाक्यार्थ के विषय में योगात्तर्कों के ही इन्हें। भाट्ट गीर्वाणक यह मानते हैं कि वाक्यार्थ की प्रतीति आराहता, योग्यता तथा सन्निधि के आधार पर वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों के अन्वित होने पर तात्पर्य वृत्ति के द्वारा होता है। तथा यह वाक्यार्थ पदार्थ से तर्पथा भिन्न होता है—'विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थ'। ये लोग सबसे पहले अभिधा के द्वारा पदार्थ (वाच्यार्थ) प्रतीति, तदनन्तर तात्पर्य वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीति मानते हैं। अतः इन्हें अभिहितान्वयवादी कहा जाता है। दूसरे लोग जो प्रभाकर भट्ट के अनुयायी हैं इस वृत्ति को नहीं मानते। वे अभिधा से ही वाक्यार्थ प्रतीति भी मानते हैं। उनके मतानुसार शब्दों के किसी भी अर्थ का उक्त शब्द रूप में ही होता है—पदों का प्रयोग, पदों के स्वतन्त्र वाच्यार्थ का ज्ञान भी वे अवश्यव्यतिरेक से ही करते हैं। 'दिवदत्त गाय लामो, घोड़ा लामो, घोड़ा ले लामो, गाय ले लामो' आदि वाक्यों को चुन कर ही बच्चा भाषा सीखता है, तथा तत्पश्चात् अर्थ का ग्रहण 'आवापोदाप' से करता है। पर बारीकी में पूर्ववत् पर प्रभाकर भी इस वाच्यार्थ रूप वाक्यार्थ के 'सामान्य' तथा 'विशेष' दो रूप मानते मान पचते हैं (देखिये, काव्यप्रकाश अध्याय ५)। इस प्रकार वाक्यार्थ तो दोनों ही मानते हैं, इसमें समानता है। हाँ, उनकी प्रतिपत्ति की सरणि या प्रक्रिया में दोनों सम्प्रदायों में परस्पर भेद है। इन्हीं लोगों के मतानुयायी आलङ्कारिकों में—जिनमें धनञ्जय व धनिक भी शामिल हैं—व्यङ्ग्यार्थ को वाक्यार्थ या तात्पर्य में ही शामिल करने की विद्या की है। यहाँ लोगों का विरोध ऊपर किया गया है। ध्वनिवाच्य के इसी विरोध को धनिक के पूर्वपक्ष के रूप में रचता है।

निवेद्यार्थ रूप अर्थ वाक्यार्थ नहीं है, तो ऐसा खुद व्यञ्जनावारी भी मानेंगे। व्यञ्जनावारी स्वयं ध्वनि को तात्पर्य से भिन्न मानते हैं, तथा यहाँ तात्पर्य है। अतः यहाँ पर व्यञ्जनावारी भी वाक्यार्थ नहीं है, ऐसा न कहेंगे। वे भी यहाँ वाक्यार्थ मानेंगे ही। यदि विरोधिपक्ष, इस तरह से तृतीय कक्षा तक तात्पर्य वृत्ति का विषय तथा वाक्यार्थ माने तो ठीक नहीं। 'विष मुं'व' में पहली कक्षा में 'विष' तथा 'मुं'व' के व्यस्त वर्णों के अर्थ ही प्रतीति होती है। द्वितीय कक्षा में वाक्य अपव्ययित होकर प्रकरणसम्भन अर्थ ही प्रतीति करता है। इसी प्रकारगत अन्विन अर्थ को वाक्यार्थ कहेंगे। इस वाक्य को लेने पर हम देखते हैं कि 'विष खालो' यहाँ तक द्वितीय कक्षा नहीं है। जब तक वाक्यार्थ द्वितीय कक्षा में विश्रान्त नहीं हुआ है, तब तक तृतीय कक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। कहने का तात्पर्य यह है कि 'विष खालो' तक पूर्ण रूप से वाक्य का प्रकरण घटित नहीं हो पाता, विधिरूप अर्थ पूर्ण वाक्यार्थ नहीं होने के कारण अर्थ को आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। इस तरह द्वितीय कक्षा यहाँ समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि तो 'उस शत्रु के घर पर भोजन न करना' इन निवेद्यार्थ रूप वाक्यार्थ पर जाकर विश्रान्त होता है। अतः विषय की प्रतीति द्वितीय कक्षाविषयक ही है। अतः द्वितीय कक्षा के समाप्त होये बिना ही इन निवेद्यार्थ अर्थ में तृतीय कक्षा मानना अनुचित है, उसमें तृतीय कक्षा का सर्वथा अभाव है। प्रकरण के पर्यालोचन से पता चलता है कि इस वाक्य का प्रयोग पिता ने अपने पुत्र के प्रति किया है। द्वितीय कक्षा में वाक्यार्थ शान होने समय जब हम देखते हैं कि यह वाक्य पिता ने पुत्र से कहा है, जो यह कभी नहीं चाहेगा कि उसका पुत्र विष खाके, तो हमें यह पता लगता है कि यहाँ 'मुं'व' किया के साथ 'कती' (एव) तथा कर्म (विष) इव कारकों का अवयव ठीक तरह उपपन्न नहीं होता। क्योंकि यह स्पष्ट है कि पिता का पुत्र के प्रति यह आदेश नहीं है कि 'सचमुच विष खालो,' किन्तु यह कि शत्रु के घर न खाना। इसलिए पूरा अर्थ द्वितीय कक्षा का ही विषय है।

और यह नियम है कि रसादि व्यङ्ग्यार्थ सदा तृतीयकक्षानिविष्ट ही हैं। यह निश्चित है। इस से युक्त वाक्यों में हम देखते हैं कि वाक्यार्थ विभाव, अनुभाव या सञ्चारो परक होता है। विभावार्थ के ध्यान वाली द्वितीय कक्षा में ही रस प्रतीति नहीं हो जानी, क्योंकि विभावार्थ तो रस की व्यञ्जना के साधन हैं, अतः उनका प्राग्भाव होना आवश्यक है। विभावार्थ के साथ साथ ही, द्वितीय कक्षा में ही, रसप्रतिपत्ति कभी नहीं होगी।^१

तदुक्तम्—'अप्रतिष्ठमविभ्रान्त स्वार्थे यापरतामिदम् ।

वाक्य विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ॥

यत्र ह्य स्वार्थविभ्रान्त प्रतिष्ठा तावदागतम् ।

तत्प्रसर्पति तत्र स्यात्सर्वत्र ध्वनिना स्थिति ॥'

इत्येव सर्वत्र रसानां व्याप्यत्वमेव । अस्त्वलङ्कारोस्तु ष्विच्छाध्यत्वं क्षयिष्यत्यतः, तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिप्रतिस्तत्रैव ध्वनिः, अन्यत्र गुणीमूलव्याप्यत्वम् ।

ऐसा कि ध्वनिकार ने कहा भी है —

'जब तक वाक्य अपने अर्थ पर समाप्त नहीं हो पाता, तथा पूरी तरह ठीक नहीं बैठता, तथा किसी दूसरे अर्थ तक अर्थ को उपपन्न करता है; तब तक उस अर्थ तक वाक्य का वाक्यार्थ

१ ध्यान रखिये विभावार्थिकारण से रसरूप कार्य तक पहुँचने का ऋग अर्थोपपन्न भले ही हो पर यहाँ ऋग का सर्वथा अभाव नहीं चाहे बल्कि 'उपपन्नपत्र' के भेदन के सट्टे स्वरित ही। 'उपपन्नपत्रमे'वायेनाकलनात्' ।

माना जायगा। वाक्यार्थ के ठीक न बैठने पर जहाँ कहीं वाक्यार्थ ठीक बैठे वही तब (विपर्यय आदि वाक्यों में निवेपरूप अर्थ तक) तत्परता-आक्यार्थपरता मानी जायगी।

लेकिन जहाँ वाक्य, वाक्यार्थ में आधार समाप्त हो जाता है, तथा अर्थ पूर्णतः प्रतिष्ठित या उपपन्न हो जाता है, और वाक्य किसी अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए फिर से भागी बनना दे, तो ऐसे स्थलों पर वाक्यार्थ ही पहले ही विश्रान्त हो चुका है, अतः यह अन्य अर्थ व्यक्त हो होता है, घने स्थलों पर ध्वनि का ही विषय होता है।

इन कारिकाओं के आधार पर स्पष्ट है कि विभागादि रूप वाक्यार्थ के विश्रान्त होने पर प्रयोग उस व्यक्त हो दे, वाक्यार्थ नहीं। वस्तु तथा अलङ्कार के बारे में दूसरी बात है। वे यहाँ व्यक्त भी होते हैं, वहाँ वाक्य भी, किन्तु उस सदा व्यक्त ही होता है। लेकिन वस्तु तथा अलङ्कार के व्यक्त रूप में भी जहाँ व्यक्तार्थ वाक्यार्थ से प्रधान है, वही ध्वनि होगी, और स्थानों पर वाक्यार्थ के समझ होने पर वाक्यार्थ के प्रधान होने पर व्यक्तार्थ गौण होगा, अतः ये काव्य गुणीभूत व्यक्त ही बखलावेंगे।^१

१. ध्वनिवादी काव्य के तीन भेद करता है:—ध्वनि (उत्तम), गुणीभूत व्यक्त (मध्यम) तथा चित्रकाव्य (अधम) यह भेद व्यक्तार्थ की प्रधानता या अप्रधानता के आधार पर किया जाता है।

(१) ध्वनि काव्य में व्यक्तार्थ वाक्यार्थ से अधिक चमत्कारी तथा प्रधान होता है—
'इदं सुलभं मतिशयिनि व्यक्तये वाक्यात् ध्वनिर्बुधेः बधितः।

श्लोः—

नि श्लेषच्युतचन्दनं रतनतटं निर्मृष्टरामोऽधरो
नेत्रे दूर मनसो पुलकितानी तत्रैवं तनु'।
मिथ्यावादिनि दृति वाक्यवचनरपाश्रयपीडोद्भवे
वाणी स्नातु गिनो गनासि न पुनरतस्यापमस्याग्निकम् ॥

'इ वाक्यों की पीटा न आनने वाली सुडी दृति, तू यहाँ से भावली में नहाने गई थी, वत अधम के पास न गई। तेरे स्तनों के प्रान्त भाग का शारा ही चन्दन फिर गया है, तेरे शर आश की खाली मिट गई है, दोनों चेहों के किनारे अश्रुन रहित हैं, तथा तेरा यह दुर्बल शरीर तो पुलकित हो रहा है।'

यहाँ 'तू उता अधम के पास न गई' इस विधिक्य वाक्यार्थ से 'ये सब चित्र वापी रमान के नहीं है, अथि तू मेरे दिव के साथ रमण करके आई है' यह व्यक्तार्थ प्रतीत होता है, जो काव्य में वाक्यार्थ से प्रधान है। अतः व्यक्तार्थ के वाक्यार्थ से प्रधान होने के कारण यहाँ ध्वनि काव्य है।

(२) गुणीभूत व्यक्त में व्यक्तार्थ वाक्यार्थ से प्रधान नहीं होता।

(अतादृशि गुणीभूतव्यक्त व्यक्तये तु मध्यमम्)

श्लोः—

वाचीरुद्रहृद्गोमसउभिक्रोलद्वलं गुणनीय।
धरतन्मवाववाय बहुय सीशन्ति सहायं ॥
(धामीरुद्रोद्गोमसउभिक्रोलद्वलं शृण्वन्त्या'।
गृहकर्मन्वाप्राताया कथा' सीदन्त्यज्ञानि ॥)

'शैल कुल से उरते पक्षियों के कोलाहल की सुनती हुई, पर के काम में व्यस्त, यह के भक्त विविध हो रहे है।'

तदुक्तम्—'यत्रार्थ शब्दो वा यमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यङ्ग्यं वाच्यविशेषं च ध्वनिरिति सुरभिः कवित ॥

प्रधानेऽन्यत्र वाच्यार्थे यत्राह तु रसादय ।

काव्ये तस्मिन्लङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥'

जैसा कि ध्वनिकर ने कहा है —

'जिस काव्य में शब्द अथवा उसका वाच्यार्थ, अथवा दोनों एक साथ, अपने वाच्यार्थ को तथा स्वयं को गीण बना कर किसी अलौकिक रमणीयता वाले व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यजित करते हैं, उस काव्य को ध्वनि कहा जाता है। मात्र यह है कि ध्वनि काव्य में या तो शब्द अपने वाच्यार्थ को गीण बना कर व्यङ्ग्यार्थ की प्रधान रूप में प्रतीति कराता है, या वाच्यार्थ स्वयं को गीण बना कर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है, या शब्द और अर्थ दोनों एक साथ वाच्यार्थ तथा स्वयं को गीण बना कर व्यङ्ग्य की प्रतीति कराते हैं। (ध्यान रखने की बात है, इतीके आधार शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक, तथा उभयशक्तिमूलक, ये तीन ध्वनिभेद किये जाते हैं।)'

जिस काव्य में वाच्यार्थ (वाच्यार्थ) के प्रधान होने पर, रसादि (रस, वस्तु, या अलङ्कार, अथवा रस, भावादि) उसके अङ्ग बन जाते हैं, उस काव्य में रसादि रसवत् आदि अलङ्कार बन जाते हैं, ऐसा हमारा मत है। (रस स्थलों पर जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अङ्ग हो जाता है, शुणीभूत व्यङ्ग्य नामक काव्य होता है।)'

यथा—'उपोदरागेण' इत्यादि। तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम्, अविवक्षितवाच्योऽप्यत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसकमितवाच्यत्वेति द्विधा। विवक्षितवाच्यश्च असलक्ष्यक्रमः क्रमयोत्पत्तिरिति द्विविधः, तत्र रसादीनामसलक्ष्यक्रमध्वनित्वं प्राधान्येन प्रतिपत्तौ सत्यां ध्वनत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति।

जैसे 'उपोदरागेण' आदि पद्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अङ्ग हो गया है, तथा प्रधानता वाच्यार्थ की ही है। पूरा पद्य यों है —

यहाँ शकुनि कोलाहल सुन कर अङ्गों का शिथिल पद जाना वाच्यार्थ है। प्रवरणादि के वश से शकुनियों के लड़ने के कारणभूत, बेतस कुञ्ज में उपपत्ति के आगमन की व्यङ्ग्यार्थ रूप में प्रतीति हो रही है। यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ प्रथम तो उतना चमत्कारयुक्त नहीं है, जितना कि 'अङ्गों के शिथिल पद जाने वाला' वाच्यार्थ। दूसरे यह व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का साधन बन कर ठोटे स्पष्ट करता है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर ही 'अङ्गों के शिथिल पदने' का अर्थ घटित होगा है। व्यङ्ग्यार्थ यहाँ वाच्यार्थ का उपस्कारक हो गया है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ के अन्वयान (गीण) होने के कारण यहाँ शुणीभूत व्यङ्ग्य है।

(३) चित्रकाव्य में शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार रूप वाच्यार्थ बनना अधिक होता है, कि व्यङ्ग्यार्थ सर्वदा नगण्य बन जाता है, जैसे—

विनिर्गत मानद भात्मन्दिरात् भवत्पुत्रशुभ्य पटुच्छयापि तत् ॥

ससम्भ्रे द्रष्टव्यपातितामंला निमोक्षिताश्रीव भिदाभरावयो ॥

इदमीव के निकलने की खबर सुनते ही इन्द्र अमरावती की अर्गला की बन्द करा देता था, मानो अमरावती दर के मारे आँधे बन्द कर लेती थी। इस अर्थ में उल्लेख रूप अर्थालङ्कार वाला वाच्यार्थ ही प्रधान है, इदमीव की बीरता वाला व्यङ्ग्य नगण्य।

उपोदरागेन विलोकात्तरकं तथा गृहीतं शुधिनो निशानुसृतम् ।

यया समस्तं विभिराद्युक्तं तथा पुरोपि रागात् गलितं न लक्षितम् ॥

'चन्द्रमा के उदय का वर्णन है । उदयकालीन लक्षार्थे लिए चन्द्रमा; पूर्व दिशा में उदित हो रहा है, उसकी किरणों से सारा अन्धकार नष्ट हो गया है । लक्षार्थे (राग) को धारण करने वाले चन्द्रमा ने रात्रि के प्रारम्भिक अंश को, जिसमें तारे शिलमिला रहे थे, उस तरह प्रष्टण किया कि उससे लक्षार्थे (प्रवास) के कारण रात्रि ने अपने सारे अन्धकार सभी वक्ष को किसलवे ही न जाना । एवं प्रस्तुत वाच्यरूप चन्द्रवर्णन के द्वारा कवि ने यहाँ नायक-नायिका-व्यवहार रूप अग्रस्तुत व्यवहार्य की प्रतीति कराई है । यहाँ पर समासोक्ति नामक अन्कार है । व्यवहय रूप में शब्दों के छिष्ट प्रयोग के कारण नायक-नायिका-व्यवहार-समारोप प्रतीत हो रहा है । प्रेम की धारण करते हुए नायक (चन्द्रमा) ने चञ्चल पुतलियों वाले नायिका (रात्रि) के मुख पर उस तरह चूम लिया कि उस नायिका ने प्रेम के आवेश के कारण आगे से गिरते हुए (गलित होते हुए) अपने समस्त वक्ष को भी न जाना । नायक के चूमने पर राग के कारण नायिका के वक्ष पक दम छिपित हो गये, और इस राग के वर्णभूत होने के कारण नायिका जान भी न पाई ।

इस उदाहरण में व्यवहार्य शेष ही है, क्योंकि प्रधानता मस्तुत चन्द्रोदय वर्णनरूप वाच्यार्थ की ही है । अतः यहाँ गुणीभूत व्यवहय ही है । तथा यह व्यवहार्य समासोक्ति रूप अलङ्कार का उपनिबन्धक है ।

इस ध्वनि के सर्वप्रथम दो भेद हैं:—विवक्षितवाच्य (अभिप्रायमूलक), तथा अविबक्षित-वाच्य (लक्षणांमूलक) अविबक्षितवाच्य के भी दो भेद होते हैं:—अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य तथा अर्थान्तर संक्रमितवाच्य । विवक्षितवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम (क्रमवोच्य) के दो भेद होते हैं । जब काव्य में रसार्थ की प्रतिपत्ति प्रधानरूप से हो, असंलक्ष्य क्रम ध्वनि होता है । यदि रसादि अक्षरूप में प्रतीत होते हैं, तो वहाँ ध्वनि नहीं होती, वहाँ पर रसवत् अलङ्कार ही होता है ।^१

१. ध्वनि के मोटे तौर पर १८ भेद माने जाते हैं । इनमें भी पहले पहल लक्षणा के आधार पर दो भेद, तथा अभिप्रा के आधार पर दो भेद होते हैं । इन्हीं क्रमशः अर्थान्तर संक्रमित-वाच्य, अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य, असंलक्ष्यक्रम व्यवहय तथा संलक्ष्यक्रम व्यवहय बड़ा जाता है । ध्वनि के भेदोपभेदों के विशेष प्रपञ्च के लिए ध्वन्यालोक या काव्यप्रकाशादि ग्रन्थ देखें । यहाँ दिव्याक्षरूप में इन चार ध्वनिभेदों को स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा ।

अविबक्षितवाच्य ध्वनि:—जहाँ लक्ष्य पद के द्वारा प्रतीत प्रतीजनरूप व्यवहार्य काव्य में प्रधान हो, वहाँ लक्षणांमूलक अविबक्षितवाच्य ध्वनि होती है । लक्षणा के दो भेद होते हैं:—लक्ष्यलक्षणा तथा उपादान लक्षणा । अतः इन्हीं के आधार इस ध्वनि के भी दो भेद हो जाते हैं । लक्ष्यलक्षणा वाले व्यवहार्य की प्रधानता हो तो वहाँ अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य होगा । उपादान लक्षणा में अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि होगा । इन दोनों के उदाहरण क्रमशः ये हैं:—

(क) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य:—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, शुजनता प्रथिता भनता परम् ।

निदधरीदृश मेव सदा सखे शुक्ति मास्व ततः शरदां शतम् ॥

इस पद्य में किसी अपकारी व्यक्ति के प्रति कहा जा रहा है:—'आपने हमारा बड़ा उपकार किया है, कहीं तक कहीं । आपने बड़ी सज्जनता बताई है । मगजान् करे आप इसी

अनौच्यते—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्त वा यथा क्रिया ।

वाच्यार्थः कारकैर्युक्ता, स्थायीभावंस्तथैतैः ॥ ३७ ॥

ध्वनिवारी के इस पूर्वपक्ष का—मितके अनुसार रस व्यङ्ग्य है, तथा व्यञ्जनाशक्ति प्रतिपाद्य है—लण्डन करते हुए धनःस्य निम्न कारिका में अपने सिद्धान्तपक्ष का अवतरण करते हैं—

किसी वाक्य को सुनकर या पढ़कर उस वाक्य के प्रकरण—वक्ता, श्रोता, वेष, काल आदि का ज्ञान प्राप्त करके, इस प्रकरण के द्वारा हम वाक्य में प्रयुक्त

तरह उपकार करते सैकड़ों वर्ष सुखी रहें।' यहाँ इस वाच्यार्थ के बाद 'आपने हमारा बड़ा उपकार किया है' इस लक्ष्यार्थ के प्रतीत होने पर तृतीयकोटि में व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है जो उस व्यक्ति को नीचता ध्वनित करता है। अत्र यहाँ वाच्यार्थ के पूर्ण, तिरस्कृत हो जाने से अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

(४) अर्थान्तरसामितवाच्यः—

मुल विकसितरिमत्तं बधितवक्रिमप्रचित,
समुच्चलितविभ्रमा गतिरपास्तसत्त्वा मति ।
उरो मुकुलितस्नान जपनमलङ्करीदुरं
बतेन्दुवदनावनौ तरणिमोद्गमो मोदते ॥

यौवन से कुछ किसी नायिका को देखकर, उसके यौवन के नूतन प्रादुर्भाव की स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है। इस चन्द्रमुखी नायिका के शरीर में यौवन का उदय प्रसन्न हो रहा है। यौवन सन्मुख महोभाष्य है कि वह इस चन्द्रमुखी के शरीर में प्रविष्ट हुआ है। इसीलिए यौवन फूला नहीं समाता। यौवन के प्रादुर्भाव के समस्त विद्य इस नायिका में इष्टिगोचर हो रहे हैं। इसके मुख में मुस्कंदादृष्ट विकसित हो रही है। मित तरह फूल के विकसित होने पर अणुण फूट पड़ती है, वैसे ही इसके मुख में अणुण मरी पड़ती है। इससे नायिका पविनी है वह भी व्यञ्जना ही रही है। इसकी आँखों में भोकेपन को भी वषा में कर लिया है। इसकी टेढ़ी चित्रवन सब लोगों को वश में करने की क्षमता रखती है। जब यह चलती है, तो ऐसा जान पड़ता है कि विलास और लीला लड़क पड़ रहे हों। इसमें विलास तथा लीला का प्राचुर्य है। अत्र इतका प्रवेद्य अत्र मनोदुर है। इसकी इति एक जगह रिपर नहीं रहती। यौवन के आगम के कारण इसका मन अत्यधिक अधीर तथा चञ्चल हो गया है। पहले तो भोकेपन के कारण बड़े लोगों के सामने भियतम को देखकर इसकी इति मर्मादित रहती थी, किन्तु अब थैली नहीं रहती। गुरुजनों के सामने अब भी थैली तो मर्माशपूर्ण हो रहती है, पर भियतम को देखकर मन से अधीर हो उठती है। इसके बक्ष-रथ में स्नान मुकुलित हो गये हैं। कली की तरह वे स्नान भी कठिन है तथा आलिङ्गन योग्य है। इसके जपनरथ के अवयव उम्भर आये हैं। इनका अत्यधिक रमणीय हो गया है, इन सब बाधा को देखकर यह जान पड़ता है कि नायिका ने यौवन में पदार्पण कर लिया है।

यहाँ 'मोदते' 'विकसित' 'बधित' 'समुच्चलित' 'मुकुलित' आदि शब्दों का लक्षणात्मक प्रयोग हुआ है। इनसे यौवन का नायिका को पाकर अपने आपको सीमाव्यशाली समझना, मुख का सुप्रस्थित होना, आदि आदि ब्यङ्ग्यार्थों की प्रतीति होती है, जिन्हें ऊपर पद्य की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ के पद अपने वाच्यार्थ को रखते हुए लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराकर ब्यङ्ग्यार्थ प्रतिपाद्य करते हैं।

कारकों की सहायता से वाक्य में सापवाद उपात्त शब्द के वाच्यार्थ के रूप में किया जा
ज्ञान प्राप्त करते हैं। कभी कभी वाक्य में क्रिया का सापत्य शब्द उपात्त नहीं
होता, फिर भी प्रकरणात्पूर्व क्रिया का (बुद्धिस्थ क्रिया का) अभ्याहार कर ही लिया
जाता है। इस प्रकार वाक्य में चाहे क्रिया वाच्य हो, या बुद्धिस्थ हो, वही वाक्य का
वाच्यार्थ है। ठीक इसी तरह विभाजानुभाव्यमिचारी के द्वारा श्यामी भाव काव्य के
वाच्यार्थ (तात्पर्य) के रूप में प्रतीत होता है। श्यामी भाव की वाक्य में बुद्धिस्थ
क्रिया की भांति वाच्य न होकर प्रकरण सयध है।

यथा लौकिकान्तेषु धूमनाग्नियेषु 'गामभ्याज' इत्यादियु अभ्युमानक्रियेषु च—
'द्वारं द्वारम्' इत्यादियु स्तराच्छोपादानात्प्रकरणादिवशाद्बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारको-
पचिता द्यव्येवपि कश्चित् स्वच्छन्दोपादानात् 'प्रोत्थे' नवोडा प्रिया' इत्येवमादौ कश्चिन्न
प्रकरणादिवशाद्विद्यतामिदितिविभावाद्यविनाभावान्ना साक्षात्प्रकचेतसि विपरिवर्तमानो
रस्यादि' श्यामी स्वस्वविभावात्नुभाव्यमिचारीमिस्तत्तच्छब्दोपनीते चस्कारपरम्परया
परं प्रौढिमाणीयमानो रस्यादिर्वाक्यार्थः ।

इस देखते हैं कि किसी भी लौकिक वाक्य में दो प्रकार के पदों का प्रयोग होता है, एक
कारक पद, दूसरे क्रिया पद। वही को सर्वहरि तथा दूसरे नेगाकरणों ने सिद्ध पद तथा साप्य
पद कहा है। वाच्य का तात्पर्य यही होगा, जो अभी तक सिद्ध नहीं है, किन्तु साध्य ही है।
अतः क्रिया में दो वाक्य का तात्पर्य निहित होता है। किसी भी वाक्य में क्रियात्मक वाच्यार्थ
(तात्पर्य) का होना आवश्यक है, चाहे उस क्रिया के वाचक शब्द का प्रयोग वाक्य में हुआ
हो या न हुआ हो। उदाहरण के लिए हम दो लौकिक वाक्यों की लेते हैं, एक में क्रिया वाच्य

विवक्षितवाच्य—जहाँ अभिधा द्वारा प्रतीत वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति कराता हो,
वहाँ विवक्षितवाच्य ध्वनि होगा। इसके प्रक्रिया के आधार पर दो भेद होते हैं। एक में
वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित होता है, दूसरे (रसादि) में यह 'शतपत्र
पत्रभेदन्त्याय' से अर्तुलक्ष्य होता है। इस तरह इसके संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य तथा अर्तुलक्ष्यक्रम
व्यङ्ग्य ही भेद होते हैं। इसके हम हिन्दी काव्य से दो उदाहरण दे रहे हैं।

(ग) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—

पत्रादी तिथि पारये वा घर के चहुँदास ।

निहत मति पून्वी ही रहत, आनन ओप रजास ॥

यहाँ वाच्य रूप वस्तु से 'नाथिका गुरु पूर्ण चन्द्र है' इस अलङ्कार (रूपक अलङ्कार) की
व्यङ्ग्यार्थप्रतीति हो रही है। यहाँ वस्तुरूप वाच्यार्थ से रूपक अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ तक का
क्रम अच्छी तरह लक्षित हो जाता है।

(घ) अर्तुलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—

सपन कुञ्ज छाया सुखद सीतल छत्रमि समीर ।

सुन ही ज्वर अजो बड़े, वा समुना के तीर ॥

यहाँ वाच्यार्थ के द्वारा विमलम्ब शब्दार्थ की व्यञ्जना ही रही है। वाच्यार्थ स्मृति तथा
गीतगुणवनामक सञ्चारिभावों की प्रतीति कराकर उनके द्वारा विमलम्ब शब्दार्थ की अभिव्यञ्जना
कराता है। वाच्यार्थ से इस रसरूप व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित नहीं है। अतः यहाँ
अर्तुलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि है।

ध्यान रखिये, इन चारों उदाहरणों में व्यङ्ग्यार्थ ही वाच्यार्थ से प्रचल है, अतः ध्वनि
काव्य है। ऐसा न होने पर काव्य में ध्वनित नहीं हो जाता, वह शुभोन्मत् व्यङ्ग्य ही जाता है।

है, श्रुयमाण है, दूसरे में वह केवल बुद्धिरूप है, प्रकरणविषय है। 'गा मभ्यात्र' (गा के जावो) इस वाक्य में या ऐसे ही दूसरे लौकिक वाक्यों में 'अभ्यात्र' आदि क्रिया श्रुयमाण है, वत्ता इस क्रिया के वाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग करता है, तथा श्रोता को वह शब्द वर्षशकुली के द्वारा सुनाई देता है। दूसरे वाक्यों में क्रिया का साक्षात् उपादान न भी पाया जाय, जैसे 'दार दार' इस वाक्य में क्रिया श्रुयमाण नहीं है, वत्ता उसका साक्षात् प्रयोग नहीं करता पर प्रकरणवत् 'दरवाना खोलो' या 'दरवाना बंद करो' अर्थ लिया जा सकता है। दोनों ही वाक्यों में पादे शब्द का प्रयोग हो, पादे प्रकरण के द्वारा ही क्रिया बुद्धिरूप हो जाय, दोनों स्थानों पर कारकों के द्वारा पुष्ट होकर क्रिया ही वाच्यार्थ का रूप धारण करती है। कारकपरिपुष्ट क्रिया ही वाच्यार्थ या वाक्य का सात्वत्य है।

ठीक यही बात काव्य के विषय में लागू होती है। काव्य में कभी कभी तो रत्यादि भाव के वाचक शब्दों का साक्षात् प्रयोग पाया जाता है, जैसे 'प्रीत्यै नवोद्य प्रिया' जैसे उदाहरणों में रति भाव के वाचक शब्द (प्रीत्यै) का साक्षात् उपादान पाया जाता है। दूसरे उदाहरणों में जो शब्द रस वा रति भाव के प्रतिपादक हैं, ऐसे शब्दों का उपादान नहीं हो सकता है। ऐसे काव्यों में प्रकरण आदि के आधार पर ही काव्य के द्वारा वाच्यरूप में उपात्त (अभिहित) विभाव, अनुभाव, तथा सञ्चारी भावों के साथ स्थायी भाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण, रत्यादि स्थायी भाव सङ्घट्ट के चित्त में ठीक उसी तरह स्फुरित होने लगना है, जैसे प्रकरणादि के कारण किसी वाक्य में प्रयुक्त कारकादि के द्वारा उनसे अविनाभाववत्ता सम्बन्ध क्रिया की प्रतिरिचि होती है। इन रत्यादि स्थायी भावों के तत्त्व विभावों, अनुभावों या सञ्चारियों का तो काव्य में साक्षात् शब्द से उपादान होता है, ये तो साक्षात् वाच्यरूप में प्रतिपन्न होते ही हैं, ये सङ्कार परम्परा के कारण, विभावों के पूर्वानुभव के आधार पर रत्यादि स्थायी भाव की पुष्ट करते हैं। इस प्रकार काव्य में वाच्यरूप में उपात्त विभावादि के द्वारा प्रतीत, काव्य में वाच्यरूप से उपात्त अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिरूप रूप में प्रतीत रत्यादि स्थायी भाव, किसी व्यञ्जना वैशि कल्पित शक्ति का विषय न होकर, काव्य का सात्वतिक वाच्यार्थ ही है।

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्-कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः । तथा हि-पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्-अतः प्रकरणवत्पुनरादेश्यत्वाद्दुन्मत्तादिवाक्यवत् । काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलम्भे स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावदिसंघट्टस्य स्यादिति एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधान-शक्तिस्तैः तैः रसेनाऽऽकृष्यमाणा सत्सास्वार्थपेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तासंज्ञेयौ रत्यादिर्वाक्यार्थः । तदेतत्काव्यवाक्यं यदोयं ताविमौ, पदार्थवाक्यार्थौ ।

रत्यादि प्रतीतमान अर्थ वाक्य में प्रयुक्त पदों के वाच्यार्थ तो है ही नहीं, अतः अश्रुयमाण पदों वाले अर्थ को वाच्यार्थ कैसे माना जा सकता है। वाक्य तो पदों का सङ्गण है, अतः पदों के वाच्यार्थों का समूह ही वाच्यार्थ कहा जा सकता है। ऐसी दशा में 'अम धार्मिक' आदि उदाहरणों में निवेदकाधी पद के न होने से निवेद को पदार्थ भाव के कारण वाच्यार्थ नहीं माना जाना चाहिए। ठीक यही बात रस के विषय में कही जा सकती है। यदि पूर्ववर्ती इस प्रकार की दलील दे, तो ठीक नहीं। अपदार्थ रसादि की वाच्यार्थ नहीं माना जा सकता, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान वत्ता के प्रयोजन (कार्य) तक रहत

है। जिस प्रकार अभिधा शक्ति का साध्य वाच्यार्थ है, तद्वत्ता शक्ति वा साध्य लक्ष्यार्थ है, ठीक वैसे ही तात्पर्य शक्ति वक्ता के कार्य को प्रतिपादित करती है। अतः जहाँ तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा, वहीं तक सात्पर्यशक्ति का श्रेय होगा। यदि वक्ता का कार्य 'निषेधरूप' है, यदि वक्ता को निषेधार्थ ही समीष्ट है तो तात्पर्य शक्ति की सीमा वहीं तक मानी जायगी, उसका प्रयोजन करने के बाद ही सात्पर्य शक्ति हीन होगी। संसार में जितने वाक्यों का प्रयोग होता है, चाहे वे भौतिक भाषा के वाक्य हों, या वैदिक वाक्य हों, किसी कार्य को लेकर आते हैं, उस प्रयोजन को सिद्धि ही उस वाक्य का लक्ष्य होता है। यदि वाक्य में कोई कार्य या प्रयोजन न होगा, तो सम्बन्ध प्ररूपित की तरह उस वाक्य का लौकिक उपयोग न हो सकेगा। वाच्यहीन वाक्य या प्रयोग करने पर वक्ता, श्रोता को किसी प्रकार के भाव की प्रतिपत्ति न करा सकेगा, वह सम्बन्धमत्ताप के समान निरर्थक ध्वनिसमूह (न कि वाक्य) होगा। अतः स्पष्ट है कि किसी भी लौकिक या वैदिक वाक्य में कार्यपरत्व होना आवश्यक है।

काव्य में शब्दों के द्वारा विभावादि अर्थ की प्रतीति होती है, तथा विभावादि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति कराते हैं। ऐसी दशा में काव्य के शब्दों (काव्य में मयुक्त वाक्य) का विभावादि रूप अर्थ से अन्वय व्यतिरेक रूप^१ सम्बन्ध है। यदि काव्य में तदभिप्रायक शब्दों का प्रयोग होना तो विभावादि की प्रतीति होगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्दादि ही विभावादि की प्रतीति कराते हैं। इन काव्योपात्त शब्दों या विभावादि में ही निरतिशय सुख का आनन्द-रस रूप लौकिक आनन्द की पर्यन्ता—नहीं पाया जाना, अपितु वह 'रस' इनका प्रतिपादक है। इस प्रकार काव्यमयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति, उनका प्रयोग, विभावादि स्थायी भाव एवं रस के लिए होता है। इनमें भी विभावादि स्थायी भाव तथा रस के प्रतिपादक है, रस व भाव उनके प्रतिपादक। काव्य, काव्योपात्तशब्द, विभावादि, तथा स्थायी भाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध की पर्यालोचना करने पर काव्यरूप वाक्य का हमें केवल एक ही भाव अर्थात् प्रयोजन दिखाई पड़ता है, वह है सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति करना। इस प्रयोजन के अतिरिक्त काव्य का और कोई प्रयोजन दिखाई नहीं पड़ता, अन्य किसी भी काव्यप्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए आनन्दोद्भूति की ही काव्य का कार्य माना जायगा। यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायी के ही कारण होती है। काव्य में विभावादि से युक्त स्थायी भाव की पर्यालोचना करने पर ही सहृदय की आनन्द की प्रतीति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यमयुक्त वाक्य की प्रतिपादक शक्ति (तात्पर्य शक्ति) काव्य के प्रतिपादक वस्तु रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्य रूप रस वस्तु शक्ति को क्रियमाण होने की बाध्य करता है। इसलिये वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्व साधनों की आवश्यकता होती है, तथा उन विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही वह शक्ति रस की प्रतीति करा कर पर्यवसित होती है। रस प्रतीति की सरणि में काव्यमयुक्त पदों के अर्थ (पदार्थ) विभावादि हैं, तथा इन विभावादि से संसृष्ट (त्यादि स्थायी भाव काव्य का वाच्यार्थ है। इस प्रकार वह काव्यवाक्य ही है, जिसके विभाव पदार्थ हैं, और स्थायी भाव वाच्यार्थ। (अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति व्यवहृत न होकर, काव्य वा वाच्यार्थ है, तथा उसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक अविषय शक्ति का विषय न होकर, तात्पर्यशक्ति का लक्ष्य है।)

१. एक वस्तु के होने पर, दूसरी वस्तु का होना, तथा एक के अभाव में, दूसरी वस्तु का न रहना, अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध कहलाता है। (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं अन्वयः, तदभावे तदभावः व्यतिरेकः।)

है, अथवाग है, दूसरे में वह केवल बुद्धिस्थ है, प्रवणवेष है। 'गा मन्वाज' (गा ले जानी) रस वाक्य में या ऐसे ही दूसरे लौकिक वाक्यों में 'अम्वाज' आदि क्रिया अथवाग है, वक्ता रस क्रिया के वाचक शब्द का साक्षात् प्रयोग करता है, तथा श्लोक को वह शब्द वर्णशब्दको के द्वारा सुनाई देता है। दूसरे वाक्यों में क्रिया का साक्षात् उपादान न भी पाया जाय, जैसे 'द्वार द्वार' रस वाक्य में क्रिया अथवाग नहीं है, वक्ता उसका साक्षात् प्रयोग नहीं करता पर प्रकरणवश 'दरवाजा खोलो' या 'दरवाजा बंद करो' अर्थ लिया जा सकता है। दोनों ही वाक्यों में चाहे शब्द का प्रयोग हो, चाहे प्रकरण के द्वारा ही क्रिया बुद्धिस्थ हो जाय, दोनों स्थानों पर कारकों के द्वारा पुष्ट होकर क्रिया ही वाक्यार्थ का रूप धारण करती है। कारकपरिपुष्ट क्रिया ही वाक्यार्थ या वाक्य का तात्पर्य है।

ठीक यही बात काव्य के विषय में लागू होती है। काव्य में कभी कभी ही रत्यादि भाव के वाचक शब्दों का साक्षात् प्रयोग पाया जाता है, जैसे 'प्रीत्यै नवोदा मिया' जैसे उदाहरणों में रति भाव के वाचक शब्द (प्रीत्यै) का साक्षात् उपादान पाया जाता है। दूसरे उदाहरणों में जो शब्द रस धारण भाव के प्रतिपादक हैं, ऐसे शब्दों का उपादान नहीं भी हो सकता है। ऐसे काव्यों में प्रकरण आदि के आधार पर ही काव्य के द्वारा वाच्यरूप में उपात्त (अभिहित) विभाव, अनुभाव, तथा सञ्चारी भावों के साथ स्थायी भाव का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण, रत्यादि स्थायी भाव सद्बुद्ध के चित्त में ठीक वही तरह स्फुरित होने लगता है, जैसे प्रकृत्यादि के कारण किसी वाक्य में प्रयुक्त कारकादि के द्वारा उनसे अविनाभावतया सम्बन्ध क्रिया की प्रतिपत्ति होती है। इन रत्यादि स्थायी भावों के तत्पद विभावों, अनुभावों या सञ्चारियों का ही काव्य में साक्षात् शब्द से उपादान होता है, ये ही साक्षात् वाच्यरूप में प्रतिपन्न होते हैं, ये सस्कार परम्परा के कारण, विभावों के पूर्वानुभव के आधार पर रत्यादि स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार काव्य में वाच्यरूप में उपात्त विभावादि के द्वारा प्रतीत, काव्य में वाच्यरूप से उपात्त भववा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ रूप में प्रतीत रत्यादि स्थायी भाव, किसी व्यञ्जना जैसी कल्पित शक्ति का विषय न होकर, काव्य का वास्तविक वाक्यार्थ ही है।

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्-कार्यपर्यवसावित्वात्तत्पर्यवशकं । तथा हि-पौरुषेयमपौरुषेय वाक्यं सर्वं कार्यपरम्-अतस्परस्तेऽनुपादेयत्वाद्बुद्धिस्तत्प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यरवेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंस्पृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधान-शक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितवान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायिताम्नानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तरसस्पृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः । तदेतच्छब्दवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ ।

रत्यादि प्रतीतमान अर्थ वाक्य में प्रयुक्त पदों के वाक्यार्थ तो है ही नहीं, अतः अथवाग पदों वाले अर्थ को वाक्यार्थ कैसे माना जा सकता है। वाक्य ही पदों का सङ्घटन है, अतः पदों के वाक्यार्थों का समूह ही वाक्यार्थ कहा जा सकता है। ऐसी दशा में 'अन्न भूमिक' आदि उदाहरणों में निषेधवाची पद के न होने से निषेध को पदार्थ भाव के कारण वाक्यार्थ नहीं माना जाना चाहिये। ठीक यही बात रस के विषय में कही जा सकती है। यदि पूर्ववर्ती रस प्रकाश की बल्लो दे, तो ठीक नहीं। अपरार्थ रत्यादि की वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता, यह कदाही ठीक नहीं है। क्योंकि तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान वक्ता के प्रदीपन (कार्य) तक रहत

है। जिस प्रकार अभिधा शक्ति का साध्य वाच्यार्थ है, लक्षणा शक्ति का साध्य लक्ष्यार्थ है, ठीक वैसे ही तात्पर्य शक्ति वक्ता के कार्य को प्रतिपादित करती है। अतः जहाँ तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा, वहीं तक तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र होगा। यदि वक्ता का कार्य 'निवेशरूप' है, यदि वक्ता को निवेशार्थ ही अभीष्ट है तो तात्पर्य शक्ति ही सीमा यहाँ तक मानी जायगी, वसना घोरन कराने के बाद ही तात्पर्य शक्ति क्षीण होगी। संसार में मिलने वाले वाक्यों का प्रयोग होता है, चाहे वे लौकिक भाषा के वाक्य हों, या वैदिक वाक्य हों, किसी कार्य को लेकर आते हैं, उस प्रयोजन की सिद्धि ही उस वाक्य का लक्ष्य होता है। यदि वाक्य में कोई कार्य या प्रयोजन न होगा, तो उन्नत प्रलपित की तरह उस वाक्य का लौकिक उपयोग न हो सकेगा। कार्यहीन वाक्य का प्रयोग करने पर वक्ता, श्रोता को किसी प्रकार के भाव की प्रतिपत्ति न कर सकेगा, वह सम्मत्प्रत्यय के समान निरर्थक स्वनिर्गम्य (न कि वाक्य) होगा। अतः स्पष्ट है कि किसी भी लौकिक या वैदिक वाक्य में कार्यपरत्व होना आवश्यक है।

काव्य में शब्दों के द्वारा विभावादि अर्थ की प्रतीति होगी है, तथा विभावादि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति कराते हैं। पेशी दशा में काव्य के शब्दों (काव्य में प्रयुक्त वाक्य) का विभावादि रूप अर्थ से अन्वय स्वतिरेक रूप^१ सम्बन्ध है। यदि काव्य में तदभिधायक शब्दों का प्रयोग होगा तो विभावादि की प्रतीति होगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार काव्योपात्त शब्दादि ही विभावादि की प्रतीति कराते हैं। इन काव्योपात्त शब्दों या विभावादि में ही निराविशय ध्रुव का आस्वाद-रस रूप अलौकिक आनन्द की चर्चण—नहीं पाया जाता, अशुद्ध वह 'रस' इत्यादि प्रतिपाद्य है। इस प्रकार काव्यप्रयुक्त शब्दों की प्रकृति, उनका प्रयोग, विभावादि स्थायी भाव एवं रस के लिए होता है। इनमें भी विभावादि स्थायी भाव तथा रस के प्रतिपादक हैं, रस व भाव उनके प्रतिपाद्य। काव्य, काव्योपात्तशब्द, विभावादि, तथा स्थायी भाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध की पर्यालोचना करने पर काव्यरूप वाक्य का हमें केवल एक ही कार्य अथवा प्रयोजन दिखार पड़ता है, वह है सद्बुद्ध के चित्त में आनन्दोद्भूति करना। इस प्रयोजन के अतिरिक्त काव्य का और कोई प्रयोजन दिखार नहीं पड़ता, अन्य किसी भी काव्यप्रयोजन की उपलक्षि नहीं होती, इसलिये आनन्दोद्भूति को ही काव्य का कार्य माना जायगा। यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायी के ही कारण होती है। काव्य में विभावादि से युक्त स्थायी भाव की पर्यालोचना करने पर ही सद्बुद्ध की आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यप्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादक शक्ति (तात्पर्य शक्ति) काव्य के प्रतिपाद्य तत्त्व रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्य रूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने को वाच्य करता है। इसलिये वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्य तापनों की आवश्यकता होती है, तथा उन विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही वह शक्ति रस की प्रतीति करा कर पर्यवेक्षित होती है। रस प्रतीति की सर्गि में काव्यप्रयुक्त शब्दों के अर्थ (परार्थ) विभावादि हैं, तथा इन विभावादि से संसृष्ट रत्यादि स्थायी भाव काव्य का वाच्यार्थ है। इस प्रकार वह काव्यवाक्य ही है, जिसके विभाव परार्थ हैं, और स्थायी भाव वाच्यार्थ। (अतः स्पष्ट है कि स्थायी भाव तथा रस की प्रतीति व्यङ्ग्य न होकर, काव्य का वाच्यार्थ है, तथा उसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक वरिष्ठ शक्ति का विषय न होकर, तात्पर्यशक्ति का क्षेत्र है।)

१. एक वस्तु के होने पर, दूसरी वस्तु का होना, तथा एक के अभाव में, दूसरी वस्तु का न रहना, अन्वयस्वतिरेक सम्बन्ध कहलाया है। (तत्सम्बन्धे तत्सत्त्वं अन्वयः, तदभावे तदभावः स्वतिरेकः।)

न चैवं सति गीतादिवस्तुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगं विशिष्टविभावा-
दिसामग्रीविदुषानेव तथाविधरत्यादिभाजनभावतामेव स्वानन्दोद्भूते, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि
निरस्त ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिवर्तिताभिधादिशास्त्रिशेषैव समस्तवाक्यार्था-
वगते शक्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः यथाचोचाम काव्यनिर्णये—

हम देखते हैं कि गीतादि के प्रवण के बाद सुख (आनन्द) उत्पन्न होता है। पर गीतादि
उस सुख के वाचक नहीं, न वह सुख गीतादि का वाच्य ही। ठीक वही तरह काव्य तथा
उससे प्राप्त सुख (निरतिशय आनन्दरूप रस) के बारे में कहा जा सकता है। अतः काव्य
तथा रस के विषय वाच्यवाचक भाव का उपयोग नहीं हो पाता। यदि पूर्वपक्षी ऐसी युक्ति दे,
तो ठीक नहीं। गीतादि तथा तज्जनित सुख वाला इष्टान्त काव्य तथा रस के बारे में देना
ठीक नहीं होगा। हम देखते हैं कि काव्य से प्रत्येक व्यक्ति को रस प्रतीति नहीं होती। जो
छोग विशिष्ट विभावादि सामग्री का ज्ञान रखते हैं, तथा उस प्रकार के रत्यादि भाव की
भावना से युक्त हैं, केवल वही सद्दियों के हृदय में काव्य को धुन कर तत्पद रसपरक
आनन्द की प्रतीति होती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन विभावादि के ज्ञान से
रहित तथा रत्यादि भावों की भावना से शून्य, अस्तिकों को आनन्द की प्रतीति नहीं होती।

इस प्रकार हमें पता चलना है कि रस के वाक्यार्थ रूप में निरूपित कर देने पर अब तक
दासनिर्णय तथा आलङ्कारिकों द्वारा स्वीकृत अभिधा आदि (तात्पर्यशक्ति, लक्षणा) शक्ति के
द्वारा ही समस्त भूयमाणपदार्थ या अभूयमाणपदार्थ की प्रतीति हो ही जाती है। इसलिए
व्यञ्जना जैसी अलग से शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयत्न है। इसी बात को हम काव्यनिर्णय^१
नामक दूसरे ग्रन्थ में बता चुके हैं।

‘तात्पर्यान्तिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः’।

स्मिपुं स्याद्भुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १॥

धनिक ने काव्यनिर्णय से उद्धृत इन कारिकाओं में से प्रथम पाँच कारिकाओं में व्यञ्जनावारी
पूर्वपक्ष की उद्धृत किया है, तथा बाद की दो कारिकाओं में सिद्धान्तपक्ष की प्रतिष्ठापना की
है। इनमें भी चतुर्थ कारिका में धनिक का सिद्धान्तपक्ष वादविवाद के रूप में आ गया है।
अतः १, २, ३ तथा ५ कारिका में ही पूर्वपक्ष है।

व्यञ्जना तथा ध्वनि के विरोधियों का कहना है कि ‘काव्य में प्रतीयमान या व्यञ्जनीय अर्थ
का सम्बन्ध तात्पर्य में ही हो जाता है’ इसलिए प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्यशक्ति के
द्वारा ही हो जाती है, फिर इसके लिए व्यञ्जना जैसी शक्ति की कल्पना, या इस प्रतीयमान
अर्थ को ध्वनि कहना ठीक नहीं। इन ध्वनिविरोधियों से हम पूछना चाहते हैं कि
यहाँ बला का तात्पर्य भूयमाण नहीं है, उसका काव्य में साक्षात् प्रयोग नहीं हुआ है, पर
फिर भी अन्योक्ति के कारण प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना हो ही रही है, ऐसे स्थलों पर अशुभ-
पदार्थ में वाक्यार्थ (तात्पर्य) कैसे माना जा सकेगा। (जैसे ‘बन्धु भो कथयामि देवदत्तकं
मां किञ्चि शाखोटक’ आदि पूर्वोदाहरण पद्य को के लीजिये) इस पद्य में कहने वाला कवि शाखोटक
जैसे जड़ वृक्ष के निर्बैद का वर्णन कर रहा है। यहाँ कवि की दृष्ट्या में तात्पर्य ही सकता है,
शाखोटक के निर्बैद में नहीं है, क्योंकि यहाँ बला का प्रयोजन नहीं है। इसलिए व्यङ्ग्यार्थ का

१ धनिक ने दशरूपक की ‘अवलोक’ वृत्ति के अतिरिक्त ‘काव्यनिर्णय’ नामक अलङ्कार-
ग्रन्थ की रचना की थी। किन्तु वेद का विषय है कि धनिक का काव्यनिर्णय अनुपलब्ध है।
काव्यनिर्णय में धनिक ने व्यञ्जनाशक्ति का विशेष रूप से खण्डन किया था, इसका पता इस
वृत्ति में उद्धृत काव्यनिर्णय की कारिकाओं से चलता है।

तात्पर्य में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। व्यर्थता को अनेक हीन पर ध्वनि की भी सिद्धि हो ही जाती है।)

विषयं मध्यम पूर्वो यथैवं परगुतादिषु ।

प्रसज्यते प्रधानत्वाद्भिनित्वं केन धार्यते ॥ २ ॥

तात्पर्यवाची 'विषयं मध्यम, मा आस्य गृहे मुद्रुषा' (विषय लाओ, इसके घर मौजम न गरी) इस वाक्य के आधार पर व्यर्थता तथा ध्वनि का समावेश तात्पर्य अर्थ के अर्थ में करते हैं। उनका कहना है कि प्रत्यक्षता के बाद वक्ता के विचारों द्वितीय होने पर 'गृह लाओ' वाक्य विषयार्थ ठीक नहीं बैठता, क्योंकि कोई बिना या गिन पुत्रगिणादि से यह न पड़ेगा। अतः उसका निषेधार्थक अर्थ लेना पड़ेगा। यह निषेधार्थ अमूर्तमानपद है, तथा ध्वनिवादी भी यहाँ तात्पर्य मानना ही है। प्रतीयमान रसादि भी ठीक वही तरह अमूर्तमानपद है; तथा ये तात्पर्य (वाक्यार्थ) ही माने जाने चाहिये। इस ध्वनिविरोधी मत की दलील का उद्घार देते हुए ध्वनिवादी कहता है कि जो अमूर्तमानपदादि में व्यय रोगता धर्य मानते हैं, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'विषयं मध्यम' इस वाक्य से प्रतीय अर्थ विसृष्टता मवोग पुत्रादि के लिए किया गया है, यहाँ भी 'गृह लाओ' से ही उक्त अर्थ मोजम है। यह प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यअर्थ के द्वारा मवीत नहीं हो पाता, अतः यहाँ ध्वनि ही है तथा उसकी प्रतीति व्यर्थता व्यापार से ही होती है। इस अर्थ में ध्वनिवादी को कौन मना कर सकता है।

ध्वनिधेतृत्वार्यतीशान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।

तदपरत्वं स्वविश्रान्तौ, तत्र विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ १ ॥

ध्वनि यहाँ होगी, अर्थात् स्वार्थ (वाक्य का तात्पर्य) एक बार समाप्त हो गया हो, वह विमान्त ही गया हो, तथा वाक्य किसी दूसरे तात्पर्यार्थक प्रतीयमान अर्थ का आश्रय के। जैसे 'अम धार्मिक' वाक्य में तात्पर्य विषय में ही विमान्त हो जाता है, किन्तु वाक्य निषेध-रूप प्रतीयमान भी भी प्रतीति करता है। ऐसे स्थलों पर ही ध्वनि हो सकती। यदि स्वार्थ विमान्त नहीं हो सकता है, तो वक्ता विमान्तिसीमा तक तात्पर्य माना जायगा। पर इस बात से ध्वनिविरोधी सहमत नहीं हैं। ध्वनिविरोधी ध्वनिक का कहना है कि नहीं कहीं व्यर्थता मानना आता है, यहाँ व्यर्थता या ध्वनि मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ की विधानित होना असम्भव है—वाक्य के प्रतीयमान पर ही आकर वह विमान्त होता है।

(इस सूचीय ध्वनिवादी में 'तदपरत्वं स्वविश्रान्तौ' तक पूर्ववर्ती ध्वनिवादी का मत है, 'तत्र विश्रान्त्यसम्भवात्' यह सिद्धान्तध्वनी ध्वनिक का मत है। अतः जो चतुर्थ कारिका में भी सिद्धान्त पक्ष ही उपनिन्द्य हुआ है। प्रथम कारिका में फिर ध्वनिवादी का मत है, तथा यह धर्य सप्तम कारिका में पुनः सिद्धान्त पक्ष की प्रतिष्ठापना।)

१. इस सम्बन्ध में यह कह देना होगा कि सम्भव आदि ध्वनिवादियों ने इस वाक्य के निषेधार्थ अर्थ को व्यक्त न मानकर तात्पर्य ही माना है। 'विषयं मध्यम' वाक्य वाक्यार्थ या निषेधार्थ के 'मा आस्य गृहे मुद्रुषा' इस उद्घारार्थ परक मानते हैं तथा 'च' से सम्भव होने के कारण दोनों वाक्यों को उद्देश्यविधेयक से सम्भव मान लेते हैं। अतः इस उद्घारण को व्यर्थता का उद्घारण के भी नहीं मानते। मसबत यहाँ तात्पर्य में अमूर्तमानपदत्व भी नहीं मानते, क्योंकि इस वाक्य के उद्घारार्थ में 'मा आस्य गृहे मुद्रुषा' में निषेध स्वतः वाच्य है।

(२) ध्वनि—वाक्यप्रकाश अध्याय ५, पृ. २८८)

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किञ्चिदम् ।

यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलायुतम् ॥ ४ ॥

ध्वनिवादी तात्पर्य के अविश्रान्त होने पर तो तात्पर्य शक्ति का विषय मानता है, तथा उसके विश्रान्त होने पर भी अर्थान्तरप्रतीति होने पर उसे व्यङ्ग्यार्थ मानते हुए व्यञ्जना तथा ध्वनि का विषय मानता है। इस विषय में सिद्धान्त पक्षों वससे यह पूछता है कि किमी भी (अमुक) वाक्य में तात्पर्य यहाँ तक है, वस वसके व्यंगे नहीं, उसकी यहाँ विश्रान्ति हो जाती है, इस बात का निर्धारण किसने कर दिया है? वस्तुतः किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्य की कोई निश्चित सीमा निश्चय नहीं की जा सकती। तात्पर्य तो जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन (कार्य) होता है, वहाँ तक फैला रहता है; इसलिए वह इतना ही है, इतने अधिक नहीं ऐसा तोल या माप जोख नहीं है। तात्पर्य को किसी तराजू पर रख कर नहीं कहा जा सकता, कि इतना तात्पर्य है, बाकी अन्य वस्तु। इसलिए दुम्हारा म्यङ्ग्य भी तात्पर्य ही में अन्तर्निहित हो जाता है।

भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।

निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५ ॥

ध्वनिवादी 'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध' वाली प्रसिद्ध गाथा को लेकर निम्न युक्ति के आधार तात्पर्यवादी से वाद करता है कि इस गाथा में निषेधरूप अर्थ वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता। इस गाथा में वाक्य 'भ्रमिक्रिया' की प्रतीति कराता है। नायिका धार्मिक को 'मने से धूमो' यही कह रही है। इस गाथा का वाक्य विषयपरक ही है, अतः तात्पर्य विषय में ही होगा। वाक्य में तो स्पष्टतः निषेध का उल्लेख नहीं, वह भ्रमणक्रिया के बोधक पद से ही युक्त है, भ्रमणनिषेध के बोधक पद का यहाँ प्रयोग नहीं है। इसलिए ऐसा वाक्य निषेध परक कैसे हो सकता है? अतः निषेधपरक अर्थ की प्रतीति तात्पर्य से भिन्न वस्तु है। हमारे मत में वह व्यङ्ग्यार्थ है, तथा व्यञ्जना शक्ति के द्वारा प्रतिपाद्य है।

प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूर्णावदि ।

यच्छुद्धिवशिताप्रान्तेविधान्तिर्न वा कथम् ॥ ६ ॥

ध्वनिवादी के मत का खण्डन, तथा तात्पर्य, वृत्ति की स्थापना का उपसंहार करते हुए धार्मिक सिद्धान्तपक्ष का निरन्धन कर रहे हैं:—आप लोग 'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध' इत्यादि गाथा में केवल इसलिए विषयमात्र को तात्पर्य मान लेते हैं कि यहाँ अपेक्षा की पूर्णा हो जाती है। जब कोई ओटा इस वाक्य को सुनता है, तो वह विषयरूप में अर्थ लगा लेता है, तथा उसे वाक्यार्थ पूर्ति के लिए किसी अन्य पद की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए ध्वनिवादी इस विषय में तात्पर्य को विश्रान्ति मान लेते हैं। ठीक है ओटा की दृष्टि से यहाँ विश्रान्ति हो भी, तो भी वक्ता (कुञ्चया नायिका) का अभिप्राय तो विषयपरक नहीं है। यदि विषय तक ही अर्थ मान लें, तो वक्ता के अभिप्राय की प्रतीति न हो सकेगी, तथा वाक्य का सचा अर्थ तो वक्ता का अभिप्राय ही है। जब तक वक्ता नायिका का आशय—'तुम यहाँ कभी न आना, नहीं'—को सुनें तो मार मारेंगे—'दाग नहीं होता, तब तक वाक्यार्थ की अविश्रान्ति क्यों नहीं होगी? वस्तुतः इस गाथा में वक्ता कुञ्चया नायिका के अभिप्राय को, निषेधरूप अर्थ को, मान लेने पर ही तात्पर्य की विश्रान्ति हो सकेगी, उसके पूर्व वदधि नहीं।

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।

यच्चभिप्रेततात्पर्यमतः प्राक्यस्य तुज्यते ॥ ७ ॥ इति ।

कोई भी लौकिक या पौरुषेय वाक्य किसी न किसी विवक्षा पर आश्रित रहता है। जब

कोई वस्तु किसी भी वाक्य का प्रयोग करता है, तो वह किसी बात को कहना चाहता है। लौकिक वाक्य में तात्पर्य वही वस्तु में होगा, जो वक्ता का अभिप्राय है। ठीक वही बात काव्य में भी घटित होती है। काव्य में रसादि अर्थ (जिन्हें ध्वनिवादी व्यङ्ग्य कहते हैं), रास्य के या कवि के अभिप्रेत हैं, अतः वे तात्पर्य ही हैं।

अतो न रसादीनां काव्येन मह व्यङ्ग्यव्यञ्जनात् । किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः ?
 काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः । ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभागादि-
 मता काव्येन भाव्यन्ते ।

अतः यह सिद्ध हो गया है कि काव्य का रस के साथ व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध नहीं है, न तो काव्य व्यञ्जक ही है, न रसादि व्यङ्ग्य ही। तो फिर इन दोनों में कौन सा सम्बन्ध है? काव्य तथा रस में परस्पर भाव्यभावक मात्र या भाव्यभावक सम्बन्ध है। काव्य भावक है, रसादि भाव्य। सङ्घट्य के मानस में स्वामी भाव या रस को चर्चणा होती है, इसी चर्चणा को 'भावना' भी कहते हैं। इसीके आधार पर काव्य भावक है, रस उसके भाव्य। रसादि सङ्घट्य के हृदय में अपने आप ही पैदा होते हैं, तथा उक्त रस के अनुकूल विशिष्ट विभागों के द्वारा काव्य उनकी भावना कराता है।^१

न चान्यत्र शब्दन्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् ह्यव्यशब्देऽपि तथा
 भाव्यमिति वाच्यम्-भाषनादिव्यावादिनिस्तथाप्रीकृतत्वात् । किञ्च मा न्यान्यत्र तथास्तु
 प्रत्ययव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽप्यगमात् । तदुच्यम्—

काव्य तथा रस के भाव्यभावक सम्बन्ध के विषय में पूर्वपक्षी एक शक्य वटा सकता है कि दूसरे शब्दों तथा उनके अर्थों में भाव्यभावक रूप सम्बन्ध नहीं पाया जाता। काव्य के शब्द भी, इतर शब्दों की ही तरह हैं, इसलिए काव्य तथा उनके अर्थ रसादि में भी भाव्यभावक लक्षण सम्बन्ध का अभाव ही होना चाहिए। धनिक का कहना है कि पूर्वपक्षी के द्वारा यह शक्य बढाना ठीक नहीं। भावना नामक क्रिया को मानने वाले भावनावादी मीमांसकों ने 'भावना' क्रिया में भाव्यभावक सम्बन्ध माना ही है। उनके मतानुसार 'स्वर्गाकाशमीयत्रैत' वा 'पुत्रकामोयत्रैत' इत्यादि छत्रितश्रीदित वाक्यों के प्रमाण के अनुसार वावादि क्रिया से स्वर्गादि

१. काव्य तथा रस के परस्पर सम्बन्ध, पर्व विभागादि तथा रसादि के परस्पर सम्बन्ध के विषय में रसशास्त्र में चार मत विशेष प्रसिद्ध हैं। ये मत मट्टकोष्ठ, शङ्कर, मट्टनाथक, तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य के हैं। इन मतों का सक्षिप्त विवेचन इसी ग्रन्थ के भूमिका भाग में प्रदत्त है। मट्टनाथक ने व्यञ्जनावादियों का खण्डन करते हुए विभागादि एवं रस में परस्पर 'भौज्यभोजक' सम्बन्ध माना है। उन्होंने इसके लिए अभिधा के अतिरिक्त 'भावना' तथा 'भोजकत्व' इन दो व्यापारों की कल्पना की थी। मट्टनाथक के अनुकूल ग्रन्थ 'हृदय-दर्पण' में इसका विवेचन किया गया था। धनिक का काव्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध यागना मट्टनाथक का ही प्रभाव है। सम्भवतः धनिक को हृदय दर्पण का भी पता ही; वेसे ध्यान से देखने पर पता चलता है कि रस व काव्य के सम्बन्ध के विषय में धनिक का कोई स्वतन्त्र मत नहीं रहा है। वह प्रमुक्त मट्टकोष्ठ के 'दीर्घदीर्घतर-व्यापार' तथा मट्टनाथक के यावना व्यापार से प्रभावित हुआ है, जिसमें धनिक ने तात्पर्यशक्ति वाला मत भी गिजा दिया है, जो मट्टकोष्ठ का 'दीर्घदीर्घतर अभिधान्यापार' ही है। एक समय पर धनिक शङ्कर के भी श्रेणी हैं, जहां वे दुष्यन्तादि की 'छमवदिरव' के समकक्ष रस कर शङ्कर के 'विश्वरगादि-व्याप' का ही आशय

की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भीमासक आगादि क्रिया तथा स्वर्गादि पत्र में 'भावना' क्रिया की कल्पना करते हैं। यागादि क्रिया रूप कारण के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति रूप कार्य निम्पन्न होता है। यागादि क्रिया भावक है, स्वर्गप्राप्ति भाव्य। इस प्रकार भीमासक दर्शनिकों ने इस सम्बन्ध की माना ही है, इसलिए यह भाव्यभावक सम्बन्ध की कल्पना शास्त्रानुमोदित है। शब्दों के अन्य लौकिक प्रयोग में, या अन्य लौकिक स्थलों पर यह भाव्यभावक सम्बन्ध नहीं होता, यह ही कान्य तथा रस के सम्बन्ध में ही मटित होता है। इस बात की पुष्टि काव्य तथा रस के परस्पर अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध से ही आती है। काव्य में रसादि भावक पदों का प्रयोग नहीं होगा तो किसी तरह भी रस की 'भावना' (चर्वणा) न हो सकेगी, तथा उसके होने पर सद्द एवद्दय में रसादि अवश्य भावित होंगे, इस अन्वयव्यतिरेक सरणि से यह स्पष्ट है कि कान्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध है।

‘जायामिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमात् ।

नस्मात्तस्मादमी भावा विशेष्या नाद्ययोक्तुभिः ॥’ इति ।

जैसा कि कहा भी गया है —

भाव, भावों तथा अभिनय के द्वारा, अथवा भावों के अभिनय के द्वारा रसों की भावना कराते हैं, इसीलिए नाट्यप्रयोगका इन्हें भाव कहते हैं। इससे यह सिद्ध है कि स्थायी भाव रसों की भावना कराते हैं। अतः रस भाव्य है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। इसके आधार पर कान्य तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

कथं पुनरुद्गीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्यादद्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविधचेष्टायुक्तरीषुसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तयोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दभ्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लासगिनी रत्यादिप्रतीतिः। यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽप्रे वक्ष्याम ।

कान्योपास पदों से रत्यादि स्थायी भावों की प्रतीति के विषय में पूर्वपक्षी फिर प्रदन उठाता है कि कान्योपास पदों का रत्यादि भावों से कोई सम्बन्ध नहीं है, अन्य शब्दों तथा उनके अर्थों में अभिधा व्यापार इसलिए काम करता है कि वे अर्थ उभर उन पदों के सङ्कतिन अर्थ होते हैं। स्थायी कान्योपास शब्दों का सङ्केतिन अर्थ तो है ही नहीं। अतः रत्यादि से कोई सम्बन्ध न होने से कान्योपास पर स्थायी भावों या रस की प्रतीति कैसे करायेगे ? इस शङ्का का उत्तर सिद्धान्तपक्षी यों देता है। हम ससार में दो प्रेमियों की देखते हैं, या ली पुरुषों के परस्पर अनुराग की देखते हैं। वे ली पुरुष नाना प्रकार की प्रेमपरक चेष्टाओं से युक्त दिखाई देते हैं। इनकी ये चेष्टाएँ देखकर अभिनाभाव सम्बन्ध से इन रत्यादि का भी दर्शन कर लेते हैं। उन अनुरागपूर्ण चेष्टाओं को देखकर हम उनके परस्पर प्रेम को जान लेते हैं। ठीक यही बात कान्य के विषय में कही जा सकती है। कान्य में तत्पक्ष स्थायी भाव की चेष्टाएँ निबद्ध की जाती हैं। कान्य में प्रयुक्त शब्द इन चेष्टाओं के याचक हैं। इस प्रकार कान्योपास शब्द के सुनने से चेष्टाओं की प्रतीति होती है और चेष्टाएँ अभिनाभाव सम्बन्ध के द्वारा रत्यादि स्थायी भाव की प्रतीति कराती हैं। इस प्रकार कान्योपास शब्दों के भवण से अभिधेय चेष्टादि से सम्बन्ध रत्यादि की प्रतीति लासगिक है, उसे लक्षणाउक्तिभ्यः मानना होगा। कान्य का कान्यार्थ रस की भावना कैसे कराता है, इसे हम आगे बतलायेगे।

रसः स एव स्याद्यत्वाद्गतिकस्यैव वर्तनात् ।

नातुकार्यस्य दृष्टत्वात्प्राप्त्यस्यात्परत्पत्तः ॥ ३६ ॥

द्रष्टुः प्रतीतिर्माहिर्ध्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ।

लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्यैव दर्शनात् ॥ ३६ ॥

रमादि स्थायी भाव स्वाद्य होता है, सहृदय उत्तरा आरमाद्य करते हैं, इस लिए लौकिक रसाद के विषय 'रम' की भांति यह भी रस कहलाता है । यह रस रसिक सहृदय में ही पाया जाता है, अनुकार्य राम, दुष्यन्त, सीता, या द्रुपन्ताला में यह नहीं पाया जाता । रस का स्वाद्य, रस की चर्चणा रसिकों को, दुर्धक सामाजिकों को, ही होती है, अनुकार्य पात्रों को नहीं । अनुकार्य पात्रों की तो केवल कथा भर ली जाती है, काव्य का प्रयोजन 'सामाजिकों को रसास्वाद्य बनाना ही है । काव्य के अनुकार्य रामादि तो भूतकाल के हैं, उन्हें रसचर्चणा हो ही कैसे सकती है । वस्तुतः रसचर्चणा नाटकादि क.श्व के द्रष्टा सामाजिक में ही मानी जा सकती है । यदि अनुकार्य रामादि में मानो जायगी, तो वे भी ठीक उसी तरह होंगे, जैसे हम आमतौर पर व्यावहारिक संसार-क्षेत्र में, अपनी नायिका से युक्त किसी नायक को देखते हैं । किन्हीं दो प्रेमी प्रेमिका को श्रद्धारी चेष्टा करते देते हमें रस प्रतीति नहीं होती, हमें या तो लज्जा होगी, या ईर्ष्या, राग या द्वेष । यदि अनुकार्य दुष्यन्तादि में रस मान लें, तो सामाजिकों को रसास्वाद्य नहीं हो सकेगा, प्रायुक्त उनके हृदय में लज्जा, ईर्ष्या, राग या द्वेष की उत्पत्ति होगी । श्रद्धारी चेष्टा देखकर बड़े छोड़ों को लज्जा होगी, दूसरों को ईर्ष्यादि । अतः अनुकार्य नायकादि में रस मानने पर दोष आने के कारण सामाजिक में ही रसरिचिन्ति माननी होगी ।

काव्यार्षोपजावितो रसिकरती रत्यादिः स्थायीभावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते, स च स्वाद्यता निर्मलानन्दचक्षितमताभाष्यमानो रसो रसिश्चतीति वर्तमानत्वात्, मानु-
कार्यरामादिवर्ती वृत्तात्सत्यम् ।

काव्य के बाष्पार्थ के द्वारा उद्भावित रत्यादि स्थायी भाव जो रसिकों के हृदय में रहता है, कारिकाके 'स' (वह) पद के द्वारा निर्दिष्ट हुआ है । यही भाव जब आश्वास का विषय बनता है, सामाजिक के हृदय में भौतिक आनन्दपन घेना की विकसित करता है, तो रस कहलाता है, क्योंकि यह रसिक सामाजिकों में ही रहता है । नाटकादि काव्य का प्रत्येक द्रष्टा रसचर्चणा नहीं कर सकता, उसके लिए रसिक (सहृदय) होना आवश्यक है । अतः उस की स्थिति रसिक में ही होती है । रसिक तो वर्तमान है, अनुकार्य रामादि अतीत काल से सम्बद्ध हैं, अतः रस की स्थिति अनुकार्य रामादि में नहीं मानो जा सकती ।

अथ शब्दोपद्विसंस्मरणवर्तमानस्यापि वर्तमानसद्व्यवहारानभिष्यत् एव, तथापि तद्व्यवहारस्यास्मददिभिरननुभूयमानत्वाद्वात्तामतेवाऽऽस्वादं प्रति, विभावस्थेन तु रामादेर्वर्तमानसद्व्यवहारानभिष्यत् एव । किं न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभि-
प्रवर्तते, यानि तु सहृदयानामनन्दयित्वा । स च समस्तभावकस्वसंश्लेष एव ।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः श्रद्धारः स्वात्ततो नाटकादौ तदर्थेन लौकिके ह्य नायके श्रद्धारिणि स्वकान्तासंगुणे हृदयमाने श्रद्धारवानयनिति प्रेक्षकानां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वाद्यः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां स्वत्यानुत्पापहारच्छादनः प्रसङ्गेन । एवं च तति रसादीनां व्यङ्ग्यस्वनास्ताम् । अन्यतो लक्ष्यसत्ताकं मस्त्वन्येनापि व्यङ्ग्यते प्रदोषेन घटादि, न तु तदानीमेषामिच्छावत्वाग्मितैरुपायस्वभावात् । भाष्यगते च निश्चयादिभिः प्रेक्षकैश्च रसा इत्यादिदितमेव ।

कोई कहे कि काव्य में तो अनुकार्य रामादि का वर्णन वर्तमान की तरह ही किया जाता है, तो ठीक है। काव्य में उपास शब्दों के द्वारा रामादि अनुकार्य पात्रों का रूप रस तरह उपस्थित किया जाता है कि साक्षात् रूप में वर्तमान न होने पर भी नाटकादि में वे ही वर्तमान हैं, इस तरह का आभास होता है। कवि तथा सामाजिक दोनों की ही इस प्रकार की प्रतीति रस भी है, (अन्यथा रस प्रतीति न होगी)। इतना होने पर भी रामादि का वर्तमान के रूप में आभास हम लोगों (सामाजिकों) की ही होता है, अतः अनुकार्य रामादि की आस्वाद (रस) की दृष्टि से सत्ता है ही नहीं, आस्वाद की दृष्टि से वे अवर्तमान ही हैं। रामादि का वर्तमान के रूप में वर्णन, विभाव के रूप में किया जाता है, अतः वर्तमान के रूप में अवभास सामाजिकों की रस प्रतीति का कारण (विभाव) है। विभाव रूप में उनका रस प्रकार निबन्धन कवि व सामाजिक दोनों की अभीष्ट है। साथ ही यह भी बात ध्यान देने की है कि (भवभूति आदि) कवि रामादि की रस प्रतीति के लिए काव्य की रचना नहीं करते। कवि काव्य की रचना इसलिए करता है कि उससे सद्दय सामाजिक आनन्दित हो, उन्हें रसास्वाद हो। इस रस का अनुभव समस्त सद्दय के स्वतः प्रमाण का विषय है।

अगर यह मान भी लिया जाय कि शृङ्गार (रस) की प्रतीति अनुकार्य रामादि की होती है, तो नाटकादि के दर्शन पर दर्शकों की जैसे ही कोई भी रसास्वाद न होगा, जैसे लौकिक प्रेमी को अपनी कान्ता से युक्त देखकर दर्शकों को केवल इतनी ही प्रतीति होती है कि यह युक्त शृङ्गार से युक्त है। रसास्वाद की बात तो जाने दीजिये, ऐसी अवस्था में देखने वाले सज्जन व्यक्तियों को लज्जा होगी, क्योंकि दूसरे लोगों की शृङ्गारी घेटा देखना उन्हें पसन्द नहीं। दूसरे विलासी दर्शकों को ईर्ष्या, अनुराग, द्वेष होगा, चाहे उन्हें यह भी इच्छा हो कि ऐसी सुन्दर नायिका का अपहरण कर लिया जाय। अतः रस की नायकादि अनुकार्य पात्रों में नहीं माना जा सकता।

इस निष्कर्ष से यह भी निराकृत हो जाता है कि रस व्यङ्ग्य है। रस की व्यङ्ग्य मानने वाले लीलो के मत का खण्डन रस ढङ्ग से भी हो जाता है। व्यञ्जना उसी वस्तु की ही सकती है, जो पहले से ही स्वतन्त्ररूप से विद्यमान हो, तथा किसी दूसरी वस्तु से व्यञ्जित हो। उदाहरण के लिए घट की सत्ता प्रदीप से पहले ही है तथा स्वतन्त्र है, तभी तो प्रदीप घट को (अन्वकार में) व्यञ्जित करता है। रसादि पहले से ही होते तो विभाववादि या काव्योपास शब्दादि उनकी व्यञ्जना करा सकते थे। अतः रस की पूर्व सत्ता न होने पर, व्यञ्जनावादी उसे व्यङ्ग्य नहीं मान सकते। विभाववादि के द्वारा रसों की भावना (भास्वाद या चर्चणा) दर्शकों, सामाजिकों में होती है, यह बात हम पहले ही बता चुके हैं।

ननु च सामाजिकाभयेषु रसेषु को विभावः कथं च सीतादीनां देवीनां विभाववे-
नाऽविरोधः ? उच्यते—

धीरोदात्ताद्यस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।

विभावयति शत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य से ॥ ४० ॥

सामाजिकों में रस की स्थिति मानने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उनके विभाव कौन है; तथा सीता आदि पूज्य देवियों को शृङ्गारादि का विभाव मानने में दर्शकों के लिए दोष क्यों नहीं होता। इस प्रकार सामाजिकों की रसचर्चणा के विभाव कौन हैं ? तथा सीतादि को विभाव मानने में अविरोध कैसे स्थापित होगा ? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर निम्न कारिका में दिया जाता है।

नाटकादि में वर्णित अनुकार्य रामादि तदनुकूल धीरोदात्त आदि अवस्था के

प्रतिपादक हैं। ये रामादि सामाजिकों में रघुादि रघुादी भाव को विभाजित करते हैं, रघुादि रघुादी भाव ही प्रतीति में कारण बनते हैं। ये रघुादि रघुादी भाव ही रसिक सामाजिक के द्वारा आस्थादित विनये जाते हैं।

नहि वरयो योगिन इत प्यानगुण्य स्वात्वा प्रातिस्वियी रामादीनामवस्थामितिहा-
सवदुपविब्रमन्ति, किं तर्हि ? सर्वज्ञैवसाधारणा स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्धिषी धीरोदात्तापनस्था
पविदाश्रयमात्रदायिनी (वि) द्यति ।

यदि रामादि वा वर्णन ठीक वसी तरह से नहीं करते, जैसा पुराणैतिहास में होता है। यदि योगियों की तरह ध्यान करके हानचक्षु के द्वारा रामादि के अतीव चरित्र का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनकी अवस्था का दृ-व दृ वर्णन ठीक वसी तरह नहीं करते, जैसा इतिहास में पाया जाता है। तो फिर यदि जैसा वर्णन करते हैं ? यदि तो लौकिक-गणद्वार के आधार पर ही अपना निरन्धन करते हैं। वे अपनी लक्ष्मणा (वचन) से रामादि में तत्त्व प्रसार की उन धीरोदात्तादि अवस्था का चित्रण करते हैं, जो किहीं अनुभूत राधादि (भाव) में यदि वे देखती हैं। इस प्रकार यदि अपने ही लौकिक जीवन में प्रत्यक्ष किये राजा आदि में धीरोदात्तादि अवस्था देख पर उनमें कुछ वचन वा समावेश कर रामादि की अवस्था का निरन्धन करते हैं।

ता पय च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।

काव्य में परिणत ये रामादि ही जब अपने विशेष व्यक्तित्व (रामादि) को छोड़ कर सामान्य (भावकमात्र) रूप धारण कर लेते हैं, तो सद्बुद्ध के हृदय में रस प्रतीति बनाने के कारण (विभाव) बन जाते हैं।

तत्र सौतादिशब्दा परित्यक्तजनकतनमादिविशेषा सीमात्रवाचिन निमित्वाभिष्ट
शुद्धिं विमर्षं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत् ? उच्यते—

श्रीडितां गुणमयेर्यद्गुणानां हिरदादिभिः ॥ ४१ ॥

श्री

स्वोत्साहः स्वपते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।

कारिका से स्पष्ट है कि सीता, अकु-तला आदि भाव अपने विशिष्ट-व्यक्तित्व को छोड़ कर सामान्य रूप को धारण पर लेते हैं, दूसरे शब्दों में वे साधारणीकृत हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि काव्य में सीतादि शब्द जनकतनवादि के विशेष व्यक्तित्व को छोड़ कर केवल ही मात्र वा बोध कराने लगते हैं, यह मान लेने पर उनका किसी भी तरह का अभिष्ट नहीं होगा। तो फिर काव्य में उनका उपादान क्यों होता है ? जब सीता नहीं परित्यक्त जनकतनवादि धारण करती है, तो फिर उसके प्रति आदरादि वा भाव न ही संवेग, तथा वसुधै कुरुतान्वा न भी बने होगा। इसीका उत्तर देने हुए कहते हैं।

छोटे बच्चे मिट्टी के बने हुए हाथी, घोड़े आदि से खेलते हैं। वे उन्हें सचसे हाथी, भत्ते घोड़े ही समझ कर खेलते हैं, तथा उनसे आनन्द प्राप्त करते हैं। ठीक वसी तरह काव्य के शीता सामाजिक की अर्जुना आदि पात्रों के द्वारा उन पात्रों में उरसाह देख कर स्वयं उरसाह का आस्वाद करते हैं। यद्यपि अर्जुनादि, गुणमय हिरदादि की तरह ही अयस्त्विक हैं केवल प्रतिष्ठति मात्र हैं, तथापि सामाजिकों को उनसे आनन्द प्राप्ति होती है।

एतदुक्त भवति-नात्र लौकिक-द्वारादिवस्त्वादिनिर्माणदीनामुपयोग, किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाज्वरसानाम् ? । यदाह—'श्री लौकिकरसा-
स्युता' इति ।

इस विषय में यह कहा जा सकता है कि काव्य का शृङ्गार ठीक वसी तरह नहीं है जैसा लौकिक शृङ्गार। लौकिक शृङ्गार में जैसे स्त्री आदि विभावों का प्रयोग होता है, उस तरह काव्य में नहीं होना है। तो फिर यहाँ क्या होना है? काव्य का रस (नाट्यरस) सांसारिक रस से सर्वथा विलक्षण, तथा भिन्न है, इसको हम बता चुके हैं। जैसे कहा भी है कि नाट्यरस सरदा में केवल आठ ही होते हैं।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न चार्थते ॥ ४२ ॥

नर्तक (नट) को रसास्वाद होता है या नहीं, इस विषय में हमारा मत यह है कि नर्तक को भी रसास्वाद हो सकता है। हम नर्तक के काव्यार्थ भावना-रस-के आस्वाद का निषेध नहीं करते।

नर्तकौऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणान् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न चार्थते ।।

नाटकदि में अनुकार्य रामादि के अनुकरणरत्नां नट भी लौकिक रस से रसयुक्त नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे नाटक में अनुकरण करने वाली महिला को भोग्य रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। अतः उनमें लौकिक रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती। वैसे काव्यार्थ की भावना के द्वारा नर्तक को भी रसास्वाद हो सकता है, पर उस दशा में नर्तक भी हमारी तरह सामाजिक होगा। भाव यह है यदि नर्तक सङ्कर्य है, तो सामाजिक के रूप में, सामाजिक के दृष्टिकोण से, वह रसास्वाद कर सकता है। उसे कथमपि रसास्वाद नहीं होता; ऐसा हमारा मत नहीं है।

कथं च काव्यास्त्वानन्दोद्भूति किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।

विकासविस्तरक्षोभविशेषैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥

शृङ्गारधीरधीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।

हास्याद्भुतभयोत्कर्षकहणानां त एव हि ॥ ४४ ॥

अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।

काव्य से आनन्द कैसे उत्पन्न होता है, तथा यह आनन्द किस प्रकार का होता है, इसीको स्पष्ट करते हैं—

काव्यार्थ के ज्ञान के द्वारा आत्मा में (सहृदय के हृदय में) विशेष प्रकार के आनन्द का उत्पन्न होना स्वाद कहलाता है। यह स्वाद चार प्रकार का माना जाता है—चित्त का विकास, चित्त का विस्तार, चित्त का शोभ, तथा चित्त का विशेष। ये चारों प्रकार के मनोविकार विकास, विस्तर, शोभ तथा विशेष—क्रमशः शृङ्गार, धीर, धीमत्स तथा रौद्र रत्नों में पाये जाते हैं। ये चारों मनःप्रकार ही क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय तथा करुण में पाये जाते हैं। इस प्रकार शृङ्गार तथा हास्य में विकास, धीर तथा अद्भुत में विस्तर, धीमत्स तथा भय में शोभ, एव रौद्र तथा करुण में-विशेष की स्थिति होती है। इमीच्छिपु हास्यादि चार रत्नों को शृङ्गारादि चार रत्नों से उत्पन्न माना जाता है, तथा 'आठ ही रस हैं' इस प्रकार की अवधारणोक्ति भी इमीच्छिपु कही गई है, क्योंकि मन की चार स्थितियों से चार शृङ्गारादि तथा चार सज्जन्य हास्यादि का ही सम्बन्ध घटित होता है, (नी या हम बाड़ी रस संख्या का नहीं)।

काव्यार्थेन = विभावादिस्वच्छास्याप्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे = अन्वोन्मत्तकले प्रत्यस्तमितस्वरथिभावे एति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूति स्वादः, तस्य च सापान्या-

रमकल्पेऽपि प्रतिनियतविधावादिकारणजन्येन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद्यथा—शुद्धारे विकास, धीरे विस्तर, बोधस्य शोभा, रौद्रे विशेष इति । तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भ्रतममानककृष्णानां स्वसामगोच्छरणपरिपोषाणां त एव चत्वारो विधाता-वाप्येतेषां सम्भेदा, अत एव—

‘शुद्धारादि भवेदास्मौ रौद्राय कर्णो रसः ।

वीर्यपैतृशुभोत्पत्तिर्वीभक्त्याच भवानकः ॥’

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावमिप्रायेण तेषां कारणान्तरसम्भेदात् ।

काव्य का वास्तविक अर्थ विभावादिको से युक्त स्वामी भाव है, अत काव्यार्थ शब्द से इस वास्तविक में विभावादियुक्त स्वामी भाव रूप अर्थ का सात्पर्य है । इस काव्यार्थ के द्वारा सद्ब्रह्म के चित्त में अनुकार्य रागादि के सद्ब्रह्म अवस्था का संरक्षण हो जाता है । सद्ब्रह्म स्वामी भाव रूप काव्यार्थ का अनुशीलन कर ‘स्व’ तथा ‘वर’ के विभाग को भूल जाता है, उसका चित्त साधारणीकृत हो जाता है । इस स्थिति में सद्ब्रह्म को जिस महान् आनन्द की प्रतीति होती है, वही स्वार (रस) कहलाता है । वह स्वार वेद्ये तो सभी रसों में सामान्य रूप से पाया जाता है, फिर भी अलग-अलग रस के अलग-अलग के विभाग पाये जाते हैं, इसलिये इस भेद के कारण सद्ब्रह्म के चित्त को चार प्रकार की स्थितियाँ पार्यँ जाती है । श्लेषे—शुद्धार में विकास, धीरे में विस्तर, बोधस्य में शोभा, तथा रौद्र में विशेष । शुद्धारादि एव चार रसों से इतर हास्य, अद्भुत, भवानक, तथा कर्ण इव चार रसों में भी—जिनकी प्रति भयने-भयने विभावों के अनुकार होती है—वे ही चार विकासदि चित्तभूमिर्वा-मद्य मिलती हैं । इसलिये शुद्धारादि के हास्यादि का कारण एही सम्भेद के आधार पर माना जाता है ।

‘शुद्धार से हास्य, रौद्र से कर्ण, धीरे से अद्भुत, तथा बोधस्य से भवानक रस की उत्पत्ति होती है ।’

इस वचन से शुद्धारादि की कर्मण हास्यादि का हेतु, तथा हास्यादि की हेतुमान्-माना है, इसका केवल यही कारण है कि हममें एक ही चित्तभूमि पार्यँ जाती है, जो दूसरे रसों में नहीं । इस भेद को ब्रह्म के लिये ही इस कार्यकारण भाव का उल्लेख हुआ है । इस कार्यकारण भाव के प्रवर्धन का यह कार्य नहीं है कि एक जगह कारण है, तथा दूसरे कार्य, क्योंकि हास्यादि के कारण (विभाव) शुद्धारादि के कारणों (विभावों) से सर्वथा भिन्न है ।

‘शुद्धाराद्युक्तितियां तु स हास्य इति कीर्तितः ।’

हास्यादिना विषयादिसम्भेदैकत्वस्यैव रसुत्पत्तौऽकारणात्, अवधारणमप्यत एव ‘अर्थो’ इति सम्भेदान्तरात्मभावत् ।

अतु च युक्तं शुद्धारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाग्यार्थसम्भेदात् आनन्दोद्भव इति, कर्णमादी तु तु आत्मके कथमिवापौ प्रादुष्यात् ? तथाहि—तत्र कर्णमात्मकत्वस्य ध्वन्यादुत्पत्तिर्भावोऽनुपातादयथा रसिचानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दत्वात्तत्र सति युज्यते । सत्यमेतत् किन्तु तादृश एवास्मानन्दं सुखदुःखात्मको यथा मद्दरणादिषु सम्भोगा-स्थानां क्षणिते स्त्रीणाम्, ज्ञानस्य लौकिकारक्षणतात्प्राप्त्यकरण, तथा आनन्दोत्पत्त्या रसिचानो प्रवृत्तः । यदि च लौकिकारक्षणदुःखतात्मकमेवेदं त्यागता न कविदन

ज्ञान रस के विषय में पुनः विहायलोचन करते हुए विद्वानपन्न का उल्लेख किया जाता है।

शान्तरसस्य चाऽनमिनेयत्वात् यद्यपि नात्रोऽनुग्रहेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीता-
दिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते भ्रत-
स्तदुच्यते—

शमप्रकार्योऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥ ४५ ॥

हम बता चुके हैं कि शान्त रस का अभिनय नहीं हो सकता। इसलिए नाटक में शान्तरस का प्रवेश, शान्तरस का निरूपण नहीं होता। यद्यपि नाटक में शान्तरस नहीं पाया जाता, फिर भी सज्ज, अनीत आदि सभी वस्तुओं की प्रतिपत्ति शब्द के द्वारा करार जा सकती है, अतः वे भी काव्य के विषय तो हो ही सकती हैं। सज्ज, अनीत आदि वस्तुएँ काव्य का विषय नहीं हो सकती, हमारा यह मत नहीं है। इसी की वारिजावाट यों स्पष्ट करते हैं—

शम नामक स्थायी भाव का प्रकर्ष-शान्तरस अनिर्वाच्य है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि दुःख, सुख, विन्ता, राग, द्वेष सभी से परे है, तथा यह मुदिता, मैत्री, करुणा पृथक् उपेक्षा से प्रतीत होता है।

शान्तो हि यदि तावत्—

'न यत्र दुःखं न सुखं न विन्ता न द्वेषरागौ न च कचिदिच्छा ।

रसस्तु शान्त' कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥'

इत्येवंलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थामेवात्मस्वरूपपत्तिलक्षणाया प्रादुर्भासत्, तस्य च स्वरूपेनानिर्वचनीयत्वा मुक्तिरपि—'स एष नेत्रि नेत्रि' इत्यन्यापोद्धरणेणाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदया स्वादयितार' सन्ति, अथापि तदुपायभूतो मुदितामै-
त्रीकरणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारशोभविशेषरूपत्वेति तदुपर्यैव शान्तरसा-
स्यादो निरूपितः ।

शान्तरस का निम्न लक्षण माना जाता है—

'जहाँ दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है, 'न विन्ता है न द्वेष,' न कोई राग है, न कोई ईर्ष्या, वह शान्तरस है, ऐसा मुनीन्द्र भरत ने कहा है। समस्त भावों में शम स्थायी भाव प्रधान होता है।'

यदि शान्तरस का यही लक्षण है, तो यह अवस्था केवल मोक्षावस्था में ही प्राप्त हो सकती है, जब कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही जाती है। यह मोक्षावस्थारूप आत्मप्राप्ति स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, वस्तुका वर्णन करना अशक्य है। इसकी अनिर्वचनीयता का प्रमाण भगवती धृति है जहाँ कहा गया है कि 'यह आत्मरूप यह नहीं है, यह नहीं है'। जब शान्तरस सांसारिक विषयों से विराग वाला है, तो फिर वसति रसिक सहृदयों को—लौकिक सामाजिकों को कोई मानन्द नहीं मिलेगा। वैराग्ययुक्त शान्तरस का आस्वाद रागी लौकिक रसिक नहीं करेंगे। जैसे शान्तरस अनिर्वचनीय है, तथा उसका वर्णन नहीं हो सकता, फिर भी कितनी तरह यहाँ पर शान्तरस के आस्वाद का औपचारिक निरूपण किया ही जाता है। शान्तरस के उपाय हे विषय की चार प्रकार की वृत्तियों—मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा। ये चारों वृत्तियों विषय की पूर्णों चार भूमियों—विवास, निस्तर, क्षीम तथा विशेष-का ही प्रतिरूप हैं। अतः उनके कारण शान्तरस में चारों प्रकार की वृत्तियों का निरूपण किया जा सकता है।

इदानीं विभावादिनिषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकं प्रकरणेनोपसंहारं प्रतिपाद्यते-
पदार्थैरिन्दुनिर्वेदशोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।

काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रत्ययतां गतैः ॥ ४६ ॥

भावितः स्वदत्ते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अब रसादि का विवेचन कर लेने पर प्रकरण का उपसंहार करते हुए विभावादिरूप इतर काव्यव्यापारों का प्रदर्शन करते हैं —

चन्द्रमा जैसे विभाव, निर्वेद जैसे सञ्चारी भाव तथा रोमाञ्च जैसे अनुभावों के द्वारा भावित स्थायी ही रस है । काव्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ इन्दु (चन्द्रमा) आदि विभाव परक, निर्वेद आदि भाव परक तथा रोमाञ्चादि अङ्गविकार परक होता है । ये ही चन्द्र, निर्वेद, रोमाञ्च आदि प्रमश विभाव, सञ्चारी तथा अनुभाव के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनके द्वारा जब स्थायी रस भावित होता है, तो वह रस कहलाता है ।^१

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्रायैरदीपनविभावा प्रमशप्रश्रुतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावै रोमाञ्चाथुभूत्पेकञ्चाथैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थाभूतैर्वाक्यार्थ स्थायीभावो निभावित = भावरूपतामानीत स्वदत्ते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

काव्य व्यापार में अतिशयोक्ति के रूप में बर्णित चन्द्रमा, नदीतीर, आदि अदीपनविभाव, रमणी आदि आलम्बनविभाव, निर्वेदादि व्यभिचारी भाव, रोमाञ्च, अङ्ग, भूशेष, वटाङ्ग आदि अनुभावों को ही प्रतीति कारक माना है । अतः चन्द्रादि ओ कव्योपात्त शब्दों के पदार्थ ही अपने द्वारा अविनाभाव सम्बन्ध से विभावादि की प्रतीति कराते हैं । ये चन्द्रादि विभावादि ही वाक्यार्थरूप स्थायी भाव को भावनाविषयक बनाकर आस्वापरूप में प्रतिपन्न करते हैं, जो वह स्थायी भाव रस हो जाता है । भाव यह है सहज सामाजिक तत्त्व काव्य में बर्णित चन्द्र, निर्वेद, अङ्ग आदि विभाव, सञ्चारी भाव तथा अनुभावों को काव्योपात्त पदार्थ के रूप में प्रदर्शन करता है, फिर वे पदार्थ सहृदय हृदय में स्थित स्थायी भाव को भावनागम्य बनाते हैं, और सहृदय सामाजिक को आस्वादरूप आनन्द को प्राप्ति दोगे हैं । यही आस्वाद रूप आनन्द रस है । अतः रस कुछ नहीं विभावादि के द्वारा भावित (भावनाविषयीकृत) स्थायी भाव को ही परिपुष्ट दशा है ।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते, सप्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणाणि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु—

१. भूमिका भाग में हम देख चुके हैं कि भरत के नाट्यशास्त्र 'विभावादानुभावव्यभिचारिसंयोगादरसनिष्पत्ति' के 'संयोगात्' पद का अर्थ अलग २ आचार्यों में अलग २ लगाया है । मट्ट लोचन के मतानुसार उसका अर्थ है—उत्पाद्य-उत्पादकभाव, शुक के मत से इसका अर्थ है—अनुभावानुमापकभाव, मट्ट नायक के अनुसार इसका अर्थ 'भोग्यभोजकभाव' है तथा अभिनवगुप्त या ध्वनिवादी के मत में 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव । धनञ्जय 'संयोगात्' को 'भावित' पद से स्पष्ट कर 'भाव्यभावकसम्बन्ध' मानते हैं । जिस तरह लोचन, शुक, मट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त के मतों को क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, शक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद (वाच्यत्ववाद) कहा जाता है, धनञ्जय के रसवादी मत को बैसे ही 'भावनावाद' कहा जा सकता है । पर हम बता चुके हैं कि धनञ्जय तथा पत्निक का रस सम्बन्धी मत कोई स्वतन्त्र रूपता नहीं है, भविष्य मट्ट लोचन तथा मट्ट नायक के मतों को ही सिचदी है ।

लक्षणैक्यं विभावैक्याद्भेदाद्रसभावयोः ॥ ४७ ॥

क्रियत इति वाक्यरोप ।

अब एक सामान्य रूप से रस तथा स्थायी भाव का विवेचन किया गया । अब भाव स्थायी भावों तथा गाठ रसों का विशेष लक्षण निरूपित करते हैं । भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में स्थायी भावों तथा रसों का लक्षण अलग अलग किया है । इसका कारण यह है कि उन्होंने विभावादि के वर्णन के द्वारा उनका वर्णन किया है । विभावादि के द्वारा प्रतिपादन करने के कारण उनका पृथक् पृथक् लक्षण किया गया है । पर यहाँ हम दोनों का एक साथ ही लक्षण करते हैं ।

रस तथा उसके भाव (स्थायी भाव) का विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) एक ही होता है, तथा उनमें कोई भेद नहीं है, अपि तु भेद है, क्योंकि भाव की ही परिपुष्ट स्थिति रस कही जाती है, अतः उनका लक्षण एक ही किया जाता है । भरत मुनि की तरह अलग अलग लक्षण नहीं किया गया है ।

तत्र तावच्छृङ्गार —

रम्यदेशकलाकालवेपभोगादिसेवनेः ॥

प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।

प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८ ॥

इत्युपनियम्यमानं कर्तव्यं शृङ्गारस्वादाय प्रभवतीति कथ्युपदेशपरमेतात् ।

सरसे पक्षे शृङ्गार तथा उसके स्थायी रतिभाव का सोदाहरण लक्षण उपनिबद्ध करते हैं ।

परस्पर अनुरक्त युक्त नायक नायिका के हृदय में, रम्य देश, काल, कला, योग, भोग, आदि के सेवन के द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना रति स्थायी भाव है । यही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अहों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट (प्रहर्षित) होकर शृङ्गार रस होता है ।

रस प्रकार रम्य देशादि के द्वारा परिपुष्ट रति के उपनिबद्ध करने पर काव्य से शृङ्गार को चर्चणा होती है, इसलिये यह लक्षण कवियों के उपदेश के लिये किया गया है ।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

‘स्मरसि हुतनु तस्मिन्पर्यते लक्ष्मणौ

प्रतिविहितसपर्यायुस्ययोस्तान्महानि ।

स्मरसि सरसतीरं तत्र गोदावरीं वा

स्मरसि च सङ्गान्तेन्वावयोर्षर्षमानि ॥’

अब देश, काल आदि को रमणीयता रूप उद्दीपन विभाव की स्पष्ट करती हुए तत्पक्ष विभाव के द्वारा सैते रति भाव का स्वरूप तथा शृङ्गार की चर्चणा होती है, इसे उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

देवकर विभाव का उदाहरण, सैते उत्तररामचरित नाटक में, निम्न पक्ष में राम तथा सीता के परस्पर अनुप्राण रूप रति भाव की गोदावरीतीर रूप देश के द्वारा शृङ्गार के रूप में चर्चणा हो रही है ।

हे सुन्दर शरीर वाली सीता, उस पर्वत पर लक्ष्मण के द्वारा पूजा की सभी सामग्रियों के प्रस्तुत कर देने के कारण मझे से रहते हुए, हमारे उन दिनों की तुम पाद करती हो न । अथवा सरसतीर वाली गोदावरी की तथा उसके पास हम दोनों के हृदय लक्ष्मण परिरामना (निहार) को पाद करती ही न ।

कलाविभावो यथा—

‘हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितं सम्यग्गर्भं
पादव्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मुदुरभिनय पद्भिविकल्पोऽनुवृत्तै-

भवि भावे नुदपि विषयान् रागवन्धं स एव ॥’

कला विभाव का उदाहरण, जैसे मालविकाग्निमित्र के इस पद्य में, जहाँ मालविका की नृत्यकला के द्वारा अग्निमित्र के हृदय में स्फुरित स्थायी भाव प्रकटार रस के रूप में परिपुष्ट हो रहा है —

इस मालविका ने अपने उन हाथों के समझाने के द्वारा भाव के अर्थ की व्यञ्जना ठीक तरह से करा दी है, जिन के समझाने में जैसे शब्द (वचन) धिये बैठे हैं। जिस तरह शब्द के छानने पर उसके अर्थ की प्रतीति होती है, वैसे ही इसके हस्तसमझाने से अर्थव्यञ्जना हो रही है, मानो वचन इसके हाथों में धिये हैं। जब यह एक क्रिया के बाद थोड़ी देर हुन, मध्य या विद्युत्प्रिय विश्राम (लय) का आशय लेनी है, तो जैसे इसके पदव्यास ने लय को रस के साथ तामय बना दिया है। दर्शक इसके ‘लय’ तक पहुँचने पर रसमग्न हो जाता है। हस्तसमझाने तथा पादव्यास के द्वारा किया गया प्रकटार का शरीर मुख, तथा चेष्टाकृत ये आह्विक के तीन प्रकार, तथा वाचिक आहार्य एवं सात्विक) कीमल अभिनय जो श्रुत बाला (हाथ के विचित्र समझाने वाला) है प्रत्येक भाव के प्रकाशन के साथ साथ हृदय में विषयो को प्रेरित कर रहा है। यही अनुराग है, यही रागवन्ध या प्रेम कहा जा सकता है।

यथा य—

‘व्यक्तित्व्यंजनघातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धाऽमुना

विस्पष्टो हृतमप्यलम्बितपरिच्लिप्तविधाऽलय ।

गोपुच्छप्रमुखा ममेण यतयस्तिष्ठोऽपि सम्पादिता-

स्ताथौघानुगताश्च वाद्यविषयं सम्यक् प्रयो दर्शिता ॥’

अथवा, इस दूसरे उदाहरण में जहाँ सहीन की कला के विभाव का वर्णन पाया जाता है। शृङ्खलकटिक का पद्य है।

सहीन शास्त्र में प्रसिद्ध दस प्रकार के व्यवहार वाद्यों गोपुष्प, कल, डल, निष्कोटित, वदूट, रेफ, अनुबन्ध, अनुस्वनिता, बिन्दु तथा जयभृष्ट के द्वारा शीमावादन के समय भाव की व्यञ्जना कराई गई है। शीमावादन में हुत, मध्य तथा लम्बित इस प्रकार तीनों तरह की गीत की लय स्पष्ट छुनाई दे रही है। लय के कालभेद में कोई गड़बड़ नहीं है। शीमावादन ने गोपुच्छ, सना, तथा लोचोतगा इन तीन प्रकार की यतियों में लय की मधुरि के नियमों की क्रम से सम्पादित किया है। गोपुच्छादि यतियों के प्रयोग के नियम में कोई क्रममग्न नहीं हुआ है। साथ ही शीमावादन के समय तन्त्र, ओष तथा अनुगद इन तीन प्रकार की वाद्यविषयों को

१ लय तीन प्रकार का होता है — क्रियामन्तरविभातिलय स त्रिविधोमत । हुतो मध्ये विकम्बश्च हुत शीमनमो मत । द्विगुणादिगुणी येषौ तस्यान्मप्यविकम्बितौ ॥

२ आह्विको वाचिकश्च आहार्य स त्विकस्तथा । शेषस्त्वभिनयो विप्राश्रुतार्थं परिकल्पितं विविधस्तान्त्रिकी शेषं शरीरो मुखस्तथा । तथा चेष्टाकृतश्च शालाशीपात्रसञ्चतः ॥

३ विशय प्रोनभिनयागाहिकोऽत्राभिधीयते । तस्य शास्त्राङ्गो नृत्तं प्रधानं पितृवं मतम् । तत्र शालेति निस्वाद्य विचित्रा करवर्तना ॥ (सङ्गीतरत्नाकर)

भी अन्तरी तरह दर्शाया है। इस प्रकार समस्त व्यञ्जन चतुर्भों वा, लय के प्रियतर वा, तीन तरह को यन्त्रियों तथा वाद्यविधियों का प्रयोग बता रहा है कि धीमा दर्जाने वाला व्यक्ति बीनावादन की वृत्त में अलम्बित निपुण है।

वाद्यविभावो यथा कुमारसम्भवे—

‘अमृत राद्यः कुसुमान्यशोकं स्फुटं शोभयत्येव सपल्लवानि ।

पादेन नापैशत सुन्दरीणां सम्पर्कप्राप्तिश्चित्तनुपुरेण ॥’

काल (समय) के विभावपक्ष का उदाहरण, जैसे कुमार सम्भव के तृतीय सर्ग में वसन्त के आविर्भाव के वर्णन में वसन्त के कारण पशुओं तक में रतिभाव के सञ्चार का वर्णन—

दिमालय प्रदेश में शिवजी के आश्रम के आसपास वसन्त के फूल जाने पर अशोक के वृक्ष ने शाखाओं के कंधों तक पत्तों तथा पुष्पों को एकदम वपस्व कर दिया। उस वशोक वृक्ष ने भूदर से सहस्र सुन्दरियों के चरण की भी अपेक्षा न की। प्रायः यह प्रसिद्ध है कि अशोक में पुष्पोपति रूप शोद्ध रमणियों के चरणापात के कारण होता है। जैसा कि कहा भी जाता है—‘पादापातादशोकः’। अतः रमणियों के चरणापात का होना आवश्यक है। किन्तु शिवजी को पार्वती के प्रति आराध्य करने के लिए प्रस्थित काम की सहायता करने वाला वसन्त इस तरह से दिमालय में फैल गया कि वसन्त के सारे निद्र एकदम उपस्थित हो गये। अशोक के पक्ष तथा पुष्प, भिनका आविर्भाव वसन्त ऋतु में होता है, निकल आये, तथा उनसे सुन्दरियों के पादापात को भी प्रतीक्षा न थी।

इत्युपगमे—

‘मधु द्विरेफ कुमुदैकाने पपी त्रिषां स्वामनुवर्तमानः ।

श्रद्धेण संस्पर्शनिमोलिताशीं शृणीमकवहूयत कृष्णसारः ॥’

राम के सखा वसन्त के पदमें फैल जाने पर पशु-पक्षियों में भी रति का सञ्चार होने लगा, (पशुओं की तो बात ही निराश्री है)। भँवरा अपनी त्रिषा के साथ रह कर फूल के एक ही पाद से पराग या शब्द वा वाज करने लगा, ठीक वैसे ही जैसे कोई विष्णुजी मुख अपनी त्रिषा के साथ एक ही चपक से मधुदान करता है। काष्ठा द्विरेण अपने स्वर्ण के कारण बन्द झोंड़ो वाली (जिसने आँखें बन्द कर ली है) शृणी को अपने सींग से चुनलाने लगा। वहाँ भ्रमर तथा अमरी वा एक पुष्प-पाद से मधुदान करता, तथा वृष का शृणी को अपने सींग से चुनलाना तथा शृणी का उसके स्वर्ण को वाहर आर्ये बन्द कर लेना श्रद्धार रस के ही अनुभाव है।

विपविभावो यथा सप्तैव—

‘अशोकनिर्मलितपद्मरागमाट्टदरेमयुतिकविचारम् ।

सुणारुतापीकृतशिन्दुवारं पद्मन्तपुष्पाभरणं वहन्ति ॥’

वेध का विभाव, जैसे कुमार-सम्भव के निम्न उदाहरण में पार्वतीरूप भास्करन के वैश्व प्रियत विभाव का वर्णन किया गया है, जो शिवके मातृस में रति की पुष्ट कारण है—

जब पार्वती शिव के चरणों में गये कमलबीजों की गान्गा रखने आई, तो वसन्त वसन्त ऋतु के विवस्तिन पुष्पों के आभूषणों को पहन रहा था। उसके ये आभूषण, जो वास्तवी कुण्डलों के ये हस्तों या रत्नों के माण्डूणों से भी बहु बर मनोहर थे। वसन्त जिन अशोक पुष्पों को पहन रहा था, वे पद्मराग मणि की लीला को भी लजित कर रहे थे। अशोक वा वृक्ष भी लज होना है, पद्मराग मणि भी लज। उसके वसन्तमरण के वसन्त पुष्पों में मणि की

कान्ति को खींच लिया था। ये दोनों धीले रंग के होते हैं। तथा सिन्दुवार के फूलों के द्वारा उसने मोतियों की माला बना रखी थी। इस तरह अशोक, वर्णिकार तथा सिन्दुवार के फूलों से बना पार्वती का आभरण (वसन्ताभरण) पद्मराग, सुवर्ण तथा मोतियों के बने आभूषणों-सा लज रहा था, वैसा ही नहीं, किन्तु उससे भी कहीं बढ़ बढ़ कर।

उपभोगविभावो यथा—

‘चञ्चुर्लुप्तमयीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे

विभ्रान्ता कवरी कपोलफलेके लुमेव गानघुति ।

जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायकर्म-

र्मनो माननहातदस्तदणि ते चेतस्यखीवर्धितः ॥’

उपभोग-विभाव, जहाँ नायक या नायिका के उपभोग विभाव के द्वारा उनकी रति को व्यञ्जना हो। जैसे निम्न पद्य में—

कोई नायिका नायक से दुखी थी। पर रात के समय नायकने बड़ी मान-मनौटी करके उसका गुस्ता हलका कर दिया। फलतः दोनों रतिक्रीडा में भी प्रवृत्त हुए। सुबह नायिका को सखी ने उसके शरीर पर रति के चिह्न देखे, तथा यह अनुमान लगा लिया कि नायक ने उसे सुग कर लिया है। इसी बात को सखी नायिका से कह रही है।

हे तरुणि, तुम्हारे आँखों का कञ्जल-रूप छुन्न हो चुका है, तुम्हारी आँखों का सारा कञ्जल तो नहीं, पर उसका कुछ हिस्सा निच गया है, यह रति से ही हो सकता है। तुम्हारे नीचे के ओठ (अधर, न कि ऊपर का ओठ) की ताम्बूल के कारण उत्पन्न लम्बाई जैसे किसी ने निगल छोड़े, अर्थात् अधर का ताम्बूलराग भी नष्ट हो गया है। तुम्हारी कवरी (केशपाश) कपोल पर इस तरह पड़ी है, जैसे एक गई हो (रति के कारण छुन्न हो नहीं, तुम्हारी कवरी भी बक गई); तुम्हारे केश असवत्त हैं। और तुम्हारे शरीर की कान्ति भी जैसे नष्ट हो गई है, शरीर की शोभा भी मन्द पड़ गई है। ये सारी बातें बताती हैं कि रात को तुम्हने नायक के साथ सुरतक्रीडा की है। पर छुन्न तो कल मान किये नेठी थी न? ऐसा प्रतीत होता है, मेरा यह अनुमान है कि हे मानिनि, तुम्हारे प्रियतम ने अनेक उपायों द्वारा, तुम्हारे चित्त की स्थली पर बड़ा हुआ (उगा हुआ) मान का बड़ा वृक्ष आदिार होड़ ही गिराया। इन सब विषयों से यह स्पष्ट है कि नायक ने किसी न किसी तरह तुम्हारे श्लेते को हटा ही दिया।

प्रमोदात्मा रतिर्गया मालतीमाधवे—

‘जगति जयिनस्ते ते भावा नयेन्दुकलादयः

प्रकृतिमपुरा सन्त्येतान्ये मनो मदयन्ति ये ।

मम तु यदिर्यं पाता लोके विलोचनचन्द्रिका

नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥’

शुद्धार के लक्षण में यह बताया गया है कि रति स्थायी भाव में आरमा (हृदय) प्रसन्न रहता है, वह वलित होना है। अर्थात् रति आर की इसी विशेषता को बदाहृत करते हैं। मालती को देखने पर माधव की दृष्टा के वर्णन के द्वारा रति के रस प्रमोदात्मात्न को स्पष्ट करते हैं—

मन को प्रसन्न करने वाले, उसमें मद का सञ्चार करने वाले वहाँ सुन्दर भाव संसार में देखे जाते हैं। मनोचन्द्रमा को कल्प जैसे स्वामानिक चातुर्य वाले अनेकों दूतों के भाव लक्ष्य हैं, जिनसे लोगों का मन मरत हो उठता है। लोग उन्हें देखकर अपनी आँखों का उत्सव

मनासे हैं। पर मेरे विषय में बात ही दूसरी है। मेरे दृष्टिपथ में तो अश्रिवा के समान नेत्रों को आह्वयित करने वाली यह मालती अवतरित हो गई है। इसलिए मालती का जघनों का विषय बनना मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य है। मेरी तो ऐसी धारणा है कि इस जन्म में मेरे लिए केवल एक ही बात महत्त्व प्राप्त की रही है, और वह है मालती का मेरी आँखों के मागे से गुजरना।

युवतिविभावो यथा मालविकाभिभिन्ने—

‘दीर्घाक्षं शरदिन्दुचान्तिवदनं पाद्म मतावसयोः

संक्षिप्तं निदिदोषतस्तानसुरः पार्श्वे प्रकृष्टे द्वय ।

मध्याः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादापरालङ्कृती

छन्दो नर्तयितुर्यैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्त्या वयुः ॥’

युवतिविभाव, जहाँ नायिका के बौदन का उसके युवतित्व का वर्णन किया जाना। जैसे मालविकाभिभिन्ने नाटक में नायकी हुई मालविका की मुद्रा का तथा उसके द्वारा स्पष्ट दिखाई पड़ते उसके बौदन का वर्णन—

नायकी हुई मालविका को देख कर अभिभिन्ने बह रहा है—इसका मुख शरद के चन्द्रमा के समान सुन्दर है, जिसमें लम्बी-लम्बी आँखें हैं। इसके दोनों हाथ कन्धों के पास से झुके हुए हैं, तथा इसका बहःस्पर्श सङ्कुचित हो रहा है, जिसमें विभिन्न (पने) तथा लठे हुए रत्न दिखाई देते हैं, एवं इसके दोनों पार्श्वभाग सिमटे से हैं। मालविका का मध्यभाग (बन्द) स्तना पतला है, कि पाणि (मुठ्ठी) से नाचा जा सकता है, इसका जघनसङ्क नितम्ब के मारीचन के कारण कमरा हुआ है, तथा इसके दोनों पैरों को अङ्गुलियों गति की (बौदनादिभाव) के कारण, या नृत्य के कारण जगित) अस्तव्यस्तता से कुदिल (देखी) ही रही है। इसके सौन्दर्य को देख कर प्रसन्नता तथा सुखी से नाचते हुए मन का जैसा अभिभाव हीता है, ठीक उसी अभिभाव के अनुरूप इसका शरीर बना हुआ है।

यूनोर्ध्वभावो यथा मालतीमाधवे—

‘भूयो भूयाः सविधनगरीरव्यया पर्यटन्तं

दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलम्बीषु ज्जवालावनस्या ।

साक्षात्कारं मयमिव रतिमाँखणी माधवं य-

द्राक्षोरकञ्च सुकित्तल्लिखोरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥’

दोनों युवकों—नायकनायिकाओं—का विभाव, जहाँ दोनों के बौदन का वर्णन किया जाना। जैसे मालतीमाधव के प्रथम अङ्क का निम्न पद्य, जहाँ माधव तथा मालती दोनों के बौदन का वर्णन किया गया है:—

समीप की गली से बार-बार भूमते हुए, साक्षात् अतिनव काम के समान सुन्दर माधव को मद्दक के ऊँचे झुञ्जे से बार-बार देख कर रति के समान सुन्दर मालती आत्मपिक पण्डितिक होकर अपने कोमल तथा सुन्दर अहों से पीदित रहती है। सुन्दर माधव को देख-देख कर सुन्दरी मालती इसके प्रति आकृष्ट हो गई है, तथा उसको प्राप्ति के लिए उत्सुक है, तथा इस उत्सुकता के कारण उसके अङ्ग विरहवीक्षा से पीडित है।

अन्योन्याहारायो यथा तथैव—

‘शान्त्या सुहृत्कलितकन्यरुमानतं त-

दासुतावृत्तशतपञ्चनिभं महन्त्या ।

दिग्घोऽमृतेन च विषेण च पद्मनल्लक्ष्या

घाटं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥'

नायक तथा नायिका का परस्पर अनुराग, जैसे वहीं मालतीमाधव में ।

माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है । टेढ़ी टेढ़ी बाले कमल के समान सुन्दर टेढ़ी गर्दन वाले मुख को धारण कर, घाटी हुई उस सुन्दर नेत्रों वाली मालती ने एक साथ अमृत तथा विष से हुआ हुआ कटाक्ष (बाण) जैसे मेरे हृदय में खुर गहरा गहरा दिया ही । जब टेढ़ी गर्दन करके चलती हुई मालती ने मेरी तरफ तिरछी दृष्टि से देखा, ही मुझे आनन्द भी हुआ, तथा पीड़ा भी, मुझे एक साथ अमृत तथा विष से हुझे बाण की चोट का अनुभव हुआ, जैसे मेरा हृदय एक मधुमय पीड़ा का अनुभव कर रहा ही ।

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव—

'स्तिमितविकसितानामुल्लसन्मूलतानां

मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।

प्रतिनयननिपाते विधिदाकुपितानां

विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥'

अङ्गों की मधुर चेष्टाएँ, जैसे मालतीमाधव में ही मालती की मधुर चेष्टाओं या वर्णन—

मालती के दृष्टिपातों का मैं अनेक प्रकार से पात्र बना । मेरी ओर करं दृष्ट से मालती ने देखा । मालती के ये दृष्टिपात कभी बन्द होते थे, और फिर विकसित हो जाते थे, उसी भीलों की लक्षार्यं सुशोभित हो रही थीं, तथा उसके ये नेत्र कोमल, रिंग्म तथा कुछ-कुछ बन्द थे । मालती के ये नेत्रपात कोनों पर विस्तार बाधे थे, अर्थात् कानों तक फैले हुए नेत्रों के कोनों (कनक्तियों) से वह देखती थीं, एवं प्रत्येक नयनपात के बाद ये कुछ-कुछ आङ्कुचित हो जाते (सिमट जाते) थे । मालती ने भीहे नचा कर दीर्घ नेत्रों के द्वारा रिंग्म तथा कभी बन्द होते एवं कभी विकसित होते कटाक्षपात को नाना प्रकार से मेरी ओर किया ।

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव घाष्टौ

शिशमयो ये व्यभिचारिणश्च ।

एकोनपञ्चाशदमी हि भाषा

युक्त्या निवृत्ताः परिपोषयन्ति । (स्थायिनम्)

आलस्यमौढ्यं मरणं जुगुप्सा

तस्याश्चर्याद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥ ४६ ॥

अश्रित्तिसाधुभिचारिणघाष्टौ स्थायिन अष्टौ सात्त्विकाद्येत्वेकोनपञ्चारात् । युक्त्या-
अश्रित्तेनोपनिवृत्तमाना शृङ्गार सम्पादयति । आलस्यौढ्यजुगुप्सामरणान्निवृत्तान्-
नविभावाश्रयत्वेन साधारणत्वेन चोपनिवृत्तमानानि विरुध्यन्ते । प्रशरान्तरेण चाऽविरोध-
श्रक्तु प्रतिपादित एव ।

आठ सावज्ञ (सात्त्विक) भाव, आठ श्यामी भाव, और तैत्तिस व्यभिचारी भावों—
हृत् ४९ भावों-का काम्य में युक्तिपूर्वक निवृत्तन शृङ्गार की पुष्टि करता है । शृङ्गार के
अष्ट रूप में हृत् ४९ भावों का युक्तियुक्त निवृत्तन हो सकता है । किन्तु हृत् विषय में
एक बात ध्यान रखने की है कि आलस्य, औढ्य तथा मरण मामक सञ्चारी तथा

शुभ्रपत्ता नामक श्यायी का एक ही आत्मन्वय विभाव को आश्रय बनाकर किया गया उपनि बन्धन विरोधी होता है ।

द्वितीय अन्विचारी, आठ स्थायी तथा आठ सात्त्विक भाव थे २९ भाव हैं । शुक्ति का अर्थ है अक्षरूप में व्यभिचरक होना । अक्षरूप में निबद्ध होने पर ये शब्दर रस की परिपुष्टि करते हैं । आश्रय, औष्य, मरण, शुभ्रपत्ता आदि का एक ही आत्मन्वय विभाव को आश्रय बनाकर निबन्धन, मयवा कर्म्म रस का साक्षात् अक्ष बना देना शब्दर रस के विरुद्ध पड़ता है । अन्य प्रकार से निबन्धन करने पर विरोध नहीं होगा, इसे हम बता चुके हैं ।

विभागस्तु (शब्दररय)—

अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिविधः ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वात्प्रिलम्भस्यैतत्सामान्याभिप्रायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितशक्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्त, तथा हि—दत्त्वा सङ्गतमश्रातिऽप्यप्यतिवमे साप्येन नाधिकान्तरानुसरणात् विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वचनायर्थात् ।

शब्दर का विशेषण कर देने पर अब शब्दर के विभाजन का उल्लेख करते हैं —

शब्दर रस तीन प्रकार का होता है—अयोग, विप्रयोग तथा संयोग ।

विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग इसलिये नहीं किया गया है कि निप्रलम्भ सामान्य नामक व नायिका के संबन्धनात्मक को ही अभिहित करता है । उसके दो विशेष प्रकार पाये जाते हैं—अयोग (जो कि नायक-नायिका में पूर्वानुराग की अवस्था में पाया जाता है), तथा विप्रयोग । विप्रलम्भ शब्द इतना सामान्य है कि कहीं उसका उपचार के द्वारा दूसरे अर्थ 'प्रवक्षनात्मक' अर्थ न के लिये जाय, इसलिये भी अयोग तथा विप्रयोग की अलग अलग बताया गया है । जैसा कि प्रतिज्ञ है विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग, शब्दर रस पर का बन्धा करके नायक के न पहुँचने पर तथा नायिका के यहाँ पहुँचने पर नायककृत प्रवक्षना के लिये देखा जाता है । विप्रलम्भ का मुख्य प्रयोग यही है । इसीलिये यहीना चिका को विप्रलम्भा कहते हैं । अतः कहीं यह अर्थ न के लिये जाय, इसलिये 'विप्रलम्भ' शब्द का प्रयोग बताया गया है ।

तत्राऽयोगोऽनुरागोऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥ ३० ॥

पारतन्त्र्येण दैघादा विप्रकर्षाद्द्वैतङ्गमः ।

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तादभावस्त्वयोग —पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्द्वैतविज्ञानाद्यस्ता-स्तागरिकाभावर्योर्वैतराजभाषनाभ्यामित्य दैघादौरीशिवयोरिवात्समानमोऽयोगः ।

अयोग शब्दर की स्थिति यह है, जहाँ दो चतुर्वर्णों (नायक-नायिका) का एक दूसरे के प्रति परस्पर अनुराग होता है, उनका चित्त एक दूसरे के प्रति व्याकृत रहता है, किन्तु परतन्त्रता (पिता, माता आदि के कारण), या देव, के कारण ये एक दूसरे से दूर रहते हैं, उनका सङ्गम नहीं हो पाया । अयोग शब्दर की स्थिति में दोनों में एक दूसरे के प्रति पूर्वानुराग की स्थिति होती है, पर उनका मिलन किन्हीं कारणों से नहीं हो पाया ।

योग का अर्थ है नायक-नायिका का परस्पर समागम । इस समागम के अभाव को ही अयोग कहते हैं । यह अयोग या तो पिता-मादि के आधीन होने के कारण, परतन्त्र होने के कारण होता है, विनादि की अनुमति न होने से यह समागम नहीं हो पाता । जैसे राजाकी नायिका में सागरिका देवी वासवदेवा के आधीन है, अतः वहाँ दोनों का योग वासवदेवा की परतन्त्रता

के कारण नहीं हो पाता । माल्मीमाभव को मालती पिता के आधीन है, तथा उसके पिता श्री मभव के क्रुद्ध से घब्रता है, अतः वहाँ भी पारतन्त्र्य के कारण प्रारम्भ में अव्यय दशा ही रहती है । देव के कारण नायक-नायिका के अव्यय का उदाहरण शिव तथा पार्वती के अव्यय भी ले सकते हैं, जहाँ शिव के प्रतिष्ठा कर लेने के कारण देवदश दोनों का समागम नहीं हो पाता, जैसे कि कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग तक उपनिबद्ध हुआ है ।

दशावस्थं स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥ ५१ ॥

स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसञ्चराः ।

जडता मरणं चेति दुरघस्थं यथोत्तरम् ॥ ५२ ॥

अभिलाषाः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।

दृष्टे भ्रुते था तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥ ५३ ॥

साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्रच्छायामायासु दर्शनम् ।

ध्रुतिव्याजात्सखानीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥ ५४ ॥

इस अव्यय शृङ्गार की दस अवस्थाएँ होती हैं — अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुण-कथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, सञ्चर, जडता तथा मरण । इनकी प्रत्येक उत्तर अवस्था पहले से अधिक तीव्र होती है, अभिलाष वह अवस्था है जब कि सर्वाङ्गसुन्दर नायक के प्रति नायिका की समागमरूप इच्छा उत्पन्न होती है । यह इच्छा उसको साक्षात् देखने पर या उसके चित्र को देखने पर, अथवा उसके विषय में सुनने पर होती है । इस दशा में आश्चर्य, आनन्द, सम्भ्रम आदि भावों की प्रतीति होती । नायक या नायिका का दर्शन साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा या हृद्भ्रजल आदि माया के द्वारा हो सकता है । अपना यह सत्वियों आदि के गीत, या मन्त्र आदि के गुणस्तवन के सुनने के बहाने से भी हो सकता है ।

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

‘असुराय क्षत्रपरिग्रहक्षमा श्चर्यमस्यामभिलाषि मे मन ।

सर्वां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तकरणप्रवृत्तयः ॥’

अभिलाष का उदाहरण, जैसे अविद्यान शाकुन्तल में शाकुन्तला को देखने पर दुष्पन्न को उसके प्रति इच्छा हो जाती है —

यह सुन्दरी सापसकन्त्या निन्देह क्षयिण के द्वारा परिणयन के योग्य है, क्योंकि मेरा पवित्र मन इसके प्रति अभिलाष युक्त हो रहा है । सन्देह के स्थलों में उत्पन्न तथा पवित्र चरित्र वाले व्यक्तियों की अतः कारण-वृत्तियों ही प्रमाण होती हैं । मुझे अब तक इसके विषय में यह सन्देह था कि यह माहात्मकन्त्या है या क्षत्रियकन्त्या है । यदि यह माहात्मकन्त्या होती, तो क्षत्रिय रहते विवाह कर नहीं सक्ता, पर मेरा मन इसके प्रति अभिलाष युक्त हो रहा है । मेरा मन अत्यधिक पवित्र है, अतः मेरा मन इस बात का प्रमाण है कि यह क्षत्रिय के द्वारा विवाह करने योग्य अवयव है ।

विस्मयो यथा—

‘स्तम्भालोक्य तन्वञ्च्य शिरः कम्पयते मुखा ।

सयोरन्तरनिर्मासं दृष्टिमुत्पादयन्निव ॥’

विस्मय (आश्चर्य) का उदाहरण, जैसे—

वस क्षीयन् महो बाली हृष्टरी के स्तनों को देखकर (वर) युवक उदर को कंपाने

कृता है, मानों उसको स्वर्गों के भीष में फेंकी हुई अपनी दृष्टि को अवर्तती चक्र निकाल रहा हो । इस नायिका को हतनों का विस्तार-भार तथा उसके द्वारा अनुमित काठिन्य भी पहचाना पर, तथा उनके आलिंगनवोध्यास को जान कर सुबक अत्यधिक आश्चर्य चकित हो जाता है, वह आश्चर्य से तिर दिवाने लगता है ।

भानन्दो यथा विम्वराकभधिराधाम्—

‘सुभाषदमावैश्वर्यनकोरैः क्वन्तितां

किरक्योत्सामप्यर्षां क्वलिफलपाकप्रगमिनीम् ।

उपप्रानाराप्तं प्रद्विष्टु नवने तर्क्य मना-

गनात्तरो वीड्यं गक्तिहरिण’ शीतकिरण ॥’

भानन्द, जैसे राजेश्वर को विद्वशात्मजिवा नायिका में नायक नायिका की देखकर भानन्दित हो जाता है । हतनों स्पष्टता नायक की इस कति से हो रही है:—

जरा इस परकोठे की आगे दिरने पर ली इष्टि यकी । कुछ अनुमान तो क्वाको कि आकाश के बिना ही, उस परकोठे पर बिना बिरण माला (बिरका दिरण का बलक मल गया है), वह चन्द्रमा कौन है । वह चन्द्रमा चारों ओर स्पष्ट चोंदनी की छिटका रहा है, और क्यलीकता के पके बलों के सामान भेन उस चन्द्रिका को आश्रय का मास समझ कर प्रहण करने वाले, उपवन के चकोरों के द्वारा उसका पाव किया गया है ।

यहाँ नायिका के चन्द्रमा को समान सुन्दर सुलगण्डक को देखकर नायक यह तर्क कर रहा है कि आकाश के बिना ही परकोठे पर चन्द्रमा कैसे हो सकता है, और वह भी फिर निष्कल चन्द्रमा । नायिका के कुछ ही चन्द्रमा समझ कर तथा उसकी चान्ति की चन्द्रिका समझ कर उपवन के चकोर बतकी और दक्यवी लगाये हैं, या उसकी कांति का पाव कर रहे हैं, इसके द्वारा भान्तिभाष अलङ्कार की मधीति होती है ।

शाश्वसं यथा कुमारसम्भवे—

‘तं कीदृश वैपथुमती सरसाहयष्टि-

निधेनगाय पदमुद्धृतमुद्धन्ती ।

मार्गावलम्बितिकराकुलिम्येय सिन्धु

सौलविप्राकृतयया न ययी न तस्यौ ॥’

सम्भवे, जैसे शिव की सामने देखकर कुमारसम्भवे में चरित पार्वती की दया—

शिव की अपने सामने देखकर सरस आँसू वाली दिवालक की पुत्री पार्वती कोपने लग गई । इस क्षान से पके आने के लिए उठथे हुए एक पैर को भारण करती हुई पार्वती हनी सम्मान्य हो गई कि वह मार्ग में पर्वत के द्वारा टोक विधे जाने के कारण चञ्चल तथा व्याकुल नदी के समान न हो यहाँ से जा ही सके न यहाँ ठहर ही सके ।

यथा सा—

‘व्याहृता प्रतिश्रवां न सन्दधे चन्धुनैल्लदवलम्बित्यायुका ।

सेवते स्म शशरं पराशुमुची या तथापि रतये पिनाकिन ॥’

अथवा, जैसे कुमारसम्भवे में ही पार्वती को इस अवस्था का वर्णन—

जब शङ्कर बसे प्रकारते थे, तो वह अणु ही नहीं देती थी, जब शङ्कर उसके भीषल को पकड़ लेते थे, तो वह उठकर जाना चाहती थी, और एक शम्बा पर सोते समय वह बूखी और मुँह काले सीती थी । इस तरह यद्यपि वह शङ्कर या रतिक्रीडा में विरोध ही करती थी, किन्तु फिर भी इन विवाहों के द्वारा शङ्कर में रति (अतुराग) की ही उत्पन्न करती थी ।

सानुभावविभावास्तु चिन्तायाः पूर्वदर्शिताः ।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वाच्च व्याख्यातम् ।

चिन्ता आवृत्ति का तो हम अनुभाव व विभावों के साथ पूरी तरह वर्णन पहले ही कर चुके हैं। भाषायों ने प्रायः इन्हीं दश अवस्थाओं का निदर्शन किया है। वैसे इन अवस्थाओं के अनेक प्रकार देखे जा सकते हैं और उनका वर्णन महाकवियों के प्रश्नों में मिल सकता है।

यहाँ गुणकीर्तन का अलग से लक्षण या व्याख्या नहीं है, इसका कारण यह है कि वह स्पष्ट है। महाकवियों के प्रश्नों में जो दूसरी दशार्थ पाई जाती है, उनका दिष्टान निदर्शन यहाँ किया जाता है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निदर्शितम् ॥ ५५ ॥

महाकविप्रवन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

दिष्टानं तु—

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाश्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥ ५६ ॥

अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

श्रेयं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

यथा प्रिय के दर्शन या भ्रवण से जनित अभिलाषा से औत्सुक्य पैदा नहीं होता, प्रिय के न मिलने पर निर्वेद तथा उसके विषय में अत्यधिक चिन्तन से ग्लानि उत्पन्न नहीं होती क्या ? इस तरह अभिलाष दशा में औत्सुक्य, निर्वेद तथा ग्लानि की अवस्था भी पाई जाती है।

अयोग की दशा में प्रिय कर अनुराग किया जाता है, तथा दूसरी भी भावें पाई जाती हैं, उनका ध्यान वात्स्यायन के कामधर्म से प्राप्त करना चाहिए।

अथ विप्रयोग—

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविश्वम्भयोर्द्विधा ॥ ५७ ॥

मानप्रवात्समेवेन, मानोऽपि प्रणयेर्ध्वयोः ।

प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोगस्तस्य द्वौ भेदौ—मानं प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः—

प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

विप्रयोग या वियोग शब्द में नायक तथा नायिका का समागम नहीं होता। यह समागमभाव एक बार समागम हो छेने के बाद की दशा का है। यह वियोग या तो बहुत अधिक (रूढ) हो सकता है, या खाली प्रेम का ही एक बहाना हो सकता है। इसके अनुसार यह दो तरह का हो जाता है प्रवास रूप वियोग, जो रूढ होता है, जब कि नायक विदेश में होता है, तथा मानरूप वियोग, जब प्रियकृत अपराध के कारण नायिका मान किये बैठी रहती है। मानपरक वियोग या तो प्रेम के कारण होता है, या ईर्ष्या के कारण।

मिथे हुए नायक नायिका का अलग हो जाना विप्रयोग (वियोग) कहलाता है। इसके दो भेद हैं—भाव तथा प्रवास। मान भी दो तरह का होता है—प्रणयमान तथा ईर्ष्यामान।

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपोषसितयोर्ध्वयोः ॥ ५८ ॥

१. 'कोपावेधितयो' इति पाठान्तरम् ।

प्रेमपूर्वके वरतीकारः प्रणयः, तद्गतो मानः प्रणयमानः स च इयोर्नायकयोर्भावति ।
तत्र नायकस्य यथोत्तरामचरिते—

‘अस्मिन्नेव स्तत्रगृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतश्रैगुणा विरमगुणोदापरीसैक्ये ।
आयांत्या परिदुर्भनावितमिष त्वां धीक्ष्य यद्वस्तया

धत्तयादिरविन्दकृन्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥’

नायक नायिका में से एक के या दोनों के कोप युक्त होने पर, मृदु रहने पर प्रणयमान वाष्ठा विप्रयोग होता है ।

प्रेमपूर्वक दूसरे की वश में करना प्रणय ध्येयता है । इस प्रणय की वश करने वाला नायक प्रणयमान कहलाता है । यह नायक तथा नायिका में जाता जाता है । नायक के प्रणयमान का उदाहरण, जैसे उषररामचरित के इस पद्य में राम का मान—

शुद्धिहीन बालनी राम की पुरानी बातें याद दिला रही हैं । ठीक रही स्तत्राज में तुम सीता के मार्ग को देखते हुए, उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उषर शोधानरी के तीर पर गये हुए सीता, नदी की रेतों पर हंसों से देखने लग गई थी, और रतीक्षिप देर हो गई थी । अब यह शोकर काहे तो उसने तुम्हें बरा बरा देखा, जैसे तुम मृदु से हो । इसलिये तुम्हें प्रसन्न करने के लिए उस सीता ने काशरता के साम बमल की कली के समान हाथों की अञ्जलि बांध कर तुम्हें भोले दृष्ट से प्रणाम किया था ।

नायिकाया यथा श्रीयावपतिराजदैवत्व—

‘प्रणयकुपितो हृद्गा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
क्षिप्रुवनयुद्धर्मित्या सयाः प्रणयपरोऽभावत् ।

नमित्तशिरसो यद्वालोके तथा चरणाहता-
यवद्भु भयतस्त्वयश्चैतद्विलक्ष्यमवस्थितम् ॥’

नायिका का प्रणयमान, जैसे श्रीयावपतिराजदेव के इस पद्य में—
दोनों छोरों के वृज्य महादेव ने जब देवी पार्वती को प्रणयमान के कारण मृदु देखा, तो वे सम्भ्रम तथा आश्चर्य से युक्त शोकर, सर के मारे शिर मुता कर एकदम प्रणय करने लगे, तिससे पार्वती प्रसन्न हो जाय । पर महादेव के शिर को नीचा कर लेने पर पार्वती ने गद्गा (पार्वती की सौत) को देना दिया । तब तो यह और अधिक मृदु हो गई, तथा उसने अपना चरण महादेव के शिर पर धिराया । इससे महादेव बड़े रुचिकत हुए । तीन शीतों वाले महादेव का यह कठिन होना आप लगेगी की रसा गरे ।

उभयः प्रणयमानो यथा—

‘पण्यकुपितस्यापि शोषवि अलिभयसुखाना माणदन्ताणम् ।

निष्ठाभिः कृद्गणीसास्रदिष्णमग्नाणा यो म्लो ॥’

(‘प्रणयकुपितयोर्दयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।

निष्कलनिष्कलनिष्कारात्सर्वमयोः को मलः ॥’)

नायक तथा नायिका दोनों का प्रणयमान, जैसे इस गाथा में—
बताओं तो सबी, प्रणयमान किये बैठे, छुटे ही सोये हुए, दोनों मानी मिय तथा तिया में, बिलने बिना दिलने दुःखे अपने छीरा रीक रकते है, तथा कानों को एक दूसरे के निःश्रास

को सुनने के लिए, यह जानने के लिए वह सीधा है या नहीं, खड़े कर रखे हैं—कौन अधिक मरुत (जोरदार) है। नायक तथा नायिका दोनों एक सा 'मान किये बैठे हैं तथा झूठमूठ सो रहे हैं। इस तरह का मान करने में जोरदार कौन है यह निर्णय करना कठिन है, दोनों ही मान करने में बड़े प्रबल हैं।

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।

ध्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, ध्रुतिस्तत्र सखीमुच्चात् ॥ ५९ ॥

उत्स्वप्नायितभोगाङ्गोऽस्त्रलनकल्पितः ।

त्रिधाऽनुमानिको, दृष्टः सादाविन्द्रियगोचरः ॥ ६० ॥

ईर्ष्यामान पुन स्त्रीणामेव नायिवान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सत्यन्यासङ्ग
ध्रुतो वाऽनुमितो दृष्टो वा (यदि) स्वप्न । तत्र ध्रुतं सखीवचनात्तस्या विश्वास्यत्वात् ।

प्रिय के किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त होने पर कियों में जो क्रोध होता है, वह ईर्ष्याकृत मान होता है। यह नायक की अन्यासक्ति या तो स्वयं भाँखों से देखी हो, अथवा यह अनुमान कर ले (नायक के शरीर पर परकी सम्भोगादि चिह्न आदि देखकर इसका अनुमान कर ले) अथवा किसी के मुख से सुन लें। इस सम्बन्ध में प्रिय की अन्यासक्ति की ध्रुति सखी के मुँह से हो सकती है।

प्रिय की अन्यासक्ति का अनुमान तीन तरह से हो सकता है—या तो नायक स्वप्न में उस अन्य नायिका का नाम ले ले, या फिर नायिका उसके शरीर पर अन्य स्त्री भोग के चिह्न देख ले, या नायक गलती से ज्येष्ठा को पुकारते समय उल कनिष्ठा का नाम ले बैठे (भोजन खलित कर बैठे)। वसुधा अन्य नायिका से प्रेम इतरूप में तर होगी कि जब कि नायिका स्वयं अपने भाँखों से देखने, या कानों से उन्हें प्रेमाकार करते हुए सुन ले।

ईर्ष्यामान केवल कियों में ही पाया जाता है (नायकों में नहीं)। नायक को किसी दूसरी नायिका की प्रेम करते देखकर, सुनकर, या अनुमान करके यह ईर्ष्यामान होता है। इसमें सुनना सखी के बचनों से होगा, क्योंकि सखी विश्वस्त होती है, खलित मूठ नहीं कह सकती।

यथा ममैव—

‘सुधु त्वं नवनीतकल्पहृदया केनापि दुर्पन्निष्णा

मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता ।

किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हित’

किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मात्सुहृत् ॥’

मानवतो नायिका को नायक कर रहा है। हे शम्भर भौहें वाली सुन्दरी, क्या तो सखी डरी सखा देने वाले किस व्यक्ति ने जो बाहर से मीठी मीठी बाने करने वाला है, और झूठे ही तुम्हारा प्रिय करने वाला है, तुम्हारे प्रिय कार्य करने का दिशावा करता है, मस्खन के समान कोमल हृदय वाले तुम्हें हमारे प्रति मानवती (चण्डी) बना दिया है। जरा तुम यह तो सीच लो, कि तुम्हारे सारे प्रिय व्यक्तियों में तुम्हारा सखा हिलेवी कौन है—तुम्हारा सखा हिलेवी, तुम्हारी धाय की लुब्धी है, या हम है, या फिर तुम्हारी सखी है, या हमारे प्रिय।

उत्स्वप्नायितो यथा स्वप्न—

‘निर्ममेव मयाऽम्भसि स्वरभारादानीं समाक्षिप्ता

केनालैवमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यति ।

इत्युत्स्वप्नपरम्परया शम्भो भुत्वा वचः शार्ङ्गिणः

सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठप्रहः पातु नः ॥

उत्स्वप्नाविध, जहाँ नायक स्वप्न में परनायिका का नाम ले बैठे, और नायिका उसे पुन ले। जैसे, वर कवि के इस पद्य में—

पानी में डूबे हुए गीने काम के बोध के कारण किसी तरह उस सखी का आलिङ्गन कर लिया था, हे राधे, तुमसे यह झूठी बात कि मेरा प्रेम उस सखी से है, कितने बड़ ही, तुम बिना बात ही क्यों डुपी हो रही हो। निद्रा के समय स्वप्न में कहे गये विष्णु (कृष्ण) इन वचनों को सुनकर किसी न किसी बहाने से लक्ष्मी (सुखिणी) ने अपने हाथ की उनके कण्ठ से हथ लिया, कण्ठप्रह को शिथिल कर दिया। इस तरह से कमला के द्वारा शिथिलि विष्णु का कण्ठप्रह तुम्हारी रक्षा करे।

भोगाद्भ्रातृमिती यथा—

‘नवनटानदमङ्गं गोपयस्व्यंशुभेन

स्मगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।

प्रतिदिशामपरखीसङ्गांसी विरापैर्

नवपरिमलमन्धः येन शम्भो परीतुम् ॥’

भोगाद्भ्रातृमित अन्वयासक्ति, जैसे शिशुपालवध के पचादश सर्ग के इस पद्य में—

कोई नायिका अपराधी नायक के शरीर पर परखी रात्रोग के पिढ देसकर उसे शिथिली कर रही है। तुम इस वच से नायिका के लक्ष्यत से युक्त अङ्ग को छिपा रहे हो; तथा उसके दाँतों से काटे हुए मपरौष्ठ की हथ से टक रहे हो। पर यह तो बताओ, अन्य की सम्भोग की छवना देता हुआ, चारों दिशाओं में फैलता हुआ यह नवीन मन्ध किस वक्र से छिपाया जा सकता है। वह गन्ध ही बता रहा है कि तुम अन्य नायिका का लपभोग करके आ रहे हो।

गोत्रस्खलनकदिपतो यथा—

‘केलीगोत्रकलत्रे विकुम्पद् केवलं श्रयाणन्ती ।

दुष्ट उग्रसु परिहासं जाया सधं विश्र पहण्या ॥’

(‘केलीगोत्रस्खलने विकुम्पति नैतममजलन्ती ।

दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यामिव प्रकृदिता ॥’)

गोत्रस्खलन के द्वारा अनुमित अन्वयासक्ति, जैसे मित्र गाथा में—

कोई नायिका नायक के गोत्रस्खलन को सुनकर रोने लगी है। यह देखकर सखी बड़ रही है। हे अन्यासक दुष्ट, मजाक तो देखो, तुम्हारी पत्नी स्वयम् वी तरह रो रही है मीका के समय तुम्हारे गोत्रस्खलन के कारण, एक को न जानती दुई बड़ मान कर रही है।

हयो यथा श्रीमुपस्य—

‘प्रणयकुचितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-

स्त्रियुवनपुङ्गव्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।

नमितशिरसो राजालोके तथा चरणाहता-

यवत् भवतस्वशर्यैतद्विलभमवस्थितम् ॥’

इष्ट अन्यासक्ति, जैसे वाचपतिराज मुञ्ज का यह पद्य—

सीने छोड़ने के पूज्य महादेव ने जब देवी पार्वती की प्रणवमान के कारण कुपित देखा,

हो वे सम्भ्रम तथा आश्चर्य से शुक्ल होकर, हर के मारे सिर झुकाकर, एकदम प्रणाम करने लगे, जिससे पार्वती प्रसन्न हो बाय। पर महादेव के सिर को भीचा कर लेने पर, पार्वती ने गङ्गा (पार्वती की सौत्र) को देल लिया। तब ही वह भीर अधिक कुपित हो गई, तथा उसने अपने चरण को महादेव के सिर पर मार गिराया। इससे महादेव बड़े लज्जित हुए। हीन गाँवों वाले महादेव का यह लज्जित होना बाय लोगों की रक्षा करे।

एषाम्—

यद्योत्तरं गुरुः पद्भिर्भूपायेस्त्वमुपाचरेत् ।

साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥ ६१ ॥

एषाम् = श्रुतात्मितदृष्टान्यसङ्गप्रदुत्तानामुक्ताना मानानां मध्ये उत्तरोत्तरं मानो गुरु=ह्येतेन निवार्यो भवतीत्यर्थ । तम्=मानम् । उपाचरेत्=निवारयेत् ॥ ६१ ॥

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सस्युपार्जनम् ।

दानं ध्याजेन भूपादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ ६२ ॥

सामादौ तु परित्सीये स्यादुपेक्षावधीरणम् ।

रभसत्रासहर्षादेः कोपधंशो रसान्तरम् ॥ ६३ ॥

कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

श्रुत से लेकर दृष्ट अन्यासक्ति तक प्रत्येक परवर्ती प्रमाण से सिद्ध नायक की अन्यासक्ति पूर्ववर्ती से अधिक कठिन होता है। नायिका के इस ईर्ष्याभाव को छुः तरह से हटाया जा सकता है—साम, भेद, दान, नति (प्रमाण), उपेक्षा, या रसान्तर (अन्य रस के द्वारा)। मधुर प्रिय वचनों का प्रयोग साम नामक उपाय है। उसकी लसी का सहारा लेना भेद है, तथा गहने आदि के बहाने सुना कर लेना दान है। पैरों पर गिरना नति कहलाता है। यदि सामादि चार उपाय काम न करे तो नायिका के प्रति उदासीनता बरतना, उपेक्षा कहलाती है। क्षीघ्रता में उपेक्षा भव तथा दर्प आदि के द्वारा कोप को नष्ट कर देना रसान्तर कहलाता है। क्रियों की कोपचेष्टाओं का वर्णन तो हम बतल ही चुके हैं।

तत्र प्रियवचं साम यथा समैव—

‘स्मितग्योःश्राभिस्ते धनलयति विश्वं मुञ्जरासी

दरास्ते पत्न्युपद्रवमिव निमुचन्ति परितः ।

वपुस्ते लवणं किरति मधुं दिशु तदिदं

कुमारते पाशुवं सुतनु ददयेनाथ गुणितम् ॥’

प्रिय वचनों का प्रयोग साम कहलाता है, जैसे धनिक का स्वयं का यह पय—

हे सुन्दर नज़रों वाली प्रिये, तेरा मुखरूपी चन्दना सारे संसार को अपनी मुखराइट की चोदनी से खिंच बना देगा है, तेरी दृष्टि जैसे चारों तरफ अक्षय का दरवाज़ा गिराती है, तेरा यह शरीर सब दिशाओं में मधुर सौन्दर्य (लवण) को बिखार रहा है। इन सब बातों को देखते आश्चर्य होता है कि आभ तेरे हृदय के साथ कठोरता का सम्बन्ध कहीं से हो गया।

यथा वा—

‘इन्दीवरेण नयनं मुत्तमम्युजेन

कुन्देन दन्तमपरं नवपल्लवेन ।

अज्ञानि चम्पकदलैः स विधाव पेधाः

कान्ते फर्यं रन्धितवानुपलेन चेतः ॥'

अथवा, जीते इस पद में—

हे सुन्दरी, उस मदा ने तेरे नेत्रों की नील कमल से, मुख को लाल कमल से, दाँतों को कुन्द-कली से, लहर को नई लाल कोपल से, तथा जनों की चम्पे की पंखुड़ियों से बनाकर दशप (चित्त) की पत्थर से बीसे बनाया ।

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यया मयैव—

'कृतोऽप्याज्ञामग्रे कथमिव मया ते प्रणतयो

धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजति वयं युष्मद् वधुशः ।

प्रक्षोपः कोऽप्यन्यः पुनरस्यसीमाथ गुणितौ

वृथा यत्र क्षिग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥'

नायिका को सखी के द्वारा उद्ये वध में करने की चेष्टा भेद कहलाता है। भेद का उदाहरण जैसे पत्थर का ही निम्न पद—

नायक मानवती नायिका से कह रहा है । हे सुन्दर भीड़ों वाली रगणी, माहा का मह्व कर देने पर भी मैंने किमी तरह तुम्हें कई बार प्रणाम किया था और तब तुम हँसकर मुझे को हाथों हाथ खींच देती थी । ऐसा अनेकों बार हुआ है । पर इस बार भी पता नहीं, तुम्हारा बह गुरात दूसरे ही दह का है, वह अत्यधिक बड़ा चडा तथा निःसीम दिखाई पड़ रहा है, जिस मोप ने भिव सखियों के मयुर स्नेहपूर्ण वचन भी व्यर्थ हो गये हैं । पहले तो मैं चरणों में गिरकर ही तुम्हें सुख कर लिया करता था, पर इस बार तो सखियों का अनुभव भी व्यर्थ हो रही है, पता नहीं आज ऐसी अधिक कुछ क्यों हो रही हो ।

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माधे—

'सुहृत्पदसित्तगिवालिनादै-

दितरसि नः कलिद्यं किम्पमेताम् ।

अधिरजनि गतेन धात्रि तस्याः

शठ कलिरेव मह्यंस्त्वयाऽथ दत्तः ॥'

आभूषण आदि के बदाने से दान के द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा, जैसे शिशुपावक के साम सग्न में—

कीर्ण नायक रात भर दूसरी नायिका के पास रहा । अब वह लौट कर आया तो नायिका मान किने थी । उसे प्रसन्न करने के लिए वह किसी लडा की कलिष्ठा को टक्को समाने के लिए देना चाहता है । उसे कलिष्ठा देने हुए देख कर ज्येष्ठा नायिका अथवा सुनते हुए कह रही है—हे शठ, भँवरों के पुञ्ज से मागों उपद्रुतित (जिसकी हँसी बुराई करे है), इस कली को हमें बार-बार क्यों दे रहा है । अरे शठ, उस नायिका के घर पर रात भर रह कर तुने पहले ही दने उस महान् दुःख तथा बलेश की (कलि की) दे दिया है ।

पादयोः पतनं नतिर्यथा—

'छेउरकोटिविलम्बं विहुरं ददसस्त पाश्र्वविक्रम्य ।

द्विचञ्चं गालपडत्वं उम्मोसं सि धिय कश्ये ॥'

(मयुरकोटिविलम्बं विहुरं ददितस्य पादपतितस्य ।

ददस्य मानपदोत्वमुन्मुपमित्येव कथयति ॥)

नायिका के पैरों पर गिरना नति करछात्रा है—बैठे इस गाथा में—

त्रिधा के पैरों पर गिरे हुए, त्रिध के केश, जो त्रिधा के नूपुरों में बल्लभ गये हैं, इस पात्र को धरना दे रहे हैं, वि नायिका के मानी दरश को अब मान से मुटकारा मिल गया है।

उपेया सदवधीरणं यथा—

‘किं गतेन गहि दुक्तमुपैतुं नेश्वरे परशुता गतिं याच्यो ।

आनयैनमनुनीय वयं वा विप्रियाणि जनयत्तनुनेय ॥’

त्रिधा के प्रति वरार्थानत्र दर्शाना उपेया करछात्रा है, जैसे—

किसी नायिका के पास अपराधी त्रिध भात्रा है, पर वह मान किये बैठी है। उसे मनाने के लिए नायक अनेक उपाय करता है, पर स्वयं जाते हैं। तब वह वहाँ से उपेया त्रिधा कर पना आत्रा है। उसके चले जाने पर नायिका का मान टण्डा पड़ता है और वह अपनी खाली (दूरी) को उने पुन कर लाने को कह रही है। वह चला भी गया हो गया, उसके पास जाना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसने अपराध किया है। पर इतना होने पर भी वह समर्थ है, सब कुछ उचित अनुचित कार्य कर सकता है। इसलिए समर्थ के प्रति कठोरता दिखाना, उसके प्रति अब भी मान किये बैठा रहना, ठीक नहीं है। देखिये, हम नाभो और किमी तरह उसे मना कर ले आभो, अथवा हम लोगों का अपराध करने वाले व्यक्ति (नायक) को मनाया भी कैसे आ सकता है।

रमसशासह्यादे रसान्तरात्क्रेपत्रंशो यथा भवेव—

‘अभिव्यञ्जलीकं सञ्चलदिकलेपायविमव-

धिरं प्वात्वा सद्यं कृतकृतकंरंम्मनिपुणम् ।

इत शृष्ठे शृष्ठे किमिदमिति चन्द्रारय सहगा

कृताच्छेप्यं धूर्तं स्मितमधुरमालिङ्गति वधुम् ॥’

भय हर्ष आदि के द्वारा किसी दूसरे रस की उत्पत्ति के कारण शीघ्र का शान्त होना, जैसे धनिक का यह स्वरचित पद्य—

नायक का अपराध प्रकट हो गया है, इसलिए नायिका बड़ा मान किये है। नायक कई प्रकार से उसे मनाने के उपाय करता है, लेकिन वह असफल होता है। इसके बाद वह उसे प्रसन्न करने का कोई तरीका सोचने के लिए बड़ी देर तक सोचविचार करता है। फिर तरीका सोच लेने पर एक दम हठे दर का बड़ी निपुणता से बहाना बरके वह ‘वह पीछे क्या है, यह शर पीछे क्या है’ इस तरह नायिका को एक दम बरा देता है। इससे दर दर नायिका उसकी ओर झुकती है, वह मुस्कराहट व मधुरता के साथ आलिङ्गन करती हुई नायिका का आलिङ्गन करता है।

अथ प्रवासविप्रयोग—

कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात्प्रयासो मिश्रदेशता ॥ ६४ ॥

द्वयोस्तत्राधुनिःश्वासकार्यंलम्यालकादिता ।

स च भाषो भवन् भूतस्त्रिधाचो बुद्धिपूर्वकः ॥ ६५ ॥

आद्य कार्यज समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद्भूतमभिव्यक्तमानतया मित्रिष ।

अथ प्रवासजनित विप्रयोग का लक्षण निश्चय करते हैं—

किसी काम से, किसी गद्यवर्षी से, या शाय के कारण नायक-नायिका का अलग-

बलाग रहना, उनका मित्र-मित्र देश में स्थित होना, प्रवास विप्रयोग है। इसमें नायक तथा नायिका दोनों ही में लज्ज, निश्वास, दुर्बलता, बालों का न सँवारे जाने के कारण छम्पा होना, आदि अनुभव पाये जाते हैं। यह प्रवास विप्रयोग तीन तरह का होता है—भावी (भविष्यत्), भवत् (वर्तमान) तथा भूत; जब कि प्रवास होने बाढा हो, हो रहा हो, या हो चुका हो।

इसमें पहले दृश का नायक का प्रवास किसी कारण से होता है; जैसे नायक समुद्रयात्रा में गया हो अथवा कहीं नौकरी आदि के लिए विदेश गया हो। यह प्रवास भी बुद्धि के अनुसार तीन तरह का होता है—भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानरूप इन्हीं के उदाहरणों को कथनः बताते हैं—

तत्र यास्यप्रवासो यथा—

‘होन्त्वदिश्रयस जात्रा आठच्छुणजोभधारणरहसम् ।

पुच्छन्ती भगद् परं परेतु विश्वविरहसहिरोत्रा ॥’

(भविष्यत्प्रसिद्धस्य जाया आयुःक्षणजीवधारणरहस्यम् ।

पृच्छन्ती भ्रमति गृह्याद्गृह्येण प्रियविरहसहीना ॥)

पदना उदाहरण यास्यप्रवास का है, जब कि प्रिय विदेश गया नहीं है, किन्तु जाने वाला है— प्रिय के भावी विरह की आशङ्का से दुखी भावी पथिक की पथी पथोस के लोगों से पति के चले जाने पर जीवन को धारण करने के रहस्य के बारे में पूछती हुई पर-पर पून रती है।

गच्छन्प्रवासो यथाऽमरुशतके—

‘प्रहरविरतौ मध्ये बाहस्ततोऽपि परेऽथवा

दिनकृते यतो वास्तं नाथ तमच समेप्यसि ।

इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य विवासतो

दृष्टि ममनं बालालापैः सवाप्यमलज्जलैः ॥’

गच्छन्प्रवास, जब कि पति विदेश या रहा है। इसका उदाहरण जैस अमरकशतक का वह पद्य—

‘दे नाथ, तुम एक गहर के बाद, या दिन के मध्याह्न में, या अचराह्न में, या रात के अन्त हीने तक तो लौट आओगे न,’ अँगुलों को गिराते हुए सज्ज नेत्रों से स्त प्रकार के वचन कर्ती हुई नायिका बड़े दूर (सौ दिन में प्राप्य) देश को जाने की इच्छा वाले प्रिय का जाना रोक रही है।

यथा वा तत्रैव—

देशैरन्तरिता शलैश्च सरितामुर्वीचतां काननै-

र्मक्षेन्नापि न याति लोचनपथं कान्तोति जलक्षरि ।

उद्गीमखरणार्थकृतवसुधः कृत्वाऽधुपूर्णे हरी

तामारां पथिकलयापि किमपि म्यात्वा विरं तिष्ठति ॥’

अथवा यहाँ अमरकशतक के निम्न पद्य में—

प्रिया अनेकों देशों, सैकड़ों नदी व पदाहों वाले जङ्गलों से अन्तर्दित है, और वल करने पर भी वह दृष्टिसेपर नहीं हो सकती, इस बात की पथिक मलीमति जानता है। पर रजना जानने पर भी गरदन ऊँची करके, गँवों में अँध भरे हुए, तथा भापे चरण के द्वारा पृथ्वी

को रुद करके (उस ओर आया पाँव घटाकर) वह प्रवासी नायक उस देश की दिशा की ओर पता नहीं क्या सोचता हुआ रुढ़ी देर तक खड़ा रहता है ।

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

‘उत्सृजे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां

मद्रोत्राहुं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्-

भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्तो ॥’

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासभावादेष्यत्प्रभासास्य च गतप्रवासाऽविरोधात्त्रैविध्यमेव युक्तम् ।

गतप्रवास, जब विय विदेश चला गया हो, कैसे मेघदूत में—

हे मेघ, मेरे घर पहुँच कर तुम भिदा की इस दशा में पाओगे । वह अपनी गीत में या किसी मूँके कुचैले कपड़े पर वीणा को रख कर उसके ही द्वारा बनाए हुए मेरे नाम से अङ्कित गीत (पद) की गाने की इच्छा कर रही होगी । पर इसी समय उसे मेरी याद आ गई होगी, इसलिए वह रोने लगी होगी । आँसुओं से गीली वीणा को किसी तरह सँवार कर अपने द्वारा बनाये हुये गीत को मूर्च्छना की बार-बार मूँकी हुई, वह तेरे दृष्टिय में अवतरित होगी ।

कुछ लोग प्रवास के और भी भेद मानते हैं—जैसे आगतपतिका, आगच्छत्पतिका, तथा एष्यत्पतिका । किन्तु ये भेद मानना ठीक नहीं । आगतपतिका तथा आगच्छत्पतिका में प्रवास विप्रयोग का अभाव ही है, क्योंकि सयोग ही चुका है, या हो रहा है । एष्यत्पतिका का समावेश गतप्रवास में हो ही जाता है । अतः प्रवास के तीन भेद मानना ही ठीक जान पड़ता है ।

द्वितीयः सहस्रोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परन्ववादिजन्यविप्लवाद्वा बुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एव संभ्रमजः प्रवासः ययोर्वशीपुरुवरसोर्विक्रमोर्वरया यथा च कपालकुण्डलापहतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

सम्भ्रमजनित प्रवास यह होता है, जहाँ दैवी या मानुषी विप्लव के कारण नायक-नायिका एक दम एक दूसरे से वियुक्त कर दिये गये हों ।

उत्पात, बिजली गिरना, सूफान आना आदि की गड़बड़ी से, या किसी दूसरे राजा के आक्रमण से, बुद्धिपूर्वक निर्दोषित प्रवास सम्भ्रमजनित प्रवास कहलाता है । जैसे विक्रमोर्वशीय में पुराणा और उर्वशी का वियोग, अथवा जैसे मालती के कपालकुण्डला के द्वारा हर लिये जाने पर मालती तथा माधव का वियोग ।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सद्विधाद्यपि ॥ ६६ ॥

यथा कादम्बर्या वैशंपायनस्येति ।

पूरेतु च्छेकः प्रयत्नः प्रत्येच्छेकः यथ स्तः ।

ध्याधयत्वात् शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ ६७ ॥

यथेन्दुमतीमरणादज्ञस्य करुण एव रघुवंशे, कादम्बर्या तु प्रथमं करुण आकाशसत्-स्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासश्चकार एवेति ।

नायक तथा नायिका के समीप होने पर भी जहाँ उनका स्वल्प—उनका स्वभाव या रूप-रस के कारण यत्न दिया जाय, वह सापेक्ष प्रभाव कहलाता है। जैसे कादम्बरी में नायक के कारण वैशम्पायन (पुण्डरीक) तथा महारथेता का विशेष।

प्रभाव विशेष तथा कल्प का भेद बताते हुए कहते हैं—एक व्यक्ति (नायक या नायिका) के मर जाने पर जहाँ दूसरा व्यक्ति प्रलय करे, वहाँ प्रवास विशेष नहीं माना जा सकता, वहाँ तो शोक भाव तथा क्लम रस ही होगा। लय आलम्बन ही विद्यमान नहीं है, जो वहाँ शब्द नहीं माना जा सकता है। किन्तु मरण के बाद भी देवी नायिका से पुनः जीवित हो जाने पर क्लम नहीं होगा।

शब्दरस के लिए श्रुत के अन्तर्गत में श्रुतियों के मरने पर अज का विभाव कल्प ही है, (प्रकाश विशेष नहीं)। कादम्बरी में पहले तो कल्प है, किन्तु आकाशवाणी के सुन देने के बाद पुण्डरीक तथा महारथेता का विशेष प्रकाश शब्द ही है।

यत्र नायिका प्रति नियमः—

प्रणयायोगयोस्तथा, प्रयासे प्रोपितप्रिया।

कलहान्तरितेर्प्यायां विप्रलब्धा च घण्डिता ॥ ६८ ॥

अथ इस सम्बन्ध में नायिकाओं के नियम का निबन्धन करते हैं। प्रणयमान में नायिका विरहोरकण्डिता होती है। प्रवास विशेष की दशा में वह प्रोपितप्रिया होती है, तथा ईर्ष्यामान वाले विशेष में वह कलहान्तरिता या विप्रलब्धा या घण्डिता होती है। इस तरह विशेष की दशा में नायिका की पाँच प्रकार की अवस्थाओं का निर्देश किया गया है।

अथ संभोग—

अनुकूलो निदेयेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।

दर्शनस्पर्शानादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥ ६९ ॥

यथोत्तरामचरिते—

‘निमिषि निमिषि मन्दं मन्दमासक्तिरिषा—

द्विरल्लिङ्गकपोलं लक्ष्मणतोरकमेघ।

समुल्लक्ष्मणरिम्भव्यापृतैकैवदोषो—

रविदितमश्यामा राशिरिव व्यरंसीत् ॥’

अपेक्ष तथा विशेष की विवेचना के बाद अथ संभोग का लक्षण निबद्ध करते हैं—

जहाँ नायक व नायिका एक दूसरे के अनुकूल होकर, विलासपूर्ण होकर, दर्शन, स्पर्शन आदि का परस्पर उपभोग करते हैं, वहाँ प्रसन्नता तथा उल्लास से युक्त संभोग होता है।

जैसे उत्तरामचरित नायक में राम तथा सीता का संभोग शब्द—

हे सीते, तुम्हें बाद ही मद बड़ी खल है, जहाँ हम दोनों एक दूसरे के पास अपने कपोलों को सटाकर सी रहे थे, तथा पता नहीं क्या क्या आसक्ति (बिना सिलसिले की) करते कर रहे थे। हमने अपने एक एक हाथ से एक दूसरे की घना आलिंगन कर रक्खा था तथा हम पुलकित हो रहे थे। इस तरह एक दूसरे को हाथ से आलिंगन कर तथा एक दूसरे के कपोल से कपोल सटाकर, सीधे हुए तथा करते करते हुए हमने सारी रात गुजार दी। रात की पहरों के व्यतीत होने की भी खबर हमें न रही कि कितनी रात गुजर चुकी है। इस तरह रात ही गुजर गई, पर हमारी रातें सपास न हुई।

अथवा । 'प्रिये किमेतत् —

विनिधेतुं शक्यो न मुलमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किञ्च विपविर्षर्ष किमु मद' ।
तव स्पर्शं स्पर्शं मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकार कोऽप्यन्तर्ज्वलयति न तापं च कुहते ॥'

अथवा, जैसे वही—

हे प्रिये, यह क्या है । मैं इस बात का निर्णय ही नहीं कर पाता कि यह तुम्हारा स्पर्श मेरे लिए सुख है या दुःख, यह मोह है वा नींद की बेहोशी है । अथवा तुम्हारा स्पर्श होने पर मेरे शरीर में विष का सञ्चार हो रहा है, वा कोई नशा फैल रहा है । तुम्हें स्पर्श करने पर, तुम्हारे कर स्पर्श पर, मेरे हृदय में एक विशेष प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, जो मेरी इन्द्रियों को निष्क्रिय बना देता है, अन्तस् को जड़ बना देता है, तथा बलन (ताप) उत्पन्न करता है ।

यथा च ममैव—

'लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिश कृष्णागदस्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरमरे तन्वन्नि दूरोचते ।
नाराचंशमनोश्चेतवतनुभ्रूपञ्जगर्भोल्लस-
स्पुण्णश्रोस्तिलक सहेलमलकैष्टैरिवानीयते ॥'

अथवा, जैसे भक्तिक के स्वयं के इस पद्य में—

कोई नायक नायिका की चौबनशी की वृद्धि का वर्णन करता हुआ साहूकिक का प्रयोग कर रहा है । हे कोमल अङ्गो वाली सुन्दरी, हर दिशा में लावण्यरूपी अमृत की बरसाने वाले, तथा कृष्णाद्युष की पत्र रचना से झाले तेरे स्तन का मार कृष उठा हुआ है, जैसे हर दिशा में अमृत के बरसाने वाले काले शेष (आकाश में) उठ जाये हों । तेरे स्तनों के भार के उठ जाने पर ये तेरे बालरूपी भीरे नाकरूपी शैल से अथवा नाक के कारण सुन्दर केणक के समान रङ्ग वाले, भौदों की पशुदियों से सुशोभित पुष्प की शोभा वाले हम तिलक-तिलक के समान इस तुम्हारे नाक के तिलक पुष्प के रस का जैसे पान कर रहे हैं ।

श्लेषास्तत्र प्रवर्तन्ते श्लोत्साद्या दश योपिताम् ।

हात्तिप्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥ ७० ॥

साथ सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिता ।

इस सम्भोग शृङ्गार में नायिकाओं में प्रिय के प्रति छीला आदि दस श्लेषों पाई जाती हैं । ये श्लेषों हात्तिप्य, मृदुता तथा प्रेम के उपयुक्त होती हैं ।

इनका विवेचन उदाहरणसहित नायकप्रकाश (द्वितीय प्रकाश) में कर दिया गया है ।

रमयेच्छाट्टकृतान्तः कलाकीडादिभिश्च ताम् ।

न प्राभ्यमान्वरोत्कचिधर्मभ्रंशकरं न च ॥ ७१ ॥

प्राभ्य-सम्भोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काभ्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते । यथा रत्नावल्याम्—

'सृष्टस्त्ययैष दयिते स्मरभूजाप्याश्रुतेन हस्तेन ।

उद्दिक्षापरश्रुतवचकिललय इव लक्ष्यतोऽशोक ॥' इत्यादि ।

नायिकायिकासैशिकीशरिनाटकनाटिसम्प्रदायानुषुं कविपरम्परानगतं स्वयमौचित्य-
सम्भावनासुगुण्येनोत्प्रेक्षितं नायकसम्प्रदानः सुकविः शृङ्गारसुपनिबन्धीयात् ।

नायक को नायिका के साथ कला, क्रीडा आदि साधनों से रमण करना चाहिए ।
नायक को रमण करते समय उसकी चातुकारिता करनी चाहिए, तथा कोई भी ऐसा
प्रवहार नहीं करना चाहिए जो प्राम्य हो या नर्म (शृङ्गार) को नष्ट करने वाला ।

प्राम्य सम्मोय रत्नमञ्ज पर निबिद्ध है ही पर काम्य में भी निबिद्ध है इत्यदि इत्यादि निरेष
पुनः किया गया है । शृङ्गार का उपनिबन्धन, जैसे एतान्वाली में—

‘हे प्रिये शासनदत्ते, कागरेव ही पूजा में व्यस्त भेरे ह्यप से सुखा हुआ यह मञ्जोक ऐसा
मादक पड़ता है, जैसे इसमें फिर कोई अलम्बिक क्रोमल किसलय निकल आता हो ।’

नायक, नायिका, केशिकी वृत्ति, नायक, नायिका आदि के लक्षणों से युक्त, कविपरम्परा
के शात, अथवा कवि के स्वयं के द्वारा औचित्य के अनुसार उपनिबद्ध शृङ्गार का प्रयोग कवि
को काम्य में करना चाहिए ।

श्लेष बीरः—

धीरः प्रतापविनयाभ्ययसरायसत्त्व-

मोहाविपादनययिस्मयविक्रमालीः ।

उत्साहभूः स च दयारणदानयोगा-

ज्ञेया किलात्र मतिगर्वयुतिप्रहर्षाः ॥ ७२ ॥

प्रतापविनयादिभिर्निभाविता कर्णसुदधानाथैस्तुभावितो गर्वश्रुतिर्पर्यामर्षस्तुतिमति-
विलस्यप्रवृत्तिभिर्भाविता उत्साहः स्वाधी स्वदत्ते=भाग्यमनोविस्तारानन्दाय प्रमक्तीत्येष
धीरः । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य, युद्धवीरो धीरचरिते रामस्य,
दानवीरः परशुरामभक्तिप्रवृत्तीनाम्—‘त्यागं सप्तसमुद्रमुद्रितमही निर्व्यानदानावधि’ इति ।

(बीर रस)

प्रताप, विनय, कार्यकुशलता, शूल, मोह, अविषाद, नय, विस्मय, तथा शौर्य आदि
विभावों से धीर रस की सृष्टि होती है । यह धीर रस उत्साह नामक स्वाधी भाव से
भावित होता है तथा दयावीर, रणवीर तथा दानवीर इस तरह तीन तरह का होता है ।
इसमें मति, गर्व, युति तथा प्रहर्ष ये सञ्चारी विशेष रूप से पाये जाते हैं ।

प्रताप विनय आदि विभावों के द्वारा उत्साह, कर्णता, युद्ध, दान आदि अनुभावों के द्वारा
शूल, गर्व, श्रुति, दर्प, क्षमण, श्रुति, मति, विलस आदि ध्वनिवादी भावों के द्वारा भावित
उत्साह स्वाधी भाव जब सहस्य के मन का विरकार कर उन्हें आनन्दित कर, उनके द्वारा
भास्वादित होता है, तो यह धीर रस के रूप में परिपुष्ट होता है । दयावीर का उदाहरण, जैसे
नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन की बीरता (दयावीरता); युद्धवीर जैसे महावीरचरित में
रामचन्द्र का उत्साह, तथा दानवीर जैसे परशुराम, कलि आदि लोगों का दानसम्बन्धी उत्साह ।
जैसे परशुराम के लिये राम कहते हैं :—‘सारी समुद्रों तक फैली हुई पृथ्वी की निष्कपट रूप से
दान देना आपके त्याग का परिचायक है ।’

‘सर्वप्रान्धविमुक्तान्ध विकसदक्ष’स्फुरत्वीरदुर्भं

निर्वन्धामिराजकुहमलकुटीमन्मीरशामध्वनि ।

पानावाहितमु मुकेन कलिना आनन्दमालोचितं

पायाद्ब्र शमवर्धमानमहिमाश्वर्यं मुरारेर्वपु ॥'

दानवीर का ही एक उदाहरण देते हैं — दानवराज बलि से दान लेते समय भगवान् वामन ने अपने शरीर को विराटरूप में परिवर्तित कर लिया । उनके छोटे छोटे शरीर के जोड़ों की छत्रियाँ छूक पड़ीं, वे लम्बे होने लगे, उनके बड़ते हुए बड़ा-सबल पर कौस्तुभमणि चमकने लगी, और उनकी नाभि से निकलते हुए कमल के कुद्मल की कुटी से (वहाँ बैठे हुए ब्रह्मा की) गम्भीर वेदगान की ध्वनि सुनाई देने लगी । अपने अनुकूल दानपात्र को पाकर अत्यधिक उत्प्रेरक दानवराज बलि भगवान् विष्णु के शरीर को आनन्द से देखने लगे । इस तरह बलि के द्वारा आनन्दित होकर देखा हुआ, धीरे धीरे बड़ते हुए मबरन तथा आश्वर्य बाला मुदरैव के शत्रु भगवान् विष्णु का विराटरूप शरीर भाग लोगों को रक्षा करे ।

यथा च मयैव—

‘लक्ष्मीपयोधरोत्तुहङ्गुमाषणितो हरे ।

बलितेष वा येनास्य भिक्षापानीकृतं वर ॥’

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुष्ठेयम् । प्रतापगुणावर्णनादिनापि वीरानां भावात्तत्रैव प्रायोवाद । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्लेशानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्र ।

अथवा कैते पत्रिक का स्वयं का पत्र—

यह दानवराज बलि ही था, जिसके भागे जाकर विष्णु भगवान् ने अपने उस हाथ को, जो लक्ष्मी के स्तनों के छुङ्कन से अरुण हो गया था, भिक्षा का पात्र बनाया ।

विनय आदि के उदाहरण इन धीरोदात्त नायक के पक्ष में दे चुके हैं । पुराने विद्वानों के मतानुसार वीर के प्रताप वीर, गुणवीर, आवर्जन वीर आदि भेद भी होते हैं । युद्धवीर वही है, जहाँ आश्रय में प्रस्वेद आना, मूँह का लाल हो जाना, नेत्रों का लाल होना आदि क्रोध के अनुभाव न पाये जायें । यदि ये अनुभाव पाये जायेंगे, तो वहाँ वीर रस न होगा, रौद्र रस होगा ।

अथ वीभत्स—

वीभत्स. कृमिपूतिगन्धिवमयुप्रायैर्जुगुप्सैकम्—

उद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसघसामांसादिभिः क्षोभणः ।

धैर्याग्याजघनस्तनादिषु घणाशुद्धोऽनुभावेर्वृतो

नासायक्रधिवृणनादिभिरिहावेगातिरङ्गादयः ॥ ७३ ॥

अस्पन्तादृष्टैः कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो पुगुप्सास्थायिभावपरिपोषणलक्षण उद्वेगी वीभत्स । यथा मालनीभावे—

‘उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथुच्छोयभूयाति मासा—

न्यसस्त्रिष्वकृष्टपिण्डाद्यवयवसुलभान्युष्णपूतीनि जग्न्वा ।

आर्तं पर्यस्तनेत्रं प्रकठितदशनं प्रेतारङ्गं करङ्गा—

दहस्पादस्त्रिषसस्थं स्यपुंगतमपि प्रव्यमव्यममति ॥’

कृमि (कीड़े), दुग्दी दुग्दी, घमन आदि विभावों से, जुगुप्सा रथापी भाव से उत्पन्न होने वाला धीमत्स उद्देशी धीमत्स होता है । घून, अंतद्वियों, हृत्त्रियों, तथा चर्बी व मांस आदि विभावों से चोभण धीमत्स उत्पन्न होता है । जघन, स्तन आदि के प्रति वैराग्य के कारण उत्पन्न घृणा से हृद्म धीमत्स होता है । धीमत्स रस के अनुभाव नाक को टेढ़ा करना, सिकोड़ना आदि हैं, तथा सञ्चारी भाव आवेग, अति, शङ्का, आदि हैं ।

अत्यधिक बुरे तथा अशुन्दर, कीड़े, दुग्दी आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न, जुगुप्सा रथापी भाव की पुष्टि उद्देशी धीमत्स कहलता है । जैसे मालतीभाष्य के श्लोकानुसार में श्लोकान के रस वर्णन में—

देखो तो सही, यह दरिद्र प्रेत पहले तो शय से चमड़े को उठाए रहा है । चमड़े को बछाए-उसाए कर कन्धे, मूत्रदे, पीठ आदि के अङ्गों में मने से प्राप्त, अत्यधिक फूले हुए, बर्बी दुग्दी दुग्दी घांसे, मांस को खा रहा है । उसे खाकर अँतों फैलाता हुआ, यह धीन दरिद्र प्रेत, जिसके दाँत साफ़ दिखाएँ दे रहे हैं, अङ्ग में रखते हुए घर से, दुग्दी के बीच से निकाले हुए इधेला पर उसे मांस को भी आनन्द से खा रहा है ।

स्मिन्प्रोतपृष्ठकपालनलकमूरकणकड्डण-

प्रायप्रोद्विस्तभूरिभूषणरथैराघोपयन्ताम्बरम् ।

पीतोच्छ्रितिरणफर्दमघनप्राग्भारपोरोत्स-

द्वयालोत्तनभारभैरवपुर्नघोद्वतं धावति ॥

घून, अंतद्वियों, चर्बी, दुग्दी, मांस आदि विभावों से चोभण धीमत्स उत्पन्न होता है । जैसे महावीरचरित के निम्न पद्य में—

राम को देख कर ताड़का राजसी उनकी ओर दौड़ती आ रही है । इस पद्य में उत्तिका वर्णन है । ताड़का राजसी ने अंतद्वियों के घाते में बड़े-बड़े कपालों की माला को धो रखना है, इन कपालों की मालियों में अत्यधिक भीषण शब्द करते हुए दुष्टक लगे हैं, और इनके दिलने से उन कपालों के भूषणों के शब्द से ताड़का सारे आकाश को शब्दावमान बना रही है । जब ताड़का आती है, तो अंतद्वियों में पौधे हुए कपालों को हँसकर्मों की आवाज सारे आकाश में व्याप्त हो जाती है । (राम को देख कर) वह ताड़का अपने दोनों रनों की दिलाती हुई उनकी ओर बढ़ी उद्यतता के साथ दौड़ती है । उस समय उसका शरीर, पीकट फिर से उलठे हुए घून के कोवड़े से सने हुए अत्यधिक चपल तानों के बोझ से बढ़ा बराबरा लपटा है । इस तरह बराबने शरीर वाली, ताड़का, आकाश की भूषणों से शब्दित करती हुई बढ़ी तेजी से दौड़ रही है ।

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद्धृणा शुको धीमत्सो यथा—

'कालं वषात्सर्वं वैरि मांसपिण्डी पयोधरौ ।

मांसास्त्रिकुटं जघनं जनः कामप्रदात्तरः ॥'

न त्वयं शान्त एव विरक्तः—यतो धीमत्समानो विरज्यते ।

रमणियों के सुन्दर जघनवपल तथा स्तन आदि अङ्गों के प्रति वैराग्य के कारण को घृणा पारं जाती है, वह हृद्म धीमत्स है, जैसे—

काम के द्वारा आविष्ट मानुर व्यक्ति, मूँह की लाला की मुँह की मदिरा समझता है, मांस के दिण्डों को रत्न मानता है, तथा मांस और हड्डी के उठे हुए हिस्से को जवन देखा जाय तो रमणियों के कोरें अङ्ग सुन्दर नहीं बरिह मांस, हड्डी आदि कुरितत पदार्थ हैं ।

इस पद्य में वैराग्य शान्त रस ही नहीं है । वस्तुतः यहाँ पर वीररस ही है किन्तु यहाँ वो विराग (वैराग्य) का कारण है ।

अथ रौद्रः—

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयेः पोषोऽस्य रौद्रोऽभुजः
 क्षीमः स्वाधरदंशकम्भ्रुकुटिस्वेदास्यरणीयुता ।
 शस्त्रोह्लासधिरुथनांसधरणीघातप्रतिष्ठाप्रहि—
 रयामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौऽप्यवेगाद्द्वयः ॥ ७४ ॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

‘खं प्रह्ववर्चसधरो यदि वर्तमानो
 यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः ।
 उग्रं भोस्तव तपस्तपसा दहामि
 पक्षान्तरस्य सहरं परशुः करोति ॥’

(रौद्र रस)

मत्सर, अथवा घैरी के द्वारा किये गये अपकार आदि कारणों (विभावों) से क्रोध उत्पन्न होता है । इसी क्रोध स्थायी भाव का परिपोष रौद्र रस है, जिसका साथी क्षीम है । शस्त्र को धार-धार खमकाना, पक्षी कीं मांरना, जमीन पर चोट मारना, प्रतिष्ठा करना आदि इसके अनुभाव हैं । रौद्र रस में अमर्ष, मद, स्मृति, अपलता, अयूया, क्षीग्न्य, वेग आदि सञ्चारी भाव पाये जाते हैं ।

मात्सर्य विभाव से उत्पन्न रौद्र, जैसे महावीरचरित के इस पद्य में (परशुराम की कवि है)

अगर तुम मण्डलेम को धारण करने वाले हो, माक्षिण हो; अपना यदि तुम अपनी जाति के व्यवहार के अनुकूल अनुभारी बने हो; तो दोनों दशा में मैं तुम्हारे तेज का सङ्घटन करने में समर्थ हूँ । तुम्हारे तपस्वी माक्षिण होने पर; मैं अपने व्रत तप से तुम्हारे तप को जला दूँगा (जलाता हूँ), और तुम अनुभारी क्षत्रिय हो तो (दूसरी दशा में) मेरा परशु तुम्हारे उपयुक्त आचरण करेगा । यदि तुम क्षत्रिय हो, तो मैं तुम्हें रस परशु से जोत कर, मोत के पार बटार दूँगा ।

वैरिवैकृतादिर्यया वेणीसंहारे—

‘शाक्यपद्मान्तविपाशसमाप्रवेशीः
 प्रष्टोषु विरामिचक्षेपु ष नः प्रहृत्य ।
 आकृष्टपम्बवधूपरिपावनेत्रा
 स्वस्या भवन्तु मयि धीवति घातोरप्युः ॥

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुगावैरमर्षादिभ्यश्चकारिभिः क्रोधपरिपोषी रौद्रः, परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुपपन्नभ्यः ।

सर्व के द्वारा कृम अणुकार के कारण जनित रीद, जैसे बेनीसंहार को भीमसेन की हस्त वक्ति में—

लक्ष्मणादृष्टे भ्रम लला कट, विष कट भोजन देकर, तथा सभा में अपमान करके इन पाण्डवों के प्राणों पर, तथा सम्पत्ति पर कौरवों ने अत्यधिक प्रहार किया है। यही नहीं, उन्होंने पाण्डवों को पत्नी द्रौपदी के वस्त्र तथा बालों को भी खेंचा है। इस प्रकार इनका अत्यधिक अपकार करने वाले कौरव, गुप्त भीमसेन के जिन्दे रहते कुशल कैसे रह सकते हैं।

इस तरह के विभागों के द्वारा घनित, प्रसेद, रक्तवदन, रक्तमयन आदि अणुमात्रों, तथा अनर्ष आदि व्यभिचारियों के द्वारा उत्पन्न शोध स्वायी भाव ही परिपुष्ट होकर रीद रस बनता है। परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन आदि के व्यवहार रीद रस के वधाहरण हैं। इनको हम कीरचरित, बेनीसंहार आदि नाटकों में देख सकते हैं।

अथ हास्यः—

विकृताहृतिचाग्नेयैरात्मनोऽथ परस्य धा ।

हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ ५७ ॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्ब्यमानो हासस्तत्परिपोषणा हास्यो रसो द्वयधिष्ठानो भवति, स चोत्तममण्ड्यमाधमप्रकृतिभेदात्त्रिविधः ।

(हास्य रस)

स्वयं या दूसरे के आफार, पाणी, तथा वेष में विकार देख कर हास की उत्पत्ति होती है। इस हास स्वायी भाव का परिपोष हास्य रस कहलाता है। इस हास्य रस की तीन प्रकृतियाँ तीन भेद होते हैं।

अपने विकृत वेष, भाषा आदि को, या दूसरे के विकृत वेष, भाषा, आदि को देख कर, हम विभावों के द्वारा जनित स्वायी भाव हास, अब परिपुष्ट होता है, तो हास्य रस होता है। यह हास्य रस उच्चम, मध्यम तथा अधम इन तीन प्रकृतियों के आधार पर वक्ष्यमाण धः रूप प्राप्त होता है।

आत्मस्थो यथा रावणः—

जातं मे परुषेण भास्वरजसा तपन्दनोद्भूतं

हारो यद्यसि यज्ञस्तनुमुचितं क्लिष्टा श्रदाः कुन्तलाः ।

कदाचैः सफलैः सरस्वतलव्यं चित्राशुर्कं वलकलं

सीताल्लोचनाहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥

आत्मस्थ वैचादि का विकार देख कर उत्पन्न हास्य, जैसे रावण को इस वक्ति में—

मेरे शरीर पर लगी हुई इस कठोर भस्म से चन्दन की भूषा की गई है। यह उपस्थो का पाणा-यज्ञोपवीत-नक्ष-रत्न पर हार का काम कर रहा है। ये कलसी हुई लम्बी जटाएँ कोमल कुन्तल हैं। इन सारे कलाओं से शरीर पर रत्नों के कढ़ों की सुलना की जा सजायी है; तथा यह क्लृष्ट वल सुन्दर रेश्मों से सज बना हुआ है। सीता के मेघों का आकर्षण करने काज क्लिष्टा सुन्दर शृङ्गारी (काम सम्बन्धी) वेष कामी रावण ने (मीने) बना लिया है। जिस तरह कोई कामी किसी रमणी को आकृष्ट करने के लिए सुन्दर वेषरूपा धारण करता है, ठीक वैसे ही मीने इस सन्यासी के वेष को बना रखा है।

परस्यो यया—

‘भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुते ! किं तेन मयं विना
किं ते मयमपि प्रियम् ! प्रियमहो वारजानाभिः सह !
वेस्या द्रव्यरुचिः कुतस्तद्वचनम् ! दूतेण चौर्येण वा
चौर्यदूतपरिमहोऽपि भवतो ! नष्टस्य काऽन्या गतिः ? ॥’

किसी दूसरे व्यक्ति के आकार आदि के विचार को देख कर उत्पन्न हास्य, जैसे निम्न पद्य में—

हे भिक्षुक क्या तुम मांस का सेवन करते हो ? तो फिर तुम्हारे मप के बिना कैसे काम चलता होगा ! क्या तुम्हें मदिरा भी प्यारी है ? पर मदिरा तो वेद्योंओं के सम्पर्क होने पर ही अच्छी लगती है । वेद्यों तो पैसे को प्यार करते हैं, इन के प्रति आसक्ति रहती है, तुम नरूपरुचि मिखारी के पास पैसे कहाँ से आता है ? पैसे तुम्हारे पास था तो जुएँ से या सफ़टा है, या चोरी से, तुम कोई अधिचोपार्जन का कार्य, व्यवसायादि तो करते नहीं । तुम जैसे भिक्षुक को भी चोरी, जुमारी का व्यवसन है क्या ? एक बार (समाज तथा आचरण से) नष्ट व्यक्ति के पास दूसरा चारा ही क्या है ?

(इस पद्य में मदनोत्तर को एक ही व्यक्ति का माना जा सकता है, या फिर प्रश्न किसी दूसरे का, और उत्तर भिक्षुक का स्वयं का ।)

स्मितमिह चिक्वासिनयनम्, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।

मधुरस्वरं विहसितम्, साशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥ ७६ ॥

अपहसितं सास्त्रात्मम्, विक्षिताङ्गं भयत्यतिहसितम् ।

द्वे द्वे हसिते चैवा ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ७७ ॥

उत्तमस्य स्वपरस्परविचारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य विहसितो-पहसिते, अधमस्याऽपहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।

यद् हास्य तीन प्रकृतियों के अनुसार छः तरह का होता है। स्मित हास्य पद्य है, जहाँ धाळी भेज ही विकसित हो । हसित चर है, जहाँ बात कुछ कुछ गजर भा जायें । मधुर स्वर में हँसना विहसित कहलाता है, तथा सिर को हिलाकर हँसना अपहसित होता है । आँसों में आँसू भर आये, इस तरह हँसना अपहसित होता है, तथा अङ्गों को फेंक कर हँसना अतिहसित कहलाता है । इनमें दो दो प्रकार के हसित क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम प्रकृति के होते हैं ।

अपने व दूसरे के विचार को देखकर स्मित व हसित होना उत्तम हास्य है, विहसित तथा अपहसित होना मध्यम है, तथा अपहसित या अतिहसित होना अधम । उदाहरण अपने आप समझे जा सकते हैं ।

व्यभिचारिणश्चास्य—

निद्रालस्यध्रमग्लानिमूर्छाश्च सहचारिणः (व्यभिचारिणः)

इस हास्य रस के व्यभिचारी निम्न हैं—

निद्रा, आलस्य, भ्रम, ग्लानि तथा मूर्च्छा ये व्यभिचारी भाव हास्य रसायी भाव के सहचर हैं ।

अपानक—

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रस्तोऽद्भुतः ॥ ७८ ॥

कर्मास्य साधुवादाधुवेपयुरवेदगद्गदाः ।

हर्यविगद्युतिमाया भवन्ति व्यभिवारिणः ॥ ७९ ॥

लोकगीमातिवृत्तार्थवर्णनादिरिगारितः छायावाद्यनुगावपरिपुष्टो विस्मयः
स्याविभावो ह्यपिगादिगादितो रसोऽद्भुतः । यथा—

‘दोर्दण्डाधितचन्द्रोत्तराभ्युदयगगनोद्भूत-

शृङ्गारध्वनिहर्यपालवरितप्रस्ताम्नादिण्डिमः ।

दाशपर्यस्तकपालसम्पुटनिलद्वन्द्वगण्डभागोदर-

भान्यतिगण्डितचण्डिमा कृमयती नायापि विधाम्यति ॥’

इत्यादि ।

(अद्भुत रस)

कालौकिक पदार्थों के दर्शन भयणादि से अनुभूत रस उत्पन्न होता है, जो विस्मय नामक श्यायी भाव का परिपोष है । साधुवाद (उस पदार्थ की प्रशंसा करना), आदि आना, कल्पना, गद्गद हो आना, इसके अनुभाव हैं । अद्भुत रस में हर्ष, आवेग, छुति आदि व्यभिचारी पाये जाते हैं ।

लोकगीमा की अतिज्ञान करने वाले कालौकिक पदार्थों के वर्णन आदि से जनित, साधुवाद आदि अनुभावों के द्वारा परिपुष्ट विस्मय श्यायी भाव हर्ष आदि व्यभिचारियों के सहचर होने पर अद्भुत रस के रूप में परिणत होता है ।

रामचन्द्र के पशुपतौहने पर लवण बह रहे हैं । अमी नी आर्य रामचन्द्र के द्वारा शिवपशुपतौहने को रोद दिये जाने की दृष्टारध्वनि, पत्रा नहीं, क्यों विस्मय नहीं हो रही है । राम ने अपने दोनों मुनदण्डों से शिवजी के पशुपतौहने को चढ़ाकर उठे रोद दिया है और इससे यह दृष्टारध्वनि उत्पन्न हुई है । यह ध्वनि ऐसी प्रतीत होती है, जैसे आर्य रामचन्द्र के बालचरित की प्रस्तावना का विण्डित बोध हो—यह ध्वनि बालक राम में ही इतना बल है, इसकी उपना दे रही है । इस पशुपतौहने की दृष्टार ध्वनि की कपालों के सम्पुट से बने बने हुए रस अद्भुतरस की भाण्ड के बीच धूमकर तथा गूँठ गूँठ कर और अधिक गम्भीर हो गई है ।

अथ भयानकः—

विह्वलस्थरस्तत्यादेर्भयभावो भयानकः ।

सर्पाङ्गवेपथुस्वेदशोपत्रैर्वित्यलक्षणः । ।

दैन्यालम्भगसम्मोहनासादित्वात्सहोदरः ॥ ८० ॥

रौद्रशब्दध्वनाद्रीदयत्तददर्शनाच्च भयस्याविभावप्रभवो भयानको रसः, तत्र सर्पाङ्ग-
वेपथुप्रवृत्तयोऽनुभावाः दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः ।

(भयानक रस)

किसी व्यक्ति के स्वर, शरीर, आदि का उदात्तवाचन देकर भय नामक श्यायी भाव होता है, उसी का परिपोष भयानक रस है । इसके अनुभाव हैं—सारे शरीर का

कांपना, पसीना छूटना, मुँह सूखना, मुँह का पीछा पड़ना, चिन्ता होना आदि । इन्हें
देन्य, सम्ब्रम, सम्मोह, भ्रास आदि व्यभिचारी पावे जाते हैं, वे इसके सहोदर हैं ।

रौद्र शब्द के सुनने या रौद्र शरीर के देखने पर अनित भय स्थायी भाव से भयानक रस उत्पन्न होता है । इसमें शरीर का कांपना आदि अनुभाव होते हैं, तथा देन्य आदि व्यभिचारी ।

भयानको यथा—

‘शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुञ्जीभूय शनैः शनैः ।

यथातथागतैर्नैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥’

यथा च रक्षावस्था प्रागुदाहृतम्—‘नष्ट वर्षवरे’ इत्यादि ।

भयानक का उदाहरण, जैसे इस पद्य से—

इस शस्त्र को छोड़कर, भीरे भीरे कुम्हने की तरह डुकक कर, विरहि भी तरह यहाँ से जा
सको, तो गुम चले जाओ ।

अथवा, जैसे रत्नावली में बन्दर के वाजिशाला से छूटने पर भन्त-पुर की भयदङ्क वा
वर्णन—‘नष्ट वर्षवरे’ आदि जिसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है ।

यथा च—

‘स्वगोदास्पन्यान् तत उपचित धननमयो

गिरिं तस्मात्सान्द्रदुमगहनमस्मादपि गुहाम् ।

तदन्वज्ज्ञान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-

त्यराति कालीये तव विजययाशाचकितधी ॥’

अथवा, जैसे इस पद्य में—

गुम्हारी विजययात्रा से चकित बुद्धिवाका शत्रु राजा बरकर बर से मार्ग पर, मार्ग से घने
बहुल में, यहाँ से भी घने वेदों से घिरे पर्वत पर, तथा पर्वत से गुफा में जाकर छिप गया है ।
यहाँ भी जाकर वह अपने अज्ञों को अज्ञों में समेट लेने पर भी यह नहीं गिन पाता, यह नहीं
सोच पाता, कि गुम्हारे दर से कहीं छिपे। घर से भागते भागते पर्वत की गहन गुफा तक पहुँच
जाने पर भी उसका भय नहीं मिटा है, वह अभी तक भी गुम्हारे दर से, कि कहीं विजययात्रा
में प्रवृत्त गुम्हारी सेना यहाँ न भी पहुँच आय, छिपने की ही सोचा करता है ।

अथ करण—

इष्टनाशादनिशतौ शोकात्मा करणोऽनु तम् ।

निश्वासासोच्छ्वासद्वितस्तम्भप्रलपितादथः ॥ ८१ ॥

स्वापापस्मारदैन्याधिमरणात्स्यसम्भ्रमाः ।

चिदादजहत्तोन्मादचिन्ताया व्यभिचारिणः ॥ ८२ ॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्निनाशादनिशस्य तु बन्धनादे प्राप्त्वा शोकप्रकर्षज करण, तम-
न्विति तदनुभावनिश्वासादिकथनम्, व्यभिचारिणश्च स्वपापस्मारदयः ।

(करण रस)

इष्ट वस्तु के नाश पर या अभिष्ट वस्तु की प्राप्ति पर उत्पन्न शोक स्थायी भाव की
दृष्टि करण रस है । निश्वास, उच्छ्वास, हृदि, रुग्ण, प्रलपित आदि इस रस के

१ ‘अज्ञे’ इति पाठान्तरम् ।

अनुभाव हैं। करण रस में स्वाय, अरस्मार, दैन्य, आधि, मरण, धातुरय, सम्भ्रम, विषाद, जङ्गता, उन्माद, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव पाये जाते हैं ।

एतन्मय आदि के नाश से, या अग्निष्ट, कैद आदि, की प्राप्ति होने से शोक का परिशेष करण होता है । इसमें उत्तम निःशयादि अनुभाव तथा स्वाय, अरस्मार आदि व्यभिचारी भाव पाये जाते हैं ।

रत्नाशास्त्रकणो यथा कुमारसंभवे—

‘अग्नि भीषितनाथ जीवतोत्पत्तिभावोत्थितया तथा पुरः ।

दरयो सुदपाकृति शितौ हरकोपानलमस्य कैलम् ॥’

इत्यादि रतिप्रकारः । अनिष्टावाप्तेः सागरिकाया यन्मनाशया रत्नावल्याम् ।

रत्नाश से उत्पन्न करण जैसे कुमारसंभव के रतिविकार में—

‘हे स्वामी, हे प्राणनाथ, तुम भीषित हो हो न,’ इस तरह विज्ञा कर लड़ी हुई रति ने जब सामने देखा, तौ महादेव के क्रीडरूपी अग्नि से जलाई हुई पुरण के आकार वाली भस्म की ही प्रस्थी पर पड़ा पाया, उसकी केवल राख मर दिखाई पड़ी ।

अग्निष्ट प्राप्ति से, जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका के कैद हो जाने से ।

प्रीतिभक्त्याद्योःभावा मृगयात्तादयो रसाः ।

हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावात् कौर्विताः ॥ ८३ ॥

स्पाष्टम् ।

पदत्रिशूषणादीनि सामादीन्त्येकविंशतिः ।

लक्ष्यसंख्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥ ८४ ॥

‘विभूषणं चाश्ररसंहतिश्च शोभाभिमानौ शुभकीर्तनं च’ इत्येवमादीनि पदत्रिंशत् (विभूषणादीनि) काव्यलक्षणानि ‘साम भेदः प्रदानं च’ इत्येवमादीनि संख्यन्तराख्येकविंशतिरूपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु अन्तर्भावान् प्रयुक्तानि ।

॥ इति अन्तर्भावलक्षणरूपकस्य चतुर्थः प्रकारः समाप्तः ॥



कुछ शोक प्रीति, भक्ति आदि को रचायी भाव मानते हैं तथा मृगया, जुवां आदि को रस मानते हैं । इनका समावेश हर्ष, उत्साह आदि रचायी भावों में हो ही जाता है । अतः इनका प्रत्यक् विवेचन करना ठीक नहीं समझा गया है ।

काव्य के ३६ भूषणों, २१ प्रकार के साम, भेद आदि सन्ख्यन्तरों आदि का भी अलग से विवेचन तथा लक्षण नहीं किया गया है । इसका कारण यह है कि अलङ्कारसुक्त हर्षोत्साहादि भावों में ही इनका भी समावेश हो जाता है ।

‘मृग, अश्ररसंहति, शोभा, अभिमान, शुभकीर्तन’ आदि ३६ विभूषण, जो कि काव्य-लक्षण भी कहलाते हैं; तथा ‘साम, भेद, प्रदान’ आदि २१ सन्ख्यन्तर; इन दोनों का अन्तर्भाव

१. ‘लक्ष्यसंख्यन्तराख्यानि’ इत्यपि पाठः ।

श्लोकः	पृष्ठम्	श्लोकः	पृष्ठम्
किं गतेन नहि युक्त-	२६८	सह दिष्टं सह नणिञ्चं	१२४
किं धरणीए मित्रञ्चो	५१	तां प्राञ्जुषीं तत्र निवेरय	१२१
किमपि किमपि मन्दम्	२७१	ताव चिञ्च रइसमए	१००
कुलबालिआए पेच्छद	९६	सावन्तस्ते महात्मान्	१८८
कृतगुरुमहदादिशोभ-	६०	तिष्ठन्भाति पितुः पुरः	७९
कृतेऽप्याज्ञाभञ्जे	२६७	तीर्णे भीष्ममहोदधौ	४४
कृशाश्वान्तेवासी जयति	६८	तीव्र स्मरसंतापः	३८
कृश केशेषु भार्या	५२	तीर्णभिपद्मप्रभवेन	१९९
केलीगोत्तकखल्ले	२६५	तेनोदितं वदति याति	१२४
कैलासोद्धारसार-	८३	त्यक्त्वोत्थितः सरभसम्	४९
कोपात्कीमलल्लोलराहु-	१०६	त्यागः सातसमुद्रमुद्रितमही-	२७३
कोऽपि सिंहासनस्यायः	१५०	त्रय्याघ्राता यस्तवायम्	७५
कोपो गत्र धुकुटिरचनः	१०६	त्रस्यन्ती चलशफरी	१९१
श्लेषन्धैर्यस्य मोक्षात्	६२	त्रैलोक्यैर्धैर्यलक्ष्मी	८३
कचित्ताम्वूलाक	१०४	त्वचं कर्णः शिबिर्मांसम्	७४
शिपो हस्तावलमः	२०३	त्वं जीवितं त्वमसि मे	१५२
सर्वप्रनियविमुक्तसन्धि-	२७३	त्वं ब्राह्मवर्तपरः	२७६
यमनमलसं शून्या दृष्टि	१३४	दाक्षिण्यं नाम विम्बोष्ठि	११६
चभुर्लुगमपीकणम्	२५६	दिशदं सु दुक्खिआए	१२३
चक्रद्वजप्रमितवण्डगदा	२२, ५६	दीर्घांशं शरदिन्दुकान्ति	२५७
चलति कथचित्पृष्ठा	२००	दुःशासनस्य हृदयसतजा	२७
चागकथनाम्ना तेनाय	७२	दुःसाहजगापुराञ्चो लम्बा	२९
चित्रवर्तिन्यपि नृते	१२६	दुराद्वीयो धरणीधरमम्	१८६
चिररतिपरिछेदप्राप्तनिद्रा	१९८	दृष्टि हे प्रतिवेशिनि	१०८
चूर्णिताशेषकौरव्यः	५४	दृष्टिः सालसतां विमर्ति	९७, ११९
जगति जविनस्ते ते	२५६	दृष्टिस्तुणीट्टतजगन्नयसत्त्वसार	९३
जं किं पि पेच्छमाणं	१२०	दृष्टकासनसंस्थिते प्रियतमे	१०७, १३४
जन्मेन्दोरमले कुले	४९	देव्या पसिञ्च निञ्चन्तसु	१२३
जातं मे पुत्रयेण भस्म	२७७	देव्या मद्रचनाशया	५४
जीयन्ते जयिनोऽपि	१३८	देवे वर्षस्यशनपवन-	२०२
ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता	४८	देशैरन्तरिता शतैश्च	२६९
ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रौ	१२४	दोर्दण्डादितचन्द्रशेखर-	२७९
रोउरकोडिविलमं	२६७	दृश्यन्ति न विरात्सुमम्	५२, १५३
सं दीक्ष्य वेपथुमती	२६१	क्षीपादन्यस्मादपि	१२, १७, १४४
सं शिञ्च वञ्चनं ते प्चेञ्च	१२०	धृतायुषो यावदहम्	४१
सत उदयगिरेरिवैक एव	७८	न खलु पयमगुण्य	१०१
सतथाभिहाय	१९२	न प्व मेऽत्रगच्छति यथा	११५
तथा श्रीऋषिधियापि	१२३	न जाने संमुखायाते	१०४
सद्वितापमवादीर्यमन	१३२	मन्वेप राशसपतेः स्खलितः	२०७
सनुत्राणं सनुत्राणं	२०१	न पण्डिता साहसिकाः	२००
सवास्मि गीतरागे	१४५	न मध्ये संस्कारम्	९९
सह क्वति से पञ्चता	१२०	नपजलपरः खल्लोऽयम्	२०६

श्लोकः	शुद्धम्
वदनसपदमाहम्	११३, १७४, २६३
मष्टं वर्षवरेमनुष्यगणना	१३८
नान्दावदानि रतिनाटक-	१२७
विधाया वदनं वहन्ति	११३
निज्ञपाणिपङ्कवतस्सखिनात्	११२
निद्रार्थनीलितरती	११०
निर्मग्नैर्न मयाऽम्भसि	२६४
निर्वाणवैरिदहताः	१४७
मूनं तेनाद्य धीरेण	५१
न्यकारो ह्ययमेव मे भद्ररयः	१८४
पद्मस्यप्रमथिताशुचिन्दु-	१९०
पद्यानां गन्धसेऽस्माकम्-	४६
पटालने पत्नी नमयति	१९८
पणञ्जकुविद्याया दोषवि	२६३
पत्यु शिरस्यन्त्रकलामनेन	१३१
परिमुत्तास्तास्तुचकुम्भमध्यात्	३२
परिहादियग्यपीणामेव	३४
पशुपतिरपि तान्यहानि	२०८
पादाहप्रेन भूमिम्	१२८
विजोर्विधातुं शुभ्रुषाम्	८०
पुण्या प्राहाणजातिः	८३
पुरस्तन्व्या गोक्षस्तखल-	११२
पूर्यन्ती रालिलैर्न	५३
पौलस्त्यपीनभुजसंपदु-	२०२
प्रणयकुपितां हृद्वा	
देवीम् १७३, १७४, २६३, २६५	२६५
प्रणयविशदां हृष्टिं वक्त्रे	३७
प्रयत्नजनितो माला मन्वी	९८
प्रयत्नपरिवोधितः	४१
प्रसीदत्यल्लोकै किमपि	८६
प्रसीदति भूयामिदमसति	३३
प्रहरकमपनीय	१९७
प्रहरविरती मध्येवाहः	२६९
प्राप्ताः श्रियः सुकलकाम-	१८२
प्राप्ता कथमपि देवात्	३२
प्राप्य मन्मथरसादति-	१८७
प्रायविलं चरिष्यामि	१९४, ९३
प्रायविलं चरिष्यामि	२०१
प्रायविलं न खलु	७६
प्रायविलेऽस्मिन्स्वामिनः	१२, १४, १८
बाले नाथ विमुच	१०१
पादोर्ध्वं न विदितम्	७५

श्लोकः	शुद्धम्
प्राहाणजातिक्रमत्यागः	८३, १९४
प्लूत मूलनकुम्भाण्ड-	९४
भम यस्मिन्म बोधजो	२२८
भिक्षो मौसनिषेवणम्	२७८
मुक्ता द्वि मया गिरयः	१५६
भूमी लिप्सा शरीरम्	५८
भूयः परिभवन्नान्ति-	२३
भूयो भूयः सविषयनगरी-	२५७
धूम्रं सद्गोद्वृता	१२३
मन्त्रशतपरिपूर्वं योत्र-	५०, ७८
भङ्ग पटङ्गा एता	५१
गतानां कुङ्कुमरघेन	१५१
मप्यानि धीरदशतं समरे	२१
मधु द्विरेफः कुतुम्भकात्रे	२२५
मप्यार्थां वमय त्यज भ्रमजलम्	१३२
मन्यायस्तार्थवान्मः	१९
मनोजातिरनाधीना	१४९
महु एदि कि विदालञ्ज	११८
मा गवमुद्रह कपोलदाले	११२
मातः कं हृदये निधाय	१२६
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य	२१२
मुनिरयमय धीरस्तादशः	१९३
मुद्रक क्षामलि द्वेई	१८२
मुद्रुष्यहसितामिवालिनादैः	२६७
सुररूपं परिस्मज्य	२०२
शृगशिशुदशस्तस्याः	११७
भेदरक्षेदकरोदरं लघु	१५७
सैनाकः किमयं कणक्षि	१९४
यत्सर्वप्रतमज्ञभीषमनसा	२४
यदि पराणा न क्षम्यन्ते	१९२
यद्ब्रह्मादिभिरुपासित-	७३
यद्यत्प्रयोयनिपये	७६
यद्विस्मयास्तमितम्	२२
यादु यादु किमनेन	१०२
यातो विक्रम्याहुरात्म-	६१
यातोऽस्मि पृथग्यने	८
यान्ता मुहुर्बलिवक्रधर-	३२
युष्मच्छासनकहनाम्नासि	१९३
ये चत्वारो दिनकर-	७६
येनाहृष्ट सुखानि	४७
ये चाहवो न मुनि	१८४
योगानन्दवराः शेषे	७२

रसो नाहं न भूतम्	५५
रप्ता चण्डा दिभिद्यदा	१५१
रतिष्ठीमपूते कथमपि	१२६
राहो विपद्बन्धुवियोगदुःखम्	१८४
राज्यं मिजितशत्रु-	७७, १८७
राम राम नयनाभिराम	७४
राधो भूर्भि निघाव	१४४
रक्ष्मीपयोधरोत्सव-	२७२
रघुनि दृणकुटीरे	१५६
रत्नापम्बत्तपसाहणाई	९६
रत्नाशालहानलविपात्र-	१४८, २७६
रत्नाशालक्ष्म ललाटपदम्	८७
रत्नां वक्त्रासर्वं वेत्ति	२७५
रावण्यकान्तिपरिपूरित-	२२९
रावण्यमन्मयविल्लास-	९४
रावण्यमृतवर्षिणि	२७२
रानीव प्रतिबिम्बितेव	१९५
रुलितनयनताराः	१८५
वत्सस्याभयवारिधेः	२०३
वयमिह परिपृष्टाः	१८७
वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्	२०१
विनिकृपशरणत्फोरदश्या	२०८
विनिश्चेतुं शक्यः	१९९, २७२
विरम विरम वहे	२०४
विरोधो विधान्तः प्रसरति	४८
विश्रम्भती शैलमुतापि	२२८
विद्युज सुन्दरि	१३३
विस्तारी स्तनमार एष-	९७
वृद्धास्ते न विचारणीय-	४७
वृद्धोऽन्धः पतिरेप भयक-	१८९
वेन इसेभदवदनी	१८२
व्यक्तिर्ज्येष्ठनघातुना	२५४
व्याहता प्रतिवचो न	२६१
शटाऽन्यस्याः कषीमणि-	८६
शक्रप्रयोगधुरतीकलहे	१३५
शक्रमेतत्समुत्सृज्य	२८०
शात्रेषु निष्ठा सहजथ	११७
शिरामुधेः स्यन्दत एव	७१, ९५
शोतोशुभुंशमुत्सले	३९
शोकं क्षीयन्मयनसलिलैः	५२
शोरेषा पाणिरप्यस्याः	३३
शोहर्षो निपुणः कविः	१४६
शुताम्भरोमीतिरपि	११८

शुत्वायातं बहिः क्यन्तम्	१९.
श्याम्यारोपतनुं सुदर्शनकरः	२१८
सकलरिपुजयाशा	४५, १५४
सखि स विजितो धोणा	११३
सयं जाणइ दहं सखि	११७
सच्छिन्नपन्थदुत्पुम्पशून्यम्	२०४
सदतमनिवृतमानसम्	१५७
सद्यश्छिन्नाशिरः	१८८
सन्तः सधरितादयम्बसनिनः	१५७
सभ्रभ्रं करकिवलया	१२८
समास्था प्रीतिः	३९
संप्राप्तोऽवधिवासरे	१९५
सरसिगमनुविद्यम्	१२२
सन्त्याजं तिलकालकम्	१२७
सभ्याजैः शपथैः प्रियेण	४८
सहसृत्पगणं सनान्यवम्	२६
सहसा विदर्धात न क्रियाम्	२००
सालोए विभ्र सरे	१३२
शुभावदमासेदपवनवकोरैः	२६१
शुभ्र त्वं नवनोतकल्पहृदया	२६४
स्तनतटमिदमुत्तुङ्गम्	१०३
स्तनावालोक्य तन्यङ्ग्याः	२६०
स्तिमितविकसितानाम्	२५८
स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता	८६
सृष्टस्त्वयैष दायते	२७२
सूर्यद्विप्रसहस्रनिमित्त-	७४, ११
स्मरदवधुनिमिसं गूढम्	१२६
स्मरनवनदीपूरेणोटा	१००
स्मरसि सुतनुं तस्मिन्	२५३
स्मितज्योत्स्नाभिस्ते	२६६
स्वगेहात्पन्यानं तत-	२८०
स्वशक्तनिरभिलष्यः	८०
स्वेदाम्भः कणिकाशिते	१०२
ईस प्रयच्छ मे कान्ताम्	१५६
हरस्तु किञ्चित्परितुष्यथैयः	११५
हर्म्याणां हेमश्रुतश्रियमिव	४७
हसिभ्रमविम्बारमुदं	९६
हस्तोरन्तनिहितवचनैः	२५४
हावहारि हसितं वचनानाम्	१९६
हन्मर्ममेदिपतदुत्कटकङ्क-	१९६
हेरम्बदन्तमुसलोक्षितैक-	१२६
होन्तपदिभ्रस्स जाभा	२६९
हिया सर्वस्यासौ हरति	१८६